

GOVERNMENT OF INDIA

**ARCHAEOLOGICAL SURVEY OF INDIA**

Central Archaeological Library

NEW DELHI

ACC. NO. 72400

CALL NO. Sa2Bh / Sam / Sac

D.G.A 79

72400





COMMITTEES  
ON THE COMMISSION



SRI SANKARACHARYA

ॐ

संस्कृत-साम्प्रदायिक-ग्रन्थ-संग्रहः

**COMPLETE WORKS  
of  
SRI SANKARACHARYA**

*in the original Sanskrit*



72400

**VOLUME**

**VIII**

**COMMENTARIES  
ON THE UPANISHADS**

**SAMATA BOOKS**

**Madras**

COMMENTARIES ON THE  
UPANISHADS

First Published 1910

Samata Revised Edition 1983

72400 24.2.84  
Sa 2 Bh  
Sadanand  
केन्द्रीय पुरातत्व पस्तकालय

© V. Sadanand-1983

Published by V. Sadanand, Samata Books

10 Kamaraj Bhavan, 573 Mount Road, Madras-600 006 India

Printed at All India Press, Pondicherry, India

PRINTED IN INDIA

# उपनिषद्-व्याख्यानं

COMMENTARIES ON  
THE UPANISHADS



॥ श्री शृङ्गेरी श्रीजगद्गुरुमहासंस्थानम् ॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य पदवाक्यप्रमाणपारावार-  
पारीण यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्य-  
ष्टाङ्गयोगानुष्ठाननिष्ठ तपश्चक्रवर्त्यनाद्यविच्छिन्न श्रीशङ्करा-  
चार्य गुरुपरम्पराप्राप्तषड्दर्शनस्थापनाचार्य व्याख्यान-  
सिंहासनाधीश्वर सकलनिगमागमसारहृदय सांख्यत्रयप्रतिपादक  
वैदिकमार्गप्रवर्तक सर्वतन्त्रस्वतन्त्रादिराजधानीविद्यानगरमहा-  
राजधानीकर्णाटकसिंहासनप्रतिष्ठापनाचार्य श्रीमद्राजाधिराज-  
गुरुभूमण्डलाचार्य ऋष्यशृङ्गपुरवराधीश्वर तुङ्गभद्रातीरवासि  
श्रीमद्विद्याशङ्करपादपञ्चाराधक श्रीजगद्गुरु श्रीचन्द्रशेखर-  
भारतीस्वामिगुरुकरकमलसञ्जात

॥ श्रीजगद्गुरु शृङ्गेरी श्रीमदभिनवविद्यातीर्थस्वामिभिः ॥

अस्मदत्यन्तप्रियशिष्य वेलूरि सदानन्द शर्मविषये नारायण-  
स्मरणपुरस्सरं विरचिता आशिषस्समुल्लसन्तु ।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः श्रीमच्छंकरभगवत्पादाचार्याः संसाराम्बुधि-  
मग्नानां लोकानां समुद्धरणाय सनातनवैदिकधर्मं सर्वत्र प्रचार्य

प्रस्थानत्रयभाष्यप्रमुखान् ग्रन्थतल्लजान् विलिख्य दिगन्त-  
विश्रान्तयशःप्रसरा विरेजिरे ।

भगवत्पादविरचितास्समेपि ग्रन्थाः नैकेनापि प्राकाश्यं नीता  
इति हेतोः अस्मत्परमगुरुचरणैराज्ञप्ताः श्री टि के बाल-  
सुब्रह्मण्यार्याः श्रीरङ्गस्थ स्वीय वाणीविलासमुद्रणालये  
वर्षाणां सप्तत्याः प्राक् शांकरग्रन्थावली नाम्ना सर्वानपि  
तान् ग्रन्थान् प्राकाशयन् ।

अधुना पुनस्तेषां ग्रन्थानां दौर्लभ्यमाकलय्य भवान् तानेव  
पुनः प्रकाशयितुमिच्छतीति विदित्वा मोदामहे वयम् ।

आशास्महे च भवदीयोयमुद्यमः क्षिप्रमेव साफल्यमेतु लोकाः  
भगवत्पादीयान् ग्रन्थानधीत्य औपनिषदं तत्त्वं यथावदवबुध्य  
कृतार्था भूयासुरिति ।

शृङ्गगिरिः

दुर्मति चैत्र शुक्ल अष्टमी

रविवासरः

१२-४-१९८१

इति नारायणस्मरणम्





नानाजन्मसु संचितेन तपसा पूतेन चित्तात्मना

मित्रेण प्रतिबोधितेन कुतुकात्सर्वाः कृतीः शांकरीः ।

संमुद्रच प्रथमं जगद्गुरूपदे भक्त्या मयाद्यार्पिताः

स्वीकृत्योपहृतिं करोतु गुरुराङ् धन्यं तथेमं जनम् ॥

श्रीमच्छंकरदेशिकेन्द्रचितान्सर्वान्प्रबन्धान्मुदा

तत्प्रीत्यै परिशोध्य पुस्तकचयैः संमुद्रच साकं बुधैः ।

तच्छात्रप्रवरालिमध्यविलसच्छ्रीदेशिकेन्द्रेषु ता-

न्कृत्वाद्योपहृतिं सभक्तिविनयं नूनं कृतार्थोऽस्म्यहम् ॥

सौम्याब्दमाघार्जुनपक्षराजत्सूर्याङ्कतिथ्याश्रितसोमवारे ।

श्रीशंकरार्यप्रतिमाप्रतिष्ठाकाले मयैषोपहृतिर्व्यधायि ॥

श्रीशंकरकृतिमाला गुरुवरतुष्टयै समर्पिता मोदात् ।

बालादिमपदभाजा सुब्रह्मण्येन भक्तिनम्रेण ॥ ४ ॥

## संप्रदाय परंपरा श्लोकानि

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो वंश-  
ऋषिभ्यो महद्भ्यो नमो गुरुभ्यः । सर्वोपप्लवरहितः  
प्रज्ञानघनः प्रत्यगर्थो ब्रह्मैवाहमस्मि ॥ १ ॥

ॐ नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्र-  
पराशरं च । व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्द-  
योगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥ २ ॥

श्रीशंकराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च  
शिष्यम् । तं तोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरु-  
न्संततमानतोऽस्मि ॥ ३ ॥

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम् । नमामि  
भगवत्पादं शंकरं लोकशंकरम् ॥ ४ ॥

शंकरं शंकराचार्यं केशवं बादरायणम् । सूत्र-  
भाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥ ५ ॥

ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने । व्योम-  
वद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥ ६ ॥



## CONTENTS

|  | Page |
|--|------|
| ISAVASYOPANISHAD-BHASHYA .. ..             | 1    |
| KENOPANISHAD .. .. .                       | 29   |
| Pada Bhashya .. .. .                       | 33   |
| Vakya Bhashya .. .. .                      | 79   |
| KATHOPANISHAD-BHASHYA .. ..                | 123  |
| Chapter 1 .. .. .                          | 127  |
| Chapter 2 .. .. .                          | 187  |
| PRASNOPANISHAD-BHASHYA .. ..               | 233  |
| MUNDAKOPANISHAD-BHASHYA .. ..              | 309  |
| Mundaka 1 .. .. .                          | 313  |
| Mundaka 2 .. .. .                          | 339  |
| Mundaka 3 .. .. .                          | 365  |
| MANDUKYOPANISHAT-KARIKA-<br>BASHYA .. .. . | 391  |
| AITAREYOPANISHAD-BHASHYA .. ..             | 541  |
| Chapter 1 .. .. .                          | 545  |
| Chapter 2 .. .. .                          | 577  |
| Chapter 3 .. .. .                          | 593  |
| TAITTIRIYOPANISHAD-BHASHYA .. ..           | 605  |
| Sikshavalli .. .. .                        | 609  |
| Brahmanandavalli .. .. .                   | 659  |
| Bhriuvalli .. .. .                         | 727  |

Recd from Higginbotham, New Delhi. Invoice No. 100 at Rs 100/- for 10 Vols.

## NRISIMHAPURVATAPANI

UPANISHAD BHASHYA .. .. 757

INDEX TO THE UPANISHADS .. .. 911

INDEX TO GAUDAPADA KARIKAS .. .. 921

## ॥ विषयाः ॥

|                               |     |     |     |
|-------------------------------|-----|-----|-----|
| ईशावास्योपनिषद्भाष्यम्        | ... | ... | १   |
| केनोपनिषत्पदभाष्यम्           | ... | ... | २९  |
| केनोपनिषद्वाक्यभाष्यम्        | ... | ... | ७९  |
| कठोपनिषद्भाष्यम्              |     |     |     |
| अध्यायः १.                    | ... | ... | १२७ |
| अध्यायः २.                    | ... | ... | १८७ |
| प्रश्नोपनिषद्भाष्यम्          | ... | ... | २३३ |
| मुण्डकोपनिषद्भाष्यम्          |     |     |     |
| मुण्डकम् १.                   | ... | ... | ३१३ |
| मुण्डकम् २.                   | ... | ... | ३३९ |
| मुण्डकम् ३.                   | ... | ... | ३६५ |
| माण्डूक्योपनिषत्कारिकाभाष्यम् | ... | ... | ३९५ |
| ऐतरेयोपनिषद्भाष्यम्           |     |     |     |
| अध्यायः १.                    | ... | ... | ५४५ |
| अध्यायः २.                    | ... | ... | ५७७ |
| अध्यायः ३.                    | ... | ... | ५९३ |

## तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम्

|                  |     |     |     |
|------------------|-----|-----|-----|
| शीक्षावल्ली      | ... | ... | ६१५ |
| ब्रह्मानन्दवल्ली | ... | ... | ६५९ |
| भृगुवल्ली        | ... | ... | ७२७ |

## नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्भाष्यम् ७५७—९१०

|                |     |     |     |
|----------------|-----|-----|-----|
| प्रथमोपनिषत्   | ... | ... | ७६३ |
| द्वितीयोपनिषत् | ... | ... | ८०३ |
| तृतीयोपनिषत्   | ... | ... | ८४३ |
| चतुर्थोपनिषत्  | ... | ... | ८५३ |
| पञ्चमोपनिषत्   | ... | ... | ८८३ |

## ॥ विषयानुक्रमिका ॥

### ईशावास्योपनिषद्भाष्यम्

१-२८

|  |     |    |
|--|-----|----|
| ईशेत्यादीनां मन्त्राणां कर्मशेषत्वशङ्काव्युदसनपूर्वकं व्याख्ये-<br>यत्वोपयोग्यनुबन्धप्रदर्शनम् | ... | ५  |
| सर्वमीश्वरात्मकमेवेति आत्मज्ञानेन सर्वमाच्छादनीयमिति च<br>तत्त्वोपदेशः                         | ... | ६  |
| एवं विचारादिप्रयत्नवतः सर्वकर्मसंन्यासविधिः  | ... | ७  |
| समुच्चयवादिनां शङ्कोद्भावनम्   | ... | ८  |
| समुच्चयवादिखण्डनम्   | ... | ९  |
| आत्मतत्त्वस्वरूपप्रतिपादनम्  | ... | १० |
| मातरिश्वपदस्य लक्ष्यार्थमादाय तात्पर्यप्रदर्शनम्   | ... | १२ |
| आत्मज्ञानिनः शोकमोहासंभवप्रदर्शनपुरःसरं फलप्रतिपादनम्  | ... | १४ |
| पूर्वप्रतिपादितार्थदृढीकरणायाक्षेपसमाधानपूर्वकं निगमनम्  | ... | १७ |
| विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणत्वेनावान्तरफलभेदोपन्यासः   | ... | १८ |
| व्याकृताव्याकृतोपासनाविधिफलप्रदर्शनम्  | ... | १९ |
| उपासकस्य मार्गयाचनाप्रदर्शनम्  | ... | २३ |
| विचारबीजोपन्यासपूर्वकं संक्षेपतो विचारः  | ... | २६ |

### केनोपनिषद्भाष्यम्

२९-१२२

#### प्रथमः खण्डः

३३-४९; ८३-९६

|                                  |     |    |
|----------------------------------|-----|----|
| नित्यकर्मणां ज्ञानोपयोगित्वकथनम् | ... | ३४ |
|----------------------------------|-----|----|



|   |     |    |
|---|-----|----|
| वैराग्यार्थं काम्यप्रतिषिद्धकर्मणां फलप्रदर्शनम्          | ... | ३४ |
| कर्मकाण्डस्यान्यफलकत्वप्रदर्शनद्वारा तत्खण्डनम्           | ... | ३५ |
| प्रश्नप्रतिवचनरूपेण प्रतिपादनस्य तात्पर्यवर्णनम्          | ... | ३६ |
| इषितप्रेषितपदार्थयोः पृथक्फलवत्त्वप्रदर्शनाय शङ्कासमाधाने |     | ३७ |
| श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिपदार्थवर्णनम्                   | ... | ४० |
| अविषयमपि ब्रह्मागमेन प्रत्याययितुं शक्यमित्यागमप्रदर्शनम् |     | ४३ |
| लौकिकतार्किकमीमांसाप्रतिपत्तिविरोधमाशङ्क्य तत्परिहारः     | ... | ४५ |

## द्वितीयः खण्डः

५०-६०; ९७-१०४

|  |     |    |
|--|-----|----|
| विपरीतबुद्धिव्यपोहनाय शिष्यं प्रति गुरोर्वचनम् | ... | ५० |
|--|-----|----|

## तृतीयः खण्डः

६१-६७; १०५-११६

|   |     |    |
|---|-----|----|
| आख्यायिकारूपेण प्रवृत्तायाः श्रुतेस्तात्पर्यवर्णनम् | ... | ६१ |
|---|-----|----|

## चतुर्थः खण्डः

६८-७६; ११७-१२१

|  |     |    |
|--|-----|----|
| गुणोपासनं तत्फलं च                                 | ... | ७१ |
| उपनिषदं भो ब्रूहीति प्रष्टुः शिष्यस्याभिप्रायकथनम् | ... | ७२ |
| उपनिषत्प्राप्त्युपायभूततपआदिप्रदर्शनम्             | ... | ७४ |

## कठोपनिषद्भाष्यम्

१२३-२३२

## प्रथमोऽध्यायः

१२७-१८६

## प्रथमा वल्ली

१२९-१५१

## उपनिषच्छब्दार्थनिश्चिः

... १२९

## नचिकेतसं प्रति वरत्रयप्रदानम्

... १३६

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| प्रथमवरत्वेन मृत्युं प्रति पितृसौमनस्यप्रार्थनम् | ... | १३७ |
| स्वर्गस्वरूपप्रदर्शनम्                           | ... | १३८ |
| स्वर्गसाधनाग्निविषयकद्वितीयप्रश्नः               | ... | १३९ |
| वरत्रयव्यतिरेकेणान्यवरप्रदानम्                   | ... | १४१ |
| निःश्रेयससाधनात्मज्ञानविषयकस्तृतीयः प्रश्नः      | ... | १४४ |
| वैराग्यदृढीकरणाय प्रलोभनम्                       | ... | १४६ |

**द्वितीया वल्ली**

१५२-१७१

|   |     |     |
|---|-----|-----|
| अभ्युदयनिःश्रेयसविभागप्रदर्शनपूर्वकं तयोरन्यतरस्यैव<br>परमपुरुषार्थोपयोगित्वकथनम् | ... | १५२ |
| अन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्टस्य वक्तव्यस्य चात्मनः<br>स्वरूपप्रदर्शनम्           | ... | १६५ |
| निर्गुणे ब्रह्मण्युपसंहारः  | ... | १७१ |

**तृतीया वल्ली**

१७२-१८६

|   |     |     |
|---|-----|-----|
| प्राप्तप्राप्तव्यादिविवेकाय द्वयोरात्मनोरुपन्यासः         | ... | १७२ |
| प्रतिपत्तिसौकर्याय रथादिरूपककल्पना                        | ... | १७४ |
| अधिगन्तव्यपदप्रदर्शनम्                                    | ... | १७७ |
| इन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वप्रदर्शनम् | ... | १७८ |
| आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायप्रदर्शनम्                       | ... | १८१ |

**द्वितीयोऽध्यायः**

१८७-२३१

**चतुर्थी वल्ली**

१८९-२०१

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| अङ्गुष्ठपरिमाणस्य जीवस्य ब्रह्मरूपत्वप्रत्यायनपरश्रुति-<br>विवरणम् | ... | १९९ |
|--|-----|-----|

|  |         |
|--|---------|
| पञ्चमी वल्ली   | २०२-२१४ |
| उपायान्तरेण ब्रह्मज्ञापनाय शरीरस्य ब्रह्मपुरत्वेन कल्पनम् ...                  | २०२     |
| चेतनशेषत्वाच्छरीरस्य तद्विलक्षणः शेष्यन्यः सिद्ध इत्यात्मा-<br>स्तित्वनिरूपणम् | ... २०५ |
| प्राणापानादीनां जीवनाहेतुत्वप्रदर्शनम्   | ... २०६ |
| ब्रह्माणो दुःखाभावप्रदर्शनम्   | ... २१० |
| परमानन्दे प्रमाणत्वेन विद्वदनुभवप्रदर्शनम्                                     | ... २१३ |
| षष्ठी वल्ली  | २१५-२३१ |
| आत्मतत्त्वबोधनाप्रकारस्तत्प्रयोजनं च   | ... २२० |
| बुद्ध्यादीनामात्मा लिङ्गत्वप्रदर्शनम्  | ... २२१ |
| अलिङ्गस्यापि ब्रह्माणो मननव्यापारेण दर्शनसमर्थनम्                              | ... २२२ |
| प्रतिबन्धकान्तरापनयनायोपायान्तरप्रदर्शनम्                                      | ... २२३ |
| निर्विशेषब्रह्मविदां गत्यभावं प्रदर्श्य मन्दाधिकारिणां<br>गतिप्रदर्शनम्        | ... २२८ |
| विद्यास्तुत्यर्थाख्यायिकार्थोपसंहारः   | ... २३० |

## प्रश्नोपनिषद्भाष्यम् २३३-३०७

|   |         |
|---|---------|
| प्रथमः प्रश्नः  | २३७-२५० |
| ब्राह्मणेन पुनरुक्तस्य प्रयोजनकथनम्                                   | ... २३७ |
| गुरुप्रतिवचनस्यानुद्धतत्वप्रदर्शनपरतया तात्पर्यवर्णनम्                | ... २३९ |
| रयिप्राणयोः प्रजापतित्वार्थं सर्वात्मत्वप्रदर्शनम्                    | ... २४१ |
| इष्टापूर्तादिकारिणां दक्षिणायनोपलक्षितचन्द्रप्राप्तिप्रदर्शनम्        | ... २४३ |
| विद्यावतां समुच्चयवतां चोत्तरायणोपलक्षितादित्यप्राप्ति-<br>प्रदर्शनम् | ... २४५ |

द्वितीयः प्रश्नः

२५१-२५९

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| कुतो ह वेत्यादिना पृष्टस्य प्रतिवचनम्                    | ... | २४८ |
| कार्यकरणलक्षणानां देवानां स्वमाहात्म्यप्रकटनम्           | ... | २५२ |
| मुख्यस्य प्राणस्य प्रतिवचनम्                             | ... | २५२ |
| मुख्यप्राणस्य श्रैष्ठ्यप्रतिपादनम्                       | ... | २५३ |
| प्राणमाहात्म्यदर्शनेन प्रीतानां देवानां स्तुतिप्रदर्शनम् | ... | २५४ |

तृतीयः प्रश्नः

२६०-२६७

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| दृष्टान्तपूर्वकं प्राणोत्पत्तिकथनम्                | ... | २६१ |
| आत्मानं वा प्रविभज्येत्यस्य सदृष्टान्तमुत्तरम्     | ... | २६२ |
| पायूपस्थादिष्वात्मविभागप्रदर्शनम्                  | ... | २६२ |
| कथं बाह्यमभिधत्ते इत्यादिना पृष्टस्योत्तरम्        | ... | २६५ |
| प्राणस्वरूपं निर्धार्य तदुपासनविधानं फलप्रदर्शनं च | ... | २६६ |

चतुर्थः प्रश्नः

२६८-२८१

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| परविद्यापरतया प्रश्नत्रयतात्पर्यवर्णनम्                        | ... | २६८ |
| कानि स्वपन्तीत्यस्य प्रश्नस्योत्तरप्रदर्शनम्                   | ... | २७० |
| कानि जाग्रतीत्यस्योत्तरम्, प्राणादीनामग्निसादृश्यकल्पनं च      | ... | २७१ |
| समानस्य होतृत्वेन, उदानमनसोरिष्टफलयजमानत्वेन च व्यपदेशः        | ... | २७२ |
| विद्वत्तास्तुतिरिति तात्पर्यवर्णनपूर्वकं कतर एष इत्यस्योत्तरम् | ... | २७३ |
| शङ्कापरिहारौ   | ... | २७४ |
| कस्यैतत्सुखं भवतीत्यस्योत्तरप्रदर्शनम्                         | ... | २७६ |
| कस्मिन्नु सर्वे इत्यादिना पृष्टस्योत्तरम्                      | ... | २७७ |
| एकत्वविदः फलनिरूपणम्   | ... | २८० |

|  |         |
|--|---------|
| पञ्चमः प्रश्नः   | २८२-२८८ |
| मन्दाधिकारिणामुपासनां विधातुं प्रश्नारम्भः                           | ... २८२ |
| परापरोभयप्राप्तिसाधनतया ओंकारोपासनाप्रदर्शनम्                        | ... २८३ |
| केवलैकमात्रोपासकस्य मनुष्यलोकप्राप्तिकथनम्                           | ... २८४ |
| केवलद्विमात्रोपासकस्य सोमलोकप्राप्तिकथनम्                            | ... २८५ |
| परब्रह्माविषयोंकारोपासनाविधानम्, उपासकस्य पुनरा-<br>वृत्त्यभावकथनं च | ... २८६ |

|   |         |
|---|---------|
| षष्ठः प्रश्नः   | २८९-३०६ |
| कलाभिरात्मप्रदर्शनस्य तात्पर्यवर्णनम्                     | ... २९१ |
| प्रसङ्गात्रैयायिकमतमुपन्यस्य तत्खण्डनम्                   | ... २९२ |
| ज्ञानस्याव्यभिचारित्वोपपादनम्                             | ... २९२ |
| चैतन्यस्य नित्यत्वं प्रसाध्यारोपाधिष्ठानत्वसंभवप्रदर्शनम् | ... २९४ |
| सांख्यानां शङ्काविष्करणम्                                 | ... २९६ |
| स्वतोऽकर्तुरपि औपाधिककर्तृत्वमादायेक्षितृत्वसमर्थनम्      | ... २९७ |
| सदृष्टान्तं कलाप्रदर्शनम्                                 | ... ३०३ |

|                      |         |
|----------------------|---------|
| मुण्डकोपनिषद्भाष्यम् | ३०९-३९० |
|----------------------|---------|

|                 |         |
|-----------------|---------|
| प्रथमं मुण्डकम् | ३१३-३३८ |
|-----------------|---------|

|              |         |
|--------------|---------|
| प्रथमः खण्डः | ३१५-३२६ |
|--------------|---------|

|  |         |
|--|---------|
| केवलब्रह्मविद्याया मोक्षसाधनत्वकथनपूर्वकमुपनिषच्छब्द-<br>निर्वचनम् | ... ३१६ |
| विद्यासंप्रदायप्रवर्तकानां पारम्पर्यनिर्देशः                       | ... ३१७ |

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| अङ्गिरसं प्रति शौनकस्य प्रश्नः   | ... | ३१९ |
| विद्याया द्वैविध्यप्रदर्शनपूर्वकं प्रश्नप्रत्युत्तरासंगतिमाशङ्क्य<br>तत्समाधानम् | ... | ३२० |
| अपरविद्याप्रदर्शनम्  | ... | ३२१ |
| परविद्याप्रदर्शनम्   | ... | ३२२ |
| दृष्टान्तमुखेनाक्षरस्य भूतयोनित्वोपन्यासः  | ... | ३२४ |

**द्वितीयः खण्डः** ३२७—३३८

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| वृत्तमनूद्य द्वितीयखण्डतात्पर्यप्रदर्शनम्                          | ... | ३२७ |
| सर्वकर्मणां प्राथम्यादपरविद्याविषयभूताग्निहोत्रप्रदर्शनम्          | ... | ३२९ |
| यथोक्तकारिणां यजमानानां सूर्यरश्मिद्वारेन्द्रलोक-<br>प्राप्तिकथनम् | ... | ३३१ |
| ज्ञानरहितस्य कर्मणोऽसारफलत्वप्रदर्शनपुरःसरं कर्मिणां<br>निन्दा     | ... | ३३२ |
| सगुणब्रह्मज्ञानसहिताश्रमकर्मिणां फलं संसारगोचरमेवेति<br>प्रदर्शनम् | ... | ३३५ |
| विरक्तस्यैव ब्रह्मविद्यायामधिकार इति प्रदर्शनम्                    | ... | ३३६ |

**द्वितीयं मुण्डकम्** ३३९—३६४

**प्रथमः खण्डः** ३४१—३५१

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| उत्तरखण्डस्य तात्पर्यमुक्त्वा अक्षरस्य जीवोत्पत्तिप्रलय-<br>निमित्तत्वमुपाधिप्रयुक्तमेवेति तात्पर्यवर्णनम् | ... | ३४१ |
| अक्षरस्याप्राणादिमत्त्वप्रदर्शनम्  | ... | ३४३ |
| अक्षरस्य सर्वं प्रति कारणत्वं प्रदर्श्य कस्मिन् भगवो विज्ञात<br>इति प्रश्नस्योत्तरप्रदर्शनम्               | ... | ३४४ |

## द्वितीयः खण्डः

३५२-३६३

सकृदुपदेशमात्रेणाद्वितीयं ब्रह्म सम्यक्प्रतिपत्तुमशक्तस्य दर्शनो-

पायप्रदर्शनम्

... ३५२

परमात्मज्ञानस्य फलवचनम्

... ३६०

ज्योतिषां ज्योतिरिति पूर्वमुक्तस्य प्रपञ्चनम्

... ३६१

निगमनस्थानीयेन मन्त्रेण पूर्वोक्तस्यार्थस्योपसंहारः

... ३६३

## तृतीयं मुण्डकम्

३६५-३९०

## प्रथमः खण्डः

३६७-३७८

वृत्तानुवादपूर्वकं प्रकृतखण्डतात्पर्यमुक्त्वा परमार्थवस्त्ववधारणम्

३६७

ब्रह्मविद्वरिष्ठस्वरूपोपन्यासः

... ३७१

सम्यग्ज्ञानसहकारिसाधनविधानम्

... ३७३

असाधारणतदुपलब्धिसाधनान्तरविधानम्

... ३७५

विदुषः सर्वात्मत्वादेव सर्वावाप्तिलक्षणफलप्रदर्शनम्

... ३७७

## द्वितीयः खण्डः

३७९-३८९

कामत्यागस्य प्रधानसाधनत्वेन मुमुक्षुं प्रति प्रदर्शनम्

... ३८०

अभेदानुसंधानलक्षणप्रार्थनव्यतिरिक्तश्रवणादिभिरात्मनो लभ्य-

त्वकथनम्

... ३८१

## माण्डूक्योपनिषत्कारिकाभाष्यम्

३९१-५४०

## आगमप्रकरणम्

३९६-४२९

विधिमुखेन निषेधमुखेन च वस्तुप्रतिपादनपरमङ्गलरचना

... ३९५

विषयप्रयोजनाद्यनुबन्धोपन्यासमुखेन प्रकरणचतुष्टयस्य प्रत्ये-

कमसंकीर्णप्रमेयसूचनम्

... ३९६

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| ओंकारस्य सर्वात्मत्वप्रतिपादनम्  | ... | ३९७ |
| वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरवाक्यस्य सफलं तात्पर्यवर्णनम्   | ... | ३९९ |
| निरवयवस्य ब्रह्मणः काल्पनिकमुपायोपेयभूतं पादचतुष्टयम्-<br>विरुद्धमित्यभिप्रेत्याद्यपादव्युत्पादनम् | ... | ४०० |
| द्वितीयपादव्युत्पादनम्   | ... | ४०२ |
| तृतीयपादव्युत्पादनम्   | ... | ४०३ |
| प्राज्ञस्यान्तर्यामिणा सहाभेदं गृहीत्वा सर्वेश्वरत्वादिविशेषान्त-<br>रप्रदर्शनम्                   | ... | ४०४ |
| माण्डूक्योपनिषदर्थविष्करणपराणां श्लोकानामर्थविवरणम्  | ... | ४०५ |
| तुरीयपादव्युत्पादनम्   | ... | ४११ |
| नान्तःप्रज्ञत्वादिश्रुत्युक्तार्थविवरणपरश्लोकानामर्थविवरणम्  | ... | ४१६ |

वैतथ्यप्रकरणम्

४३०-४५१

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| पूर्वोत्तरप्रकरणयोः पौर्वापर्यप्रदर्शनपुरःसरं द्वैतस्य वैतथ्यप्रति-<br>पादनाय दृष्टान्तसिद्धयर्थं वृद्धसंमतिप्रदर्शनम् | ... | ४३० |
| वैतथ्यमेव साधयितुं पञ्चावयववाक्योपन्यासः   | ... | ४३२ |
| साध्यवैकल्यमाशङ्क्य तत्परिहारः   | ... | ४३४ |
| सर्वमिथ्यात्वे प्रमात्रादिव्यवहारानुपपत्तिमाशङ्क्य<br>तत्परिहारः   | ... | ४३६ |
| जीवकल्पनानिमित्तस्य सदृष्टान्तं निरूपणम्   | ... | ४३९ |
| युक्त्या प्रसाधिते मिथ्यात्वे वेदान्तप्रमाणप्रदर्शनम्  | ... | ४४३ |
| प्रकरणार्थोपसंहरणपूर्वकं द्वैतस्यावस्तुत्वादुत्पत्त्याद्यसंभवप्रदर्शनम्  | ... | ४४४ |

अद्वैतप्रकरणम्

४५१-४८७

|   |     |     |
|---|-----|-----|
| श्रुत्यनुग्रहीततर्कावष्टम्भादप्यद्वैतं व्यवस्थापयितुमुपास्योपास-<br>कभेददृष्ट्यपवदनम् | ... | ४५२ |
|---|-----|-----|



|  |     |
|--|-----|
| जीवभेदप्रतीतेर्गौणत्वमादाय जीवसृष्टिश्रुतिविरोधपरिहारः                                   | ४५४ |
| अद्वैतस्य जीवप्रलयश्रुत्यविरोधसमर्थनम्   | ४५५ |
| अद्वैतस्य व्यवस्थानुपपत्त्या विरोधमाशङ्क्य तत्परिहारः                                    | ४५५ |
| कर्मज्ञानकाण्डवाक्यविरोधे ज्ञानकाण्डवाक्यार्थस्यैकत्वस्यैव<br>सामञ्जस्यनिर्धारणम्        | ४६३ |
| उपासनाविध्यनुपपत्तिविरोधपरिहारः  | ४६६ |
| स्वयूध्यपक्षमनुभाष्य तद्दूषणम्   | ४६९ |
| अविक्रिये ब्रह्मणि हानोपादानयोरसंभवप्रदर्शनपुरःसरमतो<br>वक्ष्यामीत्युपक्रान्तस्योपसंहारः | ४८१ |
| मनोनिग्रहोपायप्रदर्शनम्  | ४८४ |
| शास्त्रयुक्तिभ्यां निर्धारितस्यार्थस्योपसंहारः   | ४८६ |

## अलातशान्तिप्रकरणम्

४८८-५३८

|   |     |
|---|-----|
| उपयुक्तार्थमनूद्य प्रकरणतात्पर्यप्रदर्शनम्                | ४८८ |
| अद्वैतदर्शनस्याविवादत्वविशदीकरणाय द्वैतिनां विवादोपन्यासः | ४९० |
| हेतुफलयोः कार्यकारणभावप्रतिषेधः                           | ४९५ |
| आत्मनः संसारमोक्षयोः परमार्थसद्भाववादिनां दोषोपन्यासः     | ५०५ |
| भूतदर्शनोपसंहारः  | ५१२ |
| स्वप्रक्रिययात्मतत्त्वमवधारयितुमवस्थात्रयोपन्यासः         | ५३० |

## ऐतरेयोपनिषद्भाष्यम्

५४१-६०४

## प्रथमोऽध्यायः

५४५-५७६

|   |     |
|---|-----|
| कर्मकाण्डार्थं संक्षेपेणानूद्य केवलात्मपरतयोपनिषद्विवरणम् | ५४७ |
| समुच्चयवादिमतोपन्यासस्तत्त्वण्डनं च                       | ५४८ |

इन्द्रियाणां तदाभिमानिदेवतानां च सृष्टिमुक्त्वा क्षुत्पिपासयोः

सृष्टिकथनम्

... ५६३

भोग्यसृष्टिप्रक्रमः

... ५६८

द्वितीयोऽध्यायः

५७७-५९२

विवक्षितार्थसिद्धये विस्तरेण विचारोपन्यासः

... ५७९

तृतीयोऽध्यायः

५९३-६०२

ब्रह्मात्मविदः फलप्रदर्शनम्

६०१

तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम्

६११-७५४

शीक्षावल्ली

६११-६५८

ब्रह्मनमस्काररूपमङ्गलम्

... ६११

गुरुनमस्कारः चिकीर्षितग्रन्थनिर्देशः

... ६११

उपोद्धातः

... ६१२

दुरितक्षयाद्यर्थनित्यकाम्यकर्मणां पूर्वकाण्डेऽधिगतत्वम् कर्मभ्यो-

ऽसंभाव्यमाननिःश्रेयसफलब्रह्मविद्यायाः सनिदानकर्मोन्मूल-

नार्थायाः प्रारम्भप्रस्तावः

... ६१२

मुमुक्षोरागामिशरीरोत्पादकहेत्वभावादयत्नत एव मोक्षः,

अथवा निरतिशयप्रीतिरूपस्वर्गस्य मोक्षादन्यत्रासंभवात्स्व-

र्गसाधनस्यैव मोक्षसाधनत्वम्, इति तदर्थं उपनिषदारम्भो

व्यर्थ इति पूर्वपक्षः

... ६१२

विरुद्धफलतेकसंचितकर्मसंभवाच्छरीरोत्पादहेत्वभावोऽसिद्ध

इति प्रथमपक्षपरिहारः

... ६१३

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| संचितकर्मसंभवेऽपि तेषां नित्यकर्मभ्यः क्षय इति शङ्कायाः<br>नित्यकर्मणामकरणनिमित्तप्रत्यवायपरिहारार्थत्वान्न संचित-<br>क्षयहेतुत्वमिति तदेकदेशिमतेनैव व्युदासः                                      | ... | ६१३ |
| नित्यस्य संचितक्षयहेतुत्वेऽपि न शुद्धकर्मक्षपयितृत्वमविरो-<br>धादित्यभिमतहानिः   | ... | ६१३ |
| असति विवेकबले काम्यकर्मवर्जनमशक्यमिति मुमुक्षोः काम्य-<br>कर्माप्रसक्तिरिति पक्षस्यासिद्धिः  | ... | ६१३ |
| अभावाद्भावोत्पत्तौ प्रमाणाभावान्न नित्यानामकरणनिमित्त-<br>प्रत्यवायपरिहारकत्वम्, अपि तु उपात्तदुरितक्षयज्ञापकं<br>नित्यानामकरणम्, इति स्वमतप्रदर्शनपूर्वकमयत्नतो मोक्ष<br>इति पक्षखण्डनोपसंहारः    | ... | ६१३ |
| स्वर्गासाधनस्यैव मोक्षसाधनत्वमिति पक्षमनूद्य मोक्षस्य नित्य-<br>त्वाभ्युपगमेन परिहारः  | ... | ६१४ |
| विद्यासहितकर्मणां नित्यारम्भसामर्थ्यमाशङ्क्य, विरोधात्त-<br>न्निरसनम्  |     | ६१४ |
| प्रध्वंसाभावदृष्टान्तेन नित्यारम्भसंभवमुद्भाव्य, प्रध्वंसाभा-<br>वस्य कार्यत्वमभ्युपगम्य तद्विन्नत्वविशेषणेन व्युदासः  | ... | ६१४ |
| प्रध्वंसाभावस्य कार्यत्वं न संभवतीति सप्रपञ्चं समर्थनम्  |     | ६१४ |
| विद्याकर्मकर्तृनित्यत्वात् साधनसांतत्येन साध्यसांतत्यशङ्कां<br>कर्तृत्वस्यानुपरमे उपरमे वा अभिमतार्थासिद्ध्या समुन्मूल्य,<br>परमात्मज्ञानादेव मोक्ष इति तदर्थमुपनिषदारम्भः साधु-<br>रेवेति वर्णनम् | ... | ६१४ |
| उपनिषच्छब्दार्थव्युत्पादनम्  | ... | ६१५ |
| विद्याश्रवणधारणादीनामप्रतिबन्धाय अध्यात्मप्राणाद्यभिमा-<br>निमित्रादिदेवतानां सुखकृत्वप्रार्थनम्   | ... | ६१५ |

|  |     |
|--|-----|
| ब्रह्म विविदिषुणा वाय्वाख्यब्रह्मविषयाणां नमस्कारवदनसं-<br>रक्षणप्रार्थनक्रियाणां ब्रह्मविद्योपसर्गशान्त्यर्थं करणम् | ६१६ |
| शान्तिः शान्तिरिति त्रिवारपाठस्त्रिविधविद्याप्राप्त्युपसर्गप्र-<br>शमनार्थः  | ६१६ |
| अर्थज्ञानप्रधानोपनिषदि स्वरवर्णादिष्वप्रमादाय शीक्षाध्या-<br>यारम्भः   | ६१७ |
| शीक्षाशब्दव्युत्पत्तिपुरःसरं तदर्थविवरणम्  | ६१७ |
| शीक्षाध्यायस्थशिक्षितव्यविषयाः स्वरवर्णादयः  | ६१७ |
| शिष्येण स्वस्याचार्यस्य च वक्ष्यमाणसंहितोपासनपरिज्ञान-<br>निमित्तयशआदिप्रार्थनम्                                     | ६१८ |
| ‘अथातः संहितायाः’ इत्यत्राथातःशब्दार्थविवरणम्  | ६१८ |
| लोकादिविषयाः पञ्च संहितोपासनाः   | ६१९ |
| तासां महासंहितात्वव्युत्पादनम्   | ६१९ |
| ‘अथाधिलोकम्’ ‘अथाधिज्यौतिषम्’ इत्यादावथशब्दस्य<br>क्रमार्थत्वम्  | ६१९ |
| संहितापूर्ववर्णादिषु पृथिव्यादिदृष्टिरिति लोकविषयसंहितो-<br>पासनप्रकारः  | ६१९ |
| अस्य प्रकारस्य ज्योतिरादिविषयेषूपपासनेषु समानत्वम्   | ६२० |
| अत्रत्यवेदेत्यस्योपासनार्थत्वप्रपञ्चनपुरःसरमुपासनशब्दार्थ-<br>व्युत्पादनम्   | ६२१ |
| प्रकृतोपासनफलविध्यर्थोपपादनम्  | ६२१ |
| मेधाकामस्य ‘यश्छन्दसाम्’ इत्यादिमन्त्रजपविधानं परंपरया<br>विद्योपयोगार्थम्   | ६२३ |
| ओंकारम् ‘यश्छन्दसामृषभः’ इत्यादिना स्तुत्वा ‘स मेन्द्रः’<br>इत्यादिना मेधादीनां प्रार्थनमिति मन्त्रार्थः             | ६२४ |

|  |     |
|--|-----|
| श्रीकामस्य 'आवहन्ती वितन्वाना' इत्यादिमन्त्रैर्होमविधानम् ...  | ६२५ |
| ओंकारं प्रत्येव 'आवहन्ती वितन्वाना' इत्यादिना श्री-<br>प्रभृतीनां प्रार्थनमिति मन्त्रार्थः ...   | ६२५ |
| विद्याप्रकरणे श्रीकामाद्युपन्यासः परंपरया विद्योपयोगार्थः ...  | ६२६ |
| वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरानुवाकस्य संबन्धकथनम् ...   | ६२६ |
| मह इति चतुर्थव्याहृतौ माहाचमस्यविदितत्वपूर्वकं<br>ब्रह्मदृष्टिविधानम् ...  | ६२८ |
| लोकाद्यात्मकभूरादीतल्याहृतीनां महात्मकब्रह्मावयवत्वमुप-<br>पाद्य तामु एतल्लोकादिदृष्टिविधानम् ...  | ६२९ |
| एकैकव्याहृतीनां चतुष्प्रकारमुपासनम् ...  | ६२९ |
| वक्ष्यमाणानुवाकेनास्यैकवाक्यतामुपपाद्य हृदयान्तरुपलभ्यत्व-<br>मनोमयत्वादिविशिष्टब्रह्मण एतदुपासनमिति सूचनार्थत्वम्<br>'स वेद ब्रह्म' इति संदर्भस्य ... | ६३० |
| वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरानुवाकसंबन्धवर्णनम् ...   | ६३२ |
| प्रकृतोपास्यब्रह्मणो यथावदुपलब्ध्यर्थमुपासनार्थं च स्था-<br>नविशेषप्रदर्शनपूर्वकस्वरूपप्रदर्शनम् ...   | ६३२ |
| प्रतिपादितस्वरूपप्रतिपत्तये मार्गविशेषप्रदर्शनम् ...   | ६३३ |
| उक्तमार्गेण प्रतिपन्नब्रह्मणः पुरुषस्य स्वाराज्यादिफलविशेष-<br>प्रदर्शनम् ...  | ६३३ |
| अस्मिन्नुपासने आदरार्थम् 'प्राचीनयोग्योपास्व' इत्याचा-<br>र्योक्तिप्रदर्शनम् ...   | ६३४ |
| प्रकृतस्य ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य पृथिव्यादिपाङ्क्तरूपेणोपा-<br>सनं तत्फलविशेषश्च ...   | ६३५ |
| वृत्तानुवादपुरःसरमुत्तरानुवाकावतरणम् ...   | ६३७ |
| शब्दमात्रविषयस्यापि ओंकारोपासनस्य प्रतिमादौ विष्ण्वा-<br>द्युपासनस्येव फलप्रदानसामर्थ्यसंभवः ...   | ६३८ |
| ओंकारे ब्रह्मसादृश्यवर्णनपुरःसरं ब्रह्मदृष्टिविधानम् ...   | ६३८ |

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| 'ओमित्येतदनुकृति...' इत्यादिना प्रकृतोत्कारस्तुतिः   | ... | ६३८ |
| व्यवहितव्याहृत्यनुवाकेनोत्तरानुवाकसंबन्धकथनम्  | ... | ६४१ |
| केवलं विज्ञानेनैव स्वाराज्यादिफलस्योक्तत्वाच्छ्रौतस्मार्तकर्म-<br>णामानर्थक्यमाशङ्क्य तेषामपि पुरुषार्थं प्रति साधनत्व-<br>सत्त्वात्तान्यवश्यानुष्ठेयानि                                 | ... | ६४१ |
| पुनः पुनः 'स्वाध्यायप्रवचने च' इति ग्रहणस्य तयोर्यत्नत<br>अनुष्ठेयत्वसिद्धिदर्शनम्   | ... | ६४१ |
| उक्तानामपि सत्यतपःप्रभृतीनामादरार्थं राशीतराद्याचार्यग्र-<br>हणेन प्रदर्शनम्   | ... | ६४१ |
| 'अहं वृक्षस्य' इत्यादिमन्त्रस्य ब्रह्मविद्याप्राप्त्यर्थं जपार्थत्वेन<br>विधानम्   | ... | ६४३ |
| अस्य मन्त्रस्य ब्रह्मविदो ब्रह्मभूतस्य त्रिशङ्कुमहर्षेर्वेदानु-<br>वचनत्वप्रदर्शनम्  | ... | ६४४ |
| वेदग्रहणानन्तरमाचार्येण शिष्यं प्रत्यनुशासनात्पूर्वोपचितदुरित-<br>क्षयद्वारेणावश्यानुष्ठेयानि नित्यनैमित्तिकानीत्युत्तरानुवाक-<br>तात्पर्यार्थः  | ... | ६४७ |
| 'सत्यं वद' इत्याद्यनुष्ठेयधर्माणां प्रपञ्चनम्  | ... | ६४८ |
| आचार्येषु विद्यमानसुचरितानामेव ग्रहणं न तद्विज्ञाना-<br>मित्याद्युपन्यासः  | ... | ६४९ |
| उक्तोपदेशस्य वेदरहस्यार्थत्वादिप्रतिपादनम्   | ... | ६५० |
| उक्तोपनिषत्सिद्धान्तितार्थं विचारमुखेन दृढीकर्तुं विचारारम्भः  | ... | ६५० |
| विदुष एव कर्मस्वधिकारदर्शनात्कर्मभ्य एव केवलेभ्यो मोक्ष<br>इति पक्षमुद्भाव्य, नित्यत्वान्मोक्षस्य कर्माङ्गज्ञानस्य ब्रह्म-<br>विद्यायाश्चात्यन्तविलक्षणत्वादित्यादियुक्तिभिस्तद्वच्यपोहः | ... | ६५१ |
| विद्योपसर्जनेभ्यः कर्मभ्यः स्यान्मोक्ष इति पक्षमुत्थाप्य नित्य-<br>स्यारभ्यत्वानुपपत्तिरिति तन्निरसनम्   | ... | ६५२ |

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| विद्याकर्मणोः समुच्चितयोः स्यान्मोक्षसाधनत्वमिति शङ्का-<br>मुद्भाव्य विरुद्धधर्मवत्कर्तृकयोस्तयोः समुच्चयासंभव इत्या-<br>दियुक्तिभिस्तन्निरसनम्    | ... | ६५३ |
| कर्मबोधकश्रुतीनां गतिप्रदर्शनम्  | ... | ६५४ |
| कर्मोपसर्जनविद्यातः मोक्ष इत्याशङ्क्य विरोधादियुक्तिभि-<br>स्तद्व्युदासः   |     | ६५५ |
| कर्मणामुपयोगप्रदर्शनम्   |     | ६५५ |
| गृहस्थेतराश्रमाणामानर्थक्यमाशङ्क्य इतराश्रमप्रसिद्धब्रह्म-<br>चर्यादिश्रवणानुरोधेन तेषामपि विद्यायां परंपरयोपयोग<br>इत्यादियुक्तिभिस्तत्सार्थक्यम् | ... | ६५५ |
| श्रुतीनां कर्मस्वधिकयत्नस्य प्रयोजनप्रदर्शनम्  | ... | ६५७ |
| केवलविद्यैव परं श्रेय इत्युपसंहारः   | ... | ६५७ |
| अतीतविद्याप्राप्त्युपसर्गप्रशमनार्थमुत्तरशान्तिपाठस्तदर्थस्य च<br>व्याख्यातत्वम्   | ... | ६५८ |

### ब्रह्मानन्दवल्ली

६५९-७२६

|   |     |     |
|---|-----|-----|
| शिष्यस्य वक्ष्यमाणपरविद्याविघ्नप्रशमनाय स्वस्याचार्यस्य च<br>सामर्थ्यादिप्रार्थनम्                                | ... | ६६१ |
| वृत्तानुवादपूर्वकं ब्रह्मानन्दवल्लीतात्पर्यार्थस्य संक्षेपेण कथनम्  |     | ६६३ |
| परविद्याश्रवणादिप्रवृत्तिसिद्धयर्थं परविद्याया अज्ञाननिवृत्तिः<br>प्रयोजनमिति सप्रपञ्चं प्रदर्शनम्                | ... | ६६३ |
| वक्ष्यमाणलक्षणं ब्रह्म यो वेत्ति तस्य परब्रह्मप्राप्तिरिति<br>सूत्ररूपप्रथमवाक्यार्थप्रदर्शनम्                    | ... | ६६३ |
| आप्नोतिशब्दस्य मुख्यार्थपरिग्रहे बाधकमुपन्यस्य दर्शना-<br>र्थत्वाङ्गीकारेण प्रकृतवाक्यार्थस्य सदृष्टान्तमुपन्यासः | ... | ६६४ |
| प्रथमवाक्येन सूत्रितस्यानिर्धारितस्वरूपविशेषब्रह्मणो लक्ष-<br>णादिप्रदर्शनार्थं उत्तरसंदर्भ इत्यवतारणम्           | ... | ६६५ |

|   |     |
|---|-----|
| 'सत्यं ज्ञानम्' इति सत्यादिपदानामेकविभक्त्यन्तत्वेन विशेषणविशेष्यभाववागमाद्वेद्यब्रह्मविशेषणार्थत्वप्रदर्शनम् ...   | ६६५ |
| एकस्मिन्वस्तुनि विशेषणान्तरायोगात्कथमेषां विशेषणविशेष्यभाव इत्याक्षिप्य लक्षणार्थत्वादेशां पदानां लक्षणविशेषणयोश्च वैलक्षण्यादिति तत्समाधानम् ...   | ६६६ |
| पुनर्विशेषणविशेष्यभावपक्षमवलम्ब्य सत्यादिपदार्थव्याख्यानपूर्वकं तेषां पदानां प्रत्येकं व्यवच्छेद्यप्रदर्शनम् ...  | ६६६ |
| 'नान्यद्विजानाति' इति विशेषप्रतिषेधात्स्वात्मज्ञातृत्वमुपक्षिप्य ब्रह्माणोऽपि ज्ञेयत्वे ज्ञात्रन्तराभावप्रसङ्गादिभिस्तन्निरस्य ज्ञानशब्दस्य भावव्युत्पत्तिकत्वसमर्थनम् ...                                  | ६६७ |
| सत्यादिपदानां व्यावृत्त्यर्थत्वे ब्रह्मणश्चाप्रसिद्धत्वाच्छून्यार्थमेव सत्यादिवाक्यमित्याशङ्क्यैषां पदानां स्वार्थसमर्पणद्वारैव व्यावृत्त्यर्थत्वादब्रह्मशब्दस्य च स्वार्थनैवार्थवत्त्वादिति तत्परिहारः ... | ६६८ |
| ब्रह्मात्मैक्ये शास्त्रतात्पर्यमुक्त्वा तदा आत्मनो ज्ञातृत्वप्रसिद्ध्या ज्ञानपदस्य भावव्युत्पत्तिकत्वहान्याशङ्कापूर्वकमौपाधिकमेव ज्ञातृत्वमित्यादिना तत्समर्थनम् ...  | ६६९ |
| ज्ञानस्य नित्यत्वेऽपि सर्वज्ञत्वोपपत्तिसमर्थनम् ...   | ६७० |
| सत्यज्ञानादिशब्दानां लक्षणावृत्त्या ब्रह्मलक्षकत्वोपन्यासः ...  | ६७० |
| व्याख्यातस्य ब्रह्मणः हार्दिकाशस्थितगुहायां वेदनप्रकारमुक्त्वा तस्य वेदितुर्ब्रह्मभूतस्य सर्वज्ञब्रह्मस्वरूपेण युगपत्सर्वकामानुभवः, इत्युपचारोक्त्या अद्वितीयस्वात्मानन्दानुभवरूपफलप्रदर्शनम् ...           | ६७१ |
| 'तस्माद्वा' इत्याद्युत्तरग्रन्थावतारणाय वृत्तानुवादपुरःसरमन्तत्पदार्थभूतत्रिविधपरिच्छेदराहित्यस्य वक्ष्यमाणसृष्टिवाक्यतात्पर्यविषयस्य सप्रपञ्चं प्रदर्शनम् ...  | ६७३ |



|   |     |
|---|-----|
| ‘तस्माद्वा’ इत्यादिसृष्टिवाक्यस्य पदशः अर्थविवरणम् ...  | ६७४ |
| ‘स वा एष पुरुषः’ इति पुरुषग्रहणस्य तात्पर्यविवरणम् ...  | ६७५ |
| तस्य च पुरुषस्य विद्ययान्तरतमब्रह्मसंक्रमणस्येह विव-<br>क्षितत्वाद्वाह्यविशेषेषु प्रतिपन्नात्मभावस्य झटितयान्तरत-<br>मप्रवर्तनमशक्यमिति प्रतिपत्तिसौकर्याय कोशपञ्चकोपन्यास<br>इति तात्पर्यवर्णनम् ... | ६७६ |
| प्राथमिकान्नमयकोशमुपन्यस्य तस्य सर्वभूतकारणत्वादलि-<br>ङ्गप्रदर्शनपूर्वकमन्नं ब्रह्मेति विजानतः सर्वान्नप्राप्तिफल-<br>प्रदर्शनम् ...   | ६७८ |
| एवमन्नमयादभ्यन्तरप्राणमयकोशोपन्यासः ...   | ६७९ |
| एवं क्रमेण मनोमयादिकोशोपन्यासः ...  | ६८३ |
| ततोऽप्यभ्यन्तरस्यानन्दमयकोशस्याब्रह्मत्वं सप्रपञ्चमुक्त्वा तदी-<br>यपुच्छमिव प्रतिपाद्यमानस्य ब्रह्मणः प्रकृतस्येह प्राधान्येन<br>प्रतिपादनम् ...   | ६९० |
| ब्रह्मणोऽसत्त्वशङ्कामुद्भाव्यासद्रूपेण वेदननिरसनपूर्वकं सदिति<br>प्रतिपत्तव्यत्वम् ...  | ६९४ |
| किं विद्वानेव ब्रह्म प्राप्नोति, उताविद्वानपीत्यादिप्रश्नप्र-<br>दर्शनपूर्वकं तत्समाधानतया ब्रह्म सद्रूपमेवेत्यादिप्रदर्शनम् ...  | ६९५ |
| ब्रह्मणोऽचेतनत्वशङ्काव्यावृत्त्यर्थं स्वतन्त्रकामयितृत्वोपन्यास-<br>पूर्वकजगत्सृष्ट्युपन्यासः ...   | ६९८ |
| प्रवेशवाक्यस्य तात्पर्यं दर्शयितुं विस्तरेण विचारमुपक्रम्य<br>मतान्तरप्रदर्शनपुरःसरं प्रकृतान्तःकरणगुहानिहितत्वमेव<br>प्रवेश इति समर्थनम् ...   | ६९९ |
| मूर्तमूर्तसर्वविकारजातं सदात्मकं ब्रह्माभवदिति प्रदर्श्य सद्रू-<br>पमेव ब्रह्मेति प्रकृतप्रश्नप्रतिवचनत्वेन निगमनम् ...   | ७०३ |
| ब्रह्मणः सुकृतत्वरसरूपत्वादिनास्तित्वप्रदर्शनम् ...   | ७०६ |

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| वातादीनां स्वस्वकार्येषु भयपूर्वकनियतप्रवृत्त्या तत्प्रवर्तकत्वा-<br>द्ब्रह्मास्तित्वम्  | ... | ७१२ |
| साधनसंपत्तिनिमित्तस्य सार्वभौमानन्दप्रभृतिहिरण्यगर्भानन्द-<br>पर्यन्तस्यानन्दस्योत्तरोत्तरोत्कर्षप्रतिपादनेन ब्रह्मानन्दस्य<br>निरतिशयसर्वोत्कृष्टत्वप्रतिपादनम् | ... | ७१३ |
| उपक्रान्तब्रह्मात्मैक्यस्योपसंहारः   | ... | ७१६ |
| विद्वदविदुषोः प्राप्त्यप्राप्तिविषयप्रश्नव्याख्यारम्भः   | ... | ७१८ |
| सप्रपञ्चमुपसंक्रमणशब्दार्थविचारपूर्वकं ब्रह्मस्वरूपविज्ञानमेवो-<br>पसंक्रमणमिति समर्थनम्   | ... | ७१९ |
| वाङ्मनसागोचरब्रह्मविज्ञानवतः कुतश्चन भयाभाव इति<br>प्रकरणार्थसंक्षेपः  | ... | ७२५ |
| पुण्याकरणपापक्रिये अविदुष इव विद्वांसं न तपत इति<br>प्रदर्शनम्   | ... | ७२६ |
| ब्रह्मानन्दवल्ल्यर्थोपसंहारः   | ... | ७२६ |

## भृगुवल्ली

७२९-७५६

|   |     |     |
|---|-----|-----|
| वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरवल्लीसंबन्धकथनम्   | ... | ७२९ |
| ब्रह्मजिज्ञासुना भृगुणा पृष्टेन वरुणेन ब्रह्मोपलब्धिसाध-<br>नान्नादीनां ब्रह्मलक्षणस्य ब्रह्मणः प्रतिपत्तव्यत्वस्य च<br>उपदेशः                | ... | ७३० |
| एवमुपदिष्टस्य भृगोस्तपोऽनुष्ठानमहिम्नान्नं ब्रह्मेति ज्ञान-<br>मुपदिश्य पुनः पितरमागत्य प्रष्टुः तपसैव ब्रह्म वि-<br>जिज्ञासस्वेति प्रतिवचनम् | ... | ७३३ |
| एवं क्रमेण भृगोस्तपसैव ब्रह्मज्ञानसंपत्त्या ब्रह्मजिज्ञासो-<br>स्तपसोऽवश्यानुष्ठेयत्वम्   | ... | ७३८ |
| एवमुपदिष्टब्रह्मविद्याया ब्रह्मभावापत्त्यादिफलम्  | ... | ७३९ |

|   |     |     |
|---|-----|-----|
| साधकस्यानुष्ठानार्थं ब्रह्मविदो नियममभिधायान्नादरूपेण<br>प्राणाद्युपासनं तत्फलं च   | ... | ७४० |
| पृथिव्याकाशोपासकस्य ब्रह्मन्नसंग्रहमुक्त्वान्नदानस्य माहात्म्य-<br>कथनम्  | ... | ७४४ |
| वागादिषु ब्रह्मोपासनानि तत्फलानि च  | ... | ७४६ |
| एवमध्यारोपमुक्त्वा श्रुत्युपपत्त्यादिना ब्रह्मणोऽसंसारित्वमे-<br>कत्वं चेत्यपवादप्रदर्शनम्  | ... | ७४९ |
| ब्रह्मैकत्वविज्ञानवतोऽन्नमयादिक्रमेणानन्दमयोपसंक्रमणपूर्वकं<br>ब्रह्मज्ञानफलीभूतकृतार्थताख्यापनाय सर्वात्मकब्रह्मरूपसा-<br>मगानप्रदर्शनम् | ... | ७५१ |
| वल्लीद्वयतात्पर्यार्थनिगमनम्  | ... | ७५४ |

### नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्भाष्यम् ७५७-९१०

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| शान्तिमन्त्रस्य विघ्नोपशमार्थस्य विवरणम् | ... | ७५९ |
|--|-----|-----|

### प्रथमोपनिषत् ७६३-८०१

|   |     |     |
|---|-----|-----|
| श्रीनृसिंहब्रह्मविद्याया आख्यायिकापूर्वमवतारणम्                                       | ... | ७६५ |
| सामसंबन्धित्वेन पृथिव्यन्तरिक्षद्युब्रह्मलोकानामुपासनं श्रीनृ-<br>सिंहोपासनान्तर्गतम् | ... | ७७५ |
| साङ्गसामोपासनोपन्यासः   | ... | ७७९ |
| अग्निसूर्यचन्द्रब्रह्मरूपाणां सामाङ्गदेवतानामुपासननिरूपणम्                            | ... | ७८१ |
| प्रथमसामोद्धारः   | ... | ७८४ |
| क्षीरोदार्षवायिनो नृकेसरिणो योगारूढस्य उपासनोपपादनम्                                  | ... | ७८६ |
| द्वितीयसामोद्धारः   | ... | ७८८ |
| उपास्यस्य नृकेसरिणस्त्रिनेत्रत्वाद्याकारविशेषोपन्यासः                                 | ... | ७८९ |

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| तृतीयसामोद्धारः                                  | ... | ७९३ |
| अस्य साम्नो विश्वस्रष्टृत्वोपन्यासः              | ... | ७९४ |
| चतुर्थसामोद्धारः                                 | ... | ७९७ |
| व्यवधानेन सामोद्धारस्य शङ्कापूर्वकं प्रयोजनकथनम् | ... | ७९८ |
| नैरन्तर्येण सामोद्धारस्पष्टीकरणम्                | ... | ८०० |

द्वितीयोपनिषत्

८०३-८४२

|   |     |     |
|---|-----|-----|
| आख्यायिकाद्वारा अधिकारिविशेषणान्तरम्  | ... | ८०५ |
| प्रणवचतुर्मात्राव्यूहोपासनम्  | ... | ८०९ |
| पादाक्षरसंख्यापूर्वककृत्स्नमूलमन्त्राक्षरसंख्यानिरूपणं हृदयादि-<br>पञ्चाङ्गोपन्यासश्च               | ... | ८१० |
| प्रत्येकं मूलमन्त्राक्षरणां प्रणवसंपुटितत्वविधानात् पदाज्ञाने<br>प्राप्ते, तत्सौलभ्यार्थं पदोद्धारः | ... | ८१३ |
| उपास्यगुणविशेषनिर्णयार्थं मूलमन्त्रपदानां प्रत्येकं प्रश्नप्रति-<br>वचनाभ्यामर्थविवरणम्             | ... | ८१५ |
| अहंपदार्थविवरणवाक्यस्य अहमस्मीत्यादेरुपासनाफलपरत्व-<br>प्रदर्शनम्                                   | ... | ८४० |

तृतीयोपनिषत्

८४३-८५२

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| उपासनानन्तरं शक्तिबीजद्वयपाठस्य संपुटीकरणसिद्धिरूप-<br>प्रयोजनकथनपूर्वकं शक्तिबीजद्वयनिर्णयः | ... | ८४५ |
|--|-----|-----|

चतुर्थोपनिषत्

८५६-८८१

|   |     |     |
|---|-----|-----|
| शक्तिबीजनिर्णयानन्तरं मूलमन्त्राङ्गमन्त्रपाठस्य प्रयोजनकथ-<br>नपूर्वकं मूलमन्त्राङ्गमन्त्राणामुद्देशक्रमः | ... | ८५५ |
| प्रणवात्मकाङ्गमन्त्रव्याख्यानम्   | ... | ८५७ |

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| सावित्रीमहालक्ष्मीनृसिंहगायत्रीरूपाणामङ्गमन्त्राणां व्याख्या-<br>नम्   | ... | ८६९ |
| प्रणवसंपुटिते एकैकस्मिन्मूलमन्त्राक्षरे तत्तद्देवतानृसिंहव्यूहे<br>प्रदर्शयितुं प्रत्येकं प्रणवसंपुटितमूलमन्त्राक्षराणां द्वात्रि-<br>शन्नृसिंहव्यूहस्तुतिमन्त्राणां च पुरश्चरणार्थानां प्रदर्शनम् | ... | ८७५ |

## पञ्चमोपनिषत्

८८३-९१०

|  |     |     |
|--|-----|-----|
| पञ्चमाङ्गरूपास्त्राख्यमहाचक्रविद्यामभिधातुं महाचक्रस्वरूपो-<br>द्धारः                                      | ... | ८८५ |
| उद्धृतमहाचक्रे यथाविहितमन्त्राक्षराणां न्यासक्रमः  | ... | ८९१ |
| महाचक्रविद्यायाः फलनिर्देशः  | ... | ८९६ |
| उक्ताया नृसिंहब्रह्मविद्यायाः फलविशेषप्रतिपादनम्   | ... | ८९८ |
| पापक्षयार्थं नित्यमेतद्विद्यानुष्ठानेन तद्ग्रन्थाध्ययनेन जपेन<br>वा आनुषङ्गिकान्येव फलानि इति प्रतिपादनम्  | ... | ९०१ |
| एतद्विद्यानुष्ठानतुरध्येतुर्जप्तुश्च उत्कर्षतरतमभावेन सर्वोत्कृष्ट-<br>त्वस्य सर्वोत्कृष्टफलस्य च निरूपणम् | ... | ९०६ |

॥ ॐ ॥

# ईशावास्योपनिषद्भाष्यम्

श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादैः  
विरचितम् ।



ॐ

पूर्णमदः पूर्णमिदं  
पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।  
पूर्णस्य पूर्णमादाय  
पूर्णमेवावशिष्यते ॥

---

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

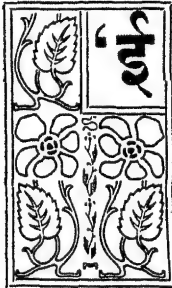






# ॥ ईशावास्योपनिषत् ॥

श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितेन  
भाष्येण सहिता ।



‘ई शा वास्यम्’ इत्यादयो मन्त्राः कर्मस्व-  
विनियुक्ताः, तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथा-  
त्म्यप्रकाशकत्वात् । याथात्म्यं चात्मनः शु-  
द्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगत-  
त्वादि वक्ष्यमाणम् । तच्च कर्मणा विरुध्यत  
इति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः । न ह्येवंलक्षणमात्मनो  
याथात्म्यम् उत्पाद्यं विकार्यम् आप्यं संस्कार्यं वा कर्तृभो-  
क्तरूपं वा, येन कर्मशेषता स्यात्; सर्वासामुपनिषदामात्म-  
याथात्म्यनिरूपणेनैवोपक्षयात्, गीतानां मोक्षधर्माणां चैवं-

परत्वात् । तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि च अशुद्ध-  
त्वपापविद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहि-  
तानि । यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिना अदृष्टेन  
स्वर्गादिना च द्विजातिरहं न काणत्वकुणित्वाद्यनधिकारप्रयो-  
जकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्त्विति ह्यधि-  
कारविदो वदन्ति । तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रका-  
शनेन आत्मविषयं स्वाभाविककर्मविज्ञानं निवर्तयन्तः शोक-  
मोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पाद-  
यन्तीति । एवमुक्ताधिकार्यभिधेयसंबन्धप्रयोजनान्मन्त्रान्सं-  
क्षेपतो व्याख्यास्यामः—

ईशा वास्यमिदं सर्वं

यत्किं च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा

मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

ईशा ईष्टे इति ईदृ, तेन ईशा । ईशिता परमेश्वरः पर-  
मात्मा सर्वस्य । स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्  
प्रत्यगात्मतया । तेन स्वेन रूपेणात्मना ईशा वास्यम् आच्छा-  
दनीयम् । किम् ? इदं सर्वं यत्किं च यत्किंचित् जगत्यां

पृथिव्यां जगत् तत्सर्वम् । स्वेनात्मना ईशेन प्रत्यगात्मतया  
 अहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचर-  
 माच्छादनीयं परमात्मना । यथा चन्द्रनागर्वादेरुदकादि-  
 संबन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेना-  
 च्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन, तद्वदेव हि स्वात्मन्य-  
 ध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद्वैतरूपं पृथि-  
 व्याम्, जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वात्सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं  
 विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात् । एवमी-  
 श्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासे एवाधिकारः,  
 न कर्मसु । तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः । न हि त्यक्तो मृतः  
 पुत्रो भृत्यो वा आत्मसंबन्धिताभावादात्मानं पालय-  
 ति । अतस्त्यागेनेत्ययमेवार्थः । भुञ्जीथाः पालयेथाः । एवं  
 त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः गृधिम् आकाङ्क्षां मा कार्षीः धनविष-  
 याम् । कस्य स्वित् कस्यचित् परस्य स्वस्य वा धनं मा  
 काङ्क्षीरित्यर्थः । स्वित्यनर्थको निपातः । अथवा, मा  
 गृधः । कस्मात् ? कस्य स्वित्कनम् इत्याक्षेपार्थः । न कस्य-  
 चिद्धनमस्ति, यद्वृध्येत । आत्मैवेदं सर्वमितीश्वरभावनया  
 सर्वं त्यक्तम् । अत आत्मन एवेदं सर्वम्, आत्मैव च सर्वम् ।  
 अतो मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीरित्यर्थः ॥

एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनात्मज्ञाननिष्ठतया  
आत्मा रक्षितव्य इत्येष वेदार्थः । अथेतरस्य अनात्मज्ञतया-  
त्मग्रहणाशक्तस्य इदमुपदिशति मन्त्रः—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि

जिजीविषेच्छतः समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति

न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

कुर्वन्नेव निर्वर्तयन्नेव इह कर्माणि अग्निहोत्रादीनि जिजी-  
विषेत् जीवितुमिच्छेत् शतं शतसंख्याकाः समाः संवत्सरा-  
न् । तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम् । तथा च प्राप्तानु-  
वादेन यज्जिजीविषेच्छतं वर्षाणि तत्कुर्वन्नेव कर्माणीत्येतद्वि-  
धोयते । एवम् एवंप्रकारे त्वयि जिजीविषति नरे नरमात्रा-  
भिमानिनि इतः एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्त-  
मानात्प्रकारात् अन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति, येन प्रकारेणाशु-  
भं कर्म न लिप्यते; कर्मणा न लिप्यस इत्यर्थः । अतः शा-  
स्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि कुर्वन्नेव जिजीविषेत् ॥

कथं पुनरिदमवगम्यते—पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनो ज्ञान-  
निष्ठोक्ता, द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति ? उच्यते—

ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम् ?  
 इहाप्युक्तम्— यो हि जिजीविषेत्स कर्माणि कुर्वन्नेव इति ;  
 ‘ईशा वास्यमिदं सर्वम्’, ‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः  
 कस्य स्विद्धनम्’ इति च । ‘न जीविते मरणे वा गृधिं  
 कुर्वीतारण्यमियात् इति पदं ततो न पुनरेयात्’ इति च  
 संन्यासशासनात् । उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति । ‘इमौ  
 द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुर-  
 स्तात्संन्यासश्च’ ; तयोः संन्यास एवातिरेचयति— ‘न्यास  
 एवात्यरेचयत्’ इति तैत्तिरीयके । ‘द्वाविमावथ पन्थानौ  
 यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः । प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभा-  
 षितः’ इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचा-  
 र्येण भगवता । विभागं चानयोः प्रदर्शयिष्यामः ॥

अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते—

असुर्या नाम ते लोका

अन्धेन तमसा वृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति

ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुराः ।

तेषां च स्वभूता लोका असुर्याः नाम । नामशब्दोऽनर्थको निपातः । ते लोकाः कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि । अन्धेन अदर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसा आवृताः आच्छादिताः । तान् स्थावरान्तान्, प्रेत्य त्यक्त्वेमं देहम् अभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् । ये के च आत्महनः आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः । के? ते जनाः ये-ऽविद्वांसः । कथं ते आत्मानं नित्यं हिंसन्ति? अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात् । विद्यमानस्यात्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादिसंवेदनादिलक्षणम्, तत् हतस्येव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता अविद्वांसो जना आत्महन इत्युच्यन्ते । तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते ॥

यस्यात्मनो हननादविद्वांसः संसरन्ति, तद्विपर्ययेण विद्वांसो मुच्यन्तेऽनात्महनः, तत्कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते—

अनेजदेकं मनसो जवीयो

नैनहेवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठ-

तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

अनेजत् न एजत् । 'एजृ कम्पने', कम्पनं चलनं स्वा-

वस्थाप्रच्युतिः, तद्वर्जितम्, सर्वदा एकरूपमित्यर्थः । तच्च एकं सर्वभूतेषु । मनसः संकल्पादिलक्षणात् जवीयो जववत्तरम् । कथं विरुद्धमुच्यते— ध्रुवं निश्चलमिदम्, मनसो जवीय इति च ? नैष दोषः, निरुपाध्युपाधिमत्त्वेनोपपत्तेः । तत्र निरुपाधिकेन स्वेन रूपेणोच्यते— अनेजदेकम् इति । मनसः अन्तःकरणस्य संकल्पविकल्पलक्षणस्योपाधेरनुवर्तनात् । इह देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादिदूरस्थसंकल्पनं क्षणमात्राद्भवतीत्यतो मनसो जविष्ठत्वं लोकप्रसिद्धम् । तस्मिन्मनसि ब्रह्मलोकादीन् द्रुतं गच्छति सति, प्रथमप्राप्त इवात्मचैतन्याभासो गृह्यते । अतः मनसो जवीयः इत्याह । नैनद्देवाः, द्योतनाद्देवाः चक्षुरादीनीन्द्रियाणि, एनत् प्रकृतमात्मतत्त्वं नाप्नुवन् न प्राप्तवन्तः । तेभ्यो मनो जवीयः । मनोव्यापारव्यवहितत्वादाभासमात्रमप्यात्मनो नैव देवानां विषयीभवति ; यस्माज्जवनान्मनसोऽपि पूर्वमर्षत् पूर्वमेव गतम्, व्योमवद्व्यापित्वात् । सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सत्, उपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीवाविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासत इत्येतदाह— तत् धावतः द्रुतं गच्छतः अन्यान् आत्मविलक्षणान्मनोवागिन्द्रियप्रभृ-



तीन् अत्येति अतीत्य गच्छतीव । इवार्थं स्वयमेव दर्शयति—  
 तिष्ठदिति, स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थः । तस्मिन् आत्म-  
 तत्त्वे सति नित्यचैतन्यस्वभावे, मातरिश्वा मातरि अन्तरिक्षे  
 श्रयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत्क्रियात्मकः,  
 यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च,  
 यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ, स मातरिश्वा,  
 अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि अग्न्यादित्यपर्जन्यादी-  
 नां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि, दधाति विभज-  
 तीत्यर्थः, धारयतीति वा ; ‘भीषास्माद्वातः पवते’ इत्यादि-  
 श्रुतिभ्यः । सर्वा हि कार्यकरणविक्रिया नित्यचैतन्यात्मस्व-  
 रूपे सर्वास्पदभूते सत्येव भवन्तीत्यर्थः ॥

न मन्त्राणां जामितास्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह—

तदेजति तन्नैजति

तदूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य

तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

तत् आत्मतत्त्वं यत्प्रकृतम् एजति चलति तदेव च  
 नैजति स्वतो नैव चलति, स्वतः अचलमेव सत् चलतीवे-

त्यर्थः । किंच, तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वादूर-  
इव । तदु अन्तिके समीपे अत्यन्तमेव विदुषाम्, आ-  
त्मत्वात् न केवलं दूरे, अन्तिके च । तत् अन्तः अभ्यन्तरे  
अस्य सर्वस्य, 'य आत्मा सर्वान्तरः' इति श्रुतेः, अस्य  
सर्वस्य जगतो नामरूपक्रियात्मकस्य । तत् उ सर्वस्य अस्य  
बाह्यतः ; व्यापित्वादाकाशवन्निरतिशयसूक्ष्मत्वादन्तः ; 'प्रज्ञा-  
नघन एव' इति शासनान्निरन्तरं च ॥

यस्तु सर्वाणि भूतानि

आत्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं

ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

यस्तु परिव्राट् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतानि अव्यक्तादीनि  
स्थावरान्तानि आत्मन्येव अनुपश्यति, आत्मव्यतिरिक्तानि  
न पश्यतीत्यर्थः । सर्वभूतेषु तेष्वेव च आत्मानं तेषामपि  
भूतानां स्वमात्मानमात्मत्वेन— यथास्य देहस्य कार्यकरण-  
संघातस्यात्मा अहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेतयिता केवलो  
निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवा-  
स्मेति सर्वभूतेषु चात्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति, सः ततः

तस्मादेव दर्शनात् न विजुगुप्सते विजुगुप्सां घृणां न करोति । प्राप्तस्यैवानुवादोऽयम् । सर्वा हि घृणा आत्मनोऽन्यद्दुष्टं पश्यतो भवति ; आत्मानमेवात्यन्तविशुद्धं निरन्तरं पश्यतो न घृणानिमित्तमर्थान्तरमस्तीति प्राप्तमेव— ततो न विजुगुप्सत इति ॥

इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि

आत्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक

एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि यस्मिन् काले यथोक्तात्मनि वा, तान्येव भूतानि सर्वाणि परमार्थात्मदर्शनात् आत्मैवाभूत् आत्मैव संवृत्तः परमार्थवस्तु विजानतः, तत्र तस्मिन्काले तत्रात्मनि वा, को मोहः कः शोकः । शोकश्च मोहश्च कामकर्मबीजमजानतो भवति, न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः । को मोहः कः शोक इति शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेणासंभवप्रकाशनात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति ॥

योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा, स स्वेन रूपेण किलक्षण  
इत्याह अयं मन्त्रः—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-

मस्त्राविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतो-

ऽर्थान्वयदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

स पर्यगात्, सः यथोक्त आत्मा पर्यगात् परि समन्तात्  
अगात् गतवान्, आकाशबद्धापीत्यर्थः । शुक्रं शुभ्रं ज्योति-  
ष्मत् दीप्तिमानित्यर्थः । अकायम् अशरीरं लिङ्गशरीरवर्जित  
इत्यर्थः । अव्रणम् अक्षतम् । अस्त्राविरम् स्त्रावाः सिरा  
यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्त्राविरम् । अव्रणमस्त्राविरमित्येताभ्यां  
स्थूलशरीरप्रतिषेधः । शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति कार-  
णशरीरप्रतिषेधः । अपापविद्धं धर्माधर्मादिपापवर्जितम् । शु-  
क्रमित्यादीनि वचांसि पुंलिङ्गत्वेन परिणेतानि, स पर्यगात्  
इत्युपक्रम्य कविर्मनीषी इत्यादिना पुंलिङ्गत्वेनोपसंहारात् ।  
कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक्, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्या-  
दिश्रुतेः । मनीषी मनस ईषिता, सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः ।  
परिभूः सर्वेषां परि उपरि भवतीति परिभूः । स्वयंभूः

स्वयमेव भवतीति, येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयंभूः । स नित्यमुक्त ईश्वरः याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वात् यथातथाभावो याथातथ्यं तस्मात् यथाभूतकर्मफलसाधनतः अर्थान् कर्तव्यपदार्थान् व्यदधात् विहितवान्, यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः । शाश्वतीभ्यः नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्य इत्यर्थः ॥

अत्राद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता प्रथमो वेदार्थः ‘ईशावास्यमिदं सर्वम्’ ‘मा गृधः कस्य स्विद्धनम्’ इति । अज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठासंभवे ‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्’ इति कर्मनिष्ठोक्ता द्वितीयो वेदार्थः । अनयोश्च निष्ठयोर्विभागो मन्त्रद्वयप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि दर्शितः— ‘सोऽकामयत जाया मे स्यात्’ इत्यादिना अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति । ‘मन एवास्यात्मा वाग्जाया’ इत्यादिवचनात् अज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चितमवगम्यते । तथा च तत्फलं सप्तान्नसर्गस्तेष्वात्मभावेनात्मस्वरूपावस्थानम् । जायाद्येषणात्रयसंन्यासेन चात्मविदां कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येन आत्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता— ‘किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः’ इत्यादिना । ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनस्तेभ्यः ‘असुर्या नाम ते’ इत्यादिना अविद्वन्निन्दाद्वारे-

णात्मनो याथात्म्यम् 'स पर्यगात्' इत्येतदन्तैर्मन्त्रैरुपदिष्टम् । ते ह्यत्राधिकृता न कामिन इति । तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि—'अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सस्यगृषिसंघजुष्टम्' इत्यादि विभज्योक्तम् । ये तु कामिनः कर्मनिष्ठाः कर्म कुर्वन्त एव जिजीविषवः, तेभ्य इदमुच्यते—'अन्धं तमः' इत्यादि । कथं पुनरेवमवगम्यते, न तु सर्वेषाम् इति? उच्यते—अकामिनः साध्यसाधनभेदोपमर्देन 'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति यत् आत्मैकत्वविज्ञानम्, तत्र केनचित्कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढः समुच्चिचीषति । इह तु समुच्चिचीषया अविद्वदादिनिन्दा क्रियते । तत्र च यस्य येन समुच्चयः संभवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते । तद्वैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं कर्मसंबन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम्, 'विद्यया देवलोकः' इति पृथक्फलश्रवणात् । तयोर्ज्ञानिकर्मणोरिहैकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया, न निन्दापरैव एकैकस्य, पृथक्फलश्रवणात्—'विद्यया तदारोहन्ति' 'विद्यया देवलोकः' 'न तत्र दक्षिणा यान्ति' 'कर्मणा पितृलोकः' इति । न हि शास्त्रविहितं किञ्चिदकर्तव्यतामियात् । तत्र—

अन्धं तमः प्रविशन्ति

ये अविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो

य उ विद्याया रताः ॥ ९ ॥

अन्धं तमः अदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति । के ? ये अविद्याम्, विद्याया अन्या अविद्या कर्मेत्यर्थः, कर्मणो विद्याविरोधित्वात्, तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलाम् उपासते तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः । ततः तस्मादन्धात्मकात्तमसः भूय इव बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति । के ? कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायामेव देवताज्ञाने एव रताः अभिरताः ॥

तत्रावान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह । अन्यथा फलवदफलवतोः संनिहितयोरङ्गाङ्गितया जामितैव स्यादिति—

अन्यदेवाहुर्विद्यया

अन्यदाहुरविद्यया ।

इति शुश्रुम धीराणां

ये नस्तद्विचक्षिरे ॥ १० ॥

अन्यत् पृथगेव विद्यया क्रियते फलमिति आहुः वदन्ति,  
अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियते फलमिति । तथोक्तम्—  
'कर्मणा पितृलोकः, विद्यया देवलोकः' इति । इति एवं  
शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम् । ये आचार्या  
नः अस्मभ्यं तत् कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्या-  
तवन्तः, तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः ॥

यत एवमतः—

**विद्यां चाविद्यां च**

**यस्तद्वेदोभयं सह ।**

**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा**

**विद्ययामृतमश्नुते ॥ ११ ॥**

विद्यां च अविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः । यस्तत्  
एतदुभयं सह एकेन पुरुषेण अनुष्ठेयं वेद तस्यैवं समुच्चय-  
कारिण एकैकपुरुषार्थसंबन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते— अवि-  
द्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिना मृत्युम्, स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं  
च मृत्युशब्दवाच्यम्, तदुभयं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया देव-  
ताज्ञानेन अमृतं देवतात्मभावम् अश्नुते प्राप्नोति । तद्व्यमृत-  
मुच्यते, यद्देवतात्मगमनम् ॥



अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते—

अन्धं तमः प्रविशन्ति

येऽसंभूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो

य उ संभूत्या रताः ॥ १२ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये असंभूतिम्, संभवनं संभूतिः सा यस्य कार्यस्य सा संभूतिः तस्या अन्या असंभूतिः प्रकृतिः कारणम् अव्याकृताख्यम्, तामसंभूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्यां कामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकाम् उपासते ये ते तदनुरूपमेवान्धं तमः अदर्शनात्मकं प्रविशन्ति । ततः तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः ते प्रविशन्ति ये उ संभूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ॥

अधुना उभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवफलभेदमाह—

अन्यदेवाहुः संभवा-

दन्यदाहुरसंभवात् ।

**इति शुश्रुम धीराणां**

**ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥**

अन्यदेव पृथगेव आहुः फलं संभवात् संभूतेः कार्य-  
ब्रह्मोपासनात् अणिमाद्यैश्वर्यलक्षणम् आख्यातवन्त इत्यर्थः ।  
तथा च अन्यदाहुरसंभवात् असंभूतेः अव्याकृतात् अव्या-  
कृतोपासनात् यदुक्तम् ‘अन्धं तमः प्रविशन्ति’ इति, प्रकृ-  
तिलय इति च पौराणिकैरुच्यते । इति एवं शुश्रुम धीराणां  
वचनं ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्याकृतोपासनफलं व्या-  
ख्यातवन्त इत्यर्थः ॥

यत एवम्, अतः समुच्चयः संभूत्यसंभूत्युपासनयोर्युक्तः  
एकैकपुरुषार्थत्वाच्चेत्याह—

**संभूतिं च विनाशं च**

**यस्तद्वेदोभयं सह ।**

**विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा-**

**संभूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥**

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह, विनाशेन,  
विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणा अभेदेनोच्यते

‘विनाशः’ इति । तेन तदुपासनेनानैश्वर्यमधर्मकामादिदोष-  
जातं च मृत्युं तीर्त्वा, हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः  
फलम्, तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्य, असंभूत्या अव्याकृतोपा-  
सनया अमृतं प्रकृतिलयलक्षणम् अश्नुते । ‘संभूतिं च  
विनाशं च’ इत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः, प्रकृतिलयफ-  
लश्रुत्यनुरोधात् ॥

मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलयान्तम्;  
एतावती संसारगतिः । अतः परं पूर्वोक्तम् ‘आत्मैवाभूद्वि-  
जानतः’ इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणासंन्यासज्ञाननिष्ठा-  
फलम् । एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थोऽत्र  
प्रकाशितः । तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिप्रतिषेधलक्ष-  
णस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमुपयुक्तम् । निवृ-  
त्तिलक्षणस्य प्रकाशने अत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकम् । तत्र निषे-  
कादिश्मशानान्तं कर्म कुर्वन् जिजीविषेद्यो विद्यया सहापर-  
ब्रह्मविषयया, तदुक्तम्— ‘विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदो-  
भयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते’ इति,  
तत्र सोऽधिकारी केन मार्गेणामृतत्वमश्नुते इत्युच्यते—  
‘तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो  
यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः’ एतदुभयं सत्यं ब्रह्मोपासीनः

यथोक्तकर्मकृच्च यः, सोऽन्तकाले प्राप्ते सत्यात्मानमात्मनः  
प्राप्तिद्वारं याचते—

हिरण्मयेन पात्रेण

सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु

सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

हिरण्मयेन पात्रेण हिरण्मयमिव हिरण्मयम्, ज्योतिर्मय-  
मित्येतत्, तेन पात्रेणेव अपिधानभूतेन सत्यस्य आदित्यमण्ड-  
लस्थस्य ब्रह्मणः अपिहितम् आच्छादितं मुखं द्वारम्; तत्  
त्वं हे पूषन् अपावृणु अपसारय सत्यधर्माय तव सत्यस्यो-  
पासनात्सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यम्;  
अथवा, यथाभूतस्य धर्मस्यानुष्ठात्रे, दृष्टये तव सत्यात्मन  
उपलब्धये ॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह  
रश्मीन्समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याण-  
तमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः  
सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकम् एनः पापम् । ततो वयं  
विशुद्धाः सन्तः इष्टं प्राप्स्याम इत्याभिप्रायः । किंतु वयमि-  
दानीं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुम्; भूयिष्ठां बहुतरां ते  
तुभ्यं नमउक्तिं नमस्कारवचनं विधेम नमस्कारेण परिचरेम  
इत्यर्थः ॥

‘अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते’ ‘विनाशेन  
मृत्युं तीर्त्वा असंभूत्यामृतमश्नुते’ इति श्रुत्वा केचित्संशयं  
कुर्वन्ति । अतस्तन्निर्धारणार्थं संक्षेपतो विचारणां करिष्यामः ।  
तत्र तावत्किंनिमित्तः संशय इति, उच्यते— विद्याशब्देन  
मुख्या परमात्मविद्यैव कस्मान्न गृह्यते, अमृतत्वं च? ननूक्तायाः  
परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात्समुच्चयानुपपत्तिः । सत्यम् ।  
विरोधस्तु नावगम्यते, विरोधाविरोधयोः शास्त्रप्रमाणकत्वात्;  
यथा अविद्यानुष्ठानं विद्योपासनं च शास्त्रप्रमाणकम्, तथा त-  
द्विरोधाविरोधावपि । यथा च ‘न हिंस्यात्सर्वा भूतानि’ इति  
शास्त्रादवगतं पुनः शास्त्रेणैव बाध्यते ‘अध्वरे पशुं हिंस्यात्’  
इति, एवं विद्याविद्ययोरपि स्यात्; विद्याकर्मणोश्च समुच्चयः ।  
न; ‘दूरमेते विपरीते विषूचीं अविद्या या च विद्येति ज्ञाता’  
इति श्रुतेः । ‘विद्यां चाविद्यां च’ इति वचनादविरोध इति  
चेत्, न; हेतुस्वरूपफलविरोधात् । विद्याविद्याविरोधाविरोध-

योर्विकल्पासंभवात् समुच्चयविधानादविरोध एवेति चेत्, न ;  
सहसंभवानुपपत्तेः । क्रमेणैकाश्रये स्यातां विद्याविद्ये इति  
चेत्, न ; विद्योत्पत्तौ तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः ; न हि अग्नि-  
रुष्णः प्रकाशश्च इति विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये तदुत्पन्नम्,  
तस्मिन्नेवाश्रये शीतोऽग्निरप्रकाशो वा इत्यविद्याया उत्पत्तिः ।  
नापि संशयः अज्ञानं वा, 'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवा-  
भूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'  
इति शोकमोहाद्यसंभवश्रुतेः । अविद्यासंभवात्तदुपादानस्य  
कर्मणोऽप्यनुपपत्तिमवोचाम । 'अमृतमश्नुते' इत्यापेक्षिकममृ-  
तम् ; विद्याशब्देन परमात्मविद्याग्रहणे 'हिरण्यमेन' इत्यादि-  
ना द्वारमार्गयाचनमनुपपन्नं स्यात् । तस्मात् यथान्याख्यात  
एव मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य

श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य

श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

ईशावास्योपनिषद्भाष्यम्

संपूर्णम् ॥

ॐ

पूर्णमदः पूर्णमिदं  
पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।  
पूर्णस्य पूर्णमादाय  
पूर्णमेवावशिष्यते ॥

---

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

॥ ॐ ॥

# केनोपनिषत्पदभाष्यम्

श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादैः  
विरचितम् ।

72400







ॐ

आप्यायन्तु ममाङ्गानि  
वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो ब-  
लमिन्द्रियाणि च सर्वाणि ।  
सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म  
निराकुर्यां मा मा ब्रह्म नि-  
राकरोदनिराकरणमस्त्वनि-  
राकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि  
निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते  
मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

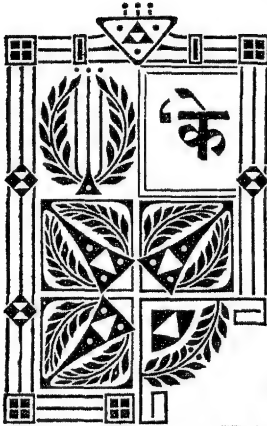
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥





# ॥ केनोपनिषत् ॥

श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितेन  
पदभाष्येण सहिता ।



नेषितम्' इत्याद्योपनिष-

त्परब्रह्मविषया वक्तव्येति नवम-

स्याध्यायस्यारम्भः । प्रागेतस्मात्क-

र्माण्यशेषतः परिसमापितानि, स-

मस्तकर्माश्रयभूतस्य च प्राणस्योपा-

सनान्युक्तानि, कर्माङ्गसामविषयाणि

च । अनन्तरं च गायत्रिसामविषयं दर्शनं

वंशान्तमुक्तं कार्यम् । सर्वमेतद्यथोक्तं कर्म च ज्ञानं च सम्य-

गनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्धयर्थं भवति । सकामस्य तु ज्ञानरहितस्य केवलानि श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माणि दक्षिणमार्गप्रतिपत्तये पुनरावृत्तये च भवन्ति । स्वाभाविक्या त्वशास्त्रीयया प्रवृत्त्या पश्चादिस्थावरान्ता अधोगतिः स्यात् । ‘अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्’ इति श्रुतेः ; ‘प्रजा ह तिस्रोऽत्यायमीयुः’ इति च मन्त्रवर्णात् । विशुद्धसत्त्वस्य तु निष्कामस्यैव बाह्यादनित्यात्साध्यसाधनसंबन्धादिह कृतात्पूर्वकृताद्वा संस्कारविशेषोद्भवाद्विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया जिज्ञासा प्रवर्तते । तदेतद्वस्तु प्रश्नप्रतिवचनलक्षणया श्रुत्या प्रदर्श्यते ‘केनेषितम्’ इत्याद्या । काठके चोक्तम् ‘पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्’ इत्यादि । ‘परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्’ इत्याद्यथर्वणे च । एवं हि विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयं विज्ञानं श्रोतुं मन्तुं विज्ञातुं च सामर्थ्यमुपपद्यते, नान्यथा । एतस्माच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानात्सारबीजमज्ञानं कामकर्मप्रवृत्तिकारणमशेषतो निवर्तते, ‘तत्र

को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति मन्त्रवर्णात्,  
 'तरति शोकमात्मवित्' 'भिद्यते हृदयप्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व-  
 संशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' इत्यादि-  
 श्रुतिभ्यश्च । कर्मसहितादपि ज्ञानादेतत्सिध्यतीति चेत्, न ;  
 वाजसनेयके तस्यान्यकारणत्ववचनात् । 'जाया मे स्यात्'  
 इति प्रस्तुत्य 'पुत्रेणायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा  
 पितृलोको विद्यया देवलोकः' इत्यात्मनोऽन्यस्य लोकत्र-  
 यस्य कारणत्वमुक्तं वाजसनेयके । तत्रैव च पारिव्राज्य-  
 विधाने हेतुरुक्तः 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमा-  
 त्मायं लोकः' इति । तत्रायं हेत्वर्थः— प्रजाकर्मतत्संयु-  
 क्तविद्याभिर्भिनुष्यपितृदेवलोकत्रयसाधनैरनात्मलोकप्रतिपत्ति-  
 कारणैः किं करिष्यामः । न चास्माकं लोकत्रयमनित्यं  
 साधनसाध्यमिष्टम्, येषामस्माकं स्वाभाविकोऽजोऽजरोऽमृ-  
 तोऽभयो न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्नित्यश्च लोक इष्टः ।  
 स च नित्यत्वान्नाविद्यानिवृत्तिव्यतिरेकेणान्यसाधननिष्पाद्यः ।  
 तस्मात्प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानपूर्वकः सर्वैषणासंन्यास एव क-  
 र्तव्य इति । कर्मसहभावित्वविरोधाच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञान-  
 नस्य । न ह्युपात्तकारकफलभेदविज्ञानेन कर्मणा प्रत्यस्तमि-  
 तसर्वभेददर्शनस्य प्रत्यगात्मब्रह्मविषयस्य सहभावित्वमुपपद्यते,

वस्तुप्राधान्ये सति अपुरुषतन्त्रत्वाद्विज्ञानस्य । तस्माद्दृष्टा-  
दृष्टेभ्यो बाह्यसाधनसाध्येभ्यो विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया  
ब्रह्मजिज्ञासेयम् 'केनेषितम्' इत्यादिश्रुत्या प्रदर्श्यते । शि-  
ष्याचार्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेण कथनं तु सूक्ष्मवस्तुविषयत्वा-  
त्सुखप्रतिपत्तिकारणं भवति । केवलतर्कागम्यत्वं च दर्शितं  
भवति ॥

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः

केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।

केनेषितां वाचमिमां वदन्ति

चक्षुःश्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

‘नैषा तर्केण मतिरापनेया’ इति श्रुतेश्च । ‘आचा-  
र्यवान्पुरुषो वेद’ ‘आचार्याद्वैव विद्या विदिता साधिष्ठं  
प्रापदिति’ ‘तद्विद्धि प्रणिपातेन’ इत्यादिश्रुतिस्मृतिनियमाच्च  
कश्चिद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं विधिवदुपेत्य प्रत्यगात्मविषयादन्यत्र  
शरणमपश्यन्नभयं नित्यं शिवमचलमिच्छन्प्रच्छेति कल्प्य-  
ते— केनेषितमित्यादि । केन इषितं केन कर्त्रा इषितम्  
इष्टमभिप्रेतं सत् मनः पतति गच्छति स्वविषयं प्रतीति सं-  
वध्यते । इषेराभीक्ष्ण्यार्थस्य गत्यर्थस्य चेहासंभवादिच्छार्थ-

स्यैवैतद्रूपमिति गम्यते । इषितमिति इत्प्रयोगस्तु च्छान्दसः । तस्यैव प्रपूर्वस्य नियोगार्थे प्रेषितमित्येतत् । तत्र प्रेषितमित्येवोक्ते प्रेषयितृप्रेषणविशेषविषयाकाङ्क्षा स्यात्—केन प्रेषयितृविशेषेण, कीदृशं वा प्रेषणमिति । इषितमिति तु विशेषणे सति तदुभयं निवर्तते, कस्येच्छामात्रेण प्रेषितमित्यर्थविशेषनिर्धारणात् । यद्येषोऽर्थोऽभिप्रेतः स्यात्, केनेषितमित्येतावतैव सिद्धत्वात्प्रेषितमिति न वक्तव्यम् । अपि च शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यं युक्तमिति इच्छया कर्मणा वाचा वा केन प्रेषितमित्यर्थविशेषोऽवगन्तुं युक्तः । न, प्रश्नसामर्थ्यात् ; देहादिसंघातादनित्यात्कर्मकार्याद्विरक्तः अतोऽन्यत्कूटस्थं नित्यं वस्तु बुभुत्समानः पृच्छतीति सामर्थ्यादुपपद्यते । इतरथा इच्छावाकर्मभिर्देहादिसंघातस्य प्रेषयितृत्वं प्रसिद्धमिति प्रश्नोऽनर्थक एव स्यात् । एवमपि प्रेषितशब्दस्यार्थो न प्रदर्शित एव । न ; संशयवतोऽयं प्रश्न इति प्रेषितशब्दस्यार्थविशेष उपपद्यते । किं यथाप्रसिद्धमेव कार्यकरणसंघातस्य प्रेषयितृत्वम्, किं वा संघातव्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्येच्छामात्रेणैव मनआदिप्रेषयितृत्वम्, इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं केनेषितं पतति प्रेषितं मन इति विशेषणद्वयमुपपद्यते । ननु स्वतन्त्रं मनः स्वविषये स्वयं पततीति प्रसिद्धम् ; तत्र कथं प्रश्न उपपद्यते इति, उच्यते—यदि स्वतन्त्रं मनः



प्रवृत्तिनिवृत्तिविषये स्यात्, तर्हि सर्वस्यानिष्टचिन्तनं न स्यात् । अनर्थं च जानन्संकल्पयति । अभ्यप्रदुःखे च कार्ये वार्यमाणमपि प्रवर्तत एव मनः । तस्माद्युक्त एव केनेषितमित्यादिप्रश्नः । केन प्राणः युक्तः नियुक्तः प्रेरितः सन् प्रैति गच्छति स्वव्यापारं प्रति । प्रथम इति प्राणविशेषणं स्यात्, तत्पूर्वकत्वात्सर्वेन्द्रियप्रवृत्तीनाम् । केन इषितां वाचम् इमां शब्दलक्षणां वदन्ति लौकिकाः । तथा चक्षुः श्रोत्रं च स्वे स्वे विषये क उ देवः द्योतनवान् युनक्ति नियुङ्क्ते प्रेरयति ॥

**श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो य-**

**द्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।**

**चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः**

**प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥**

एवं पृष्ठवते योग्यायाह गुरुः । शृणु यत् त्वं पृच्छसि, मनआदिकरणजातस्य को देवः स्वविषयं प्रति प्रेरयिता कथं वा प्रेरयतीति । श्रोत्रस्य श्रोत्रं शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्, शब्दस्य श्रवणं प्रति करणं शब्दाभिव्यञ्जकं श्रोत्रमिन्द्रियम्, तस्य श्रोत्रं सः यस्त्वया पृष्ठः ‘चक्षुःश्रोत्रं क उ देवो युनक्ति’ इति । असावेवंविशिष्टः श्रोत्रादीनि नियुङ्क्त इति वक्तव्ये, नन्वे-

तदननुरूपं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमिति । नैष दोषः, तस्या-  
न्यथा विशेषानवगमात् । यदि हि श्रोत्रादिव्यापारव्यति-  
रिक्तेन स्वव्यापारेण विशिष्टः श्रोत्रादिनियोक्ता अवगम्येत  
दात्तादिप्रयोक्तृवत्, तदेदमननुरूपं प्रतिवचनं स्यात् । न  
त्विह श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता स्वव्यापारविशिष्टो लवित्रादिवद-  
धिगम्यते । श्रोत्रादीनामेव तु संहतानां व्यापारेणालोचनसं-  
कल्पाध्यवसायलक्षणेन फलावसानलिङ्गेनावगम्यते— अस्ति  
हि श्रोत्रादिभिरसंहतः, यत्प्रयोजनप्रयुक्तः श्रोत्रादिकलापः गृ-  
हादिवदिति । संहतानां परार्थत्वादवगम्यते श्रोत्रादीनां प्रयो-  
क्ता । तस्मादनुरूपमेवेदं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि ।  
कः पुनरत्र पदार्थः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादेः ? न ह्यत्र श्रोत्रस्य  
श्रोत्रान्तरेणार्थः, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरेण । नैष दोषः ।  
अयमत्र पदार्थः— श्रोत्रं तावत्स्वविषयव्यञ्जनसमर्थं दृष्टम् ।  
तत्तु स्वविषयव्यञ्जनसामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि  
नित्येऽसंहते सर्वान्तरे सति भवति, न असति इति । अतः श्रोत्र-  
स्य श्रोत्रमित्याद्युपपद्यते । तथा च श्रुत्यन्तराणि—‘आत्मनैवा-  
यं ज्योतिषास्ते’ ‘तस्य भासा सर्वमिदं विभाति’ ‘येन सूर्य-  
स्तपति तेजसेद्धः’ इत्यादीनि । ‘यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयते-  
ऽखिलम् । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत’ इति च

गीतासु । काठके च 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' इति । श्रोत्राद्येव सर्वस्यात्मभूतं चेतनमिति प्रसिद्धम् ; तदिह निवर्त्यते । अस्ति किमपि विद्वद्बुद्धिगम्यं सर्वान्तरतमं कूटस्थमजमजरममृतमभयं श्रोत्रादेरपि श्रोत्रादि तत्सामर्थ्यनिमित्तम् इति प्रतिवचनं शब्दार्थश्चोपपद्यत एव । तथा मनसः अन्तःकरणस्य मनः । न ह्यन्तःकरणम् अन्तरेण चैतन्यज्योतिषो दीधितिं स्वविषयसंकल्पाध्यवसायादिसमर्थं स्यात् । तस्मान्मनसोऽपि मन इति । इह बुद्धिमनसी एकीकृत्य निर्देशो मनस इति । यद्वाचो ह वाचम् ; यच्छब्दो यस्मादर्थे श्रोत्रादिभिः सर्वैः संबध्यते— यस्माच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रम् , यस्मान्मनसो मन इत्येवम् । वाचो ह वाचमिति द्वितीया प्रथमात्वेन विपरिणम्यते , प्राणस्य प्राण इति दर्शनात् । वाचो ह वाचमित्येतदनुरोधेन प्राणस्य प्राणमिति कस्माद्वितीयैव न क्रियते ? न ; बहूनामनुरोधस्य युक्तत्वात् । वाचमित्यस्य वागित्येतावद्वक्तव्यं स उ प्राणस्य प्राण इति शब्दद्वयानुरोधेन ; एवं हि बहूनामनुरोधो युक्तः कृतः स्यात् । पृष्ठं च वस्तु प्रथमयैव निर्देष्टुं युक्तम् । स यस्त्वया पृष्ठः प्राणस्य प्राणाख्यवृत्तिविशेषस्य प्राणः, तत्कृतं हि प्राणस्य प्राणनसामर्थ्यम् । न ह्यात्मनानधिष्ठितस्य प्राणनमुपपद्यते,

‘को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्’  
 ‘ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति’ इत्यादिश्रुतिभ्यः ।  
 इहापि च वक्ष्यते ‘येन प्राणः प्रणीयते तदेव ब्रह्म त्वं  
 विद्धि’ इति । श्रोत्रादीन्द्रियप्रस्तावे घ्राणस्येव प्राणस्य न तु  
 युक्तं ग्रहणम् । सत्यमेवम् । प्राणग्रहणेनैव तु घ्राणस्य  
 ग्रहणं कृतमेव मन्यते श्रुतिः । सर्वस्यैव करणकलापस्य यद-  
 र्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिः, तद्ब्रह्मेति प्रकरणार्थो विवक्षितः । तथा  
 चक्षुषश्चक्षुः रूपप्रकाशकस्य चक्षुषो यद्रूपग्रहणसामर्थ्यं तदा-  
 त्मचैतन्याधिष्ठितस्यैव । अतश्चक्षुषश्चक्षुः । प्रष्टुः पृष्टस्यार्थस्य  
 ज्ञातुमिष्टत्वात् श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं यथोक्तं ब्रह्म ‘ज्ञात्वा’  
 इत्यध्याह्रियते ; अमृता भवन्ति इति फलश्रुतेश्च । ज्ञाना-  
 द्दधमृतत्वं प्राप्यते । ज्ञात्वा अतिमुच्य इति सामर्थ्यात्  
 श्रोत्रादिकरणकलापमुज्झित्वा— श्रोत्रादौ ह्यात्मभावं कृत्वा,  
 तदुपाधिः सन्, तदात्मना जायते म्रियते संसरति च । अतः  
 श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्मात्मेति विदित्वा, अतिमुच्य श्रो-  
 त्राद्यात्मभावं परित्यज्य— ये श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यजन्ति,  
 ते धीराः धीमन्तः । न हि विशिष्टधीमत्त्वमन्तरेण श्रो-  
 त्राद्यात्मभावः शक्यः परित्युक्तम् । प्रेत्य व्यावृत्त्य अस्मात्  
 लोकात् पुत्रमित्रकलत्रबन्धुषु ममाहंभावसंव्यवहारलक्षणात्,

त्यक्तसर्वैषणा भूत्वेत्यर्थः । अमृताः अमरणधर्माणः भवन्ति ।  
 ‘न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः’  
 ‘पराञ्चि खानि व्यतृणत्...आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्’  
 ‘यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते...अत्र ब्रह्म समश्नुते’ इत्यादि-  
 श्रुतिभ्यः । अथवा, अतिमुच्येत्यनेनैवैषणात्यागस्य सिद्धत्वात्  
 अस्माल्लोकात्प्रेत्य अस्माच्छरीरादपेत्य मृत्वेत्यर्थः ॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति

न वाग्गच्छति नो मनः ।

न विद्मो न विजानीमो

यथैतदनुशिष्यात् ॥ ३ ॥

यस्माच्छ्रोत्रादेरपि श्रोत्राद्यात्मभूतं ब्रह्म, अतः न तत्र  
 तस्मिन्ब्रह्मणि चक्षुः गच्छति, स्वात्मनि गमनासंभवात् । तथा  
 न वाक् गच्छति । वाचा हि शब्द उच्चार्यमाणोऽभिधेयं प्रका-  
 शयति यदा, तदाभिधेयं प्रति वाग्गच्छतीत्युच्यते । तस्य च  
 शब्दस्य तन्निर्वर्तकस्य च करणस्यात्मा ब्रह्म । अतो न वाग्गच्छ-  
 ति । यथामिर्दाहकः प्रकाशकश्चापि सन् न ह्यात्मानं प्रकाश-  
 यति दहति वा, तद्वत् । नो मनः मनश्चान्यस्य संकल्पयितुं अ-  
 ध्यवसातुं च सत् नात्मानं संकल्पयत्यध्यवस्यति च, तस्यापि

ब्रह्मात्मेति । इन्द्रियमनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानम् । तदगोचर-  
त्वात् न विद्मः तद्ब्रह्म ईदृशमिति । अतो न विजानीमः यथा  
येन प्रकारेण एतत् ब्रह्म अनुशिष्यात् उपदिशेच्छिष्यायेत्यभि-  
प्रायः । यद्वि करणगोचरः, तदन्यस्मै उपदेष्टुं शक्यं जातिगु-  
णक्रियाविशेषणैः । न तज्जात्यादिविशेषणवद्ब्रह्म । तस्माद्विषमं  
शिष्यानुपदेशेन प्रत्याययितुमिति उपदेशे तदर्थग्रहणे च  
यन्नातिशयकर्तव्यतां दर्शयति ॥

अन्यदेव तद्विदिता-

दथो अविदितादधि ।

इति शुश्रुम पूर्वेषां

ये नस्तद्व्याचक्षिरे ॥ ४ ॥

‘न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्’ इति अत्य-  
न्तमेवोपदेशप्रकारप्रत्याख्याने प्राप्ते तदपवादोऽयमुच्यते ।  
सत्यमेवं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैर्न परः प्रत्याययितुं शक्यः ;  
आगमेन तु शक्यत एव प्रत्याययितुमिति तदुपदेशार्थ-  
मागममाह— अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीति ।  
अन्यदेव पृथगेव तत् यत्प्रकृतं श्रोत्रादीनां श्रोत्रादीत्युक्तमवि-  
षयश्च तेषाम् । तत् विदितात् अन्यदेव हि । विदितं नाम

यद्विदिक्रिययातिशयेनाप्तं विदिक्रियाकर्मभूतम् । कचिद्विदिक्रि-  
 त्कचिद्विदितं स्यादिति सर्वमेव व्याकृतं विदितमेव ;  
 तस्मादन्यदेवेत्यर्थः । अविदितमज्ञातं तर्हीति प्राप्ते आह—  
 अथो अपि अविदितात् विदितविपरीतादव्याकृतादविद्या-  
 लक्षणाद्व्याकृतबीजात् । अधि इति उपर्यर्थे ; लक्षणया अ-  
 न्यदित्यर्थः । यद्वि यस्मादधि उपरि भवति, तत्तस्मादन्यदिति  
 प्रसिद्धम् । यद्विदितं तदल्पं मर्त्यं दुःखात्मकं चेति हेयम् ।  
 तस्माद्विदितादन्यद्विदित्युक्ते त्वहेयत्वमुक्तं स्यात् । तथा अ-  
 विदितादधीत्युक्तेऽनुपादेयत्वमुक्तं स्यात् । कार्यार्थं हि का-  
 रणमन्यदन्येनोपादीयते । अतश्च न वेदितुरन्यस्मै प्रयोजना-  
 यान्यनुपादेयं भवतीत्येवं विदिताविदिताभ्यामन्यदिति हेयो-  
 पादेयप्रतिषेधेन स्वात्मनोऽनन्यत्वात् ब्रह्मविषया जिज्ञासा  
 शिष्यस्य निर्वर्तिता स्यात् । न ह्यन्यस्य स्वात्मनो विदितावि-  
 दिताभ्यामन्यत्वं वस्तुनः संभवतीत्यात्मा ब्रह्मेत्येष वाक्यार्थः ;  
 ‘अयमात्मा ब्रह्म’ ‘य आत्मापहतपाप्मा’ ‘यत्साक्षादपरो-  
 क्षाद्ब्रह्म’ ‘य आत्मा सर्वान्तरः’ इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यश्चेति । एवं  
 सर्वात्मनः सर्वविशेषरहितस्य चिन्मात्रज्योतिषो ब्रह्मत्वप्रति-  
 पादकस्य वाक्यार्थस्याचार्योपदेशपरम्परया प्राप्तत्वमाह—  
 इति शुश्रुमेत्यादि । ब्रह्म चैवमाचार्योपदेशपरम्परयैवाधि-

गन्तव्यं न तर्कतः प्रवचनमेधाबहुश्रुततपोयज्ञादिभ्यश्च, इति  
एवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं पूर्वेषाम् आचार्याणां वचनम्;  
ये आचार्याः नः अस्मभ्यं तत् ब्रह्म व्याचक्षिरे व्याख्या-  
तवन्तः विस्पष्टं कथितवन्तः तेषामित्यर्थः ॥

यद्वाचानभ्युदितं

येन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि

नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥

‘अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि’ इत्यनेन वाक्येन  
आत्मा ब्रह्मेति प्रतिपादिते श्रोतुराशङ्का जाता— कथं  
न्वात्मा ब्रह्म । आत्मा हि नामाधिकृतः कर्मण्युपासने च  
संसारी कर्मोपासनं वा साधनमनुष्ठाय ब्रह्मादिदेवान्स्वर्गं वा  
प्राप्नुमिच्छति । तत्तस्मादन्य उपास्यो विष्णुरीश्वर इन्द्रः प्रा-  
णो वा ब्रह्म भवितुमर्हति, न त्वात्मा ; लोकप्रत्ययविरोधात् ।  
यथान्ये तार्किका ईश्वरादन्य आत्मेत्याचक्षते, तथा कर्मिणो-  
ऽमुं यजामुं यजेत्यन्या एव देवता उपासते । तस्माद्युक्तं  
यद्विदितमुपास्यं तद्ब्रह्म भवेत्, ततोऽन्य उपासक इति ।  
तामेतामाशङ्कां शिष्यलिङ्गेनोपलक्ष्य तद्वाक्याद्वा आह—मैवं



शङ्किष्ठाः । यत् चैतन्यमात्रसत्ताकम्, वाचा— वागिति जिह्वामूलादिष्वष्टसु स्थानेषु विषक्तमाग्नेयं वर्णानामभिव्यञ्जकं करणम्, वर्णाश्चार्थसंकेतपरिच्छिन्ना एतावन्त एवक्रमप्रयुक्ता इति; एवं तदभिव्यङ्ग्यः शब्दः पदं वागित्युच्यते; ‘अकारो वै सर्वा वाक्सैषास्य स्पर्शान्तःस्थोष्मभिव्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति’ इति श्रुतेः । मितममितं स्वरः सत्यानृते एष विकारो यस्याः तथा वाचा पदत्वेन परिच्छिन्नया करणगुणवत्या— अनभ्युदितम् अप्रकाशितमनभ्युक्तम् । येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वाक् अभ्युद्यते चैतन्यज्योतिषा प्रकाश्यते प्रयुज्यत इत्येतत् । यत् ‘वाचो ह वाक्’ इत्युक्तम्, ‘वदन्वाक्’ ‘यो वाचमन्तरो यमयति’ इत्यादि च वाजसनेयके । ‘या वाक् पुरुषेषु सा घोषेषु प्रतिष्ठिता कश्चित्तां वेद ब्राह्मणः’ इति प्रश्नमुत्पाद्य प्रतिवचनमुक्तम् ‘सा वाग्यया स्वप्ने भाषते’ इति । सा हि वक्तुर्वक्तिर्नित्या वाक् चैतन्यज्योतिः-स्वरूपा, ‘न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यते’ इति श्रुतेः । तदेव आत्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्त्वाद्वहोति विद्धि विजानीहि त्वम् । यैर्वागाद्युपाधिभिः ‘वाचो ह वाक्’ ‘चक्षुषश्चक्षुः’ ‘श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः’ ‘कर्ता भोक्ता विज्ञाता नियन्ता प्रशासिता’ ‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ इत्येवमादयः

संव्यवहारा असंव्यवहार्ये निर्विशेषे परे साम्ये ब्रह्मणि प्रवर्तन्ते,  
तान्व्युदस्य आत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धीति एवशब्दार्थः ।  
नेदं ब्रह्म यदिदम् इत्युपाधिभेदविशिष्टमनात्मेश्वरादि उपासते  
ध्यायन्ति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि इत्युक्तेऽपि नेदं ब्रह्म  
इत्यनात्मनोऽब्रह्मत्वं पुनरुच्यते नियमार्थम् अन्यब्रह्मबुद्धि-  
परिसंख्यानार्थं वा ॥

यन्मनसा न मनुते

येनाहुर्मनो मतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि

नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥

यन्मनसा न मनुते । मन इत्यन्तःकरणं बुद्धिमनसोरेक-  
त्वेन गृह्यते । मनुतेऽनेनेति मनः सर्वकरणसाधारणम्, सर्व-  
विषयव्यापकत्वात् । ‘कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा  
धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव’ इति श्रुतेः कामादि-  
वृत्तिमन्मनः । तेन मनसा यत् चैतन्यज्योतिर्मनसोऽवभासकं  
न मनुते न संकल्पयति नापि निश्चिनोति लोकः, मनसोऽव-  
भासकत्वेन नियन्तृत्वात् । सर्वविषयं प्रति प्रत्यगेवेति स्वात्म-  
नि न प्रवर्ततेऽन्तःकरणम् । अन्तःस्थेन हि चैतन्यज्योतिषा-  
वभासितस्य मनसो मननसामर्थ्यम् ; तेन सवृत्तिकं मनः येन

ब्रह्मणा मतं विषयीकृतं व्याप्तम् आहुः कथयन्ति ब्रह्मविदः ।  
तस्मात् तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं ब्रह्म विद्धि ।  
नेदमित्यादि पूर्ववत् ॥

यच्चक्षुषा न पश्यति

येन चक्षूँषि पश्यति ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि

नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥

यत् चक्षुषा न पश्यति न विषयीकरोति अन्तःकरणवृ-  
त्तिसंयुक्तेन लोकः, येन चक्षूँषि अन्तःकरणवृत्तिभेदभिन्नाश्चक्षु-  
र्वृत्तीः पश्यति चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकरोति व्याप्नोति ।  
तदेवेत्यादि पूर्ववत् ॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति

येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि

नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

यत् श्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवताधिष्ठितेन आकाशकार्येण  
मनोवृत्तिसंयुक्तेन न विषयीकरोति लोकः, येन श्रोत्रम् इदं

श्रुतं यत्प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतम् । तदेवेत्यादि  
पूर्ववत् ॥

यत्प्राणेन न प्राणिति

येन प्राणः प्रणीयते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि

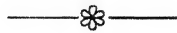
नेदं यदिदमुपासते ॥ ९ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

यत् प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन नासिकापुटान्तरवस्थिते-  
नान्तःकरणप्राणवृत्तिभ्यां सहितेन यन्न प्राणिति गन्धवन्न  
विषयीकरोति, येन चैतन्यात्मज्योतिषावभास्यत्वेन स्वविषयं  
प्रति प्राणः प्रणीयते तदेवेत्यादि सर्वं समानम् ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

## द्वितीयः खण्डः ॥



यदि मन्यसे सु वेदेति दभ्रमेवापि नूनं  
त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य  
देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदि-  
तम् ॥ १ ॥

एवं हेयोपादेयविपरीतस्त्वमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यायितः  
शिष्यः अहमेव ब्रह्मेति सुष्ठु वेदाहमिति मा गृहीयादित्याश-  
यादाहाचार्यः शिष्यबुद्धिविचालनार्थम्—यदीत्यादि । नन्वि-  
ष्टैव सु वेदाहम् इति निश्चिता प्रतिपत्तिः । सत्यम्, इष्टा निश्चिता  
प्रतिपत्तिः ; न हि सु वेदाहमिति । यद्धि वेद्यं वस्तु विषयीभव-  
ति, तत्सुष्ठु वेदितुं शक्यम्, दाह्यमिव दग्धम् अग्नेर्दग्धुः न  
त्वग्नेः स्वरूपमेव । सर्वस्य हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्मेति सर्ववेदा-  
न्तानां सुनिश्चितोऽर्थः । इह च तदेव प्रतिपादितं प्रश्नप्रतिवच-  
नोक्त्या ‘श्रोत्रस्य श्रोत्रम्’ इत्याद्या । ‘यद्वाचानभ्युदितम्’  
इति च विशेषतोऽवधारितम् । ब्रह्मवित्संप्रदायनिश्चयश्रोक्तः  
‘अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि’ इति । उपन्यस्तमुप-

संहरिष्यति च 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्'  
इति । तस्माद्युक्तमेव शिष्यस्य सु वेदेति बुद्धिं निराकर्तुम् । न  
हि वेदिता वेदितुर्वेदितुं शक्यः, अग्निर्दग्धुरिव दग्धुमग्नेः । न  
चान्यो वेदिता ब्रह्मणोऽस्ति यस्य वेद्यमन्यत्स्याद्ब्रह्म । 'नान्यद-  
तोऽस्ति विज्ञातृ' इत्यन्यो विज्ञाता प्रतिषिध्यते । तस्मात् सुष्ठु  
वेदाहं ब्रह्मेति प्रतिपत्तिर्मिथ्यैव । तस्माद्युक्तमेवाहाचार्यो यदी-  
त्यादि । यदि कदाचित् मन्यसे सु वेदेति सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति ।  
कदाचिद्यथाश्रुतं दुर्विज्ञेयमपि क्षीणदोषः सुमेधाः कश्चि-  
त्प्रतिपद्यते कश्चिन्नेति साशङ्कमाह यदात्यादि । दृष्टं च  
'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतद-  
मृतमभयमेतद्ब्रह्म' इत्युक्ते प्राजापत्यः पण्डितोऽप्यसुरराड्विरो-  
चनः स्वभावदोषवशादनुपपद्यमानमपि विपरीतमर्थं शरीर-  
मात्मेति प्रतिपन्नः । तथेन्द्रो देवराट् सकृद्विस्त्रिरुक्तं चाप्र-  
तिपद्यमानः स्वभावदोषक्षयमपेक्ष्य चतुर्थे पर्याये प्रथमोक्त-  
मेव ब्रह्म प्रतिपन्नवान् । लोकेऽपि एकस्मादुरोः शृण्वतां  
कश्चिद्यथावत्प्रतिपद्यते कश्चिदयथावत् कश्चिद्विपरीतं कश्चिन्न  
प्रतिपद्यते । किमु वक्तव्यमतीन्द्रियमात्मतत्त्वम् । अत्र हि  
विप्रतिपन्नाः सदसद्वादिनस्तार्किकाः सर्वे । तस्माद्विदितं  
ब्रह्मेति सुनिश्चितोक्तमपि विषमप्रतिपत्तित्वात् यदि मन्यसे



इत्यादि साशङ्कं वचनं युक्तमेवाचार्यस्य । दध्रम् अल्पमेवापि नूनं त्वं वेत्थ जानीषे ब्रह्मणो रूपम् । किमनेकानि ब्रह्मणो रूपाणि महान्त्यर्भकाणि च, येनाह दध्रमेवेत्यादि? बाढम् । अनेकानि हि नामरूपोपाधिकृतानि ब्रह्मणो रूपाणि, न स्वतः । स्वतस्तु ‘अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्’ इति शब्दादिभिः सह रूपाणि प्रतिषिध्यन्ते । ननु येनैव धर्मेण यद्रूप्यते तदेव तस्य स्वरूपमिति ब्रह्मणोऽपि येन विशेषेण निरूपणं तदेव तस्य स्वरूपं स्यात् । अत उच्यते— चैतन्यम्, पृथिव्यादीनामन्यतमस्य सर्वेषां विपरिणतानां वा धर्मो न भवति, तथा श्रोत्रादीनामन्तःकरणस्य च धर्मो न भवतीति ब्रह्मणो रूपमिति ब्रह्म रूप्यते चैतन्येन । तथा चोक्तम् । ‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ ‘विज्ञानघन एव’ ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ ‘प्रज्ञानं ब्रह्म’ इति च ब्रह्मणो रूपं निर्दिष्टं श्रुतिषु । सत्यमेवम्; तथापि तदन्तःकरणदेहेन्द्रियोपाधिद्वारेणैव विज्ञानादिशब्दैर्निर्दिश्यते, तदनुकारित्वाद्देहादिवृद्धिसंकोचच्छेदादिषु नाशेषु च, न स्वतः । स्वतस्तु ‘अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्’ इति स्थितं भविष्यति । ‘यदस्य ब्रह्मणो रूपम्’ इति पूर्वेण संबन्धः । न केवलमध्यात्मोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं त्वमल्पं वेत्थ ;

यदप्यधिदैवतोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं देवेषु वेत्थ त्वम्, तदपि नूनं दभ्रमेव वेत्थ इति मन्येऽहम् । यदध्यात्मं यदपि देवेषु तदपि चोपाधिपरिच्छिन्नत्वाद्भ्रत्वान्न निवर्तते । यत्तु विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं शान्तमनन्तमेकमद्वैतं भूमाख्यं नित्यं ब्रह्म, न तत्सुवेद्यमित्यभिप्रायः । यत एवम् अथ नु तस्मात् मन्ये अद्यापि मीमांस्यं विचार्यमेव ते तव ब्रह्म । एवमाचार्योक्तः शिष्यः एकान्ते उपविष्टः समाहितः सन्, यथोक्तमाचार्येण आगममर्थतो विचार्य, तर्कतश्च निर्धार्य, स्वानुभवं कृत्वा, आचार्यसकाशमुपगम्य, उवाच—  
मन्येऽहमथेदानीं विदितं ब्रह्मेति ॥

नाह मन्ये सु वेदेति

नो न वेदेति वेद च ।

यो नस्तद्वेद तद्वेद

नो न वेदेति वेद च ॥ २ ॥

कथमिति, शृणु— न अह मन्ये सु वेदेति, नैवाहं मन्ये सु वेद ब्रह्मेति । नैव तर्हि विदितं त्वया ब्रह्मेत्युक्ते आह—  
नो न वेदेति वेद च । वेद चेति च-शब्दात् न वेद च । ननु विप्रतिषिद्धं नाह मन्ये सु वेदेति, नो न वेदेति, वेद च इति ।



यदि न मन्यसे सु वेदेति, कथं मन्यसे वेद चेति । अथ मन्यसे वेदैवेति, कथं न मन्यसे सुवेदेति । एकं वस्तु येन ज्ञायते, तेनैव तदेव वस्तु न सु विज्ञायत इति विप्रतिषिद्धं संशयविपर्ययौ वर्जयित्वा । न च ब्रह्म संशयितत्वेन ज्ञेयं विपरीतत्वेन वेति नियन्तुं शक्यम् । संशयविपर्ययौ हि सर्वत्रानर्थकरत्वेनैव प्रसिद्धौ । एवमाचार्येण विचाल्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल, ‘अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि’ इत्याचार्योक्तागमसंप्रदायबलात् उपपत्त्यनुभवबलाच्च ; जगर्ज च ब्रह्मविद्यायां दृढनिश्चयतां दर्शयन्नात्मनः । कथमित्युच्यते— यः यः कश्चित् नः अस्माकं सब्रह्मचारिणां मध्ये तत् ममुक्तं वचनं तत्त्वतो वेद, सः तत् ब्रह्म वेद । किं पुनस्तद्वचनमित्यत आह— नो न वेदेति वेद च इति । यदेव ‘अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि’ इत्युक्तम्, तदेव वस्तु अनुमानानुभवाभ्यां संयोज्य निश्चितं वाक्यान्तरेण नो न वेदेति वेद च इत्यवोचत् आचार्यबुद्धिसंवादार्थं मन्दबुद्धिग्रहणव्यपोहार्थं च । तथा च गर्जितमुपपन्नं भवति ‘यो नस्तद्वेद तद्वेद’ इति ॥

यस्यामतं तस्य मतं

मतं यस्य न वेद सः ।

## अविज्ञातं विजानतां

विज्ञातमविजानताम् ॥ ३ ॥

शिष्याचार्यसंवादात्प्रतिनिवृत्य स्वेन रूपेण श्रुतिः समस्त-  
संवादननिवृत्तमर्थमेव बोधयति— यस्यामतमित्यादिना । यस्य ब्र-  
ह्मविदः अमतम् अविज्ञातम् अविदितं ब्रह्मेति मतम् अभिप्रायः  
निश्चयः, तस्य मतं ज्ञातं सम्यग्ब्रह्मेत्यभिप्रायः । यस्य पुनः  
मतं ज्ञातं विदितं मया ब्रह्मेति निश्चयः, न वेदैव सः न ब्रह्म  
विजानाति सः । विद्वद्विदुषोर्यथोक्तौ पक्षावधारयति—अवि-  
ज्ञातं विजानतामिति, अविज्ञातम् अमतम् अविदितमेव ब्रह्म  
विजानतां सम्यग्विदितवतामित्येतत् । विज्ञातं विदितं ब्रह्म  
अविजानताम् असम्यग्दर्शिताम्, इन्द्रियमनोबुद्धिष्वेवात्मद-  
र्शितामित्यर्थः ; न त्वत्यन्तमेवाव्युत्पन्नबुद्धीनाम् । न हि तेषां  
विज्ञातमस्माभिर्ब्रह्मेति मतिर्भवति । इन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधि-  
ष्व्वात्मदर्शिणां तु ब्रह्मोपाधिविवेकानुपलम्भात्, बुद्ध्याद्युपा-  
धेश्च विज्ञातत्वात् विदितं ब्रह्मेत्युपपद्यते भ्रान्तिरित्यतः अस-  
म्यग्दर्शनं पूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्यते— विज्ञातमविजानतामिति ।  
अथवा हेत्वर्थ उत्तरार्धोऽविज्ञातमित्यादिः ॥

प्रतिबोधविदितं मत-

ममृतत्वं हि विन्दते ।

## आत्मना विन्दते वीर्यं

विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥ ४ ॥

‘अविज्ञातं विजानताम्’ इत्यवधृतम् । यदि ब्रह्मात्यन्तमेवाविज्ञातम्, लौकिकानां ब्रह्मविदां चाविशेषः प्राप्तः । ‘अविज्ञातं विजानताम्’ इति च परस्परविरुद्धम् । कथं तु तद्ब्रह्म सम्यग्विदितं भवतीत्येवमर्थमाह—प्रतिबोधविदितं बोधं बोधं प्रति विदितम् । बोधशब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते । सर्वे प्रत्यया विषयीभवन्ति यस्य, स आत्मा सर्वबोधान्प्रतिबुध्यते सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेष्वविशिष्टतया लक्ष्यते ; नान्यद्वारमन्तरात्मनो विज्ञानाय । अतः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा, तदा तत् मतं तत्सम्यग्दर्शनमित्यर्थः सर्वप्रत्ययदर्शित्वे चोपजननापायवर्जितदृक्स्वरूपता नित्यत्वं विशुद्धस्वरूपत्वमात्मत्वं निर्विशेषतैकत्वं च सर्वभूतेषु सिद्धं भवेत्, लक्षणभेदाभावाद्योन्न इव घटगिरिगुहादिषु । विदिताविदिताभ्यामन्यद्ब्रह्मेत्यागमवाक्यार्थ एवं परिशुद्ध एवोपसंहृतो भवति । ‘दृष्टेर्दृष्टा श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ता विज्ञातेर्विज्ञाता’ इति हि श्रुत्यन्तरम् । यदा पुनर्बोधक्रियाकर्तेति बोधक्रियालक्षणेन तत्कर्तारं विजानातीति बोधलक्षणेन विदितं प्रतिबोधविदितमिति व्याख्यायते, यथा यो

वृक्षशाखाश्चालयति स वायुरिति तद्वत्; तदा बोधक्रियाश-  
क्तिमानात्मा द्रव्यम्, न बोधस्वरूप एव । बोधस्तु जायते  
विनश्यति च । यदा बोधो जायते, तदा बोधक्रियया स-  
विशेषः । यदा बोधो नश्यति, तदा नष्टबोधो द्रव्यमात्रं  
निर्विशेषः । तत्रैवं सति विक्रियात्मकः सावयवोऽनित्योऽशुद्ध  
इत्यादयो दोषा न परिहर्तुं शक्यन्ते । यदपि काणादानाम्  
आत्ममनःसंयोगजो बोध आत्मनि समवैति; अत आत्मनि  
बोद्धृत्वम्, न तु विक्रियात्मक आत्मा; द्रव्यमात्रस्तु भवति  
घट इव रागसमवायी । अस्मिन्पक्षेऽप्यचेतनं द्रव्यमात्रं  
ब्रह्मेति ‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ ‘प्रज्ञानं ब्रह्म’ इत्याद्याः श्रुतयो  
बाधिताः स्युः । आत्मनो निरवयवत्वेन प्रदेशाभावात् नित्य-  
संयुक्तत्वाच्च मनसः स्मृत्युत्पत्तिनियमानुपपत्तिरपरिहार्या स्या-  
त् । संसर्गधर्मित्वं चात्मनः श्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धं कल्पितं  
स्यात् । ‘असङ्गो न हि सज्जते’ ‘असक्तं सर्वभृत्’ इति  
हि श्रुतिस्मृती । न्यायश्च— गुणवद्गुणवता संसृज्यते,  
नातुल्यजातीयम् । अतः निर्गुणं निर्विशेषं सर्वविलक्षणं केन-  
चिदप्यतुल्यजातीयेन संसृज्यत इत्येतत् न्यायविरुद्धं भवेत् ।  
तस्मात् नित्यालुप्रज्ञानस्वरूपज्योतिरात्मा ब्रह्मेत्ययमर्थः सर्व-  
बोधबोद्धृत्वे आत्मनः सिध्यति, नान्यथा । तस्मात् ‘प्रतिबो-

धविदितं मतम्' इति यथाव्याख्यात एवार्थोऽस्माभिः । यत्पुनः स्वसंवेद्यता प्रतिबोधविदितमित्यस्य वाक्यस्यार्थो वर्ण्यते, तत्र भवति सोपाधिकत्वे आत्मनो बुद्ध्युपाधिस्वरूपत्वेन भेदं परिकल्प्यात्मनात्मानं वेत्तीति संव्यवहारः— 'आत्मन्येवात्मानं पश्यति' 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम' इति । न तु निरुपाधिकस्यात्मन एकत्वे स्वसंवेद्यता परसंवेद्यता वा संभवति । संवेदनस्वरूपत्वात्संवेदनान्तरापेक्षा च न संभवति, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न संभवः तद्वत् । बौद्धपक्षे स्वसंवेद्यतायां तु क्षणभङ्गुरत्वं निरात्मकत्वं च विज्ञानस्य स्यात्; 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते-ऽविनाशित्वात्' 'नित्यं विभुं सर्वगतम्' 'स वा एष महान-ज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयः' इत्याद्याः श्रुतयो बाध्ये-रन् । यत्पुनः प्रतिबोधशब्देन निर्निमित्तो बोधः प्रतिबोधः यथा सुप्तस्य इत्यर्थं परिकल्पयन्ति, सकृद्विज्ञानं प्रतिबोध इत्यपरे; निर्निमित्तः सनिमित्तः सकृद्वासकृद्वा प्रतिबोध एव हि सः । अमृतत्वम् अमरणभावं स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षं हि यस्मात् विन्दते लभते यथोक्तात्प्रतिबोधात्प्रतिबोधविदितात्म-कात्, तस्मात्प्रतिबोधविदितमेव मतमित्यभिप्रायः । बोधस्य हि प्रत्यगात्मविषयत्वं च मतममृतत्वे हेतुः । न ह्यात्मनो-

ऽनात्मत्वममृतत्वं भवति । आत्मत्वादात्मनोऽमृतत्वं निर्निमित्तमेव । एवं मर्त्यत्वमात्मनो यदविद्यया अनात्मत्वप्रतिपत्तिः । कथं पुनर्यथोक्तयात्मविद्ययामृतत्वं विन्दत इत्यत आह—  
आत्मना स्वेन रूपेण विन्दते लभते वीर्यं बलं सामर्थ्यम् । धनसहायमन्त्रौषधितपोयोगकृतं वीर्यं मृत्युं न शक्नोत्यभिभवितुम्, अनित्यवस्तुकृतत्वात् ; आत्मविद्याकृतं तु वीर्यमात्मनैव विन्दते, नान्येनेत्यतोऽनन्यसाधनत्वादात्मविद्यावीर्यस्य तदेव वीर्यं मृत्युं शक्नोत्यभिभवितुम् । यत एवमात्मविद्याकृतं वीर्यमात्मनैव विन्दते, अतः विद्यया आत्मविषयया विन्दते-ऽमृतम् अमृतत्वम् । ‘नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः’ इत्याथर्वणे । अतः समर्थो हेतुः अमृतत्वं हि विन्दत इति ॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति

न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः

प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

कष्टा खलु सुरनरतिर्यक्प्रेतादिषु संसारदुःखबहुलेषु प्राणिनिकायेषु जन्मजरामरणरोगादिसंप्राप्तिरज्ञानात् । अतः

इह एव चेत् मनुष्योऽधिकृतः समर्थः सन् यदि अवेदीत्  
 आत्मानं यथोक्तलक्षणं विदितवान् यथोक्तेन प्रकारेण, अथ  
 तदा अस्ति सत्यं मनुष्यजन्मन्यस्मिन्नविनाशोऽर्थवत्ता वा स-  
 द्भावो वा परमार्थता वा सत्यं विद्यते । न चेदिहावेदीदिति,  
 न चेत् इह जीवंश्चेत् अधिकृतः अवेदीत् न विदितवान्,  
 तदा मही दीर्घा अनन्ता विनष्टिः विनाशनं जन्मजरामर-  
 णादिप्रबन्धाविच्छेदलक्षणा संसारगतिः । तस्मादेवं गुणदोषौ  
 विजानन्तो ब्राह्मणाः भूतेषु भूतेषु सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु  
 च एकमात्मतत्त्वं ब्रह्म विचित्य विज्ञाय साक्षात्कृत्य धीराः  
 धीमन्तः प्रेत्य व्यावृत्य ममाहंभावलक्षणादविद्यारूपादस्मालो-  
 कात् उपरम्य सर्वात्मैकभावमद्वैतमापन्नाः सन्तः अमृता  
 भवन्ति ब्रह्मैव भवन्तीत्यर्थः । ‘स यो ह वै तत्परं ब्रह्म वेद  
 ब्रह्मैव भवति’ इति श्रुतेः ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

## तृतीयः खण्डः ॥

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह  
ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त ऐक्ष-  
न्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं म-  
हिमेति ॥ १ ॥

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये । ‘अविज्ञातं विजानतां विज्ञा-  
तमविजानताम्’ इत्यादिश्रवणात् यदस्ति तद्विज्ञातं प्रमाणैः  
यन्नास्ति तदविज्ञातं शशविषाणकल्पमत्यन्तमेवासदृष्टम् ।  
तथेदं ब्रह्माविज्ञातत्वादसदेवेति मन्दबुद्धीनां व्यामोहो मा  
भूदिति तदर्थेयमाख्यायिका आरभ्यते । तदेव हि ब्रह्म सर्व-  
प्रकारेण प्रशास्तु देवानामपि परो देवः, ईश्वराणामपि परमे-  
श्वरः, दुर्विज्ञेयः, देवानां जयहेतुः, असुराणां पराजयहेतुः;  
तत्कथं नास्तीत्येतस्यार्थस्यानुकूलानि ह्युत्तराणि वचांसि दृश्य-  
न्ते । अथवा ब्रह्माविद्यायाः स्तुतये । कथम् ? ब्रह्माविज्ञानाद्वि-  
अग्न्यादयो देवा देवानां श्रेष्ठत्वं जग्मुः । ततोऽप्यतितरा-  
मिन्द्र इति । अथवा दुर्विज्ञेयं ब्रह्मेत्येतत्प्रदर्श्यते— येना-



गन्यादयोऽतितेजसोऽपि क्लेशेनैव ब्रह्म विदितवन्तस्तथेन्द्रो देवानामीश्वरोऽपि सन्निति । वक्ष्यमाणोपनिषद्विधिपरं वा सर्वम् । ब्रह्मविद्याव्यतिरेकेण प्राणिनां कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिमानो मिथ्येत्येतद्दर्शनार्थं वा आख्यायिका, यथा देवानां जयाद्यभिमानस्तद्वदिति । ब्रह्म यथोक्तलक्षणं परं ह किल देवेभ्योऽर्थाय विजिग्ये जयं लब्धवत् देवानामसुराणां च संग्रामेऽसुराजित्वा जगदरातीनीश्वरसेतुभेत्तृन् देवेभ्यो जयं तत्फलं च प्रायच्छज्जगतः स्थेम्ने । तस्य ह किल ब्रह्मणो विजये देवाः अग्न्यादयः अमहीयन्त महिमानं प्राप्तवन्तः । तदा आत्मसंस्थस्य प्रत्यगात्मन ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वक्रियाफलसंयोजयितुः प्राणिनां सर्वशक्तेः जगतः स्थितिं चिकीर्षोः अयं जयो महिमा चेत्यजानन्तः ते देवाः ऐक्षन्त ईक्षितवन्तः अग्न्यादिस्वरूपपरिच्छिन्नात्मकृतः अस्माकमेवायं विजयः अस्माकमेवायं महिमा अग्निवाय्विन्द्रत्वादिलक्षणो जयफलभूतोऽस्माभिरनुभूयते नास्मत्प्रत्यगात्मभूतेश्वरकृत इति ॥

तद्वैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव  
तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥ २ ॥

एवं मिथ्याभिमानेक्षणवतां तत् ह किल एषां मिथ्येक्षणं

विजज्ञौ विज्ञातवद्ब्रह्म । सर्वेक्षितृ हि तत् सर्वभूतकरणप्रयो-  
क्तृत्वात् देवानां च मिथ्याज्ञानमुपलभ्य मैवासुरवद्देवा मि-  
थ्याभिमानात्पराभवेयुरिति तदनुकम्पया देवान्मिथ्याभिमा-  
नापनोदनेनानुगृहीयामिति तेभ्यः देवेभ्यः ह किल अर्थाय  
प्रादुर्बभूव स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेनात्यद्भुतेन विस्मापनीयेन  
रूपेण देवानामिन्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव प्रादुर्भूतवत् । तत्  
प्रादुर्भूतं ब्रह्म न व्यजानत नैव विज्ञातवन्तः देवाः किमिदं  
यक्षं पूज्यं महद्भूतमिति ॥

तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद्विजानीहि  
किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा  
अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मी-  
ति ॥ ४ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं  
दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय  
सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव

निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्ष-  
मिति ॥ ६ ॥

ते तदजानन्तो देवाः सान्तर्भयास्तद्विजिज्ञासवः अग्निम्  
अग्रगामिनं जातवेदसं सर्वज्ञकल्पम् अब्रुवन् उक्तवन्तः । हे  
जातवेदः एतत् अस्मद्गोचरस्थं यक्षं विजानीहि विशेषतो  
बुध्यस्व त्वं नस्तेजस्वी किमेतद्यक्षमिति । तथा अस्तु इति  
तत् यक्षम् अभि अद्रवत् तत्प्रति गतवानग्निः । तं च  
गतवन्तं पिपृच्छिषुं तत्समीपेऽप्रगल्भत्वात्तूष्णींभूतं तद्यक्षम्  
अभ्यवदत् अग्निं प्रति अभाषत कोऽसीति । एवं ब्रह्मणा  
पृष्ठोऽग्निः अब्रवीत् अग्निर्वै अग्निर्नामाहं प्रसिद्धो जात-  
वेदा इति च नामद्वयेन प्रसिद्धतयात्मानं श्लाघयन्निति । एव-  
मुक्तवन्तं ब्रह्मावोचत् तस्मिन् एवं प्रसिद्धगुणनामवति त्वयि  
किं वीर्यं सामर्थ्यम् इति । सोऽब्रवीत् इदं जगत् सर्वं दहेयं  
भस्मीकुर्यां यत् इदं स्थावरादि पृथिव्याम् इति । पृथिव्या-  
मित्युपलक्षणार्थम्, यतोऽन्तरिक्षस्थमपि दह्यत एवाग्निना ।  
तस्मै एवमभिमानवते ब्रह्म तृणं निदधौ पुरोऽग्नेः स्थापित-  
वत् । ब्रह्मणा 'एतन् तृणमात्रं ममाग्रतः दह ; न चेदसि  
दग्धुं समर्थः, मुञ्च दग्धृत्वाभिमानं सर्वत्र' इत्युक्तः तत् तृणम्  
उपप्रेयाय तृणसमीपं गतवान् सर्वजवेन सर्वोत्साहकृतेन

वेगेन । गत्वा तत् न शशाक नाशकत् दग्धुम् । सः जात-  
वेदाः तृणं दग्धुमशक्तो ब्रीडितो हतप्रतिज्ञः तत एव यक्षादेव  
तूष्णीं देवान्प्रति निववृते निवृत्तः प्रतिगतवान् न एतत् य-  
क्षम् अशकं शक्तवानहं विज्ञातुं विशेषतः यदेतद्यक्षमिति ॥

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि  
किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायु-  
र्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अह-  
मस्मीति ॥ ८ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्व-  
माददीय यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ९ ॥

तस्मै तृणे निदधावेतदादत्स्वेति तदुप-  
प्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स  
तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदे-  
तद्यक्षमिति ॥ १० ॥

अथ अनन्तरं वायुमब्रुवन् हे वायो एतद्विजानीहीत्यादि

समानार्थं पुर्वेण । वानाद्गमनाद्गन्धनाद्वा वायुः । मातर्यन्त-  
रिक्षे श्रयतीति मातरिश्वा । इदं सर्वमपि आददीय गृह्णी-  
याम् । यदिदं पृथिव्यामित्यादि समानमेव ॥

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि कि-  
मेतद्यक्षमिति तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्ति-  
रोदधे ॥ ११ ॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहु  
शोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच  
किमेतद्यक्षमिति ॥ १२ ॥

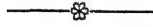
इति तृतीयः खण्डः ॥

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहीत्यादि पूर्ववत् । इन्द्रः  
परमेश्वरो मघवा बलवत्त्वात् तथेति तदभ्यद्रवत् । तस्मात्  
इन्द्रादात्मसमीपं गतात् तद्ब्रह्म तिरोदधे तिरोभूतम् । इन्द्रस्ये-  
न्द्रत्वाभिमानोऽतितरां निराकर्तव्य इत्यतः संवादमात्रमपि  
नादाद्ब्रह्मेन्द्राय । तद्यक्षं यस्मिन्नाकाशे आकाशप्रदेशे आत्मानं  
दर्शयित्वा तिरोभूतमिन्द्रश्च ब्रह्मणस्तिरोधानकाले यस्मिन्ना-  
काशे आसीत्, सः इन्द्रः तस्मिन्नेव आकाशे तस्थौ किं

तद्यक्षमिति ध्यायन् ; न निववृतेऽग्न्यादिवत् । तस्येन्द्रस्य  
यक्षे भक्तिं बुद्ध्वा विद्या उमारूपिणी प्रादुरभूत्स्त्रीरूपा । सः  
इन्द्रः ताम् उमां बहु शोभमानाम् ; सर्वेषां हि शोभमानानां  
शोभनतमा विद्या । तदा बहु शोभमानेति विशेषणमुपपन्नं  
भवति । हैमवतीं हेमकृताभरणवतीमिव बहु शोभमानामि-  
त्यर्थः । अथवा उमैव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यमेव  
सर्वज्ञेश्वरेण सह वर्तत इति ज्ञातुं समर्थेति कृत्वा तामुप-  
जगाम । इन्द्रः तां ह उमां किल उवाच पप्रच्छ ब्रूहि किमे-  
तद्दर्शयित्वा तिरोभूतं यक्षमिति ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

## चतुर्थः खण्डः ॥



ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये  
महीयध्वमिति ततो हैव विदांचकार  
ब्रह्मेति ॥ १ ॥

सा ब्रह्मेति होवाच ह किल ब्रह्मणः वै ईश्वरस्यैव  
विजये—ईश्वरेणैव जिता असुराः । यूयं तत्र निमित्तमात्रम् ।  
तस्यैव विजये— यूयं महीयध्वं महिमानं प्राप्नुथ । एतदिति  
क्रियाविशेषणार्थम् । मिथ्याभिमानस्तु युष्माकम्— अस्मा-  
कमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति । ततः तस्मादुमावा-  
क्यात् ह एव विदांचकार ब्रह्मेति इन्द्रः; अवधारणात् ततो  
हैव इति, न स्वातन्त्र्येण ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्या-  
न्देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्टं पस्प-  
र्शुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥

यस्मादग्निर्वाय्विन्द्रा एते देवा ब्रह्मणः संवाददर्शनादिना  
सामीप्यमुपगताः, तस्मात् स्वैर्गुणैः अतितरामिव शक्ति-

गुणादिमहाभाग्यैः अन्यान् देवान् अतितराम् अतिशेरत  
इव एते देवाः । इवशब्दोऽनर्थकोऽवधारणर्थो वा । यत्  
अग्निः वायुः इन्द्रः ते हि देवा यस्मात् एनत् ब्रह्म  
नेदिष्ठम् अन्तिकतमं प्रियतमं पस्पर्शुः स्पृष्टवन्तो यथोक्तैर्ब्र-  
ह्मणः संवादादिप्रकारैः, ते हि यस्माच्च हेतोः एनत् ब्रह्म  
प्रथमः प्रथमाः प्रधानाः सन्त इत्येतत्, विदांचकार विदां-  
चक्रुरित्येतत्, ब्रह्मेति ॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवा-  
न्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो  
विदांचकार ब्रह्मेति ॥ ३ ॥

यस्मादग्निवायू अपि इन्द्रवाक्यादेव विदांचक्रतुः, इन्द्रेण  
हि उमावाक्यात्प्रथमं श्रुतं ब्रह्मेति; तस्माद्वै इन्द्रः अति-  
तरामिव अतिशेत इव अन्यान् देवान् । स ह्येनन्नेदिष्ठं  
पस्पर्श यस्मात् स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेत्युक्तार्थं  
वाक्यम् ॥

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्यु-  
तदा३ इतीन्नयमीमिषदा३ इत्यधिदैव-  
तम् ॥ ४ ॥



तस्य प्रकृतस्य ब्रह्मणः एषः आदेशः उपमोपदेशः ।  
 निरुपमस्य ब्रह्मणो येनोपमानेनोपदेशः सोऽयमादेश इत्यु-  
 च्यते । किं तत् ? यदेतत् प्रसिद्धं लोके विद्युतः व्यद्युतत्  
 विद्योतनं कृतवदित्येतदनुपपन्नमिति विद्युतो विद्योतनमिति  
 कल्प्यते । आ३ इत्युपमार्थः । विद्युतो विद्योतनमिवेत्यर्थः ,  
 ‘यथा सकृद्विद्युतम्’ इति श्रुत्यन्तरे च दर्शनात् । विद्युदिव हि  
 सकृदात्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतं ब्रह्म देवेभ्यः । अथवा वि-  
 द्युतः ‘तेजः’ इत्यध्याहार्यम् । व्यद्युतत् विद्योतितवत् आ३ इव ।  
 विद्युतस्तेजः सकृद्विद्योतितवदिवेत्यभिप्रायः । इतिशब्द आदे-  
 शप्रतिनिर्देशार्थः—इत्ययमादेश इति । इच्छब्दः समुच्चयार्थः ।  
 अयं चापरस्तस्यादेशः । कोऽसौ ? न्यमीमिषत् यथा चक्षुः ।  
 न्यमीमिषत् निमेषं कृतवत् । स्वार्थे णिच् । उपमार्थ एव  
 आकारः । चक्षुषो विषयं प्रति प्रकाशतिरोभाव इव चेत्यर्थः ।  
 इति अधिदैवतं देवताविषयं ब्रह्मण उपमानदर्शनम् ॥

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनो-

ऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्षणं संकल्पः ॥ ५ ॥

अथ अनन्तरम् अध्यात्मं प्रत्यगात्मविषय आदेश उच्यते ।  
 यदेतत् गच्छतीव च मनः । एतद्ब्रह्म ढौकत इव विषयीकरो-  
 तीव । यच्च अनेन मनसा एतत् ब्रह्म उपस्मरति समीपतः

स्मरति साधकः अभीक्ष्णं भृशम् । संकल्पश्च मनसो ब्रह्म-  
विषयः । मनउपाधिकत्वाद्वि मनसः संकल्पस्मृत्यादिप्रत्ययै-  
रभिव्यज्यते ब्रह्म, विषयीक्रियमाणमिव । अतः स एष  
ब्रह्मणोऽध्यात्ममादेशः । विद्युन्निमेषणवदधिदैवतं द्रुतप्रका-  
शनधर्मि, अध्यात्मं च मनःप्रत्ययसमकालाभिव्यक्तिधर्मि,  
इत्येष आदेशः । एवमादिश्यमानं हि ब्रह्म मन्दबुद्धिगम्यं  
भवतीति ब्रह्मण आदेश उपदेशः । न हि निरुपाधिकमेव  
ब्रह्म मन्दबुद्धिभिराकलयितुं शक्यम् ॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं  
स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भू-  
तानि संवाञ्छन्ति ॥ ६ ॥

किंच, तत् ब्रह्म ह किल तद्वनं नाम तद्य वनं तद्वनं तस्य  
प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मभूतत्वाद्वनं वननीयं संभजनीयम् ।  
अतः तद्वनं नाम ; प्रख्यातं ब्रह्म तद्वनमिति यतः, तस्मात् तद्वन-  
मिति अनेनैव गुणाभिधानेन उपासितव्यं चिन्तनीयम् । अनेन  
नाम्नोपासनस्य फलमाह—स यः कश्चित् एतत् यथोक्तं ब्रह्म  
एवं यथोक्तगुणं वेद उपास्ते अभि ह एनम् उपासकं सर्वाणि  
भूतानि अभि संवाञ्छन्ति ह प्रार्थयन्त एव यथा ब्रह्म ॥

## उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिष- द्ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ७ ॥

एवमनुशिष्टः शिष्य आचार्यमुवाच— उपनिषदं रहस्यं यच्चिन्त्यं भो भगवन् ब्रूहि इति । एवमुक्तवति शिष्ये आहाचार्यः—उक्ता अभिहिता ते तव उपनिषत् । का पुनः सेत्याह— ब्राह्मीं ब्रह्मणः परमात्मन इयं ब्राह्मी ताम् , परमात्मविषयत्वादतीतविज्ञानस्य, एव एव ते उपनिषदमब्रूमेति उक्तामेव परमात्मविषयामुपनिषदमब्रूमेत्यवधारयत्युत्तरार्थम् । परमात्मविषयामुपनिषदं श्रुतवतः उपनिषदं भो ब्रूहीति पृच्छतः शिष्यस्य कोऽभिप्रायः ? यदि तावच्छ्रुतस्यार्थस्य प्रश्नः कृतः, ततः पिष्टपेषणवत्पुनरुक्तोऽनर्थकः प्रश्नः स्यात् । अथ सावशेषोक्तोपनिषत्स्यात्, ततस्तस्याः फलवचनेनोपसंहारो न युक्तः ‘प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति’ इति । तस्मादुक्तोपनिषच्छेषविषयोऽपि प्रश्नोऽनुपपन्न एव, अनवशेषितत्वात् । कस्तर्ह्यभिप्रायः प्रष्टुरिति । उच्यते । किं पूर्वोक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारिसाधनान्तरापेक्षा, अथ निरपेक्षैव ? सापेक्षा चेदपेक्षितविषयामुपनिषदं ब्रूहि । अथ निरपेक्षा चेदवधारय पिप्पलादवन्नातः परमस्तीत्येवमभिप्रायः । एतदुपपन्नमाचार्यस्यावधारणवचनम् ‘उक्ता त उपनिषत्’ इति । ननु नावधा-

रणमिदम्, यतोऽन्यद्वक्तव्यमाह 'तस्यै तपो दमः' इत्यादि । सत्यम्, वक्तव्यमुच्यते आचार्येण । न तूक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारिसाधनान्तराभिप्रायेण वा; किंतु ब्रह्मविद्याप्राप्त्युपायाभिप्रायेण वेदैस्तदङ्गैश्च सहपाठेन समीकरणात्तपःप्रभृतीनाम् । न हि वेदानां शिक्षाद्यङ्गानां च साक्षाद्ब्रह्मविद्याशेषत्वं तत्सहकारिसाधनत्वं वा संभवति । सहपठितानामपि यथायोगं विभज्य विनियोगः स्यादिति चेत्; यथा सूक्तवाकानुमन्त्रणमन्त्राणां यथादैवतं विभागः, तथा तपोदमकर्मसत्यादीनामपि ब्रह्मविद्याशेषत्वं तत्सहकारिसाधनत्वं वेति कल्प्यते । वेदानां तदङ्गानां चार्थप्रकाशकत्वेन कर्मात्मज्ञानोपायत्वमित्येवं ह्ययं विभागो युज्यते अर्थसंबन्धोपपत्तिसामर्थ्यादिति चेत्, न; अयुक्तेः । न ह्ययं विभागो घटनां प्राञ्चति । न हि सर्वक्रियाकारकफलभेदबुद्धितिरस्कारिण्या ब्रह्मविद्यायाः शेषापेक्षा सहकारिसाधनसंबन्धो वा युज्यते । सर्वविषयव्यावृत्तप्रत्यगात्मविषयनिष्ठत्वाच्च ब्रह्मविद्यायास्तत्फलस्य च निःश्रेयसस्य । 'मोक्षमिच्छन्सदा कर्म त्यजेदेव ससाधनम् । त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्' तस्मात्कर्मणां सहकारित्वं कर्मशेषापेक्षा वा न ज्ञानस्योपपद्यते । ततोऽसदेव सूक्तवाकानुमन्त्रणवद्यथायोगं विभाग इति । तस्मादवधा-

रणार्थतैव प्रश्नप्रतिवचनस्योपपद्यते । एतावत्येवेयमुपनिष-  
दुक्तान्यनिरपेक्षा अमृतत्वाय ॥

**तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः  
सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ ८ ॥**

याभिमां ब्राह्मीमुपनिषदं तवाग्नेऽब्रूमेति तस्यै तस्या उक्ता-  
या उपनिषदः प्राप्त्युपायभूतानि तपआदीनि । तपः काये-  
न्द्रियमनसां समाधानम् । दमः उपशमः । कर्म अग्निहोत्रादि ।  
एतैर्हि संस्कृतस्य सत्त्वशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पत्तिर्दृष्टा । दृष्टा  
ह्यमृदितकल्मषस्योक्तेऽपि ब्रह्मण्यप्रतिपत्तिर्विपरीतप्रतिपत्तिश्च,  
यथेन्द्रविरोचनप्रभृतीनाम् । तस्मादिह वातीतेषु वा बहुषु  
जन्मान्तरेषु तपआदिभिः कृतसत्त्वशुद्धेर्ज्ञानं समुत्पद्यते यथा-  
श्रुतम्; 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।  
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' इति मन्त्रव-  
र्णात् । 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इति  
स्मृतेश्च । इतिशब्दः उपलक्षणत्वप्रदर्शनार्थः । इति एवमाद्यन्य-  
दपि ज्ञानोत्पत्तेरुपकारकम् 'अमानित्वमदम्भित्वम्' इत्याद्यु-  
पदर्शितं भवति । प्रतिष्ठा पादौ पादाविवास्याः; तेषु हि  
सत्सु प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या प्रवर्तते, पद्मयामिव पुरुषः ।  
वेदाश्चत्वारः सर्वाणि चाङ्गानि शिक्षादीनि षट् कर्म-

ज्ञानप्रकाशकत्वाद्देदानां तद्रक्षणार्थत्वादङ्गानां प्रतिष्ठात्वम् ।  
अथवा, प्रतिष्ठाशब्दस्य पादरूपकल्पनार्थत्वाद्देदास्त्वितराणि  
सर्वाङ्गानि शिरआदीनि । अस्मिन्पक्षे शिक्षादीनां वेदग्रहणे-  
नैव ग्रहणं कृतं प्रत्येतव्यम् । अङ्गिनि हि गृहीतेऽङ्गानि गृहीता-  
न्येव भवन्ति, तदायत्तत्वादङ्गानाम् । सत्यम् आयतनं यत्र  
तिष्ठत्युपनिषत् तदायतनम् । सत्यमिति अमायिता अकौटिल्यं  
वाङ्मनःकायानाम् । तेषु ह्याश्रयति विद्या ये अमायाविनः  
साधवः, नासुरप्रकृतिषु मायाविषु; 'न येषु जिह्ममनृतं न  
माया च' इति श्रुतेः । तस्मात्सत्यमायतनमिति कल्प्यते । तप-  
आदिष्वेव प्रतिष्ठात्वेन प्राप्तस्य सत्यस्य पुनरायतनत्वेन ग्रहणं  
साधनातिशयत्वज्ञापनार्थम् । 'अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च  
तुलया धृतम् । अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते' इति  
स्मृतेः ॥

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानम-  
नन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रति-  
तिष्ठति ॥ ९ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

यो वै एतां ब्रह्मविद्याम् 'केनेषितम्' इत्यादिना यथोक्ताम्  
एवं महाभागाम् 'ब्रह्म ह देवेभ्यः' इत्यादिना स्तुतां सर्वविद्या-

प्रतिष्ठां वेद । ‘अमृतत्वं हि त्रिन्दते’ इत्युक्तमपि ब्रह्मविद्या-  
फलमन्ते निगमयति— अपहृत्य पाप्मानम् अविद्याकामकर्म-  
लक्षणं संसारबीजं विधूय अनन्ते अपर्यन्ते स्वर्गे लोके सुखा-  
त्मके ब्रह्मणीत्येतत् । अनन्ते इति विशेषणान्न त्रिविष्टपे अन-  
न्तशब्द औपचारिकोऽपि स्यादित्यत आह— ज्येये इति ।  
ज्येये ज्यायसि सर्वमहत्तरे स्वात्मनि मुख्ये एव प्रतिति-  
ष्ठति । न पुनः संसारमापद्यत इत्यभिप्रायः ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य

श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य

श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

केनोपनिषत्पदभाष्यम्

संपूर्णम् ॥

ॐ

आप्यायन्तु ममाङ्गानि  
वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो ब-  
लमिन्द्रियाणि च सर्वाणि ।  
सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म  
निराकुर्यां मा मा ब्रह्म नि-  
राकरोदनिराकरणमस्त्वनि -  
राकरणं मेऽस्तु । तदात्मानि  
निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते  
मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥





॥ ॐ ॥

# केनोपनिषद्वाक्यभाष्यम्

श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादैः  
विरचितम् ।



ॐ

आप्यायन्तु ममाङ्गानि  
वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो ब-  
लमिन्द्रियाणि च सर्वाणि ।  
सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म  
निराकुर्या मा मा ब्रह्म नि-  
राकरोदनिराकरणमस्त्वनि-  
राकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि  
निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते  
मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

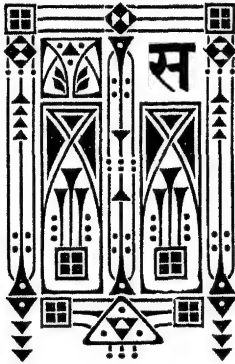
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥





# ॥ केनोपनिषत् ॥

श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितेन  
वाक्यभाष्येण सहिता ।



मासं कर्मात्मभूतप्राणविषयं  
विज्ञानं कर्म चानेकप्रकारम्, ययो-  
र्विकल्पसमुच्चयानुष्ठानादक्षिणोत्तराभ्यां  
सृतिभ्यामावृत्यनावृत्ती भवतः । अत  
ऊर्ध्वं फलनिरपेक्षज्ञानकर्मसमुच्चयानु-  
ष्ठानात्कृतात्मसंस्कारस्य उच्छिन्नात्म-  
ज्ञानप्रतिबन्धकस्य द्वैतविषयदोषदर्शिनः

निर्ज्ञाताशेषबाह्यविषयत्वात् संसारबीजमज्ञानमुच्चिच्छित्सतः  
प्रत्यगात्मविषयजिज्ञासोः 'केनेषितम्....' इत्यात्मस्वरूपत-

त्वविज्ञानाय अयमध्याय आरभ्यते । तेन च मृत्युपदमज्ञान-  
मुच्छेत्तव्यम् ; तत्तन्त्रो हि संसारो यतः । अनधिगतत्वादात्मनो  
युक्ता तदधिगमाय तद्विषया जिज्ञासा । कर्मविषये चानुक्ति-  
स्तद्विरोधित्वात् । अस्य विजिज्ञासितव्यस्यात्मतत्त्वस्य कर्म-  
विषयेऽवचनं कस्मादिति चेत्, आत्मनो हि यथावद्विज्ञानं  
कर्मणा विरुध्यते । निरतिशयब्रह्मस्वरूपो ह्यात्मा विजिज्ञाप-  
यिषितः, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदम्' इत्यादिश्रुतेः ।  
न हि स्वाराज्येऽभिषिक्तो ब्रह्मत्वं गमितः कंचन नमितु-  
मिच्छति । अतो ब्रह्मास्मीति संबुद्धौ न कर्म कारयितुं  
शक्यते । न ह्यात्मानमवाप्तार्थं ब्रह्म मन्यमानः प्रवृत्तिं प्रयो-  
जनवर्ती पश्यति । न च निष्प्रयोजना प्रवृत्तिः । अतो  
विरुध्यत एव कर्मणा ज्ञानम् । अतः कर्मविषयेऽनुक्तिः ।  
विज्ञानविशेषविषयैव जिज्ञासा । कर्मानारम्भ इति चेत्, न ;  
निष्कामस्य संस्कारार्थत्वात् । यदि ह्यात्मविज्ञानेन आत्मा-  
विद्याविषयत्वात्परित्याजयिषितं कर्म, ततः 'प्रक्षालनाद्वि-  
पक्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इत्यनारम्भ एव कर्मणः श्रेयान्  
अल्पफलत्वात् आयासबहुलत्वात् तत्त्वज्ञानादेवं च श्रेयः-  
प्राप्तेः इति चेत्, सत्यम् एतदविद्याविषयं कर्म अल्पफल-  
त्वादिदोषवद्वन्धरूपं च सकामस्य ; 'कामान्यः कामयते'

‘इति नु कामयमानः’ इत्यादिश्रुतिभ्यः । न निष्कामस्य । तस्य तु संस्कारार्थान्येव कर्माणि भवन्ति तन्निर्वर्तक-  
प्राणविज्ञानसहितानि । ‘देवयाजी श्रेयानात्मयाजी वा’  
इत्युपक्रम्य ‘आत्मयाजी तु करोतीदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते’  
इति संस्कारार्थमेव कर्माणीति वाजसनेयके; ‘महायज्ञैश्च  
यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः । यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि  
मनीषिणाम्’ इत्यादिस्मृतेश्च । प्राणादिविज्ञानं च केवलं  
कर्मसमुच्चितं वा सकामस्य प्राणात्मप्राप्त्यर्थमेव भवति ।  
निष्कामस्य त्वात्मज्ञानप्रतिबन्धकनिर्मृष्ट्यै भवत्यादर्शनिर्माज-  
नवत् । उत्पन्नात्मविद्यस्य त्वनारम्भः, निरर्थकत्वात् । ‘कर्म-  
णा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात्कर्म न कुर्व-  
न्ति यतयः पारदर्शिनः’ इति, क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्या-  
सश्च तयोः संन्यास एवात्यरेचयत् इति, ‘त्यागेनैके’ ‘नान्यः  
पन्था विद्यते’ इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । न्यायाच्च । उपायभूतानि  
हि कर्माणि संस्कारद्वारेण ज्ञानस्य । ज्ञानेन त्वमृतत्वप्राप्तिः,  
‘अमृतत्वं हि विन्दते’ ‘विद्यया विन्दतेऽमृतम्’ इत्यादिश्रुति-  
स्मृतिभ्यश्च । न हि नद्याः पारगो नावं न मुञ्चति यथेष्टदेश-  
गमनं प्रति स्वातन्त्र्ये सति । न हि स्वभावसिद्धं वस्तु सि-  
षाधयिषति साधनैः । स्वभावसिद्धश्चात्मा । तथा नापिपयि-



षितः, आत्मत्वे सति नित्याप्तत्वात् । नापि विचिकारयिषितः, आत्मत्वे सति नित्यत्वादविकारित्वादविषयत्वादमूर्तत्वाच्च ; श्रुतेश्च ‘न वर्धते कर्मणा’ इत्यादि ; स्मृतेश्च ‘अविकार्योऽयमुच्यते’ इति । न च संचिस्कीर्षितः, ‘शुद्धमपापविद्धम्’ इत्यादिश्रुतिभ्यः । अनन्यत्वाच्च । अन्येनान्यत्संस्क्रियते । न चात्मनोऽन्यभूता क्रियास्ति । न च स्वेनैवात्मना स्वमात्मानं संचिस्कीर्षेत् । न च वस्त्वन्तराधानं नित्यप्राप्तिर्वा वस्त्वन्तरस्य नित्या । नित्यत्वं चेष्टं मोक्षस्य । अत उत्पन्नविद्यस्य कर्मारम्भोऽनुपपन्नः । अतो व्यावृत्तबाह्यबुद्धेरात्मविज्ञानाय ‘केनेषितम्’ इत्याद्यारम्भः ॥

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः

केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।

केनेषितां वाचमिमां वदन्ति

चक्षुःश्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

प्रवृत्तिलिङ्गाद्विशेषार्थः प्रश्न उपपन्नः । रथादीनां हि चेतनावदधिष्ठितानां प्रवृत्तिर्दृष्टा, न अनधिष्ठितानाम् । मनआदीनां च अचेतनानां प्रवृत्तिर्दृश्यते ; तद्धि लिङ्गं चेतनावतोऽधिष्ठातुरस्तित्वे । करणानि हि मनआदीनि नियमेन

प्रवर्तन्ते; तन्नासति चेतनावत्यधिष्ठातर्युपपद्यते । तद्विशेषस्य चानधिगमाच्चेतनावत्यधिष्ठातृसामान्ये चाधिगते विशेषार्थः प्रश्न उपपद्यते । केनेषितं केनेष्टं कस्येच्छामात्रेण मनः पतति गच्छति, स्वविषये नियमेन व्याप्रियत इत्यर्थः । मनुतेऽनेनेति विज्ञाननिमित्तमन्तःकरणं मनः । प्रेषितमिवेत्युपमार्थः । न त्विषितप्रेषितशब्दयोरर्थाविह संभवतः । न हि शिष्यानिब मनआदीनि विषयेभ्यः प्रेषयत्यात्मा । विविक्तनित्यचित्स्वरूपतया तु निमित्तमात्रं प्रवृत्तौ नित्यचिकित्साधिष्ठातृवत् । प्राण इति नासिकाभवः प्रकरणात् । प्रथमत्वं च क्रियायाः प्राणनिमित्तत्वात् । स्वतो विषयावभासमात्रं करणानां प्रवृत्तिः । चलिक्रिया तु प्राणस्यैव मनआदिषु । तस्मात्प्राथम्यं प्राणस्य । प्रैति गच्छति । युक्तः प्रयुक्त इत्येतत् । वाचो वचनं किंनिमित्तं प्राणिनाम् । चक्षुःश्रोत्रयोश्च को देवः प्रयोक्ता । करणानामधिष्ठाता चेतनावान्यः, स किंविशेषण इत्यर्थः ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो य-

द्वाचो ह वाचः स उ प्राणस्य प्राणः ।

चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः

प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

‘श्रोत्रस्य श्रोत्रम्’ इत्यादिप्रतिवचनं निर्विशेषस्य निमि-

तत्त्वार्थम् । विक्रियादिविशेषरहितस्यात्मनो मनआदिप्रवृत्तौ  
 निमित्तत्वमित्येतत् 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादिप्रतिवचन-  
 स्यार्थः, अनुगमात् । अनुगतानि ह्यस्मिन्नर्थेऽक्षराणि ।  
 कथम्? शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम् । तस्य शब्दावभासकत्वं श्रोत्र-  
 त्वम् । शब्दोपलब्धरूपतयावभासकत्वं न स्वतः श्रोत्रस्य;  
 अचिद्रूपत्वात्, आत्मनश्च चिद्रूपत्वात् । यच्छ्रोत्रस्योपलब्ध-  
 त्वेनावभासकत्वं तदात्मनिमित्तत्वाच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्युच्यते ।  
 यथा क्षत्रस्य क्षत्रम्, यथा वा उदकस्यौष्ण्यमग्निनिमित्त-  
 मिति दग्धुरप्युदकस्य दग्धाग्निरुच्यते उदकमपि ह्यग्निसंयो-  
 गादग्निरुच्यते, तद्वदनित्यं यत्संयोगादुपलब्धत्वं तत्करणं  
 श्रोत्रादि । उदकस्येव दग्धृत्वमनित्यं हि तत्र तत् । यत्र तु  
 नित्यमुपलब्धत्वमग्नाविष्वौष्ण्यं स नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात्  
 दग्धेवोपलब्धोच्यते । श्रोत्रादिषु श्रोतृत्वाद्युपलब्धिरनित्या,  
 नित्या चात्मनि । अतः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्यक्षराणामर्थानु-  
 गमादुपपद्यते निर्विशेषस्योपलब्धिस्वरूपस्यात्मनो मनआ-  
 दिप्रवृत्तिनिमित्तत्वमिति । मनआदिष्वेवं यथोक्तम् । वाचो ह  
 वाचं प्राणस्य प्राण इति विभक्तिद्वयम् । सर्वत्रैवं हि द्रष्टव्यम् ।  
 कथम्? पृष्ठत्वात् स्वरूपनिर्देशः । प्रथमयैव च निर्देशः ।  
 तस्य च ज्ञेयत्वात्कर्मत्वमिति द्वितीया । अतो वाचो ह वाचं

प्राणस्य प्राण इत्यस्मात्सर्वत्रैव विभक्तिद्वयम् । यदेतच्छ्रोत्रा-  
द्युपलब्धिनिमित्तं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिलक्षणं तत् नित्यो-  
पलब्धिस्वरूपं निर्विशेषमात्मतत्त्वं बुद्ध्वा अतिमुच्य अनवबो-  
धनिमित्ताध्यारोपिताद्बुद्ध्यादिलक्षणात्संसारान्मोक्षणं कृत्वा  
धीराः धीमन्तः प्रेत्य अस्मात् लोकात् शरीरात् प्रेत्य वियुज्य  
अन्यस्मिन्नप्रतिसंधीयमाने निर्निमित्तत्वादमृता भवन्ति ।  
सति ह्यज्ञाने कर्माणि शरीरान्तरं प्रतिसंदधते । आत्माव-  
बोधे तु सर्वकर्मारम्भनिमित्ताज्ञानविपरीतविद्याभिविप्लुष्टत्वा-  
त्कर्मणामिति अनारम्भेऽमृता एव भवन्ति । शरीरादिसंताना-  
विच्छेदप्रतिसंधानाद्यपेक्षया अध्यारोपितमृत्युवियोगात्पूर्वम-  
प्यमृताः सन्तो नित्यात्मस्वरूपत्वादमृता भवन्तीत्युपचर्यते ॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति

न वाग्गच्छति नो मनः ।

न विद्मो न विजानीमो

यथैतदनुशिष्यात् ॥ ३ ॥

न तत्र चक्षुर्गच्छतीत्युक्तेऽपि पर्यनुयोगे हेतुरप्रतिपत्तेः ।  
'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्येवमादिनोक्तेऽप्यात्मतत्त्वे अप्रतिपन्न-  
त्वात्सूक्ष्मत्वहेतोर्वस्तुनः पुनः पुनः पर्यनुयुक्षाकारणमाह—

न तत्र चक्षुर्गच्छतीति । तत्र श्रोत्राद्यात्मभूते चक्षुरादीनि,  
वाक्चक्षुषोः सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थत्वात्, न विज्ञानमुत्पादय-  
न्ति । सुखादिवत्तर्हि गृह्येतान्तःकरणेन अत आह—नो मनः,  
न सुखादिवन्मनसो विषयस्तत्, इन्द्रियाविषयत्वात् । न वि-  
द्यो न विजानीमः अन्तःकरणेन, यथा एतत् ब्रह्म मनआदि-  
करणजातम् अनुशिष्यात् अनुशासनं कुर्यात् प्रवृत्तिनिमित्तं  
यथा भवेत्, तथा अविषयत्वान्न विद्यो न विजानीमः । अथवा  
श्रोत्रादीनां श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्म विशेषेण दर्शयेत्युक्त आचार्य  
आह—न शक्यते दर्शयितुम् । कस्मात्? न तत्र चक्षुर्ग-  
च्छतीत्यादि पूर्ववत्सर्वम् । अत्र तु विशेषो यथैतदनुशिष्या-  
दिति । यथैतत् अनुशिष्यात् प्रतिपादयेत् अन्योऽपि शिष्या-  
नितोऽन्येन विधिनेत्यभिप्रायः ॥

अन्यदेव तद्विदिता-

दथो अविदितादधि ।

इति शुश्रुम पूर्वेषां

ये नस्तद्व्याचक्षिरे ॥ ४ ॥

सर्वथापि ब्रह्म बोधयेत्युक्त आचार्य आह ‘अन्यदेव  
तद्विदितादथो अविदितादधि’ इत्यागमम् । विदिताविदि-  
ताभ्यामन्यत् यो हि ज्ञाता स एव सः, सर्वात्मकत्वात् ।

अतः सर्वात्मनो ज्ञातुर्ज्ञात्रन्तराभावाद्विदितादन्यत्वम् । ‘स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता’ इति च मन्त्रवर्णात् । ‘वि ज्ञातारमरे केन विजानीयात्’ इति च वाजसनेयके । अपि च व्यक्तमेव विदितं तस्मादन्यदित्यभिप्रायः । यद्विदितं व्यक्तं तदन्यविषयत्वादल्पं सविरोधं ततोऽनित्यम् अत एवानेकत्वादशुद्धम् अत एव तद्विलक्षणं ब्रह्मेति सिद्धम् । अस्तु तर्ह्यविदितम् । न, विज्ञानानपेक्षत्वात् । यद्वयविदितं तद्विज्ञानापेक्षम् । अविदितविज्ञानाय हि लोकप्रवृत्तिः । इदं तु विज्ञानानपेक्षम् । कस्मात् ? विज्ञानस्वरूपत्वात् । न हि यस्य यत्स्वरूपं तत्तेनान्यतोऽपेक्ष्यते । न च स्वत एव बापेक्षा, अनपेक्षमेव सिद्धत्वात् । न हि प्रदीपः स्वरूपाभिव्यक्तौ प्रकाशान्तरमन्यतोऽपेक्षते, स्वतो वा । यद्वयनपेक्षं तत्स्वत एव सिद्धम्, प्रकाशात्मकत्वात् । प्रदीपस्यान्योऽपेक्षितोऽप्यनर्थकः स्यात्, प्रकाशे विशेषाभावात् । न हि प्रदीपस्य स्वरूपाभिव्यक्तौ प्रदीपप्रकाशोऽर्थवान् । न चैवमात्मनोऽन्यत्र विज्ञानमस्ति, येन स्वरूपविज्ञानेऽप्यपेक्ष्येत । विरोध इति चेत्, न ; अन्यत्वात् । स्वरूपविज्ञाने विज्ञानस्वरूपत्वाद्विज्ञानान्तरं नापेक्षत इत्येतदसत् । दृश्यते हि विपरीतज्ञानमात्मनि सम्यग्ज्ञानं च— न जानाम्यात्मानमिति च, श्रुतेश्च । ‘तत्त्वमसि’ ‘आत्मानमेवावेत्’

‘एतं वै तमात्मानं विदित्वा’ इति च सर्वत्र श्रुतिष्वात्मविज्ञाने विज्ञानान्तरापेक्षत्वं दृश्यते । तस्मात्प्रत्यक्षश्रुतिविरोध इति चेत्, न । कस्मात्? अन्यो हि स आत्मा बुद्ध्यादिकार्यकरण-संघातात्माभिमानसंतानाविच्छेदलक्षणोऽविवेकात्मको बुद्ध्याद्यवभासप्रधानश्चक्षुरादिकरणो नित्यचित्स्वरूपात्मान्तःसारो यत्रानित्यं विज्ञानमवभासते । बौद्धप्रत्ययानामाविर्भावतिरोभावधर्मकत्वात्तद्धर्मतयैव विलक्षणमपि चावभासते । अन्तःकरणस्य मनसोऽपि मनोऽन्तर्गतत्वात् सर्वान्तरश्रुतेः । अन्तर्गतेन नित्यविज्ञानस्वरूपेण आकाशवदप्रचलितात्मना अन्तर्गर्भभूतेन स बाह्यो बुद्ध्यात्मा तद्विलक्षणः, अनग्निरिवाग्निः अर्चिर्भिरिवाग्नेः प्रत्ययैराविर्भावतिरोभावधर्मकैर्विज्ञानाभासरूपैरनित्यैः अनित्यविज्ञान आत्मा सुखी दुःखी इत्यभ्युपगतो लौकिकैः, अतोऽन्यो नित्यविज्ञानस्वरूपादात्मनः । तत्र हि विज्ञानापेक्षा विपरीतज्ञानत्वं चोपपद्यते, न पुनर्नित्यविज्ञाने । ‘तत्त्वमसि’ इति बोधोपदेशो नोपपद्यत इति चेत्, ‘आत्मानमेवावेत्’ इत्येवमादीनि च, नित्यबोधात्मकत्वात् । न ह्यादित्योऽन्येन प्रकाश्यते; अतस्तदर्थबोधोपदेशोऽनर्थक एवेति चेत्, न; लोकाध्यारोपापोहार्थत्वात् । सर्वात्मनि हि नित्यविज्ञाने बुद्ध्याद्यनित्यधर्मा लोकैरध्यारोपिता आत्मा-

विवेकतः; तदपोहार्यो बोधोपदेशो बोधात्मनः । तत्र च बोधाबोधौ समञ्जसौ । अन्यनिमित्तत्वादुदक इवौष्ण्यमग्नि-  
निमित्तम् । रात्र्यहनी इवादित्यनिमित्ते लोके नित्यावौष्ण्यप्र-  
काशावग्न्यादित्ययोरन्यत्र भावाभावयोः सनिमित्तत्वादनित्या-  
विवोपचर्येते । धक्ष्यत्यग्निः प्रकाशयिष्यति सविता इति तद्वत् । एवं च सुखदुःखबन्धमोक्षाद्यधारोपो लोकस्य तदपे-  
क्ष्य 'तत्त्वमसि' 'आत्मानमेवावेत्' इत्यात्मावबोधोपदेशिन्यः  
श्रुतयः केवलमधारोपापोहार्थाः । यथा सवितासौ प्रकाशय-  
त्यात्मानम् इति तद्वत् बोधकर्तृत्वं च नित्यबोधात्मनि ।  
तस्मादन्यदविदितात् । अधिशब्दश्चान्यार्थे । यद्वा यद्धि  
यस्याधि तत्ततोऽन्यत्सामर्थ्यात्, यथाधि भृत्यादीनां राजा ।  
अव्यक्तमेवाविदितं ततोऽन्यदित्यर्थः । विदितमविदितं च  
व्यक्ताव्यक्ते कार्यकारणत्वेन विकल्पिते, ताभ्यामन्यद्ब्रह्म वि-  
ज्ञानस्वरूपं सर्वविशेषप्रत्यस्तमितमित्ययं समुदायार्थः । अत  
एवात्मत्वान्न हेय उपादेयो वा । अन्यद्वचन्येन हेयमुपादेयं  
वा ; न तेनैव तद्यस्य कस्यचिद्धेयमुपादेयं वा भवति । आ-  
त्मा च ब्रह्म सर्वान्तरत्वादविषयः । अतोऽन्यस्यापि न  
हेयमुपादेयं वा । अन्याभावाच्च । इति शुश्रुम पूर्वेषामित्या-  
गमोपदेशः । व्याचक्षिरे इत्यस्वातन्त्र्यं तर्कप्रतिषेधार्थम् । ये



नः तत् ब्रह्म उक्तवन्तः ते तमेवागमं ब्रह्मप्रतिपादकं व्याख्यातवन्तः, न पुनः स्वबुद्धिप्रभवेण तर्केणोक्तवन्त इति तस्यैव द्रढिम्ने आगमपारम्पर्याविच्छेदं दर्शयति विद्यास्तुतये । तर्कस्त्वनवस्थितो भ्रान्तोऽपि भवतीति ॥

**यद्वाचानभ्युदितं**

**येन वागभ्युद्यते ।**

**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि**

**नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥**

यद्वाचेति मन्त्रानुवादो दृढप्रतीत्यै । ‘अन्यदेव तद्विदितात्’ इति योऽयमागमार्थो ब्राह्मणोक्तः अस्यैव द्रढिम्ने इमे मन्त्राः यद्वाचा इत्यादयः पठ्यन्ते । यत् ब्रह्म वाचा शब्देन अनभ्युदितम् अनभ्युक्तम्, अप्रकाशितमित्येतत् । येन वागभ्युद्यत इति वाक्प्रकाशहेतुत्वोक्तिः । येन प्रकाशयत इति वाचोऽभिधानस्य अभिधेयप्रकाशकत्वस्य हेतुत्वमुच्यते ब्रह्मणः । उक्तं च ‘केनेषितां वाचमिमां वदन्ति’ ‘यद्वाचो ह वाचम्’ इति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि इत्यविषयत्वेन ब्रह्मण आत्मन्यवस्थापनार्थं आम्नायः । यद्वाचानभ्युदितं वाक्प्रकाशनिमित्तं चेति ब्रह्मणोऽविषयत्वेन वस्त्वन्तरजिघृक्षां निवर्त्य स्वात्मन्ये-

वावस्थापयत्याम्नायः तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि इति; यन्नत उपर-  
मयति नेदमित्युपास्यप्रतिषेधाच्च ॥

यन्मनसा न मनुते

येनाहुर्मनो मतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि

नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥

यच्चक्षुषा न पश्यति

येन चक्षूः पश्यति ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि

नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति

येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि

नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

यत्प्राणेन न प्राणिति

येन प्राणः प्रणीयते ।

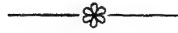
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि  
नेदं यदिदमुपासते ॥ ९ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

यन्मनसेत्यादि समानम् । मनो मतमिति । येन ब्रह्मणा मनोऽपि विषयीकृतं नित्यविज्ञानस्वरूपेणेतत् । सर्वकरणानामविषयस्तानि च सव्यापाराणि सविषयाणि नित्यविज्ञानस्वरूपावभासतया येनावभास्यन्त इति श्लोकार्थः । ‘क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत’ इति स्मृतेः । ‘तस्य भासा’ इति चाथर्वणे । येन प्राण इति क्रियाशक्तिरप्यात्मविज्ञाननिमित्तेत्येतत् ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

## द्वितीयः खण्डः ॥



यदि मन्यसे सु वेदेति दभ्रमेवापि  
नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदख  
त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते  
मन्ये विदितम् ॥ १ ॥

यदि मन्यसे सु वेदेति शिष्यबुद्धिविचालना गृहीतस्थिर-  
तायै । विदिताविदिताभ्यां निवर्त्य बुद्धिं शिष्यस्य स्वात्मन्य-  
वस्थाप्य 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' इति स्वाराज्येऽभिषिच्य उपा-  
स्यप्रतिषेधेनाथास्य बुद्धिं विचालयति— यदि मन्यसे सुष्ठु  
वेद अहं ब्रह्मतत्त्वमिति, ततोऽल्पमेव ब्रह्मणो रूपं वेत्थ त्व-  
मिति नूनं निश्चितं मन्यते आचार्यः । सा पुनर्विचालना  
किमर्थेति, उच्यते—पूर्वगृहीते वस्तुनि बुद्धेः स्थिरतायै । देवे-  
ष्वपि सु वेदाहमिति मन्यते यः सोऽप्यस्य ब्रह्मणो रूपं दभ्रमेव  
वेत्ति नूनम् । कस्मात्? अविषयत्वात्कस्यचिद्ब्रह्मणः । अथ-  
वा अल्पमेवास्याध्यात्मिकं मनुष्येषु देवेषु चाधिदैविकमस्य  
ब्रह्मणो यद्रूपं तदिति संबन्धः । अथ नु इति हेतुर्मीमां-

सायाः । यस्माद्ब्रह्मेव सुविदितं ब्रह्मणो रूपम् 'अन्यदेव तद्विदितात्' इत्युक्तत्वात्, सु वेदेति च मन्यसे ; अतः अल्पमेव वेत्थ त्वं ब्रह्मणो रूपं यस्मात् अथ नु तस्मात् मीमांस्यमेव अद्यापि ते तव ब्रह्म विचार्यमेव यावद्विदिताविदितप्रतिषेधागमार्थानुभव इत्यर्थः । मन्ये विदितमिति शिष्यस्य मीमांसानन्तरोक्तिः प्रत्ययत्रयसंगतेः । सम्यग्वस्तुनिश्चयाय विचालितः शिष्य आचार्येण मीमांस्यमेव ते इति चोक्तः एकान्ते समाहितो भूत्वा विचार्य यथोक्तं सुपरिनिश्चितः सन्नाह आगमाचार्यात्मानुभवप्रत्ययत्रयस्यैकविषयत्वेन संगत्यर्थम् । एवं हि 'सुपरिनिष्ठिता विद्या सफला स्यान्नानिश्चिता' इति न्यायः प्रदर्शितो भवति ; मन्ये विदितमिति परिनिष्ठितनिश्चितविज्ञानप्रतिज्ञाहेतूक्तेः ॥

नाह मन्ये सु वेदेति

नो न वेदेति वेद च ।

यो नस्तद्वेद तद्वेद

नो न वेदेति वेद च ॥ २ ॥

परिनिष्ठितं सफलं विज्ञानं प्रतिजानीते आचार्यात्मनिश्चययोस्तुल्यतायै यस्माद्धेतुमाह— नाह मन्ये सु वेदेति । अहे-

त्यवधारणार्थो निपातः । नैव मन्ये इत्येतत् । यावदपरिनि-  
 श्रितं विज्ञानं तावत् सु वेद सुष्ठु वेद अहं ब्रह्मेति विपरीतो  
 मम निश्चय आसीत् । सोऽपजगाम भवद्विर्विचालितस्य य-  
 थोक्तार्थमीमांसाफलभूतात्स्वात्मब्रह्मत्वनिश्चयरूपात्सम्यक्प्रत्य-  
 यात् । विरुद्धत्वादतो नाह मन्ये सु वेदेति । यस्माच्चैतत् नैव न  
 वेद नो न वेदेति ; मन्ये इत्यनुवर्तते, अविदितब्रह्मप्रतिषेधात् ।  
 कथं तर्हि मन्यसे इत्युक्त आह—वेद च । च-शब्दाद्वेद च न  
 वेद च इत्यभिप्रायः, विदिताविदिताभ्यामन्यत्वाद्व्रह्मणः । त-  
 स्मान्मया विदितं ब्रह्मेति मन्ये इति वाक्यार्थः । अथवा वेद  
 चेति नित्यविज्ञानब्रह्मस्वरूपतया नो न वेद वेदैव चाहं स्व-  
 रूपविक्रियाभावात् । विशेषविज्ञानं च पराध्यस्तं न स्वत इति  
 परमार्थतो न च वेदेति । यो नस्तद्वेद तद्वेदेति पक्षान्तर-  
 निरासार्थमाम्नाय उक्तार्थानुवादात् । यः नः अस्माकं मध्ये  
 तद्वेद स एव तद्वह्म वेद नान्यः, उपास्यब्रह्मवित्त्वात् ।  
 अतोऽन्यस्य यथाहं वेदेति पक्षान्तरे ब्रह्मवित्त्वं निरस्यते ।  
 कुतोऽयमर्थोऽवसीयत इति, उच्यते— उक्तानुवादात् । उक्तं  
 ह्यनुवदति नो न वेदेति वेद चेति ॥

यस्यामतं तस्य मतं

मतं यस्य न वेद सः ।

## अविज्ञातं विजानतां

विज्ञातमविजानताम् ॥ ३ ॥

यस्यामतमिति श्रौतमाख्यायिकार्थोपसंहारार्थम् । शिष्या-  
चार्योक्तिप्रत्युक्तिलक्षणया अनुभवयुक्तिप्रधानया आख्यायि-  
कया योऽर्थः सिद्धः स श्रौतेन वचनेनागमप्रधानेन निगम-  
नस्थानीयेन संक्षेपत उच्यते । यदुक्तं विदिताविदिताभ्या-  
मन्यद्वागादीनामगोचरत्वात् मीमांसितं चानुभवोपपत्तिभ्यां  
ब्रह्म, तत्तथैव ज्ञातव्यम् । कस्मात्? यस्यामतं यस्य विवि-  
दिषाप्रयुक्तप्रवृत्तस्य साधकस्य अमतम् अविज्ञातम् अविदितं  
ब्रह्म इत्यात्मतत्त्वनिश्चयफलावसानावबोधतया विविदिषा नि-  
वृत्तेत्यभिप्रायः, तस्य मतं ज्ञातम्; तेन विदितं ब्रह्म येनाविषय-  
त्वेन आत्मत्वेन प्रतिबुद्धमित्यर्थः । स सम्यग्दर्शी यस्य विज्ञा-  
नानन्तरमेव ब्रह्मात्मभावस्यावसितत्वात् सर्वतः कार्यभावो  
विपर्ययेण मिथ्याज्ञानो भवति । कथम्? मतं विदितं ज्ञातं  
मया ब्रह्म इति यस्य विज्ञानम्, स मिथ्यादर्शी विपरीतवि-  
ज्ञानो विदितादन्यत्वाद्ब्रह्मणो न वेद सः न विजानाति ।  
ततश्च सिद्धमवैदिकस्य विज्ञानस्य मिथ्यात्वम्, अब्रह्मविष-  
यतया निन्दितत्वात् । तथा कपिलकणभुगादिसमयस्यापि  
विदितब्रह्मविषयत्वात् अनवस्थिततर्कजन्यत्वाविदितविषयतया

विविदिषानिवृत्तेश्च मिथ्यात्वमिति । स्मृतेश्च—‘या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फलाः प्रोक्तास्तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः’ इति । ‘अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्’ इति पूर्वहेतूक्तिः अनुवादस्यानर्थक्यात्—अनुवादमात्रेऽनर्थकं वचनमिति विपर्ययमिथ्याज्ञानयोर्नष्टत्वात् पूर्वोक्तयोः यस्यामतमित्यादिज्ञानाज्ञानयोर्हेत्वर्थत्वेनेदमुच्यते—अविज्ञातम् अविदितमात्मत्वेनाविषयतया ब्रह्म विजानतां यस्मात्, तस्मात्तदेव ज्ञानं यत्तेषां विज्ञातं विदितं व्यक्तमेव बुद्ध्यादिविषयं ब्रह्म अविजानतां विदिताविदितव्यावृत्तमात्मभूतं नित्यविज्ञानस्वरूपमात्मस्थमविक्रियममृतमजरमभयमनन्यत्वादविषयमित्येवमविजानतां बुद्ध्यादिविषयात्मतयैव नित्यं विज्ञातं ब्रह्म । तस्माद्विदिताविदितव्यक्तव्यक्तधर्माध्यारोपेण कार्यकारणभावेन सविकल्पमयथार्थविषयत्वात् । शुक्तिकादौ रजताद्यध्यारोपणज्ञानवन्मिथ्याज्ञानं तेषाम् ॥

प्रतिबोधविदितं मत-

ममृतत्वं हि विन्दते ।

आत्मना विन्दते वीर्यं

विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥ ४ ॥



प्रतिबोधविदितमिति वीप्साप्रत्ययानामात्मावबोधद्वार-  
 त्वात् बोधं प्रति बोधं प्रतीति वीप्सा सर्वप्रत्ययव्याप्यर्था ।  
 बौद्धा हि सर्वे प्रत्ययास्तप्तलोहवन्नित्यविज्ञानस्वरूपात्मव्याप्त-  
 त्वाद्विज्ञानस्वरूपावभासाः तदन्यावभासश्चात्मा तद्विलक्षणो-  
 ऽभिवदुपलभ्यत इति ते द्वारीभवन्त्यात्मोपलब्धौ । तस्मात्प्र-  
 तिबोधावभासप्रत्यगात्मतया यद्विदितं तद्ब्रह्म, तदेव मतं तदेव  
 सम्यग्ज्ञानं यत्प्रत्यगात्मविज्ञानम्, न विषयविज्ञानम् । आत्म-  
 त्वेन 'प्रत्यगात्मानमैक्षत्' इति च काठके । अमृतत्वं हि  
 विन्दते इति हेतुवचनं विपर्यये मृत्युप्राप्तेः । विषयात्मविज्ञाने  
 हि मृत्युः प्रारभते इत्यात्मविज्ञानममृतत्वनिमित्तमिति युक्तं  
 हेतुवचनममृतत्वं हि विन्दते इति । आत्मज्ञानेन किममृतत्वमु-  
 त्पाद्यते । न । कथं तर्हि ? आत्मना विन्दते स्वेनैव नित्यात्म-  
 स्वभावेनामृतत्वं विन्दते, नालम्बनपूर्वकं विन्दत इति आत्म-  
 ज्ञानापेक्षम् । यदि हि विद्योत्पाद्यममृतत्वं स्यात्, अनित्यं भवे-  
 त्कर्मकार्यवत् । अतो न विद्योत्पाद्यम् । यदि चात्मनैवामृतत्वं  
 विन्दते, किं पुनर्विद्यया क्रियत इत्युच्यते । अनात्मविज्ञानं  
 निवर्तयन्ती सा तन्निवृत्त्या स्वाभाविकस्यामृतत्वस्य निमित्त-  
 मिति कल्प्यते ; यत आह— वीर्यं विद्यया विन्दते । वीर्यं  
 सामर्थ्यम् अनात्माध्यारोपमायास्वान्तध्वान्तानभिभाव्यलक्षणं

बलं विद्याया विन्दते । तच्च किंविशिष्टम् ? अमृतम् अविनाशि ।  
 अविद्याजं हि वीर्यं विनाशि, विद्यायाविद्याया बाध्यत्वात् ।  
 न तु विद्याया बाधकोऽस्तीति विद्याजममृतं वीर्यम् । अतो  
 विद्या अमृतत्वे निमित्तमात्रं भवति । ‘नायमात्मा बलही-  
 नेन लभ्यः’ इति चाथर्वणे । लोकेऽपि विद्याजमेव बलम-  
 भिभवति न शरीरादिसामर्थ्यम्, यथा हस्त्यादेः । अथवा  
 प्रतिबोधविदितं मतमिति सकृदेवाशेषविपरीतनिरस्तसंस्कारेण  
 स्वप्नप्रतिबोधवद्यद्विदितं तदेव मतं ज्ञातं भवतीति । अथवा  
 गुरूपदेशः प्रतिबोधः । तेन वा विदितं मतमिति । उभयत्र  
 प्रतिबोधशब्दप्रयोगोऽस्ति— ‘सुप्नप्रतिबुद्धः’ ‘गुरुणा प्रति-  
 बोधितः’ इति । पूर्वं तु यथार्थम् ॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति

न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः

प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

इह चेदवेदीदिति अवश्यकर्तव्यतोक्तिः विपर्यये विनाश-  
 श्रुतेः । इह मनुष्यजन्मनि सति अवश्यमात्मा वेदितव्य

इत्येतद्विधीयते । कथम् ? इह चेत् अवेदीत् विदितवान्, अथ सत्यं परमार्थतत्त्वम् अस्ति अवाप्तम्; तस्य जन्म सफलमित्यभिप्रायः । न चेदिहावेदीत् न विदितवान्, वृथैव जन्म । अपि च महती विनष्टिः महान्विनाशो जन्ममरणप्रबन्धाविच्छेदप्राप्तिलक्षणः स्याद्यतः, तस्मादवश्यं तद्विच्छेदाय ज्ञेय आत्मा । ज्ञानेन तु किं स्यादिति, उच्यते— भूतेषु भूतेषु चराचरेषु सर्वेष्वित्यर्थः । विचित्य विचार्य पृथङ्निष्कृष्यैकमात्मतत्त्वं संसारधर्मैरस्पृष्टमात्मभावेनोपलभ्येत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् । न पुनश्चित्वेति संभवति, विरोधात् । धीराः धीमन्तः विवेकिनः विनिवृत्तबाह्यविषयाभिलाषाः, श्रेय मृत्वा अस्मात् लोकात् शरीराद्यनात्मलक्षणात् व्यावृत्तममत्वाहंकाराः सन्त इत्यर्थः, अमृताः अमरणधर्माणो नित्यविज्ञानामृतत्वस्वभावा एव भवन्ति ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

## तृतीयः खण्डः ॥

---

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह  
ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त  
ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं  
महिमेति ॥ १ ॥

तद्वैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव  
तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥ २ ॥

तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद्विजानीहि  
किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा  
अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मी-  
ति ॥ ४ ॥

तस्मिँस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदँ सर्वं  
दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय  
सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव  
निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्ष-  
मिति ॥ ६ ॥

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि  
किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायु-  
र्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अह-  
मस्मीति ॥ ८ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्व-  
माददीय यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुप-  
प्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स  
तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदे-  
तद्यक्षमिति ॥ १० ॥

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि कि-

मेतद्यक्षमिति तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्ति-  
रोदधे ॥ ११ ॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहु  
शोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच  
किमेतद्यक्षमिति ॥ १२ ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

ब्रह्म ह देवेभ्य इति ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोक्तिः यन्नाधिक्या-  
र्था । समाप्ता ब्रह्मविद्या यदधीनः पुरुषार्थः । अत ऊर्ध्वम-  
र्थवादेन ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोच्यते । तद्विज्ञाने कथं नु नाम  
यत्नमधिकं कुर्यादिति । शमाद्यर्थो वान्नायः अभिमानशातनात् ।  
शमादि वा ब्रह्मविद्यासाधनं विधित्सितं तदर्थोऽयमर्थवादा-  
न्नायः । न हि शमादिसाधनरहितस्य अभिमानरागद्वेषादि-  
युक्तस्य ब्रह्मविज्ञाने सामर्थ्यमस्ति, व्यावृत्तबाह्यमिथ्याप्रत्य-  
यग्राह्यत्वाद्विज्ञानः । यस्माच्चाग्न्यादीनां जयाभिमानं शातयति,  
ततश्च ब्रह्मविज्ञानं दर्शयत्यभिमानोपशमे, तस्माच्छमादिसा-  
धनविधानार्थोऽयमर्थवाद इत्यवसीयते । सगुणोपासनार्थो वा,  
अपोदितत्वात् । ‘नेदं यदिदमुपासते’ इत्युपास्यत्वं ब्रह्मणो-

ऽपोदितम् । अपोदितत्वादनुपास्यत्वे प्राप्ते तस्यैव ब्रह्मणः  
 सगुणत्वेनाधिदैवतमध्यात्मं चोपासनं विधातव्यमित्येवमर्थो  
 वेति । अधिदैवतम् 'तद्वनमित्युपासितव्यम्' इति हि वक्ष्यति ।  
 ब्रह्मेति परः, लिङ्गात् । न ह्यन्यत्र परादीश्वरान्नित्यसर्वज्ञात्प-  
 रिभूयाग्न्यादींस्तृणं वज्रीकर्तुं सामर्थ्यमस्ति । 'तन्न शशाक  
 दग्धुम्' इत्यादिलिङ्गाद्ब्रह्मशब्दवाच्य ईश्वर इत्यवसीयते । न  
 ह्यन्यथा अग्निस्तृणं दग्धुं नोत्सहते वायुर्वा आदातुम् । ईश्वरे-  
 च्छया तु तृणमपि वज्रीभवतीत्युपपद्यते । तत्सिद्धिर्जगतो नि-  
 यतप्रवृत्तेः । श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभिर्नित्यसर्वविज्ञाने ईश्वरे सर्वा-  
 त्मनि सर्वशक्तौ सिद्धेऽपि शास्त्रार्थनिश्चयार्थमुच्यते । तस्ये-  
 श्वरस्य सद्भावसिद्धिः कुतो भवतीति, उच्यते । यदिदं जगद्देव-  
 गन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचादिलक्षणं द्युवियत्पृथिव्यादित्यच-  
 न्द्रग्रहनक्षत्रविचित्रं विविधप्राण्युपभोगयोग्यस्थानसाधनसंब-  
 न्धि, तदत्यन्तकुशलशिल्पिभिरपि दुर्निर्माणं देशकालनिमित्ता-  
 नुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमम् एतद्भोक्तृकर्मविभागज्ञप्रयत्नपू-  
 र्वकं भवितुमर्हति, कार्यत्वे सति यथोक्तलक्षणत्वात्, गृहप्रासा-  
 दरथशयनासनादिवत्, विपक्षे आत्मादिवत् । कर्मण एवेति  
 चेत्, न; परतन्त्रस्य निमित्तमात्रत्वात् । यदिदमुपभोग-  
 वैचित्र्यं प्राणिनां तत्साधनवैचित्र्यं च देशकालनिमित्तानुरूप-

नियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमं च, तन्न नित्यसर्वज्ञकर्तृकम्; किं तर्हि, कर्मण एव; तस्याचिन्त्यप्रभावत्वात् सर्वैश्च फलहेतुत्वाभ्युपगमाच्च । सति कर्मणः फलहेतुत्वे किमीश्वराधिककल्पनयेति न नित्यस्येश्वरस्य नित्यसर्वज्ञशक्तेः फलहेतुत्वं चेति चेत्, न; कर्मण एवोपभोगवैचित्र्याद्युपपद्यते । कस्मात्? कर्तृ-तन्त्रत्वात्कर्मणः । चितिमत्प्रयत्ननिवृत्तं हि कर्म तत्प्रयत्नो-परमादुपरतं सद्देशान्तरे कालान्तरे वा नियतनिमित्तविशेषापेक्षं कर्तुः फलं जनयिष्यतीति न युक्तमनपेक्ष्यान्यदात्मनः प्रयोक्तृ, कर्तैव फलकाले प्रयोक्तेति चेत्, मया निवर्तितोऽसि त्वां प्रयोक्ष्ये फलाय यदात्मानुरूपं फलमिति न देशकालनिमित्तविशेषानभिज्ञत्वात् । यदि हि कर्ता देशादिविशेषाभिज्ञः सन्स्वातन्त्र्येण कर्म नियुञ्ज्यात्, ततोऽनिष्टफलस्याप्रयोक्ता स्यात् । न च निर्निमित्तं तदनिच्छयात्मसमवेतं तच्चर्मवद्विकरोति कर्म । न चात्मकृतमकर्तृसमवेतमयस्कान्तमणिवदा-कष्टं भवति, प्रधानकर्तृसमवेतत्वात्कर्मणः । भूताश्रयमिति चेत्, न; साधनत्वात् । कर्तृक्रियायाः साधनभूतानि भूतानि क्रियाकालेऽनुभूतव्यापाराणि समाप्तौ च हलादि-वत्कर्त्रा परित्यक्तानि न फलं कालान्तरे कर्तुमुत्सहन्ते । न हि हलं क्षेत्राद्वीहीन्गृहं प्रवेशयति । भूतकर्मणोश्चाचेतनत्वा-



त्स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । वायुवदिति चेत्, न ; असिद्धत्वात् । न हि वायोरचितिमतः स्वतः प्रवृत्तिः सिद्धा, रथादिष्वदर्शनात् । शास्त्रात्कर्मण एवेति चेत्— शास्त्रं हि क्रियातः फलसिद्धिमाह नेश्वरादेः 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि । न च प्रमाणाधिगतत्वादानर्थक्यं युक्तम् । न चेश्वरास्तित्वे प्रमाणान्तरमस्तीति चेत्, न ; दृष्टन्यायहानानुपपत्तेः । क्रिया हि द्विविधा दृष्टफला अदृष्टफला च । दृष्टफलापि द्विविधा अनन्तरफला कालान्तरफला च । अनन्तरफला गतिभुजिलक्षणा । कालान्तरफला च कृषिसेवादिलक्षणा । तत्रानन्तरफला फलापवर्गिण्येव । कालान्तरफला तु उत्पन्नप्रध्वंसिनी । आत्मसेव्याद्यधीनं हि कृषिसेवादेः फलं यतः । न चोभयन्यायव्यतिरेकेण स्वतन्त्रं कर्म ततो वा फलं दृष्टम् । तथा च कर्मफलप्राप्तौ न दृष्टन्यायहानमुपपद्यते । तस्माच्छान्ते यागादिकर्मणि नित्यः कर्तृकर्मफलविभागज्ञ ईश्वरः सेव्यादिवद्यागाद्यनुरूपफलदातोपपद्यते । स चात्मभूतः सर्वस्य सर्वक्रियाफलप्रत्ययसाक्षी नित्यविज्ञानस्वभावः संसारधर्मैरसंस्पृष्टः । श्रुतेश्च । 'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' 'जरां मृत्युमत्येति' 'विजरो विमृत्युः' 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' 'एष सर्वेश्वरः पुण्यं कर्म कारयति'

‘अनन्यन्नन्यो अभिचाकशीति’ ‘एतस्य वा अक्षरस्य प्रशा-  
सने’ इत्याद्या असंसारिण एकस्यात्मनो नित्यमुक्तस्य  
सिद्धौ श्रुतयः । स्मृतयश्च सहस्रशो विद्यन्ते । न चार्थवादाः  
शक्यन्ते कल्पयितुम्, अनन्ययोगित्वे सति विज्ञानोत्पाद-  
कत्वात् । न चोत्पन्नं विज्ञानं बाध्यते । अप्रतिषेधाच्च । न  
चेश्वरो नास्तीति निषेधोऽस्ति । प्राप्यभावादिति चेत्, न ;  
उक्तत्वात् । ‘न हिंस्यात्’ इतिवत्प्राप्यभावात्प्रतिषेधो नार-  
भ्यत इति चेत्, न ; ईश्वरसद्भावे न्यायस्योक्तत्वात् । अथ-  
वा अप्रतिषेधादिति कर्मणः फलदाने ईश्वरकालादीनां न प्र-  
तिषेधोऽस्ति । न च निमित्तान्तरनिरपेक्षं केवलेन कर्त्रैव  
प्रयुक्तं फलदं दृष्टम् । न च विनष्टोऽपि यागः कालान्तरे  
फलदो भवति । सेव्यबुद्धिवत्सेवकेन सर्वज्ञेश्वरबुद्धौ तु सं-  
स्कृतायां यागादिकर्मणा विनष्टेऽपि कर्मणि सेव्यादिवेश्वरा-  
त्फलं कर्तुर्भवतीति युक्तम् । न तु पुनः पदार्था वाक्यशते-  
नापि देशान्तरे कालान्तरे वा स्वं स्वं स्वभावं जहति । न हि  
देशकालान्तरेषु चाग्निरनुष्णो भवति । एवं कर्मणोऽपि का-  
लान्तरे फलं द्विप्रकारमेवोपलभ्यते । बीजक्षेत्रसंस्कारपरिर-  
क्षाविज्ञानवत्कर्त्तृपेक्षफलं कृष्यादि, विज्ञानवत्सेव्यबुद्धिसंस्का-  
रापेक्षफलं च सेवादि । यागादेः कर्मणस्तथाविज्ञानवत्कर्त्तृपे-

क्षफलत्वानुपपत्तौ कालान्तरफलत्वात्कर्मदेशकालनिमित्तवि-  
पाकविभागज्ञबुद्धिसंस्कारापेक्षं फलं भवितुमर्हति, सेवादि-  
कर्मानुरूपफलज्ञसेव्यबुद्धिसंस्कारापेक्षफलस्येव । तस्मात्सिद्धः  
सर्वज्ञ ईश्वरः सर्वजन्तुबुद्धिकर्मफलविभागसाक्षी सर्वभूतान्त-  
रात्मा । ‘यत्साक्षादपरोक्षात्’ ‘य आत्मा सर्वान्तरः’ इति  
श्रुतेः । स एव चात्रात्मा जन्तूनाम्, ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा  
श्रोता मन्ता विज्ञाता’ ‘नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ’ इत्याद्या-  
त्मान्तरप्रतिषेधश्रुतेः ‘तत्त्वमसि’ इति चात्मत्वोपदेशात् । न  
हि मृत्पिण्डः काश्चनात्मत्वेनोपदिश्यते । ज्ञानशक्तिकर्मोपा-  
स्योपासकशुद्धाशुद्धमुक्तामुक्तभेदादात्मभेद एवेति चेत्, न ;  
भेददृष्ट्यपवादात् । यदुक्तं संसारिणः ईश्वारादनन्या इति तन्न ।  
किं तर्हि ? भेद एव संसार्यात्मनाम् । कस्मात् ? लक्षणभे-  
दात्, अश्वमहिषवत् । कथं लक्षणभेद इति, उच्यते—ईश्वरस्य  
तावन्नित्यं सर्वविषयं ज्ञानं सवितृप्रकाशवत् । तद्विपरीतं संसा-  
रिणां खद्योतस्येव । तथैव शक्तिभेदोऽपि । नित्या सर्वविषया  
चेश्वरशक्तिः ; विपरीतेतरस्य । कर्म च चित्स्वरूपात्मसत्ता-  
मात्रनिमित्तमीश्वरस्य । औष्ण्यस्वरूपद्रव्यसत्तामात्रनिमित्त-  
दहनकर्मवत् राजायस्कान्तप्रकाशकर्मवच्च स्वात्मनोऽविक्रिया  
रूपम् ; विपरीतमितरस्य । ‘उपासीत’ इति वचनादु-

पास्य ईश्वरो गुरुराजवत् । उपासकश्चेतरः शिष्यभृत्यवत् ।  
 अपहृतपाप्मादिश्रवणान्नित्यशुद्ध ईश्वरः । ‘पुण्यो वै पुण्ये-  
 न’ इति वचनाद्विपरीत इतरः । अत एव नित्य-  
 मुक्त ईश्वरः । नित्याशुद्धियोगात्संसारितरः । यत्र च  
 ज्ञानादिलक्षणभेदोऽस्ति तत्र भेदो दृष्टः यथा अश्वमहि-  
 षयोः । तथा ज्ञानादिलक्षणभेदादीश्वरादात्मनां भेदोऽस्तीति  
 चेत्, न । कस्मात् ? ‘अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद’  
 ‘ते क्षय्यलोका भवन्ति’ ‘मृत्योः स मृत्युमाप्नोति’ इति  
 भेददृष्टिर्ह्यपोद्यते । एकत्वप्रतिपादिन्यश्च श्रुतयः सहस्रशो वि-  
 द्यन्ते । यदुक्तं ज्ञानादिलक्षणभेदादिति अत्रोच्यते । न, अन-  
 भ्युपगमात् । बुद्ध्यादिभ्यो व्यतिरिक्ता विलक्षणाश्चेश्वराद्वि-  
 न्नलक्षणा आत्मानो न सन्ति । एक एवेश्वरश्चात्मा सर्व-  
 भूतानां नित्यमुक्तोऽभ्युपगम्यते । बाह्यश्च बुद्ध्यादिसमाहार-  
 संतानाहंकारममत्वादिविपरीतप्रत्ययप्रबन्धाविच्छेदलक्षणो नि-  
 त्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपविज्ञानात्मेश्वरगर्भो नित्यविज्ञानावभासः  
 चित्तचैत्यबीजबीजिस्वभावः कल्पितोऽनित्यविज्ञान ईश्वरलक्ष-  
 णविपरीतोऽभ्युपगम्यते । यस्याविच्छेदे संसारव्यवहारः ;  
 विच्छेदे च मोक्षव्यवहारः । अन्यश्च मृत्युप्रलेपवत्प्रत्यक्ष-  
 प्रध्वंसो देवपितृमनुष्यादिलक्षणो भूतविशेषसमाहारो न

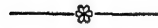
पुनश्चतुर्थोऽन्यो भिन्नलक्षण ईश्वरादभ्युपगम्यते । बुद्ध्या-  
दिकल्पितात्मव्यतिरेकाभिप्रायेण तु लक्षणभेदादित्याश्रया-  
सिद्धो हेतुः, ईश्वरादन्यस्यात्मनोऽसत्त्वात् । ईश्वरस्यैव  
विरुद्धलक्षणत्वमयुक्तमिति चेत् सुखदुःखादियोगश्च, न ; नि-  
मित्तत्वे सति लोकविपर्ययाध्यारोपणात्, सवितृवत् । यथा  
हि सविता नित्यप्रकाशरूपत्वाल्लोकाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिनि-  
मित्तत्वे सति लोकदृष्टिविपर्ययेणोदयास्तमयाहोरात्रादिकर्तृ-  
त्वाध्यारोपभागभवति, एवमीश्वरे नित्यविज्ञानशक्तिरूपे लोक-  
ज्ञानापोहसुखदुःखस्मृत्यादिनिमित्तत्वे सति लोकविपरीतबु-  
द्ध्याध्यारोपितं विपरीतलक्षणत्वं सुखदुःखादयश्च; न स्वतः ।  
आत्मदृष्ट्यनुरूपाध्यारोपाच्च । यथा घनादिविप्रकीर्णोऽम्बरे  
येनैव सवितृप्रकाशो न दृश्यते, स आत्मदृष्ट्यनुरूपमेवाध्य-  
स्यति सवितेदानीमिह न प्रकाशयतीति सत्येव प्रकाशेऽन्यत्र  
भ्रान्त्या । एवमिह बौद्धादिवृत्त्युद्भवाभिभवाकुलभ्रान्त्याध्या-  
रोपितः सुखदुःखादियोग उपपद्यते । तत्स्मरणाच्च । तस्यैव  
ईश्वरस्यैव हि स्मरणम् ‘मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च’ ‘नादत्ते  
कस्यचित्पापम्’ इत्यादि । अतो नित्यमुक्त एकस्मिन्स-  
वितरीव लोकाविद्याध्यारोपितमीश्वरे संसारित्वम्; शास्त्रा-  
दिप्रामाण्यादभ्युपगतमसंसारित्वमित्यविरोध इति । एतेन

प्रत्येकं ज्ञानादिभेदः प्रत्युक्तः । सौक्ष्म्यचैतन्यसर्वगतत्वाद्य-  
विशेषे च भेदहेत्वभावात् । विक्रियावत्त्वे चानित्यत्वात् ।  
मोक्षे च विशेषानभ्युपगमात् अभ्युपगमे चानित्यत्वप्रसङ्गात् ।  
अविद्यावदुपलभ्यत्वाच्च भेदस्य तत्क्षयेऽनुपपत्तिरिति सिद्ध-  
मेकत्वम् । तस्माच्छरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासंतानस्या-  
हंकारसंबन्धादज्ञानबीजस्य नित्यविज्ञानान्यनिमित्तस्यात्मत-  
त्त्वयाथात्म्यविज्ञानाद्विनिवृत्तावज्ञानबीजस्य विच्छेद आत्मनो  
मोक्षसंज्ञा, विपर्यये च बन्धसंज्ञा ; स्वरूपापेक्षत्वादुभयोः ।  
ब्रह्म— ह इत्यैतिह्यार्थः— पुरा किल देवासुरसंग्रामे जग-  
त्स्थितिपरिपिपालयिषया आत्मानुशासनानुवर्तिभ्यो देवेभ्यः  
अर्थिभ्योऽर्थाय विजिग्ये अजैषीदसुरान् । ब्रह्मण इच्छानि-  
मित्तो विजयो देवानां बभूवेत्यर्थः । तस्य ह ब्रह्मणो विजये  
देवा अमहीयन्त । यज्ञादिलोकस्थित्यपहारिष्वसुरेषु पराजि-  
तेषु देवा वृद्धिं पूजां वा प्राप्तवन्तः । त एष्यन्तेति मिथ्या-  
प्रत्ययत्वाद्धेत्यख्यापनार्थ आम्नायः । ईश्वरनिमित्ते विजये स्व-  
सामर्थ्यनिमित्तोऽस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमे-  
त्यात्मनो जयादिश्रेयोनिमित्तं सर्वात्मानमात्मस्थं सर्वकल्या-  
णास्पदमीश्वरमेवात्मत्वेनाबुद्ध्वा पिण्डमात्राभिमानाः सन्तो यं  
मिथ्याप्रत्ययं चक्रुः तस्य पिण्डमात्रविषयत्वेन मिथ्याप्रत्य-

यत्वात्सर्वात्मेश्वरयाथात्म्यावबोधेन हातव्यताख्यापनार्थः तद्वै-  
 षामित्याद्याख्यायिकाम्नायः । तद्ब्रह्म ह किल एषां देवानाम-  
 भिप्रायं मिथ्याहंकाररूपं विजज्ञौ विज्ञातवत् । ज्ञात्वा च  
 मिथ्याभिमानशातनेन तदनुजिघृक्षया देवेभ्योऽर्थाय तेषा-  
 मेवेन्द्रियगोचरे नातिदूरे प्रादुर्बभूव महेश्वरशक्तिमायोपात्ते-  
 नात्यन्ताद्भुतेन प्रादुर्भूतं किल केनचिद्रूपविशेषेण । तत्किलो-  
 पलभमाना अपि देवा न व्यजानत न विज्ञातवन्तः किमिदं  
 यदेतद्यक्षं पूज्यमिति । तद्विज्ञानायाग्निमब्रुवन् । तृणनिधाने-  
 ऽयमभिप्रायः— अत्यन्तसंभावितयोरग्निमारुतयोस्तृणदहना-  
 दानाशक्त्या आत्मसंभावना शातिता भवेदिति । इन्द्र आ-  
 दित्यो वज्रभृद्वा, अविरोधात् । इन्द्रोपसर्पणे ब्रह्म तिरोदध  
 इत्यस्यायमभिप्रायः— इन्द्रोऽहमित्यधिकतमोऽभिमानोऽस्य;  
 सोऽहमग्न्यादिभिः प्राप्तं वाक्संभाषणमात्ममप्यनेन न प्राप्तो-  
 ऽस्मीत्यभिमानं कथं न नाम जह्यादिति । तदनुग्रहायैवान्त-  
 र्हितं तद्ब्रह्म बभूव । स शान्ताभिमान इन्द्रः अत्यर्थं ब्रह्म  
 विजिज्ञासुः यस्मिन्नाकाशे ब्रह्मणः प्रादुर्भाव आसीत्तिरोधानं  
 च, तस्मिन्नेव स्त्रियमतिरूपिणीं विद्यामाजगाम । अभिप्रायो-  
 द्बोधहेतुत्वादुद्रपत्नी उमा हैमवतीव बहु शोभमाना विद्यैव ।  
 विरूपोऽपि विद्यावान्बहु शोभते ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

## चतुर्थः खण्डः ॥



ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये  
महीयध्वमिति ततो हैव विदांचकार  
ब्रह्मेति ॥ १ ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्या-  
न्देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्टं पस्प-  
र्शुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवा-  
न्स ह्येनन्नेदिष्टं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो  
विदांचकार ब्रह्मेति ॥ ३ ॥

तस्यैष आदेशो यदेतद्विश्रुतो व्यशु-  
तदा३ इतीन्नयमीमिषदा३ इत्यधिदैव-  
तम् ॥ ४ ॥

तां च पृष्ट्वा तस्या एव वचनात् विदांचकार विदित-



वान् । अत इन्द्रस्य बोधहेतुत्वाद्विद्यैवोमा । ‘विद्यासहायवा-  
नीश्वरः’ इति स्मृतिः । यस्मादिन्द्रविज्ञानपूर्वकमग्निवाय्वि-  
न्द्रास्ते हि एनत् नेदिष्ठम् अतिसमीपं ब्रह्मविद्यया ब्रह्म  
प्राप्ताः सन्तः पस्पृशुः स्पृष्टवन्तः । ते हि एनत् प्रथमः  
प्रथमं विदांचकार विदांचकुरित्येतत् । तस्मात् अतितराम्  
अतीत्य अतिशयेन दीप्यन्तेऽन्यान् देवान् । ततोऽपी-  
न्द्रोऽतितरां दीप्यते, आदौ ब्रह्मविज्ञानात् । तस्यैष आ-  
देशः तस्य ब्रह्मण एष वक्ष्यमाणः आदेशः उपासनोप-  
देश इत्यर्थः । यस्माद्देवेभ्यो विद्युदिव सहसैव प्रादुर्भूतं  
ब्रह्म द्युतिमत्, तस्माद्विद्युतो विद्योतनं यथा यदेतद्ब्रह्म व्यद्युतत्  
विद्योतितवत् । आ इत्युपमार्थ आ-शब्दः । यथा घनान्ध-  
कारं विदार्य विद्युत्सर्वतः प्रकाशते, एवं तद्ब्रह्म देवानां पुरतः  
सर्वतः प्रकाशवद्व्यक्तीभूतम् । अतो व्यद्युतादिवेत्युपास्यम् ।  
‘यथा सकृद्विद्युतम्’ इति च वाजसनेयके । यस्माच्चेन्द्रोपसर्पण-  
काले न्यमीमिषत्— यथा कश्चिच्चक्षुर्निमेषणं कृतवानिति ।  
इतीदित्यनर्थकौ निपातौ—निमिषितवदिव तिरोभूतमित्येवम-  
धिदैवतं देवताया अधि यद्दर्शनमधिदैवतं तत् ॥

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनो-  
ऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्षणं संकल्पः ॥ ५ ॥

अथ अनन्तरम् अध्यात्मम् आत्मनः अधि आत्मविषयम् अध्यात्मम् उच्यत इति वाक्यशेषः । यदेतत् यथोक्तलक्षणं ब्रह्म गच्छतीव प्राप्नोतीव विषयीकरोतीवेत्यर्थः । न पुनर्विषयीकरोति मनः, अविषयत्वाद्व्रह्मणः । अतो मनो न गच्छति । 'येनाहुर्मनो मतम्' इति चोक्तम् । गच्छतीवेति तु मनसोऽपि मनस्त्वात् आत्मभूतत्वाच्च ब्रह्मणः तत्समीपे मनो वर्तते इति उपस्मरति अनेन मनसैव तद्ब्रह्म विद्वान्यस्मात्, तस्माद्ब्रह्म गच्छतीवेत्युच्यते । अभीक्षणं पुनः पुनः । संकल्पः ब्रह्मप्रेषितस्य मनसः । अत उपस्मरणसंकल्पादिभिर्लिङ्गैर्ब्रह्म मनआद्यात्मभूतमित्युपास्यमित्यभिप्रायः ॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं  
स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भू-  
तानि संवाञ्छन्ति ॥ ६ ॥

तस्य चाध्यात्ममुपासने गुणो विधीयते—तद्ध तद्वनं तदेतद्ब्रह्म तच्च तद्वनं च तत् परोक्षं वनं संभजनीयम् । वन-तेस्तत्कर्मणः । तस्मात्तद्वनं नाम । ब्रह्मणो गौणं हीदं नाम । तस्मादनेन गुणेन तद्वनमित्युपासितव्यम् । स यः कश्चिदेत-यथोक्तमेवं यथोक्तेन गुणेन वनमित्यनेन नाम्नाभिधेयं ब्रह्म

वेद उपास्ते तस्यैतत्फलमुच्यते—सर्वाणि भूतानि एनम् उपासकम् अभिसंवाञ्छन्ति इहाभिसंभजन्ते सेवन्ते स्मेत्यर्थः । यथागुणोपासनं हि फलम् ।

**उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिष-  
द्ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ७ ॥**

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्तायामुपनिषदि शिष्येणोक्त आचार्य आह—उक्ता कथिता ते तुभ्यम् उपनिषदात्मोपासनम् । अधुना ब्राह्मीं वाव ते तुभ्यं ब्रह्मणो ब्राह्मणजातेः उपनिषदम् अब्रूम वक्ष्याम इत्यर्थः । वक्ष्यति हि । ब्राह्मी नोक्ता । उक्ता त्वात्मोपनिषत् । तस्मान्न भूताभिप्रायोऽब्रूमेत्ययं शब्दः ॥

**तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः  
सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ ८ ॥**

तस्यै तस्या वक्ष्यमाणाया उपनिषदः तपः ब्रह्मचर्यादि दमः उपशमः कर्म अग्निहोत्रादि इत्येतानि प्रतिष्ठा आश्रयः । एतेषु हि सत्सु ब्राह्मच्युपनिषत्प्रतिष्ठिता भवति । वेदाः चत्वारः अङ्गानि च सर्वाणि । प्रतिष्ठेत्यनुवर्तते । ब्रह्माश्रया हि विद्या । सत्यं यथाभूतवचनमपीडाकरम् आयतनं निवासः । सत्यवत्सु हि सर्वे यथोक्तमायतन इवावस्थितम् ॥

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानम-  
नन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रति-  
तिष्ठति ॥ ९ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

तामेतां तपआद्यङ्गां तत्प्रतिष्ठां ब्राह्मीमुपनिषदं सायतना-  
मात्मज्ञानहेतुभूताम् एवं यथावत् यो वेद अनुवर्तते अनुति-  
ष्ठति, तस्यैतत्फलमाह— अपहत्य पाप्मानम् अपक्षय्य धर्मा-  
धर्मावित्यर्थः । अनन्ते अपारे अविद्यमानानन्ते स्वर्गे लोके  
सुखप्राये निर्दुःखात्मानि परे ब्रह्मणि ज्येये महति सर्वमहत्तरे  
प्रतितिष्ठति सर्ववेदान्तवेद्यं ब्रह्म आत्मत्वेनावगम्य तदेव  
ब्रह्म प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य

श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य

श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

केनोपनिषद्वाक्यभाष्यम्

संपूर्णम् ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

ॐ

आप्यायन्तु ममाङ्गानि  
वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो ब-  
लमिन्द्रियाणि च सर्वाणि ।  
सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म  
निराकुर्यां मा मा ब्रह्म नि-  
राकरोदनिराकरणमस्त्वनि -  
राकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि  
निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते  
मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

॥ ॐ ॥

# काठकोपनिषद्भाष्यम्

श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादैः  
विरचितम् ।



ॐ

सह नाववतु । सह नौ  
भुनक्तु । सह वीर्यं कर-  
वावहै । तेजस्वि नावधीत-  
मस्तु मा विद्विषावहै ॥

---

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥





काठकोपनिषद्भाष्यम्

प्रथमोऽध्यायः





# ॥ काठकोपनिषत् ॥

श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितेन  
भाष्येण सहिता ।



ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मवि-  
द्याचार्याय, नचिकेतसे च ।



थ काठकोपनिषद्ब्रह्मीनां सुखार्थप्रबोध-  
नार्थमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते । सदे-  
र्धातोर्विशरणगत्यवसानार्थस्योपनिषू-  
र्वस्य किंप्रत्ययान्तस्य रूपमिदम् ' उप-  
निषत् ' इति । उपनिषच्छब्देन च व्या-  
चिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्या उच्यते । केन

पुनरर्थयोगेनोपनिषच्छब्देन विद्योच्यते इति, उच्यते । ये मुमु-  
क्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्तः उपनिषच्छब्दवा-  
च्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया नि-  
श्चयेन शीलयन्ति, तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्धि-  
सनाद्विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्योपनिषदित्युच्यते । तथा  
च वक्ष्यति ‘निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते’ इति । पूर्वो-  
क्तविशेषणान्वा मुमुक्षून्परं ब्रह्म गमयतीति च ब्रह्मगमयितृत्वेन  
योगाद्ब्रह्मविद्या उपनिषत् । तथा च वक्ष्यति ‘ब्रह्म प्राप्नो  
विरजोऽभूद्विमृत्युः’ इति । लोकादिर्ब्रह्मजज्ञो योऽग्निः, तद्वि-  
षयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलो-  
कफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोका-  
न्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्यावसादयितृत्वेन शैथिल्यापाद-  
नेन धात्वर्थयोगादग्निविद्यापि उपनिषदित्युच्यते । तथा च  
वक्ष्यति ‘स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते’ इत्यादि । ननु चो-  
पनिषच्छब्देनाध्येतारो ग्रन्थमप्यभिलपन्ति— उपनिषदमधी-  
महे उपनिषदमध्यापयाम इति च । नैष दोषः, अवि-  
द्यादिसंसारहेतुविशरणादेः सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसंभवा-  
द्विद्यायां च संभवात् ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः  
‘आयुर्वै घृतम्’ इत्यादिवत् । तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्या

उपनिषच्छब्दो वर्तते, ग्रन्थे तु भक्त्येति । एवमुपनिषद्भिर्वचनेनैव विशिष्टोऽधिकारी विद्यायाम् उक्तः । विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम् । प्रयोजनं चास्या आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा । संबन्धश्चैवंभूत-प्रयोजनेनोक्तः । अतो यथोक्ताधिकारिविषयप्रयोजनसंबन्धाया विद्यायाः करतलन्यस्तामलकवत्प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारिविषयप्रयोजनसंबन्धा एता वल्लघो भवन्तीति । अतस्ता यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे ॥

उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं  
ददौ । तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र  
आस ॥ १ ॥

तत्राख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । उशन् कामयमानः । ह वै इति वृत्तार्थस्मरणार्थौ निपातौ । वाजम् अन्नम्, तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यशो यस्य सः वाजश्रवाः, रूढितो वा ; तस्यापत्यं वाजश्रवसः । सः वाजश्रवसः किल विश्वजिता सर्वमेधेनेजे तत्फलं कामयमानः । सः तस्मिन्क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान् । तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किल आस बभूव ॥

तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीय-  
मानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथमवयसं सन्तम् अप्राप्तप्रजनन-  
शक्तिं बालमेव श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ता  
आविवेश प्रविष्टवती । कस्मिन्काले इति, आह— ऋत्विग्भ्यः  
सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागोपनीयमानासु  
दक्षिणार्थासु गोषु, सः आविष्टश्रद्धो नचिकेताः अमन्यत ॥

पीतोदका जग्धतृणा

दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।

अनन्दा नाम ते लोका-

स्तान्स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

कथमिति, उच्यते— पीतोदका इत्यादिना दक्षिणार्था  
गावो विशेष्यन्ते । पीतमुदकं याभिस्ताः पीतोदकाः । जग्धं  
भक्षितं तृणं याभिस्ता जग्धतृणाः । दुग्धो दोहः क्षीराख्यो  
यासां ताः दुग्धदोहाः । निरिन्द्रियाः प्रजननासमर्थाः जीर्णाः,  
निष्फला गाव इत्यर्थः । यास्ताः एवम्भूताः गाः ऋत्विग्भ्यो  
दक्षिणाबुद्ध्या ददत् प्रयच्छन् अनन्दाः अनानन्दाः असुखा  
नामेत्येतत् । ये ते लोकाः, तान् सः यजमानः गच्छति ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां  
दास्यसीति । द्वितीयं तृतीयं तं होवाच  
मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

तदेवं ऋत्विक्संपत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं फलं पुत्रेण सता निवा-  
रणीयं मया आत्मप्रदानेनापि ऋतुसंपत्तिं कृत्वेत्येवं मन्यमानः  
पितरमुपगम्य स होवाच पितरम्— हे तत तात कस्मै  
ऋत्विग्विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसीति प्रयच्छसीत्येतत् ।  
स एवमुक्तेन पित्रा उपेक्ष्यमाणोऽपि द्वितीयं तृतीयमपि  
उवाच— कस्मै मां दास्यसि कस्मै मां दास्यसीति । नायं  
कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः सन् पिता तं ह पुत्रं किल उवाच  
मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति ॥

बहूनामेमि प्रथमो

बहूनामेमि मध्यमः ।

किं स्विद्यमस्य कर्तव्यं

यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

स एवमुक्तः पुत्रः एकान्ते परिदेवयांचकार । कथमिति,  
उच्यते— बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वा एमि गच्छामि



प्रथमः सन् मुख्यया शिष्यादिवृत्त्येत्यर्थः । मध्यमानां च बहूनां मध्यमः मध्यमयैव वृत्त्या एमि । नाधमया कदाचिदपि । तमेवं विशिष्टगुणमपि पुत्रं माम् 'मृत्यवे त्वा ददामि' इत्युक्तवान् पिता । सः किंस्वित् यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं मया प्रदत्तेन करिष्यति यत्कर्तव्यम् अद्य ? नूनं प्रयोजनमनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान् पिता । तथापि तत्पितुर्वचो मृषा मा भूदिति ॥

**अनुपश्य यथा पूर्वे**

**प्रतिपश्य तथा परे ।**

**सस्यमिव मर्त्यः पच्यते**

**सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥**

एवं मत्वा परिदेवनापूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति— अनुपश्य आलोचय विभावयानुक्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वे अतिक्रान्ताः पितृपितामहादयस्तव । तान्दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थातुमर्हसि । वर्तमानाश्च अपरे साधवो यथा वर्तन्ते तांश्च तथा प्रतिपश्य आलोचय । न च तेषां मृषाकरणं वृत्तं वर्तमानं वा अस्ति । तद्विपरीतमसतां च वृत्तं मृषाकरणम् । न च मृषाभूतं कृत्वा कश्चिदजरामरो

भवति ; यतः सस्यमिव मर्त्यः मनुष्यः पच्यते जीर्णो  
भ्रियते, मृत्वा च सस्यमिव आजायते आविर्भवति पुनः ; एव-  
मनित्ये जीवलोके किं मृषाकरणेन ? पालयात्मनः सत्यम् ।  
प्रेषय मां यमायेत्यभिप्रायः ॥

**वैश्वानरः प्रविशति**

**अतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।**

**तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति**

**हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥**

स एवमुक्तः पिता आत्मनः सत्यतायै प्रेषयामास । स  
च यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीरुवास यमे प्रोषिते । प्रोष्या-  
गतं यमम् अमात्या भार्या वा ऊचुर्बोधयन्तः— वैश्वानरः  
अग्निरेव साक्षात् प्रविशति अतिथिः सन् ब्राह्मणः गृहान्  
दहन्निव । तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेः एतां पाद्यासनादि-  
दानलक्षणां शान्तिं कुर्वन्ति सन्तोऽतिथेर्यतः, अतः हर  
आहर हे वैवस्वत, उदकं नचिकेतसे पाद्यार्थम् ॥

**आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च**

**इष्टापूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान् ।**

एतद्वृद्धे पुरुषस्याल्पमेधसो

यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

यतश्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते— आशाप्रतीक्षे, अनि-  
र्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रार्थना आशा, निर्ज्ञातप्राप्यार्थप्रतीक्षणं प्रतीक्षा,  
ते आशाप्रतीक्षे ; संगतं सत्संयोगजं फलम्, सूनुतां च सूनु-  
ता हि प्रिया वाक् तन्निमित्तं च, इष्टापूर्ते इष्टं यागजं फलं  
पूर्तम् आरामादिक्रियाजं फलम्, पुत्रपशूँश्च पुत्रांश्च पशूँश्च  
सर्वान्, एतत् सर्वं यथोक्तं वृद्धे वर्जयति विनाशयतीत्ये-  
तत् । पुरुषस्य अल्पमेधसः अल्पप्रज्ञस्य, यस्य अनश्नन्  
अभुज्जानः ब्राह्मणः गृहे वसति । तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वा-  
वस्थास्वप्यतिथिरित्यर्थः ॥

तिस्रो रात्रीर्यद्वात्सीर्गृहे मे

अनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।

नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्वास्ति मेऽस्तु

तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥ ९ ॥

एवमुक्तो मृत्युरुवाच नचिकेतसमुपगम्य पूजापुरःसरम्—  
तिस्रः रात्रीः यत् यस्मात् अवात्सीः उषितवानसि गृहे मे  
सम अनश्नन् हे ब्रह्मन् अतिथिः सन् नमस्यः नमस्कारार्हश्च,

तस्मात् नमः ते तुभ्यम् अस्तु भवतु । हे ब्रह्मन् स्वस्ति भद्रं मे अस्तु । तस्मात् भवतोऽनशनेन मद्बृहवासनिमित्तादोषात् । तत्प्राप्त्युपशमेन यद्यपि भवदनुग्रहेण सर्वं मम स्वस्ति स्यात्, तथापि त्वदधिकसंप्रसादनार्थमनशनेनोषितामेकैकां रात्रिं प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व अभिप्रेतार्थविषयान्प्रार्थयस्व मत्तः ॥

**शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्या-**

**द्वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो ।**

**त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत**

**एतत्तयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥**

नचिकेतास्त्वाह—यदि दित्सुर्वरान्, शान्तसंकल्पः उप-  
शान्तः संकल्पो यस्य मां प्रति ‘यमं प्राप्य किं नु करिष्य-  
ति मम पुत्रः’ इति, सः शान्तसंकल्पः सुमनाः प्रसन्नचित्तश्च  
यथा स्यात् द्वीतमन्युः विगतरौषश्च गौतमः मम पिता मा  
अभि मां प्रति हे मृत्यो ; किंच, त्वत्प्रसृष्टं त्वया विनिर्मुक्तं  
प्रेषितं गृहं प्रति मा माम् अभिवदेत् प्रतीतः लब्धस्मृतिः, ‘स  
एवायं पुत्रो ममागतः’ इत्येवं प्रत्यभिजानन्नित्यर्थः । एतत्प्रयो-  
जनं तयाणां वराणां प्रथमम् आद्यं वरं वृणे प्रार्थये यत्पितुः  
परितोषणम् ॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत

औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।

सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्यु-

स्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥११॥

मृत्युरुवाच— यथा बुद्धिः त्वयि पुरस्तात् पूर्वम् आसी-  
त्स्नेहसमन्विता पितुस्तव, भविता प्रीतिसमन्वितस्तव पिता  
तथैव प्रतीतः प्रतीतवान्सन् । औद्दालकिः उद्दालक एव  
औद्दालकिः अरुणस्यापत्यम् आरुणिः द्यामुष्यायणो वा  
मत्प्रसृष्टः मयानुज्ञातः सन् उत्तरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्न-  
मनाः शयिता स्वप्ना वीतमन्युः विगतमन्युश्च भविता स्यात्,  
त्वां पुत्रं ददृशिवान् दृष्टवान् सन् मृत्युमुखात् मृत्युगोचरात्  
प्रमुक्तं सन्तम् ॥

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति

न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।

उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे

शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

नचिकेता उवाच— स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं

किञ्चन किञ्चिदपि नास्ति । न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा  
प्रभवसि, अतो जरया युक्त इह लोक इव त्वत्तो न विभेति  
कश्चित्तत्र । किं च उभे अशनायापिपासे तीर्त्वा अतिक्रम्य  
शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन् मानसेन दुःखेन  
वर्जितः मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिवि ॥

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो

प्रब्रूहि तं श्रद्धानाय मह्यम् ।

स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त

एतद्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

एवंगुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतम् अग्निं  
स्वर्ग्यं स त्वं मृत्युः अध्येषि स्मरसि, जानासीत्यर्थः । हे  
मृत्यो, यतः तं प्रब्रूहि कथय श्रद्धानाय श्रद्धावते मह्यं स्वर्गा-  
र्थिने । येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते  
स्वर्गलोकाः यजमानाः अमृतत्वम् अमरणां देवत्वं भजन्ते  
प्राप्नुवन्ति, तत् एतत् अग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे ॥

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध

स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।

## अनन्तलोकासिमथो प्रतिष्ठां

विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥१४॥

मृत्योः प्रतिज्ञेयम्— ते तुभ्यं प्रब्रवीमि ; यत्त्वया प्रार्थितं तत् उ मे मम वचसः निबोध बुध्यस्व एकाग्रमनाः सन् । स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्गसाधनम् अग्निं हे नचिकेतः प्रजानन् विज्ञातवान्सन्नहमित्यर्थः । प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं वचनम् । अधुनाग्निं स्तौति—अनन्त-लोकाग्निं स्वर्गलोकफलप्राप्तिसाधनमित्येतत्, अथो अपि प्रति-ष्ठाम् आश्रयं जगतो विराट्स्वरूपेण, तम् एतम् अग्निं मयो-च्यमानं विद्धि विजानीहि त्वं निहितं स्थितं गुहायाम् । विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः ॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै

या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।

स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त-

मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

इदं श्रुतेर्वचनम्— लोकादिं लोकानामादिं प्रथमशरीरि-त्वात् अग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा प्रार्थितम् उवाच उक्तवा-न्मृत्युः तस्मै नचिकेतसे । किंच, याः इष्टकाः चेतव्याः

स्वरूपेण यावतीर्वा संख्यया यथा वा चीयतेऽग्निर्येन प्रकारेण सर्वमेतदुक्तवानित्यर्थः । स चापि नचिकेताः तत् मृत्युनोक्तं प्रत्यवदत् यथावत्प्रत्ययेनावदत् प्रत्युच्चारितवान् । अथ अस्य प्रत्युच्चारणेन तुष्टः सन् मृत्युः पुनरेवाह वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुः ॥

**तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा**

**वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।**

**तवैव नाम्ना भवितायमग्निः**

**सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥**

कथम्? तं नचिकेतसम् अब्रवीत् प्रीयमाणः शिष्यस्य योग्यतां पश्यन्प्रीयमाणः प्रीतिमनुभवन् महात्मा अक्षुद्रबुद्धिः वरं तव चतुर्थम् इह प्रीतिनिमित्तम् अद्य इदानीं ददामि भूयः पुनः प्रयच्छामि । तवैव नचिकेतसः नाम्ना अभिधानेन प्रसिद्धः भविता मयोच्यमानः अयम् अग्निः । किञ्च, सृङ्कां शब्दवतीं रत्नमयीं मालाम् इमाम् अनेकरूपां विचित्रां गृहाण स्वीकुरु । यद्वा, सृङ्काम् अकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण । अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेकफलहेतुत्वात्स्वीकुर्वित्यर्थः ॥



त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं  
 त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।  
 ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा  
 निचाय्य माँ शान्तिमत्यन्तमेति ॥

पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाह— त्रिणाचिकेतः त्रिः कृत्वा ना-  
 चिकेतोऽग्निश्चितो येन सः त्रिणाचिकेतः ; तद्विज्ञानवान्वा ।  
 त्रिभिः मातृपितृचार्यैः एत्य प्राप्य संधिं संधानं संबन्धम्,  
 मात्राद्यनुशासनं यथावत्प्राप्येत्येतत् । तद्वि प्रामाण्यकारणं  
 श्रुत्यन्तरादवगम्यते ‘यथा मातृमान्पितृमान्’ इत्यादेः ।  
 वेदस्मृतिशिष्टैर्वा प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा । तेभ्यो हि विशुद्धिः  
 प्रत्यक्षा । त्रिकर्मकृत् इज्याध्ययनदानानां कर्ता तरति अति-  
 क्रामति जन्ममृत्यू । किंच, ब्रह्मजज्ञम्, ब्रह्मणो हिरण्य-  
 गर्भाज्जातो ब्रह्मजः ब्रह्मजश्चासौ जज्ञेति ब्रह्मजज्ञः । सर्वज्ञो  
 ह्यसौ । तं देवं द्योतनाज्ज्ञानादिगुणवन्तम्, ईड्यं स्तुत्यं वि-  
 दित्वा शास्त्रतः, निचाय्य दृष्ट्वा चात्मभावेन इमां स्वबुद्धि-  
 प्रत्यक्षां शान्तिम् उपरतिम् अत्यन्तम् एति अतिशयेनैति ।  
 वैराजं पदं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा

य एवं विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम् ।

स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य

शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥

इदानीमग्निविज्ञानचयनफलमुपसंहरति, प्रकरणं च—  
त्रिणाचिकेतः त्रयं यथोक्तम् ‘या इष्टका यावतीर्वा यथा वा’  
इति । एतत् विदित्वा अवगम्य यश्च एवम् आत्मस्वरूपेण  
अग्निं विद्वान् चिनुते निर्वर्तयति नाचिकेतमग्निं क्रतुम्, सः  
मृत्युपाशान् अधर्माज्ञानरागद्वेषादिलक्षणान् पुरतः अग्रतः,  
पूर्वमेव शरीरपातादित्यर्थः, प्रणोद्य अपहाय, शोकातिगः  
मानसैर्दुःखैर्विगत इत्येतत्, मोदते स्वर्गलोके वैराजे विरा-  
डात्मस्वरूपप्रतिपत्त्या ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो

यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।

एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास-

स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

एषः ते तुभ्यम् अग्निः वरः हे नचिकेतः, स्वर्ग्यः स्वर्ग-  
साधनः, यम् अग्निं वरम् अवृणीथाः वृतवान् प्रार्थितवानसि  
द्वितीयेन वरेण, सोऽग्निर्वरो दत्त इत्युक्तोपसंहारः । किंच,  
एतम् अग्निं तवैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासः जना इत्येतत् ।

एष वरो दत्तो मया चतुर्थस्तुष्टेन । तृतीयं वरं नचिकेतः  
वृणीष्व । तस्मिन्ह्यदत्ते ऋणवानेवाहमित्यभिप्रायः ॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये  
अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।  
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं  
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

एतावद्व्यतिक्रान्तेन विधिप्रतिषेधार्थेन मन्त्रब्राह्मणेनाव-  
गन्तव्यं यद्वरद्वयसूचितं वस्तु नात्मतत्त्वविषययाथात्म्यवि-  
ज्ञानम् । अतो विधिप्रतिषेधार्थविषयस्य आत्मनि क्रियाकारक-  
फलाध्यारोपणलक्षणस्य स्वाभाविकस्याज्ञानस्य संसारबीजस्य  
निवृत्त्यर्थं तद्विपरीतब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं क्रियाकारकफला-  
ध्यारोपणशून्यमात्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनं वक्तव्यमित्युत्तरो  
ग्रन्थ आरभ्यते । तमेतमर्थं द्वितीयवरप्राप्त्याप्यकृतार्थत्वं  
तृतीयवरगोचरमात्मज्ञानमन्तरेणेत्याख्यायिकया प्रपञ्चयति ।  
यतः पूर्वस्मात्कर्मगोचरात्साध्यसाधनलक्षणादनित्याद्विरक्त-  
स्यात्मज्ञानेऽधिकार इति तन्निन्दार्थं पुत्राद्युपन्यासेन प्रलो-  
भनं क्रियते । नचिकेता उवाच ‘तृतीयं वरं नचिकेतो  
वृणीष्व’ इत्युक्तः सन्— येयं विचिकित्सा संशयः प्रेते

मृते मनुष्ये, अस्ति इत्येके अस्ति शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यति-  
रिक्तो देहान्तरसंबन्ध्यात्मा इत्येके मन्यन्ते, नायमस्ति इति  
चैके नायमेवंविधोऽस्तीति चैके । अत्र चास्माकं न प्रत्यक्षेण  
नाप्यनुमानेन निर्णयविज्ञानम् । एतद्विज्ञानाधीनो हि परः  
पुरुषार्थ इत्यतः एतत् विद्यां विजानीयाम् अहम् अनुशिष्टः  
ज्ञापितः त्वया । वराणामेष वरस्तृतीयोऽवशिष्टः ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा

न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ।

अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व

मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥२१॥

किमयमेकान्ततो निःश्रेयससाधनात्मज्ञानार्हो न वेत्येतत्प-  
रीक्षणार्थमाह—देवैरपि अत्र एतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं  
संशयितं पुरा पूर्वम् । न हि सुविज्ञेयं सुष्ठु विज्ञेयम् असकृ-  
च्छ्रुतमपि प्राकृतैर्जनैः, यतः अणुः सूक्ष्मः एषः आत्माख्यः  
धर्मः । अतः अन्यम् असंदिग्धफलं वरं नचिकेतः, वृणीष्व ।  
मा मां मा उपरोत्सीः उपरोधं मा कार्षीः अधमर्णमिवोत्त-  
मर्णः । अतिसृज विमुञ्च एनं वरं मा मां प्रति ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल

त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ ।

वक्ता चास्य त्वाद्गन्यो न लभ्यो

नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

एवमुक्तो नचिकेता आह— देवैरत्रापि विचिकित्सितं किलेति भवत एव नः श्रुतम् । त्वं च मृत्यो, यत् यस्मात् न सुज्ञेयम् आत्मतत्त्वम् आत्थ कथयसि । अतः पण्डितैरप्यवेदनीयत्वात् वक्ता च अस्य धर्मस्य त्वाद्गत्वं तुल्यः अन्यः पण्डितश्च न लभ्यः अन्विष्यमाणोऽपि । अयं तु वरो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुः । अतः न अन्यः वरः तुल्यः सदृशः अस्ति एतस्य कश्चिदपि । अनित्यफलत्वादन्यस्य सर्वस्यैवेत्यभिप्रायः ॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व

बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।

भूमेर्महदायतनं वृणीष्व

स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥

एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभयन्नुवाच मृत्युः— शतायुषः

शतं वर्षाणि आयूंषि येषां तान् शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व ।  
 किंच, गवादिलक्षणान् बहून् पशून् हस्तिहिरण्यम्, हस्ती च  
 हिरण्यं च हस्तिहिरण्यम्, अश्वांश्च । किंच, भूमेः पृथिव्याः  
 महत् विस्तीर्णम् आयतनम् आश्रयं मण्डलं साम्राज्यं वृणीष्व ।  
 किंच, सर्वमप्येतदनर्थकं स्वयं चेदल्पायुरित्यत आह— स्वयं  
 च त्वं जीव धारय शरीरं समग्रेन्द्रियकलापं शरदः वर्षाणि  
 यावत् इच्छसि जीवितुम् ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं

वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।

महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि

कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥२४॥

एतत्तुल्यम् एतेन यथोपदिष्टेन सदृशम् अन्यमपि यदि  
 मन्यसे वरम्, तमपि वृणीष्व । किंच, वित्तं प्रभूतं हिरण्य-  
 रत्नादि चिरजीविकां च सह वित्तेन वृणीष्वेत्येतत् । किं बहु-  
 ना ? महाभूमौ महत्यां भूमौ राजा नचिकेतः त्वम् एधि भव ।  
 किंचान्यत्, कामानां दिव्यानां मानुषाणां च त्वा त्वां  
 कामभाजं कामभागिनं कामार्हं करोमि, सत्यसंकल्पो ह्यहं  
 देवः ॥

ये ये कामा दुर्लभो मर्त्यलोके  
 सर्वान्कामा इच्छन्दतः प्रार्थयस्व ।  
 इमा रामाः सरथाः सतूर्या  
 न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।  
 आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व  
 नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

ये ये कामाः प्रार्थनीयाः दुर्लभाश्च मर्त्यलोके, सर्वान्  
 तान् कामान् छन्दतः इच्छातः प्रार्थयस्व । किञ्च, इमाः  
 दिव्या अप्सरसः, रमयन्ति पुरुषानिति रामाः, सह रथै-  
 र्वर्तन्त इति सरथाः, सतूर्याः सवादित्वाः, ताश्च न हि लम्भ-  
 नीयाः प्रापणीयाः ईदृशाः एवंविधाः मनुष्यैः मर्त्यैः अस्म-  
 दादिप्रसादमन्तरेण । आभिः मत्प्रत्ताभिः मया प्रदत्ताभिः  
 परिचारिकाभिः परिचारयस्व आत्मानम्, पादप्रक्षालना-  
 दिशुश्रूषां कारयात्मन इत्यर्थः । हे नचिकेतः, मरणं मरणसं-  
 बद्धं प्रश्नं प्रेत्यास्ति नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं मा अनु-  
 प्राक्षीः मैवं प्रष्टुमर्हसि ॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैत-

त्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव

तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

मृत्युना एवं प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता महाह्रदवदक्षोभ्य  
आह—श्रो भविष्यन्ति न वेति संदिह्यमान एव येषां भावो  
भवनं त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्रोभावाः । किंच,  
मर्त्यस्य मनुष्यस्य अन्तक हे मृत्यो, यत् एतत् सर्वेन्द्रियाणां  
तेजः तत् जरयन्ति अपक्षययन्ति । अप्सरःप्रभृतयो भोगा  
अनर्थायैवैते, धर्मवीर्यप्रज्ञातेजोयशःप्रभृतीनां क्षपयितृत्वात् ।  
यां चापि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि तत्रापि शृणु । सर्वं  
यद्ब्रह्मणोऽपि जीवितम् आयुः अल्पमेव, किमुतास्मदादिदीर्घ-  
जीविका । अतः तवैव तिष्ठन्तु वाहाः रथादयः, तथा तव  
नृत्यगीते च ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो

लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।

जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं

वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

किंच, न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । न  
हि लोके वित्तलाभः कस्यचित्तृप्तिकरो दृष्टः । यदि नामा-



स्माकं वित्ततृष्णा स्यात्, लप्स्यामहे प्राप्स्यामहे वित्तम्,  
अद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत् त्वा त्वाम् । जीवितमपि तथैव—  
जीविष्यामः यावत् याम्ये पदे त्वम् ईशिष्यसि ईशि-  
ष्यसे प्रभुः स्याः । कथं हि मर्त्यस्त्वया समेत्याल्पधनायु-  
र्भवेत्? वरस्तु मे वरणीयः स एव यदात्मविज्ञानम् ॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य

जीर्यन्मर्त्यः कधःस्थः प्रजानन् ।

अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदा-

नतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

यतश्च अजीर्यतां वयोहानिमप्राप्नुवताम् अमृतानां सका-  
शम् उपेत्य उपगम्य आत्मन उत्कृष्टं प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यं  
तेभ्यः प्रजानन् उपलभमानः स्वयं तु जीर्यन् मर्त्यः जराम-  
रणवान् कधःस्थः कुः पृथिवी अधश्चासावन्तरिक्षादिलोका-  
पेक्षया तस्यां तिष्ठतीति कधःस्थः सन् कथमेवमविवेकिभिः  
प्रार्थनीयं पुत्रवित्ताद्यस्थिरं वृणीते । ‘क तदास्थः’ इति  
वा पाठान्तरम् । अस्मिन्पक्षे चैवमक्षरयोजना— तेषु  
पुत्रादिषु आस्था आस्थितिः तात्पर्येण वर्तनं यस्य स तदा-  
स्थः । ततोऽधिकतरं पुरुषार्थं दुष्प्रापमपि अभिप्रेप्सुः क  
तदास्थो भवेत्? न कश्चित्तदसारज्ञस्तदर्थी स्यादित्यर्थः ।

सर्वो ह्युपर्युपर्येव बुभूषति लोकः । तस्मान्न पुत्रवित्तादि-  
लोभैः प्रलोभ्योऽहम् । किञ्च, अप्सरःप्रमुखान् वर्णरतिप्र-  
मोदान् अनवस्थितरूपतया अभिध्यायन् निरूपयन् यथा-  
वत् अतिदीर्घे जीविते कः विवेकी रमेत ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो

यत्सांपराये महति ब्रूहि नस्तत् ।

योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो

नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

इति प्रथमा वल्ली ॥

अतो विहायानित्यैः कामैः प्रलोभनम्, यन्मया प्रार्थितं य-  
स्मिन् प्रेते इदं विचिकित्सनं विचिकित्सन्ति अस्ति नास्ती-  
त्येवंप्रकारं हे मृत्यो, सांपराये परलोकविषये महति महत्प्र-  
योजननिमित्ते आत्मनो निर्णयविज्ञानं यत्, तत् ब्रूहि कथय  
नः अस्मभ्यम् । किं बहुना, योऽयं प्रकृत आत्मविषयः वरः  
गूढं गहनं दुर्विवेचनं प्राप्तः अनुप्रविष्टः, तस्मात् वरात् अ-  
न्यम् अविवेकिभिः प्रार्थनीयमनित्यविषयं वरं नचिकेताः न  
वृणीते मनसापि इति श्रुतेर्वचनमिति ॥

इति प्रथमवल्लीभाष्यम् ॥

## द्वितीया वल्ली ॥

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-

स्ते उभे नानार्थे पुरुषः सिनीतः ।

तयोः श्रेय आददानस्य साधु

भवति ह्यितेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥

परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यतां चावगम्याह— अन्यत्  
पृथगेव श्रेयः निःश्रेयसं तथा अन्यत् उतैव अपि च प्रेयः  
प्रियतरमपि ते श्रेयःप्रेयसी उभे नानार्थे भिन्नप्रयोजने सती  
पुरुषम् अधिकृतं वर्णाश्रमादिविशिष्टं सिनीतः बध्नीतः ।  
ताभ्यां विद्याविद्याभ्यामात्मकर्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः पुरु-  
षः । प्रेयःश्रेयसोर्हि अभ्युदयामृतत्वार्थी पुरुषः प्रवर्तते ।  
अतः श्रेयःप्रेयःप्रयोजनकर्तव्यतया ताभ्यां बद्ध इत्युच्यते  
सर्वः पुरुषः । ते यद्यप्येकैकपुरुषार्थसंबन्धिनी विद्यावि-  
द्यारूपत्वाद्विरुद्धे इत्यन्यतरापरित्यागेनैकेन पुरुषेण सहानुष्ठा-  
तुमशक्यत्वात्तयोः हित्वा अविद्यारूपं प्रेयः, श्रेय एव केवलम्  
आददानस्य उपादानं कुर्वतः साधु शोभनं शिवं भवति ।

यस्त्वदूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्यते अर्थात् पुरुषार्थात्पा-  
रमार्थिकात्प्रयोजनान्नित्यात् प्रच्यवत इत्यर्थः । कोऽसौ ? य  
ऽ प्रेयः वृणीते उपादत्ते इत्येतत् ॥

**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-**

**स्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।**

**श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते**

**प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ २ ॥**

यद्युभे अपि कर्तुं स्वायत्ते पुरुषेण, किमर्थं प्रेय एवादत्ते  
बाहुल्येन लोक इति, उच्यते । सत्यं स्वायत्ते; तथापि साधनतः  
फलतश्च मन्दबुद्धीनां दुर्विवेकरूपे सती व्यामिश्रीभूते इव  
मनुष्यं पुरुषम् आ इतः एतः प्राप्नुतः श्रेयश्च प्रेयश्च । अतो  
हंस इवाम्भसः पयः, तौ श्रेयःप्रेयःपदार्थौ संपरीत्य सम्य-  
क्परिगम्य मनसा आलोच्य गुरुलाघवं विविनक्ति पृथक्करोति  
धीरः धीमान् । विविच्य च श्रेयो हि श्रेय एव अभिवृणीते  
प्रेयसोऽभ्यर्हितत्वाच्छ्रेयसः । कोऽसौ ? धीरः । यस्तु मन्दः  
अल्पबुद्धिः सः सदसद्विवेकासामर्थ्यात् योगक्षेमात् योगक्षेम-  
निमित्तं शरीराद्युपचयरक्षणनिमित्तमित्येतत् । प्रेयः पशुपुत्रा-  
दिलक्षणं वृणीते ॥

स त्वं प्रियान्प्रियरूपांश्च कामा-

नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।

नैतां सृङ्गां वित्तमयीमवाप्तो

यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

स त्वं पुनः पुनः मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान् पुत्रा-  
दीन् प्रियरूपांश्च अप्सरःप्रभृतिलक्षणान् कामान् अभिध्या-  
यन् चिन्तयन् तेषामनित्यत्वासारत्वादिदोषान् हे नचि-  
केतः, अत्यस्राक्षीः अतिसृष्टवान् परित्यक्तवानसि ; अहो  
बुद्धिमत्ता तव । न एताम् अवाप्तवानसि सृङ्गां सृतिं कुत्सितां  
मूढजनप्रवृत्तां वित्तमयीं धनप्रायाम् ; यस्यां सृतौ मज्जन्ति  
सीदन्ति बहवः अनेके मूढा मनुष्याः ॥

दूरमेते विपरीते विषूची

अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।

विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये

न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥

‘तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ-  
प्रेयो वृणीते’ इति ह्युक्तम् ; तत्कस्मात् ? यतः दूरं दूरेण मह-

तान्तरेण एते विपरीते अन्योन्यव्यावृत्तरूपे विवेकाविवे-  
कात्मकत्वात् तमःप्रकाशाविव विषूची विषूच्यौ नानागती  
भिन्नफले संसारमोक्षहेतुत्वेनेत्येतत् । के ते इति, उच्यते । या  
च अविद्या प्रेयोविषया विद्येति च श्रेयोविषया ज्ञाता  
निर्ज्ञाता अवगता पण्डितैः । तत्र विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं  
नचिकेतसं त्वामहं मन्ये । कस्मात् ? यस्मादविद्वद्बुद्धिप्रलो-  
भिनः कामाः अप्सरःप्रभृतयः बहवोऽपि त्वा त्वां न  
अलोलुपन्त न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयोमार्गादात्मोपभोगा-  
भिवाञ्छासंपादनेन । अतो विद्यार्थिनं श्रेयोभाजनं मन्ये  
इत्यभिप्रायः ॥

**अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः**

**स्वयं धीराः पण्डितमन्यमानाः ।**

**दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा**

**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥**

ये तु संसारभाजो जनाः, अविद्यायाम् अन्तरे मध्ये  
घनीभूत इव तमसि वर्तमानाः वेष्टयमानाः पुत्रपश्चादि-  
तृष्णापाशशतैः, स्वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्र-  
कुशलाश्चेति मन्यमानाः ते दन्द्रम्यमाणाः अत्यर्थं कुटिला-

मनेकरूपां गतिं गच्छन्तः जरामरणरोगादिदुःखैः परियन्ति  
परिगच्छन्ति मूढाः अविवेकिनः अन्धेनैव दृष्टिविकलेनैव  
नीयमानाः विषमे पथि यथा बहवः अन्धाः महान्तमनर्थ-  
मृच्छन्ति, तद्वत् ॥

न सांपरायः प्रतिभाति बालं

प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी

पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

अत एव मूढत्वान् न सांपरायः प्रतिभाति । संपरेयत  
इति संपरायः परलोकः, तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः  
शास्त्रीयः सांपरायः । स च बालम् अविवेकिनं प्रति न प्रति-  
भाति न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्येतत् । प्रमाद्यन्तं प्रमादं  
कुर्वन्तं पुत्रपश्चादिप्रयोजनेष्वासक्तमनसं तथा वित्तमोहेन वित्त-  
निमित्तेनाविवेकेन मूढं तमसाच्छन्नम् । स तु अयमेव लोकः  
योऽयं दृश्यमानः स्र्यन्नपानादिविशिष्टः नास्ति परः  
अदृष्टो लोकः इत्येवं मननशीलः मानी पुनः पुनः जनित्वा  
वशम् अधीनताम् आपद्यते मे मृत्योर्मम । जननमरणादि-  
लक्षणदुःखप्रबन्धारूढ एव भवतीत्यर्थः ॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः

शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा

आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

प्रायेण ह्येवंविध एव लोकः । यस्तु श्रेयोर्थी स सहस्रेषु कश्चिदेवात्मविद्भवति त्वद्विधः यस्मात् श्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुमपि यः न लभ्यः आत्मा बहुभिः अनेकैः, शृण्वन्तोऽपि बहवः अनेके अन्ये यम् आत्मानं न विद्युः न विदन्ति अभागिनः असंस्कृतात्मानो न विजानीयुः । किंच, अस्य वक्तापि आश्चर्यः अद्भुतवदेव, अनेकेषु कश्चिदेव भवति । तथा श्रुत्वापि अस्य आत्मनः कुशलः निपुण एवानेकेषु लब्धा कश्चिदेव भवति । यस्मात् आश्चर्यः ज्ञाता कश्चिदेव कुशलानुशिष्टः कुशलेन निपुणेनाचार्येणानुशिष्टः सन् ॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष

सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।

अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति

अणीयान्द्यतकर्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

कस्मात्? न हि नरेण मनुष्येण अवरेण प्रोक्तः अवरेण



हीनेन प्राकृतबुद्धिनेत्येतत् । उक्तः एषः आत्मा यं त्वं मां पृच्छ-  
 सि । न हि सुष्ठु सम्यक् विज्ञेयः विज्ञातुं शक्यः यस्मात् बहु-  
 धा अस्ति नास्ति कर्ताकर्ता शुद्धोऽशुद्ध इत्याद्यनेकधा चिन्त्य-  
 मानः वादिभिः । कथं पुनः सुविज्ञेय इति, उच्यते—अनन्य-  
 प्रोक्ते अनन्येन अपृथग्दर्शनाचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन  
 प्रोक्ते उक्ते आत्मनि गतिः, अनेकधा अस्तिनास्तीत्यादिलक्षणा  
 चिन्ता गतिः, अत्र अस्मिन्नात्मनि नास्ति न विद्यते सर्वविक-  
 ल्पगतिप्रत्यस्तमितरूपत्वादात्मनः । अथवा स्वात्मभूते अनन्य-  
 स्मिन् आत्मनि प्रोक्ते अनन्यप्रोक्ते गतिः अत्र अन्यावगति-  
 नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्याभावात् । ज्ञानस्य ह्येषा परा निष्ठा  
 यदात्मैकत्वविज्ञानम् । अतः गन्तव्याभावान्न गतिरत्राव-  
 शिष्यते संसारगतिर्वात्र नास्त्यनन्य आत्मनि प्रोक्ते नान्तरी-  
 यकत्वात्तद्विज्ञानफलस्य मोक्षस्य । अथवा प्रोच्यमानब्रह्मात्म-  
 भूतेनाचार्येण अनन्यतया प्रोक्ते आत्मनि अगतिः अनवबो-  
 धोऽपरिज्ञानमत्र नास्ति । भवत्येवावगतिस्तद्विषया श्रोतुस्त-  
 दनन्योऽहमित्याचार्यस्येवेत्यर्थः । एवं सुविज्ञेय आत्मा आग-  
 मवताचार्येणानन्यतया प्रोक्तः । इतरथा अणीयान् अणुतरः  
 अणुप्रमाणादपि संपद्यत आत्मा । अतर्क्यम् अतर्क्यः, अणु-  
 प्रमाणो न तर्क्यः स्वबुद्धयभ्यूहेन केवलेन तर्केण । तर्क्य-

माणेऽणुपरिमाणे केनचित्स्थापिते आत्मनि ततोऽणुतरमन्यो-  
ऽभ्यूहति ततोऽप्यन्योऽणुतरमिति । न हि तर्कस्य निष्ठा  
कचिद्विद्यते ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया

प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।

यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि

त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

अतोऽनन्यप्रोक्त आत्मन्युत्पन्ना येयमागमप्रभवा मतिः,  
नैषा तर्केण स्वबुद्धयभ्यूहमात्रेण आपनेया नापनीया न प्रापणी-  
येत्यर्थः; नापनेतव्या वा; नोपहन्तव्या । तार्किको ह्यनागम-  
ज्ञः स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किञ्चिदेव कल्पयति । अत एव च  
येयमागमप्रभूता मतिः अन्येनैव आगमाभिज्ञेनाचार्येणैव  
तार्किकात्, प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति हे प्रेष्ठ प्रियतम ।  
का पुनः सा तर्कागम्या मतिः इति, उच्यते— यां त्वं मतिं  
मद्वरप्रदानेन आपः प्राप्तवानसि । सत्या अवितथविषया धृति-  
र्यस्य तव स त्वं सत्यधृतिः । बतासीत्यनुकम्पयन्नाह मृत्युर्न-  
चिकेतसं वक्ष्यमाणविज्ञानस्तुतये । त्वादृक् त्वत्तुल्यः नः अ-  
स्मभ्यं भूयात् भवतात् । भवत्वन्यः पुत्रः शिष्यो वा  
प्रष्टा । कीदृक्? यादृक्त्वं हे नचिकेतः प्रष्टा ॥

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।

ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-

रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥

पुनरपि तुष्ट आह— जानाम्यहं शेवधिः निधिः कर्म-  
फललक्षणः निधिरिव प्रार्थ्यत इति । असौ अनित्यम्  
अनित्य इति जानामि । न हि यस्मात् अनित्यैः अध्रुवैः  
यत् नित्यं ध्रुवम्, तत् प्राप्यते परमात्माख्यः शेवधिः ।  
यस्त्वनित्यसुखात्मकः शेवधिः, स एवानित्यैर्द्रव्यैः प्राप्यते  
हि यतः, ततः तस्मात् मया जानतापि नित्यमनित्यसाधनैः  
प्राप्यत इति नाचिकेतः चितः अग्निः अनित्यैः द्रव्यैः पञ्चा-  
दिभिः स्वर्गसुखसाधनभूतोऽग्निः निर्वर्तित इत्यर्थः । तेनाह-  
मधिकारापन्नो नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमापेक्षिकं  
प्राप्तवानस्मि ॥

कामस्यासिं जगतः प्रतिष्ठां

ऋतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।

स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा

धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षीः ॥११॥

त्वं तु कामस्य आप्तिं समाप्तिम्, अत्र हि सर्वे कामाः परिसमाप्ताः, जगतः साध्यात्माधिभूताधिदैवादेः प्रतिष्ठाम् आश्रयं सर्वात्मकत्वात्, क्रतोः उपासनायाः फलं हैरण्यगर्भं पदम्, अनन्त्यम् आनन्त्यम्, अभयस्य च पारं परां निष्ठाम्, स्तोमं स्तुत्यं महत् अणिमाद्यैश्वर्याद्यनेकगुणसंहतम्, स्तोमं च तन्महच्च निरतिशयत्वात् स्तोममहत्, उरुगायं विस्तीर्णा गतिम्, प्रतिष्ठां स्थितिमात्मनोऽनुत्तमामपि दृष्ट्वा धृत्या धैर्येण धीरः नचिकेतः, धीमान् बुद्धिमान्सन् अत्यस्त्राक्षीः परमेवाकाङ्क्षन्नतिसृष्टवानसि सर्वमेतत्संसारभोगजातम् । अहो बतानुत्तमगुणोऽसि ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं

गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥

यं त्वं ज्ञातुमिच्छस्यात्मानं तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शः अतिसूक्ष्मत्वात् तम्, गूढं गहनम्, अनुप्रविष्टं प्राकृत-विषयविज्ञानैः प्रच्छन्नमित्येतत् । गुहाहितं गुहायां बुद्धौ हितं निहितं स्थितं तत्रोपलभ्यमानत्वात् । गह्वरेष्ठं गह्वरे विषमे

अनेकानर्थसंकटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम् । यत एवं गूढमनुप्रविष्टो  
 गुहाहितश्च, अतोऽसौ गह्वरेष्ठः ; अतो दुर्दर्शः । तं पुराणं  
 पुरातनम् अध्यात्मयोगाधिगमेन विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस  
 आत्मनि समाधानमध्यात्मयोगः तस्याधिगमः प्राप्तिः तेन  
 मत्वा देवम् आत्मानं धीरः हर्षशोकौ आत्मन उत्कर्षापक-  
 र्षयोरभावात् जहाति ॥

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः

प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।

स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा

विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

किंच, एतदात्मतत्त्वं यदहं वक्ष्यामि, तच्छ्रुत्वा आचार्य-  
 सकाशात् सम्यगात्मभावेन परिगृह्य उपादाय मर्त्यः मरण-  
 धर्मा धर्मादनपेतं धर्म्यं प्रवृह्य उद्यम्य पृथक्कृत्य शरीरादेः  
 अणुं सूक्ष्मम् एतम् आत्मानम् आप्य प्राप्य सः मर्त्यः विद्वान्  
 मोदते मोदनीयं हि हर्षणीयमात्मानं लब्ध्वा । तदेतदेवं-  
 विधं ब्रह्म सद्म भवनं नचिकेतसं त्वां प्रत्यपावृतद्वारं  
 विवृतम् अभिमुखीभूतं मन्ये, मोक्षार्हं त्वां मन्ये इत्यभि-  
 प्रायः ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मा-

दन्यत्वास्मात्कृताकृतात् ।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च

यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा नचिकेताः पुनराह— यद्यहं योग्यः, प्रसन्न-  
श्चासि भगवन्, मां प्रति अन्यत्र धर्मात् शास्त्रीयाद्धर्मानुष्ठा-  
नात्तत्फलात्तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः । तथा अन्यत्र  
अधर्मात् विहिताकरणरूपात् पापात्, तथा अन्यत्रास्मा-  
त्कृताकृतात्, कृतं कार्यमकृतं कारणमस्मादन्यत्र । किंच,  
अन्यत्र भूताच्च अतिक्रान्तात्कालात् भव्याच्च भविष्यतश्च तथा  
अन्यत्र वर्तमानात् । कालत्रयेण यन्न परिच्छिद्यत इत्यर्थः ।  
यदीदृशं वस्तु सर्वव्यवहारगोचरातीतं पश्यसि जानासि  
तद्वद मह्यम् ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति

तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

इत्येवं पृष्ठवते मृत्युरुवाच, पृष्ठं वस्तु विशेषणान्तरं च वि-  
वक्षन् । सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं गमनीयम् अविभागेन अ-  
विरोधेन आमनन्ति प्रतिपादयन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वद-  
न्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासल-  
क्षणमन्यद्वा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति, तत् ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातु-  
मिच्छसि संप्रहेण संक्षेपतः ब्रवीमि ॐ इत्येतत् । तदेतत्पदं  
यद्गुभुत्सितं त्वया तदेतदोमिति ओंशब्दवाच्यमोंशब्दप्रतीकं  
च ॥

एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म

एतद्धयेवाक्षरं परम् ।

एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा

यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

अतः एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म अपरम् एतद्धयेवाक्षरं परं च ।  
तयोर्हि प्रतीकमेतदक्षरम् । एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा उपास्य ब्रह्मे-  
ति यो यदिच्छति परमपरं वा तस्य तत् भवति । परं चेत्  
ज्ञातव्यम्, अपरं चेत् प्राप्तव्यम् ॥

एतदालम्बनं श्रेष्ठ-

मेतदालम्बनं परम् ।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा

ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

यत एवम्, अत एव एतत् ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानां श्रेष्ठं प्र-  
शस्यतमम् । एतदालम्बनं परम् अपरं च, परापरब्रह्मविषय-  
त्वान् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते । परस्मि-  
न्ब्रह्मण्यपरस्मिंश्च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थः ॥

न जायते म्रियते वा विपश्चि-

न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

अन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्ठस्यात्मनोऽशेषविशेषरहित-  
स्यालम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन चोङ्कारो निर्दिष्टः, अपरस्य च  
ब्रह्मणो मन्दमध्यमप्रतिपत्तन्प्रति । अथेदानीं तस्योङ्काराल-  
म्बनस्यात्मनः साक्षात्स्वरूपनिर्दिधारयिष्येदमुच्यते । न जा-  
यते नोत्पद्यते म्रियते वा न म्रियते च उत्पत्तिमतो वस्तुनो-  
ऽनित्यस्यानेका विक्रियाः, तासामाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे  
विक्रिये इहात्मनि प्रतिषिध्येते प्रथमं सर्वविक्रियाप्रतिषे-  
धार्थं न जायते म्रियते वेति । विपश्चित् मेधावी अपरिलु-



प्रचैतन्यस्वभावत्वात् । किंच, नायमात्मा कुतश्चित् कार-  
णान्तरात् बभूव न प्रभूतः । अस्माच्चात्मनो न बभूव कश्चि-  
दर्थान्तरभूतः । अतोऽयमात्मा अजो नित्यः शाश्वतः अप-  
क्षयविवर्जितः । यो ह्यशाश्वतः, सोऽपक्षीयते; अयं तु शाश्व-  
तः अत एव पुराणः पुरापि नव एवेति । यो ह्यवयवोपचय-  
द्वारेणाभिनिर्वर्त्यते, स इदानीं नवः, यथा कुड्यादिः; तद्वि-  
परीतस्त्वात्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः । यत एवम्,  
अतः न हन्यते न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे;  
तत्स्थोऽप्याकाशवदेव ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं

हतश्चेन्मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो

नायं हन्ति न हन्यते ॥ १० ॥

एवंभूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टिः हन्ता चेत् यदि  
मन्यते चिन्तयति इच्छति हन्तुं हनिष्याम्येनमिति यो-  
ऽप्यन्यो हतः सोऽपि चेन्मन्यते हतमात्मानं हतोऽहमिति  
उभावपि तौ न विजानीतः स्वमात्मानम्; यतः नायं हन्ति अ-  
विक्रियत्वादात्मनः, तथा न हन्यते आकाशवदविक्रियत्वादेव ।

अतोऽनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारः नात्मज्ञ-  
स्य, श्रुतिप्रामाण्याभ्यायाच्च धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः ॥

अणोरणीयान्महतो महीया-

नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको

धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

कथं पुनरात्मानं जानातीति, उच्यते— अणोः सूक्ष्मात्  
अणीयान् श्यामाकादेरणुतरः । महतो महत्परिमाणात् मही-  
यान् महत्तरः पृथिव्यादेः; अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु, त-  
त्तेनैवात्मना नित्येनात्मवत्संभवति । तदात्मना विनिर्मुक्तमस-  
त्संपद्यते । तस्मादसावेवात्मा अणोरणीयान्महतो महीयान्,  
सर्वनामरूपवस्तुपाधिकत्वात् । स च आत्मा अस्य जन्तोः ब्रह्मा-  
दिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहितः आत्म-  
भूतः स्थित इत्यर्थः । तम् आत्मानं दर्शनश्रवणमननविज्ञानलि-  
ङ्गम् अक्रतुः अकामः, दृष्टादृष्टबाह्यविषयेभ्य उपरतबुद्धिरि-  
त्यर्थः । यदा चैवं तदा मनआदीनि करणानि धातवः शरी-  
रस्य धारणात्प्रसीदन्तीत्येषां धातूनां प्रसादादात्मनो महिमानं  
कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितं पश्यति अयमहमस्मीति साक्षा-

द्विजानाति ; ततो विगतशोको भवति ॥

आसीनो दूरं व्रजति

शयानो याति सर्वतः ।

कस्तं मदामदं देवं

मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैर्य-  
स्मात् आसीनः अवस्थितोऽचल एव सन् दूरं व्रजति  
शयानः याति सर्वतः, एवमसावात्मा देवो मदामदः समदो-  
ऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवानतोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कः  
तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति । अस्मदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः  
पण्डितस्य विज्ञेयोऽयमात्मा स्थितिगतिनित्यानित्यादिविरुद्धा-  
नेकधर्मोपाधिकत्वाद्विरुद्धधर्मवान् विश्वरूप इव चिन्तामणि-  
वत्कस्यचिदवभासते । अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति— कस्तं  
मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति । करणानामुपशमः शयनं करणज-  
नितस्यैकदेशविज्ञानस्योपशमः शयानस्य भवति । यदा चैवं  
केवलसामान्यविज्ञानत्वात्सर्वतो यातीव यदा विशेषविज्ञा-  
नस्थः स्वेन रूपेण स्थित एव सन् मनआदिगतिषु तदुपाधि-  
कत्वाद्दूरं व्रजतीव । स चेहैव वर्तते ॥

अशरीरं शरीरेषु

अनवस्थेष्ववस्थितम् ।

महान्तं विभुमात्मानं

मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

तद्विज्ञानाच्च शोकात्यय इत्यपि दर्शयति—अशरीरः स्वेन रूपेणाकाशकल्प आत्मा तम् अशरीरं शरीरेषु देवपितृमनुष्यादिशरीरेषु अनवस्थेषु अवस्थितिरहितेष्वनित्येषु अवस्थितं नित्यम् अविकृतमित्येतत् । महान्तम् । महत्त्वस्यापेक्षिकत्वशङ्कायामाह— विभुं व्यापिनम् आत्मानम् ; आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शनार्थम् । आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव मुख्यः तमीदृशमात्मानं मत्वा अयमहमिति, धीरः धीमान न शोचति । न ह्येवंविधस्वात्मविदः शोकोपपत्तिः ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥

यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा तथाप्युपायेन सुविज्ञेय एवे-

त्याह— नायमात्मा प्रवचनेन अनेकवेदस्वीकरणेन लभ्यः ज्ञेयः ; नापि मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या ; न बहुना श्रुतेन न बाहुश्रुत्येन केवलेन । केन तर्हि लभ्य इति, उच्यते— यमेव स्वमात्मानम् एष साधको वृणुते प्रार्थयते, तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यः ज्ञायत इत्येतत् । निष्कामश्चात्मानमेव प्रार्थयते । आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः । कथं लभ्यत इति, उच्यते— तस्यात्मकामस्य एष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं स्वां तनूं स्वकीयं याथात्म्यमित्यर्थः ॥

नाविरतो दुश्चरिता-

नाशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वापि

प्रज्ञानेनैवमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

किंचान्यत् । न दुश्चरितात् प्रतिषिद्धाच्छ्रुतिस्मृत्यविहितात्पापकर्मणः अविरतः अनुपरतः । नापि इन्द्रियलौल्यात् अशान्तः अनुपरतः । नापि असमाहितः अनेकाग्रमनाः विक्षिप्तचित्तः । समाहितचित्तोऽपि सन्समाधानफलार्थित्वात् नापि अशान्तमानसः व्यावृत्तचित्तो वा । प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेन एनं

प्रकृतमात्मानम् आप्रुयात्, यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौ-  
ल्याच्च, समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमानसश्चा-  
चार्यवान् प्रज्ञानेन एनं यथोक्तमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च

उभे भवत ओदनः ।

मृत्युर्यस्योपसेचनं

क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

इति द्वितीया वल्ली ॥

यस्त्वेवंभूतः यस्य आत्मनः ब्रह्म च क्षत्रं च ब्रह्मक्षत्रे  
सर्वधर्मविधारके अपि सर्वप्राणभूते उभे ओदनः अशनं  
भवतः स्याताम्, सर्वहरोऽपि मृत्युः यस्य उपसेचनमिवौ-  
दनस्य, अशनत्वेऽप्यपर्याप्तः, तं प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनानभि-  
युक्तः सन् कः इत्था इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः, वेद  
विजानाति यत्र सः आत्मेति ॥

इति द्वितीयवल्लीभाष्यम् ॥

## तृतीया वल्ली ॥

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके

गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति

पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

ऋतं पिबन्तावित्यस्या वल्ल्याः संबन्धः— विद्याविद्ये  
नाना विरुद्धफले इत्युपन्यस्ते, न तु सफले ते यथावन्निर्णीते ।  
तन्निर्णयार्था रथरूपककल्पना, तथा च प्रतिपत्तिसौकर्यम् ।  
एवं च प्राप्तप्राप्यगन्तृगन्तव्यविवेकार्थं रथरूपकद्वारा द्वावा-  
त्मानावुपन्यस्येते— ऋतं सत्यम् अवश्यंभावित्वात्कर्मफलं  
पिबन्तौ; एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरः, तथापि  
पातृसंबन्धात्पिबन्तावित्युच्येते च्छत्रिन्यायेन । सुकृतस्य स्वयं-  
कृतस्य कर्मणः ऋतमिति पूर्वेण संबन्धः । लोके अस्मि-  
ञ्शरीरे, गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ, परमे, बाह्यपुरुषाकाश-  
संस्थानापेक्षया परमम्, परार्धे परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं  
परार्धं हार्दाकाशम् । तस्मिन्हि परं ब्रह्मोपलभ्यते । ततः

तस्मिन्परमे परार्धे हार्दाकाशे प्रविष्टावित्यर्थः । तौ च च्छा-  
यातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन ब्रह्मविदो वदन्ति  
कथयन्ति । न केवलमकर्मिण एव वदन्ति । पञ्चाग्नयो गृह-  
स्थाः । ये च त्रिणाचिकेताः त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो  
यैस्ते त्रिणाचिकेताः ॥

यः सेतुरीजानाना-

मक्षरं ब्रह्म यत्परम् ।

अभयं तितीर्षतां पारं

नाचिकेतं शकेमहि ॥ २ ॥

यः सेतुः सेतुरिव सेतुः ईजानानां यजमानानां कर्मिणाम्,  
दुःखसंतरणार्थत्वात् । नाचिकेतं नाचिकेतोऽग्निः तम्, वयं  
ज्ञातुं चेतुं च शकेमहि शक्तवन्तः । किंच, यश्च अभयं भयशू-  
न्यं संसारस्य पारं तितीर्षतां तरितुमिच्छतां ब्रह्मविदां यत्परम्  
आश्रयम् अक्षरम् आत्माख्यं ब्रह्म, तच्च ज्ञातुं शकेमहि ।  
परापरे ब्रह्मणी कर्मिब्रह्मविदाश्रये वेदितव्ये इति वाक्यार्थः ;  
तयोरेव ह्युपन्यासः कृतः 'ऋतं पिबन्तौ' इति ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि

शरीरं रथमेव तु ।



बुद्धिं तु सारथिं विद्धि

मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

तत्र यः उपाधिकृतः संसारी विद्याविद्ययोरधिकृतो मोक्षगमनाय संसारगमनाय च, तस्य तदुभयगमने साधनो रथः कल्प्यते— तत्रात्मानम् ऋतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि विजानीहि ; शरीरं रथम् एव तु रथबद्ध-हयस्थानीयैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य । बुद्धिं तु अध्य-वसायलक्षणां सारथिं विद्धि ; बुद्धिनेतृप्रधानत्वाच्छरीरस्य, सारथिनेतृप्रधान इव रथः । सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धि-कर्तव्यमेव प्रायेण । मनः संकल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रह-मेव च रशनामेव विद्धि । मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रशनयेवाश्वाः ॥

इन्द्रियाणि ह्यानाहु-

र्विषयास्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं

भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि ह्यानाहुः रथकल्पनाकुशलाः,

शरीररथाकर्षणसामान्यात् । तेषु इन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान् मार्गान् रूपादीन्विषयान् विद्धि । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुतमात्मानं भोक्तेति संसारीति आहुः मनीषिणः विवेकिनः । न हि केवलस्यात्मनो भोक्तृत्वमस्ति ; बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम् । तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति—  
‘ध्यायतीव लेलायतीव’ इत्यादि । एवं च सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्यात्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते, नान्यथा, स्वभावानतिक्रमात् ॥

**यस्त्वविज्ञानवान्भव-**

**त्ययुक्तेन मनसा सदा ।**

**तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि**

**दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥**

तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिः अविज्ञानवान् अनिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति यथेतरो रथचर्यायाम् अयुक्तेन अप्रगृहीतेन असमाहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदा युक्तो भवति, तस्य अकुशलस्य बुद्धिसारथेः इन्द्रियाणि अश्वस्थानीयानि अवश्यानि अशक्यनिवारणानि

दुष्टाश्वाः अदान्ताश्वाः इव इतरसारथेः भवन्ति ॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति

युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि

सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतसारथिर्भवति तस्य फलमाह—  
यस्तु विज्ञानवान् निपुणः विवेकवान् युक्तेन मनसा प्रगृही-  
तमनाः समाहितचित्तः सदा, तस्य अश्वस्थानीयानीन्द्रि-  
याणि प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं वा शक्यानि वश्यानि दान्ताः  
सदश्वा इवेतरसारथेः ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भव-

त्यमनस्कः सदाशुचिः ।

न स तत्पदमाप्नोति

संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

तत्र पूर्वोक्तस्याविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदं फलमाह—  
यस्त्वविज्ञानवान्भवति । अमनस्कः अप्रगृहीतमनस्कः सः  
तत् एव अशुचिः सदैव । न सः रथी तत् पूर्वोक्तमक्षरं

यत्परं पदम् आप्नोति तेन सारथिना । न केवलं तन्नाप्नोति,  
संसारं च जन्ममरणलक्षणम् अधिगच्छति ॥

**यस्तु विज्ञानवान्भवति**

**समनस्कः सदा शुचिः ।**

**स तु तत्पदमाप्नोति**

**यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥**

यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान् भवति विज्ञानवत्सारध्युपेतो  
रथी, विद्वानित्येतत् । युक्तमनाः समनस्कः सः तत एव सदा  
शुचिः । स तु तत्पदमाप्नोति, यस्मादाप्नात्पदादप्रच्युतः सन्  
भूयः पुनः न जायते संसारे ॥

**विज्ञानसारथिर्यस्तु**

**मनःप्रग्रहवान्नरः ।**

**सोऽध्वनः पारमाप्नोति**

**तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥**

किं तत्पदमित्याह— विज्ञानसारथिः यस्तु यो विवेकबुद्धि-  
सारथिः पूर्वोक्तः मनःप्रग्रहवान् प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः

सन् शुचिर्नरो विद्वान्, सः अध्वनः संसारगतेः पारं परमेव,  
अधिगन्तव्यमित्येतत्, आप्नोति, मुच्यते सर्वसंसारबन्धनैः ।  
तत् विष्णोः व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवा-  
ख्यस्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानम्, सतत्त्वमित्येतत्, यत् असा-  
वाप्नोति विद्वान् ॥

**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था**

**अर्थेभ्यश्च परं मनः ।**

**मनसस्तु परा बुद्धि-**

**बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ १० ॥**

अधुना यत्पदं गन्तव्यं तस्येन्द्रियाणि स्थूलान्यारभ्य सू-  
क्ष्मतारतम्यक्रमेण प्रत्यगात्मतयाधिगमः कर्तव्य इत्येवमर्थमि-  
दमारभ्यते । स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि, तानि यैः परैरर्थैरा-  
त्मप्रकाशनायारब्धानि तेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यः ते परा  
हि अर्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताश्च । तेभ्योऽपि  
अर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यगात्मभूतं च मनः । मनःश-  
ब्दवाच्यं मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मम्, संकल्पविकल्पाद्यार-  
म्भकत्वात् । मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा महत्तरा प्रत्यगात्मभूता  
च बुद्धिः, बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसायाद्यारम्भकं भूतसूक्ष्मम् ।

बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिबुद्धीनां प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान्  
सर्वमहत्त्वात् अव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोधा-  
बोधात्मकं महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते ॥

**महतः परमव्यक्त-**

**मव्यक्तात्पुरुषः परः ।**

**पुरुषान्न परं किञ्चि-**

**त्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥**

महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं च अ-  
व्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतमव्याकृतनामरूपं सतत्त्वं सर्व-  
कार्यकारणशक्तिसमाहाररूपम् अव्यक्तम् अव्याकृताकाशा-  
दिनामवाच्यं परमात्मन्योतप्रोतभावेन समाश्रितं वटकणि-  
कायामिव वटवृक्षशक्तिः । तस्मादव्यक्तात् परः सूक्ष्मतरः  
सर्वकारणकारणत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च महांश्च, अत एव पुरुषः  
सर्वपूरणात् । ततोऽन्यस्य परस्य प्रसङ्गं निवारयन्नाह—  
पुरुषान्न परं किञ्चिदिति । यस्मान्नास्ति पुरुषाच्चिन्मात्रघनात्परं  
किञ्चिदपि वस्त्वन्तरम्, तस्मात्सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्यगात्मत्वानां  
सा काष्ठा निष्ठा पर्यवसानम् । अत्र हि इन्द्रियेभ्य आरभ्य  
सूक्ष्मत्वादि परिसमाप्तम् । अत एव च गन्तॄणां सर्वगति-

मतां संसारिणां सा परा प्रकृष्टा गतिः, 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' इति स्मृतेः ॥

एष सर्वेषु भूतेषु

गूढोऽत्मा न प्रकाशते ।

दृश्यते त्वग्न्यया बुद्ध्या

सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२ ॥

ननु गतिश्चेदागत्यापि भवितव्यम्, कथम् 'यस्माद्भूयो न जायते' इति? नैष दोषः । सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वादवगतिरेव गतिरित्युपचर्यते । प्रत्यगात्मत्वं च दर्शितम् इन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन । यो हि गन्ता सोऽयमप्रत्यग्रूपं पुरुषं गच्छति अनात्मभूतं न विन्दति स्वरूपेण । तथा च श्रुतिः 'अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः' इत्याद्या । तथा च दर्शयति प्रत्यगात्मत्वं सर्वस्य— एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतः दर्शनश्रवणादिकर्मा अविद्यामायाच्छन्नः अत एव आत्मा न प्रकाशते आत्मत्वेन कस्यचित् । अहो अतिगम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा चेयं माया, यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णाति, अनात्मानं देहेन्द्रियादिसं-

घातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्य पुत्र  
इत्यनुच्यमानोऽपि गृह्णाति । नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः  
सर्वो लोकोऽयं बभ्रमीति । तथा च स्मरणम्—‘नाहं प्रका-  
शः सर्वस्य योगमायासमावृतः’ इत्यादि । ननु विरुद्धमिदमु-  
च्यते—मत्वा धीरो न शोचति, न प्रकाशत इति च ।  
नैतदेवम् । असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वान्न प्रकाशत इत्युक्तम् ।  
दृश्यते तु संस्कृतया अग्रया, अग्रमिवाग्रया तया, एकाग्रतयो-  
पेतयेत्येतत् ; सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया । कैः ? सूक्ष्म-  
दर्शिभिः ‘इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः’ इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मता-  
पारम्पर्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनः,  
तैः सूक्ष्मदर्शिभिः, पण्डितैरित्येतत् ॥

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ-

स्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छे-

स्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ ॥

तत्प्रतिपत्त्युपायमाह—यच्छेत् नियच्छेदुपसंहरेत् प्राज्ञः  
विवेकी । किम् ? वाक् वाचम् ; वागत्रोपलक्षणार्था सर्वेषामि-  
न्द्रियाणाम् । क ? मनसी मनसि । छान्दसं दैर्घ्यम् । तच्च मनः



यच्छेत् ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्ध्यावात्मनि । बुद्धिर्हि मनआ-  
दिकरणान्याप्रोतीत्यात्मा प्रत्यक् च तेषाम् । ज्ञानं बुद्धिम् आ-  
त्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत् । प्रथमजवत्स्वच्छस्वभावक-  
मात्मनो विज्ञानमापादयेदित्यर्थः । तं च महान्तमात्मानं  
यच्छेत् शान्ते सर्वविशेषप्रत्यस्तमितरूपे अविक्रिये सर्वान्तरे  
सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणि मुख्ये आत्मनि ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत

प्राप्य वरान्निबोधत ।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया

दुर्गे पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

एवं पुरुषे आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रयं यन्मि-  
थ्याज्ञानविजृम्भितं क्रियाकारकफललक्षणं स्वात्मयाथात्म्य-  
ज्ञानेन मरीच्युदकरज्जुसर्पगगनमलानीव मरीचिरज्जुगगनस्व-  
रूपदर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तः कृतकृत्यो भवति यतः, अतस्तद-  
र्शनार्थमनाद्यविद्याप्रसुप्ताः उत्तिष्ठत हे जन्तवः, आत्मज्ञानाभि-  
मुखा भवतः ; जाग्रत अज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबी-  
जभूतायाः क्षयं कुरुत । कथम् ? प्राप्य उपगम्य वरान् प्रकृ-  
ष्टानाचार्यास्तत्त्वविदः, तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानमहमस्मीति

निबोधत अवगच्छत ; न ह्युपेक्षितव्यमिति श्रुतिरनुकम्पया  
आह मातृवत्, अतिसूक्ष्मबुद्धिविषयत्वाज्ज्ञेयस्य । किमिव  
सूक्ष्मबुद्धिरिति, उच्यते— क्षुरस्य धारा अग्रं निशिता ती-  
क्ष्णीकृता दुरत्यया दुःखेनात्ययो यस्याः सा दुरत्यया । यथा  
सा पद्भ्यां दुर्गमनीया तथा दुर्गं दुःसंपाद्यमित्येतत् ; पथः  
पन्थानं तत् तं ज्ञानलक्षणं मार्गं कवयः मेधाविनो वदन्ति ।  
ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसंपाद्यत्वं वद-  
न्तीत्यभिप्रायः ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं

तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं

निचार्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥१५॥

तत्कथमतिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्येति, उच्यते । स्थूला ताव-  
दियं मेदिनी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषय-  
भूता तथा शरीरम् । तत्रैकैकगुणापकर्षेण गन्धादीनां सूक्ष्म-  
त्वमहत्त्वविशुद्धत्वनित्यत्वादितारतम्यं दृष्टमवादिषु याव-  
दाकाशमिति । ते गन्धादयः सर्व एव स्थूलत्वाद्विकाराः  
शब्दान्ताः यत्र न सन्ति, किमु तस्य सूक्ष्मत्वादिनिरतिश-

यत्वं वक्तव्यमित्येतद्दर्शयति श्रुतिः— अशब्दमस्पर्शमरूपम-  
 रसमगन्धवच्च यत्, एतद्व्याख्यातं ब्रह्म । अव्ययम्, यद्वि-  
 शब्दादिमत्, तद्व्येति ; इदं त्वशब्दादिमत्त्वादव्ययं न व्येति  
 न क्षीयते ; अत एव च नित्यम् ; यद्वि व्येति, तदनित्यम् ;  
 इदं तु न व्येति ; अतो नित्यम् । इतश्च नित्यम्—अनादि  
 अविद्यमानः आदिः कारणमस्य तदिदमनादि । यच्चादिमत्,  
 तत्कार्यत्वादित्यं कारणे प्रलीयते यथा पृथिव्यादि ; इदं तु  
 सर्वकारणत्वादकार्यम्, अकार्यत्वान्नित्यम् ; न तस्य कारणमस्ति  
 यस्मिन्प्रलीयेत । तथा अनन्तम् अविद्यमानोऽन्तः कार्यमस्य  
 तदनन्तम् । यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेनाप्यनि-  
 त्यत्वं दृष्टम्, न च तथाप्यन्तवत्त्वं ब्रह्मणः ; अतोऽपि नित्यम् ।  
 महतः महत्तत्त्वाद्बुद्ध्याख्यात् परं विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्व-  
 रूपत्वात् ; सर्वसाक्षि हि सर्वभूतात्मत्वाद्ब्रह्म । उक्तं हि—‘ एष  
 सर्वेषु भूतेषु ’ इत्यादि । ध्रुवं च कूटस्थं नित्यं न पृथिव्यादि-  
 वदापेक्षिकं नित्यत्वम् । तत् एवंभूतं ब्रह्म आत्मानं निचाय्य  
 अवगम्य तम् आत्मानं मृत्युमुखात् मृत्युगोचरादविद्याका-  
 मकर्मलक्षणात् प्रमुच्यते वियुज्यते ॥

नाचिकेतमुपाख्यानं

मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।

उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी

ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

प्रस्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः— नाचिकेतं नचिकेतसा  
प्राप्तं नाचिकेतं मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तम् इदमाख्यानमुपा-  
ख्यानं वल्लीत्रयलक्षणं सनातनं चिरंतनं वैदिकत्वात् उक्त्वा  
ब्राह्मणेभ्यः श्रुत्वा च आचार्येभ्यः मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्म-  
लोकः तस्मिन् ब्रह्मलोके महीयते आत्मभूत उपास्यो भव-  
तीत्यभिप्रायः ॥

य इमं परमं गुह्यं

श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि ।

प्रयतः श्राद्धकाले वा

तदानन्त्याय कल्पते ॥

तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

इति तृतीया वल्ली ॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः ॥

यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेत्  
ग्रन्थतोऽर्थतश्च ब्राह्मणानां संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचि-

भूत्वा श्राद्धकाले वा श्रावयेत् भुञ्जानान्, तत् श्राद्धम् अस्य  
 आनन्त्याय अनन्तफलाय कल्पते समर्थ्यते । द्विर्वचनम-  
 ध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥

इति तृतीयवल्लीभाष्यम् ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य

श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य

श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

काठकोपनिषद्भाष्ये

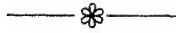
प्रथमोऽध्यायः ॥

काठकोपनिषद्भाष्यम्

द्वितीयोऽध्यायः



## द्वितीयोऽध्यायः ॥



एष सर्वेषु भूतेषु गुढोऽत्मा न प्रकाशते'  
, दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या' इत्युक्तम् । कः  
पुनः प्रतिबन्धोऽग्राया बुद्धेः, येन तदभा-  
वादात्मा न दृश्यत इति तददर्शनकारणप्रद-  
र्शनार्था वल्ली आरभ्यते; विज्ञाते हि श्रेयःप्रतिबन्धकारणे  
तदपनयनाय यत्र आरब्धुं शक्यते, नान्यथेति—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू-

स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-

दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

पराञ्चि परागञ्चन्ति गच्छन्तीति, खानि खोपलक्षि-  
तानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि खानीत्युच्यन्ते । तानि परा-  
ञ्च्येव शब्दादिविषयप्रकाशनाय प्रवर्तन्ते । यस्मादेवंस्वभा-  
वकानि तानि व्यतृणत् हिंसितवान् हननं कृतवानित्यर्थः ।



कोऽसौ ? स्वयंभूः परमेश्वरः स्वयमेव स्वतन्त्रो भवति सर्वदा न परतन्त्र इति । तस्मात् पराङ् पराग्रूपाननात्मभूताञ्जब्दादीन् पश्यति उपलभते उपलब्धा नान्तरात्मन् नान्तरात्मानमित्यर्थः । एवंस्वभावेऽपि सति लोकस्य कश्चित् नद्याः प्रतिस्रोतःप्रवर्तनमिव धीरः धीमान्निवेकी प्रत्यगात्मानं प्रत्यक् चासावात्मा चेति प्रत्यगात्मा । प्रतीच्येवात्मशब्दो रूढो लोके, नान्यत्र । व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तत्रैवात्मशब्दो वर्तते; ‘यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते’ इत्यात्मशब्दव्युत्पत्तिस्मरणात् । तं प्रत्यगात्मानं स्वस्वभावम् ऐक्षत् अपश्यन् पश्यतीत्यर्थः, छन्दसि कालानियमात् । कथं पश्यतीति, उच्यते— आवृत्तचक्षुः आवृत्तं व्यावृत्तं चक्षुः श्रोत्रादिकमिन्द्रियजातमशेषविषयात् यस्य स आवृत्तचक्षुः । स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति । न हि बाह्यविषयालोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य संभवति । किमिच्छन्पुनरित्थं महता प्रयासेन स्वभावप्रवृत्तिनिरोधं कृत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यतीति, उच्यते । अमृतत्वम् अमरणधर्मत्वं नित्यस्वभावताम् इच्छन् अत्मन इत्यर्थः ॥

पराचः कामाननुयन्ति बाला-

स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।

अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा

ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

यत्तावत्स्वाभाविकं परागेवानात्मदर्शनं तदात्मदर्शनस्य प्र-  
तिबन्धकारणमविद्या तत्प्रतिकूलत्वाद्या च परागेवाविद्योपप्रद-  
शितेषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु तृष्णा ताभ्यामविद्यातृष्णाभ्यां प्रति-  
बद्धात्मदर्शनाः पराचः बहिर्गतानेव कामान् काम्यान्विषयान्  
अनुयन्ति अनुगच्छन्ति बालाः अल्पप्रज्ञाः ते तेन कारणेन  
मृत्योः अविद्याकामकर्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य  
विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं पाश्यते बध्यते येन तं  
पाशं देहेन्द्रियादिसंयोगवियोगलक्षणम् । अनवरतं जन्ममरण-  
जरारोगाद्यनेकानर्थव्रातं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । यत एवम् अथ  
तस्मात् धीराः विवेकिनः प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणम् अमृ-  
तत्वं ध्रुवं विदित्वा । देवाद्यमृतत्वं ह्यध्रुवम्, इदं तु प्रत्यगात्म-  
स्वरूपावस्थानलक्षणं ध्रुवम्, 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्'  
इति श्रुतेः । तदेवंभूतं कूटस्थमविचाल्यममृतत्वं विदित्वा  
अध्रुवेषु सर्वपदार्थेषु अनित्येषु निर्धार्य, ब्राह्मणा इह संसारे

ऽनर्थप्राये न प्रार्थयन्ते किञ्चिदपि प्रत्यगात्मदर्शनप्रतिकूलत्वात् ।  
पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्त्येवेत्यभिप्रायः ॥

येन रूपं रसं गन्धं

शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् ।

एतेनैव विजानाति

किमत्र परिशिष्यते । एतच्चै तत् ॥३॥

यद्विज्ञानाञ्च किञ्चिदन्यत्प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः, कथं तदधि-  
गम इति, उच्यते—येन विज्ञानस्वभावेनात्मना रूपं रसं  
गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान् मैथुननिमित्तान्मुखप्रत्ययान्  
विजानाति विस्पष्टं जानाति सर्वो लोकः । ननु नैवं प्रसिद्धि-  
लोकस्य आत्मना देहादिविलक्षणेनाहं विजानामीति । देहा-  
दिसंघातोऽहं विजानामीति तु सर्वो लोकोऽवगच्छति । ननु  
देहादिसंघातस्यापि शब्दादिस्वरूपत्वाविशेषाद्विज्ञेयत्वाविशेषा-  
च्च न युक्तं विज्ञातृत्वम् । यदि हि देहादिसंघातो रूपाद्यात्मकः  
सन् रूपादीन्विजानीयात्, तर्हि बाह्या अपि रूपादयोऽन्योन्यं  
स्वं स्वं रूपं च विजानीयुः । न चैतदस्ति । तस्माद्देहादिल-  
क्षणांश्च रूपादीन् एतेनैव देहादिव्यतिरिक्तेनैव विज्ञानस्वभावे-  
नात्मना विजानाति लोकः । यथा येन लोहो दहति सो-

ऽग्निरिति तद्वत् आत्मनोऽविज्ञेयम् । किम् अत्र अस्मिँल्लोके  
परिशिष्यते न किञ्चित्परिशिष्यते सर्वमेव त्वात्मना विज्ञेयम्,  
यस्यात्मनोऽविज्ञेयं न किञ्चित्परिशिष्यते, स आत्मा सर्वज्ञः ।  
एतद्वै तन् । किं तत् यन्नचिकेतसा पृष्ठं देवादिभिरपि विचि-  
कित्सितं धर्मादिभ्योऽन्यत् विष्णोः परमं पदं यस्मात्परं  
नास्ति तद्वै एतत् अधिगतमित्यर्थः ॥

**स्वप्नान्तं जागरितान्तं**

**चोभौ येनानुपश्यति ।**

**महान्तं विभुमात्मानं**

**मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥**

अतिसूक्ष्मत्वाहुर्विज्ञेयमिति मत्त्वैतमेवार्थं पुनः पुनराह—  
स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यं स्वप्नविज्ञेयमित्येतत् । तथा जागरितान्तं  
जागरितमध्यं जागरितविज्ञेयं च । उभौ स्वप्नजागरितान्तौ  
येन आत्मना अनुपश्यति लोकः इति सर्वं पूर्ववत् । तं महान्तं  
विभुमात्मानं मत्वा अवगम्यात्मभावेन साक्षादहमस्मि परमा-  
त्मेति धीरः न शोचति ॥

**य इमं मध्वदं वेद**

**आत्मानं जीवमन्तिकात् ।**

ईशानं भूतभव्यस्य

न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥५॥

किंच, यः कश्चित् इमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणा-  
दिकलापस्य धारयितारमात्मानं वेद विजानाति अन्तिकान्  
अन्तिके समीपे ईशानम् ईशितारं भूतभव्यस्य कालत्रयस्य.  
ततः तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न गोपायितु-  
मिच्छति, अभयप्राप्तत्वात् । यावद्धि भयमध्यस्थोऽनित्यमा-  
त्मानं मन्यते तावद्गोपायितुमिच्छत्यात्मानम् । यदा तु नित्यम-  
द्वैतमात्मानं विजानाति, तदा कः किं कुतो वा गोपायितु-  
मिच्छेत् । एतद्वै तदिति पूर्ववत् ॥

यः पूर्वं तपसो जात-

मद्भयः पूर्वमजायत ।

गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं

यो भूतेभिर्व्यपश्यत । एतद्वै तत् ॥६॥

यः प्रत्यगात्मेश्वरभावेन निर्दिष्टः, स सर्वात्मेत्येतद्दर्श-  
यति—यः कश्चिन्मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसः ज्ञानादिलक्षणा-  
द्ब्रह्मण इत्येतत्; जातम् उत्पन्नं हिरण्यगर्भम् । किमपेक्ष्य पूर्व-  
मिति, आह—अद्भयः पूर्वम् अप्सहितेभ्यः पञ्चभूतेभ्यः, न

केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्रायः । अजायत उत्पन्नः यस्तं प्रथ-  
मजं देवादिशरीराण्युत्पाद्य सर्वप्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य  
तिष्ठन्तं शब्दादीनुपलभमानं भूतेभिः भूतैः कार्यकरणल-  
क्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत यः पश्यतीत्येतत् ; य एवं  
पश्यति, स एतदेव पश्यति— यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म ॥

या प्राणेन संभवति

अदितिर्देवतामयी ।

गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं

या भूतेभिर्व्यजायत । एतद्वै तत् ॥७॥

किंच, या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिर-  
ण्यगर्भरूपेण परस्माद्ब्रह्मणः संभवति शब्दादीनामदनात्  
अदितिः तां पूर्ववद्गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीम् अदितिम् । तामेव  
विशिनष्टि—या भूतेभिः भूतैः समन्विता व्यजायत उत्पन्ने-  
त्येतत् ॥

अरण्योर्निर्हितो जातवेदा

गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।

दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भि-

र्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः । एतद्वै तत् ॥

किंच, यः अधियज्ञम् उत्तराधरारण्योर्निहितः स्थितः जात-  
वेदा अग्निः पुनः सर्वहविषां भोक्ता अध्यात्मं च योगिभिः,  
गर्भे इव गर्भिणीभिः अन्तर्वर्त्नीभिरगर्हितान्नभोजनादिना  
यथा गर्भः सुभृतः सुष्ठु सम्यग्भृतो लोके, इत्थमेव ऋत्वि-  
गिभर्योगिभिश्च सुभृत इत्येतत् । किंच, दिवे दिवे अहन्य-  
हनि ईड्यः स्तुत्यो वन्द्यश्च कर्मिभर्योगिभिश्चाध्वरे हृदये च  
जागृवद्भिः जागरणशीलैः अप्रमत्तैरित्येतत् । हविष्मद्भिः आ-  
ज्यादिमद्भिः ध्यानभावनावद्भिश्च मनुष्येभिः मनुष्यैः अग्निः ;  
एतद्वै तत् तदेव प्रकृतं ब्रह्म ॥

**यतश्चोदेति सूर्यः**

**अस्तं यत्नं च गच्छति ।**

**तं देवाः सर्वे अर्पिता-**

**स्तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥**

किंच, यतश्च यस्मात्प्राणात् उदेति उत्तिष्ठति सूर्यः, अस्तं  
निम्लोचनं तिरोधानं यत्नं यस्मिन्नेव च प्राणे अहन्यहनि  
गच्छति, तं प्राणमात्मानं देवाः सर्वे अग्न्यादयः अधिदैवं  
वागादयश्चाध्यात्मं सर्वे विश्वे अरा इव रथनाभौ अर्पिताः  
संप्रवेशिताः स्थितिकाले । सोऽपि ब्रह्मैव । तत् एतत्सर्वा-

त्मकं ब्रह्म, उ नात्येति नातीत्य तदात्मकतां तदन्यत्वं गच्छ-  
ति, कश्चन कश्चिदपि एतद्वै तत् ॥

यदेवेह तदमुल

यदमुल तदन्विह ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति

य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

यद्ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वर्तमानं तत्तदुपाधित्वादब्रह्मवदव-  
भासमानं संसार्यन्यत्परस्माद्ब्रह्मण इति मा भूत्कस्यचिदाश-  
ङ्केतीदमाह— यदेवेह कार्यकारणोपाधिसमन्वितं संसारधर्म-  
वदवभासमानमविवेकिनाम्, तदेव स्वात्मस्थम् अमुत्र नित्य-  
विज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं ब्रह्म । यश्च अमुत्र अ-  
मुष्मिन्नात्मनि स्थितम्, तदनु इह तदेव इह कार्यकरणनामरू-  
पोपाधिम् अनु विभाव्यमानं नान्यत् । तत्रैवं सति उपाधि-  
स्वभावभेददृष्टिलक्षणया अविद्यया मोहितः सन् य इह  
ब्रह्मण्यनानाभूते परस्मादन्योऽहं मत्तोऽन्यत्परं ब्रह्मेति नानेव  
भिन्नमिव पश्यति उपलभते, स मृत्योर्मरणात् मृत्युं मरणं पुनः  
पुनः जननमरणभावमाप्नोति प्रतिपद्यते । तस्मात्तथा न  
पश्येत् । विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येणाकाशवत्परिपूर्णं ब्रह्मैवाहम-  
स्मीति पश्येदिति वाक्यार्थः ॥



मनसैवेदमाप्तव्यं

नेह नानास्ति किञ्चन ।

मृत्योः स मृत्युं गच्छति

य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥

प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागमसंस्कृतेन मनसैव इदं ब्रह्मैक-  
रसम् आप्तव्यम् आत्मैव नान्यदस्तीति । आप्ते च नानात्वप्र-  
त्युपस्थापिकाया अविद्याया निवृत्तत्वात् इह ब्रह्मणि नाना  
नास्ति किञ्चन अणुमात्रमपि । यस्तु पुनरविद्यातिमिरदृष्टिं  
न मुञ्चति इह ब्रह्मणि नानेव पश्यति, स मृत्योर्मृत्युं गच्छत्येव  
स्वल्पमपि भेदमध्यारोपयन्नित्यर्थः ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो

मध्य आत्मनि तिष्ठति ।

ईशानं भूतभव्यस्य

न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥

पुनरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माह— अङ्गुष्ठमात्रः अङ्गुष्ठपरिमा-  
णः । अङ्गुष्ठपरिमाणं हृदयपुण्डरीकं तच्छिद्रवर्त्यन्तःकरणो-  
पाधिरङ्गुष्ठमात्रः अङ्गुष्ठमात्रवंशपर्वमध्यवर्त्यम्बरवत् । पुरुषः

पूर्णमनेन सर्वमिति । मध्ये आत्मनि शरीरे तिष्ठति यः तम्  
आत्मानम् ईशानं भूतभव्यस्य विदित्वा, न तत् इत्यादि  
पूर्ववत् ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो

ज्योतिरिवाधूमकः ।

ईशानो भूतभव्यस्य

स एवाद्य स उ श्वः । एतद्वै तत् ॥

किंच, अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः ज्योतिरिव अधूमकः, अधूमक-  
मिति युक्तं ज्योतिःपरत्वात् । यस्त्वेवं लक्षितो योगिभिर्हृदये ई-  
शानः भूतभव्यस्य स एव नित्यः कूटस्थः अद्य इदानीं प्राणिषु  
वर्तमानः स उ श्वोऽपि वर्तिष्यते, नान्यस्तत्समोऽन्यश्च जनि-  
ष्यत इत्यर्थः । अनेन 'नायमस्तीति चैके' इत्ययं पक्षो  
न्यायतोऽप्राप्तोऽपि स्ववचनेन श्रुत्या प्रत्युक्तः, तथा क्षण-  
भङ्गवादश्च ।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं

पर्वतेषु विधावति ।

एवं धर्मान्पृथक्पश्यं-

स्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥

पुनरपि भेददर्शनापवादं ब्रह्मण आह— यथा उदकं दुर्गे दुर्गमे देशे उच्छिद्यते वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्ववत्सु निम्नप्रदेशेषु विधावति विकीर्णं सद्विनश्यति, एवं धर्मान् आत्मनोऽभिन्नान् पृथक् पश्यन् पृथगेव प्रतिशरीरं पश्यन् तानेव शरीरभेदानुवर्तिनः अनुविधावति । शरीरभेदमेव पृथक् पुनः पुनः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥

यथोदकं शुद्धे शुद्ध-

मासिक्तं तादृगेव भवति ।

एवं मुनेर्विजानत

आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥

इति चतुर्थी वल्ली ।

अस्य पुनर्विद्यावतो विध्वस्तोपाधिकृतभेददर्शनस्य विशुद्धविज्ञानघनैकरसमद्वयमात्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्मननशीलस्यात्मस्वरूपं कथं संभवतीति, उच्यते— यथा उदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नम् आसिक्तं प्रक्षिप्तम् एकरसमेव

नान्यथा, तादृगेव भवति अत्माप्येवमेव भवति एकत्वं विजा-  
नतो मुनेः मननशीलस्य हे गौतम । तस्मात्कुतार्किकभेददृष्टिं  
नास्तिककुदृष्टिं चोज्झित्वा मातृपितृसहस्रेभ्योऽपि हितैषिणा  
वेदेनोपदिष्टमात्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैरादरणीयमित्यर्थः ॥

इति चतुर्थवल्लीभाष्यम् ॥

## पञ्चमी वल्ली ।

पुरमेकादशद्वार-

मजस्यावक्रचेतसः ।

अनुष्ठाय न शोचति

विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वै तत् ॥ १ ॥

पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्धारणार्थोऽयमारम्भः,  
दुर्विज्ञेयत्वाद्वह्मणः— पुरं पुरमिव पुरम् । द्वारद्वारपालाधि-  
ष्ठात्वाद्यनेकपुरोपकरणसंपत्तिदर्शनात् शरीरं पुरम् । पुरं  
च सोपकरणं स्वात्मना असंहतस्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम् ।  
तथेदं पुरसामान्यादनेकोपकरणसंहतं शरीरं स्वात्मना असं-  
हतराजस्थानीयस्वाम्यर्थं भवितुमर्हति । तच्चेदं शरीराख्यं  
पुरम् एकादशद्वारम्; एकादश द्वाराण्यस्य—सप्त शीर्षण्यानि,  
नाभ्या सहार्वाञ्चि त्रीणि, शिरस्येकम्, तैरेकादशद्वारं पुरम् ।  
कस्य ? अजस्य जन्मादिविक्रियारहितस्यात्मनो राजस्थानीयस्य  
पुरधर्मविलक्षणस्य । अवक्रचेतसः अवक्रम् अकुटिलमादित्य-  
प्रकाशवन्नित्यमेवावस्थितमेकरूपं चेतो विज्ञानमस्येति अव-

क्रचेताः तस्यावक्रचेतसः राजस्थानीयस्य ब्रह्मणः यस्येदं पुरं  
तं परमेश्वरं पुरस्वामिनम् अनुष्ठाय ध्यात्वा । ध्यानं हि तस्या-  
नुष्ठानं सम्यग्विज्ञानपूर्वकम् । तं सर्वैषणाविनिर्मुक्तः सन्समं  
सर्वभूतस्थं ध्यात्वा न शोचति । तद्विज्ञानादभयप्राप्तेः शोका-  
वसराभावात्कुतो भयेक्षा । इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनै-  
र्विमुक्तो भवति । विमुक्तश्च सन्विमुच्यते ; पुनः शरीरं न  
गृह्णातीत्यर्थः ॥

हंसः शुचिषदसुरन्तरिक्षस-

होता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।

नृषद्वरसदृतसद्योमस-

दब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा

ऋतं बृहत् ॥ २ ॥

स तु नैकपुरवर्त्येवात्मा किं तर्हि सर्वपुरवर्ती । कथम् ? हंसः  
हन्ति गच्छतीति । शुचिषत् शुचौ दिवि आदित्यात्मना सीद-  
तीति । वसुः वासयति सर्वानिति । वाय्वात्मना अन्तरिक्षे सी-  
दतीति अन्तरिक्षसत् । होता अग्निः, 'अग्निर्वै होता' इति  
श्रुतेः । वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषत्, 'इयं वेदिः परो-  
ऽन्तः पृथिव्याः' इति मन्त्रवर्णात् । अतिथिः सोमः सन् दुरोणे

कलशे सीदतीति दुरोणसत् । ब्राह्मणोऽतिथिरूपेण वा दुरो-  
 णेषु गृहेषु सीदतीति दुरोणसत् । नृषत् नृषु मनुष्येषु सीद-  
 तीति नृषत् । वरसत् वरेषु देवेषु सीदतीति वरसत् । ऋतसत्  
 ऋतं सत्यं यज्ञो वा, तस्मिन् सीदतीति ऋतसत् । व्योमसत्  
 व्योम्नि आकाशे सीदतीति व्योमसत् । अब्जाः अप्सु शङ्ख-  
 शुक्तिमकरादिरूपेण जायत इति अब्जाः । गोजाः गवि पृथि-  
 व्यां ब्रीहियवादिरूपेण जायत इति गोजाः । ऋतजाः यज्ञा-  
 ङ्गरूपेण जायत इति ऋतजाः । अद्रिजाः पर्वतेभ्यो नद्यादिरू-  
 पेण जायत इति अद्रिजाः । सर्वात्मापि सन् ऋतम् अवितथ-  
 स्वभाव एव । बृहत् महान्, सर्वकारणत्वात् । यदास्यादित्य  
 एव मन्त्रेणोच्यते तदाप्यात्मस्वरूपत्वमादित्यस्याङ्गीकृतमिति  
 ब्रह्मणि व्याख्यानेऽप्यविरोधः । सर्वथाप्येक एवात्मा जगतः,  
 नात्मभेद इति मन्त्रार्थः ॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति

अपानं प्रत्यगस्यति ।

मध्ये वामनमासीनं

विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते—ऊर्ध्वं हृदयात् प्राणं

प्राणवृत्तिं वायुम् उन्नयति ऊर्ध्वं गमयति । तथा अपानं प्रत्यक्  
अधः अस्यति क्षिपति यः इति वाक्यशेषः । तं मध्ये  
हृदयपुण्डरीकाकाशे आसीनं बुद्धावभिव्यक्तं विज्ञानप्रकाशनं  
वामनं वननीयं संभजनीयं विश्वे सर्वे देवाः चक्षुरादयः  
प्राणाः रूपादिविज्ञानं बलिमुपाहरन्तो विश इव राजानम्  
उपासते तादर्थ्येनानुपरतव्यापारा भवन्तीत्यर्थः । यदर्थो  
यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापाराः, सोऽन्यः सिद्ध इति  
वाक्यार्थः ॥

**अस्य विस्त्रंसमानस्य**

**शरीरस्थस्य देहिनः ।**

**देहाद्विमुच्यमानस्य**

**किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥ ४ ॥**

किंच, अस्य शरीरस्थस्य आत्मनः विस्त्रंसमानस्य भ्रं-  
शमानस्य देहिनो देहवतः । विस्त्रंसनशब्दार्थमाह—देहाद्वि-  
मुच्यमानस्येति । किमत्र परिशिष्यते प्राणादिकलोपे न  
किंचन परिशिष्यते ; अत्र देहे पुरस्वामिविद्रवण इव पुरवा-  
सिनां यस्यात्मनोऽपगमे क्षणमात्रात्कार्यकरणकलापरूपं सर्व-  
मिदं हतबलं विध्वस्तं भवति विनष्टं भवति, सोऽन्यः  
सिद्ध आत्मा ॥



न प्राणेन नापानेन

मर्त्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति

यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥

स्यान्मतं प्राणापानाद्यपगमादेवेदं विध्वस्तं भवति न तु व्यतिरिक्तात्मापगमात्, प्राणादिभिरेवेह मर्त्यो जीवतीति; नैतदस्ति—न प्राणेन नापानेन चक्षुरादिना वा मर्त्यः मनुष्यो देहवान् कश्चन जीवति न कोऽपि जीवति । न ह्येषां परार्थानां संहत्यकारित्वाज्जीवनहेतुत्वमुपपद्यते । स्वार्थेनासंहतेन परेण संहतानामवस्थानं न दृष्टं केनचिदप्रयुक्तं यथा गृहादीनां लोके ; तथा प्राणादीनामपि संहतत्वाद्भाषितुमर्हति । अत इतरेण तु इतरेणैव संहतप्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तः जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति । यस्मिन् संहतविलक्षणे आत्मनि सति परस्मिन् एतौ प्राणापानौ चक्षुरादिभिः संहतौ उपाश्रितौ यस्यासंहतस्यार्थे प्राणापानादिः सर्वं व्यापारं कुर्वन्वर्तते संहतः सन् स ततोऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः ॥

हन्त तं इदं प्रवक्ष्यामि

गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।

यथा च मरणं प्राप्य

आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

हन्तेदानीं पुनरपि ते तुभ्यम् इदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सना-  
तनं चिरंतनं प्रवक्ष्यामि । यद्विज्ञानात्सर्वसंसारोपरमो भवति,  
अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य यथा च आत्मा भवति यथा  
आत्मा संसरति तथा शृणु हे गौतम ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते

शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति

यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

योनिं योनिद्वारं शुक्रबीजसमन्विताः सन्तः अन्ये केचिद-  
विद्यावन्तो मूढाः प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं देहिनः  
देहवन्तः योनिं प्रविशन्तीत्यर्थः । स्थाणुं वृक्षादिस्थावरभावम्  
अन्ये अत्यन्ताधमा मरणं प्राप्य अनुसंयन्ति अनुगच्छन्ति ।  
यथाकर्म यद्यस्य कर्म तद्यथाकर्म यैर्यादृशं कर्म इह जन्मनि  
कृतं तद्वशेनेत्येतत् । तथा यथाश्रुतं यादृशं च विज्ञानमुपाजितं  
तदनु रूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ; ‘यथाप्रज्ञं हि सं-  
भवाः’ इति श्रुत्यन्तरात् ॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति  
 कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।  
 तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म  
 तदेवामृतमुच्यते ।  
 तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे  
 तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

यत्प्रतिज्ञातं गुह्यं ब्रह्म प्रवक्ष्यामीति तदाह—य एष सुप्तेषु  
 प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति ; कथम्? कामं कामं तं तमभि-  
 प्रेतं स्त्र्याद्यर्थमविद्यया निर्मिमाणः निष्पादयन् , जागर्ति पुरुषः  
 यः, तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं तद्ब्रह्म नान्यद्गुह्यं ब्रह्मास्ति । तदेव  
 अमृतम् अविनाशि उच्यते सर्वशास्त्रेषु । किंच, पृथिव्यादयो  
 लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्माणि श्रिताः आश्रिताः, सर्वलोककार-  
 णत्वात्तस्य । तदु नात्येति कश्चनेत्यादि पूर्ववदेव ॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो  
 रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।  
 एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा  
 रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

अतः कुतार्किकपाषण्डबुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्र-  
माणोपपन्नमप्यात्मैकत्वविज्ञानमसकृदुच्यमानमप्यनृजुबुद्धीनां  
ब्राह्मणानां चेतसि नाधीयत इति तत्प्रतिपादने आदरवती  
पुनः पुनराह श्रुतिः—अग्निः यथा एक एव प्रकाशात्मा  
सन् भुवनम्, भवन्त्यस्मिन्भूतानीति भुवनम्, अयं लोकः,  
तमिमं प्रविष्टः अनुप्रविष्टः, रूपं रूपं प्रति, दार्वादिदाह्यभेदं  
प्रतीत्यर्थः, प्रतिरूपः तत्र तत्र प्रतिरूपवान् दाह्यभेदेन बहु-  
विधो बभूव ; एक एव तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं स-  
र्वेषां भूतानामभ्यन्तर आत्मा अतिसूक्ष्मत्वाद्दार्वादिष्विव स-  
र्वदेहं प्रति प्रविष्टत्वात् प्रतिरूपो बभूव बहिश्च स्वेनाविकृते-  
न रूपेण आकाशवत् ॥

**वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो**

**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।**

**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा**

**रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥**

तथान्यो दृष्टान्तः— वायुर्यथैक इत्यादि । प्राणात्मना  
देहेष्वनुप्रविष्टः । रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्यादि समा-  
नम् ॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-  
 र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।  
 एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा

न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥

एकस्य सर्वात्मत्वे संसारदुःखित्वं परस्यैव स्यादिति प्राप्ते,  
 इदमुच्यते— सूर्यः यथा चक्षुष आलोकेनोपकारं कुर्वन्मूत्रपु-  
 रीषाद्यशुचिप्रकाशनेन तद्दर्शिनः सर्वलोकस्य चक्षुः अपि सन्  
 न लिप्यते चाक्षुषैः अशुच्यादिदर्शननिमित्तैराध्यात्मिकैः पाप-  
 दोषैः बाह्यैश्च अशुच्यादिसंसर्गदोषैः एकः सन्, तथा सर्व-  
 भूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः । लोको ह्यवि-  
 द्यया स्वात्मन्यध्यस्तया कामकर्मोद्भवं दुःखमनुभवति । न  
 तु सा परमार्थतः स्वात्मनि । यथा रज्जुशुक्तिकोषरगगनेषु  
 सर्परजतोदकमलानि न रज्ज्वादीनां स्वतो दोषरूपाणि स-  
 न्ति, संसर्गिणि विपरीतबुद्धयध्यासनिमित्तात्तु तद्दोषवद्विभा-  
 व्यन्ते ; न तद्दोषैस्तेषां लेपः, विपरीतबुद्धयध्यासबाह्या हि ते ;  
 तथा आत्मनि सर्वो लोकः क्रियाकारकफलात्मकं विज्ञानं सर्पा-  
 दिस्थानीयं विपरीतमध्यस्य तन्निमित्तं जन्ममरणादिदुःखमनु-  
 भवति ; न त्वात्मा सर्वलोकात्मापि सन् विपरीताध्यारोपनि-  
 मित्तेन लिप्यते लोकदुःखेन । कुतः ? बाह्यः रज्ज्वादिवदेव

विपरीतबुद्धयध्यासबाह्यो हि स इति ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा

एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-

स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

किंच, स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्रः एकः, न तत्स-  
मोऽभ्यधिको वान्योऽस्ति । वशी, सर्वं ह्यस्य जगद्वशे वर्तते ।  
कुतः ? सर्वभूतान्तरात्मा । यत एकमेव सदैकरसमात्मानं  
विशुद्धविज्ञानघनरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन बहुधा  
अनेकप्रकारेण यः करोति स्वात्मसत्तामात्रेण अचिन्त्यशक्ति-  
त्वात्, तम् आत्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याका-  
रेणाभिव्यक्तमित्येतत्— न हि शरीरस्याधारत्वंमात्मनः,  
आकाशवदमूर्तत्वात्; आदर्शस्थं सुखमिति यद्वत्— तमेत-  
मीश्वरमात्मानं ये निवृत्तबाह्यवृत्तयः अनुपश्यन्ति आचार्या-  
गमोपदेशमनु साक्षादनुभवन्ति धीराः विवेकिनः, तेषां परमे-  
श्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखम् आत्मानन्दलक्षणं भवति,  
नेतरेषां बाह्यासक्तबुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूतमपि, अवि-  
द्याव्यवधानात् ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-

मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-

स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

किंच, नित्यः अविनाशी नित्यानाम् अविनाशिनाम् ।  
चेतनः चेतनानां चेतयितृणां ब्रह्मादीनां प्राणिनाम् । अग्निनि-  
मित्तमिव दाहकत्वमनग्नीनामुदकादीनामात्मचैतन्यनिमित्तमेव  
चेतयितृत्वमन्येषाम् । किंच, स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां सं-  
सारिणां कर्मानुरूपं कामान् कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च  
कमान् यः एको बहूनाम् अनेकेषाम् अनायासेन विदधाति  
प्रयच्छतीत्येतत् । तम् आत्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीराः,  
तेषां शान्तिः उपरतिः शाश्वती नित्या स्वात्मभूतैव स्यात् ।  
न इतरेषाम् अनेवंविधानाम् ॥

तदेतदिति मन्यन्ते-

ऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।

कथं नु तद्विजानीयां

किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

यत्तदात्मविज्ञानसुखम् अनिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यं परमं  
प्रकृष्टं प्राकृतपुरुषवाङ्मनसयोरगोचरमपि सन्निवृत्तैषणा ये  
ब्राह्मणास्ते तदेतत्प्रत्यक्षमेवेति मन्यन्ते, कथं नु केन प्रका-  
रेण तत्सुखमहं विजानीयाम् इदमित्यात्मबुद्धिविषयमापा-  
दयेयं यथा निवृत्तविषयैषणा यतयः । किमु तत् भाति दीप्यते  
प्रकाशात्मकं तत् यतोऽस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं  
दृश्यते किं वा नेति ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

इति पञ्चमी वल्ली ।

अत्रोत्तरमिदम्— भाति च विभाति चेति । कथम् ?  
न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यः  
भाति तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः । तथा न चन्द्रतारकम्, नेमा  
विद्युतो भान्ति, कुतः अयम् अस्मद्बुद्धिगोचरः अग्निः । किं  
बहुना ? यदिदमादित्यादिकं भाति तत् तमेव परमेश्वरं भान्तं  
दीप्यमानम् अनुभाति अनुदीप्यते । यथा जलोत्मुकादि अग्नि-



संयोगादग्निं दहन्तमनुदहति न स्वतः, तद्वत् । तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि विभाति । यत् एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च । कार्यगतेन विविधेन भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते । न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्यम्, घटादीनामन्यावभासकत्वादर्शनात् भारूपाणां च आदित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥

इति पञ्चमवल्लीभाष्यम् ॥

## षष्ठी वल्ली ।

ऊर्ध्वमूलोऽवाकशाख

एषोऽश्वत्थः सनातनः ।

तदेव शुक्रं तद्रह्य

तदेवामृतमुच्यते ।

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे

तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ १ ॥

तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य यथा क्रियते लोके,  
एवं संसारकार्यवृक्षावधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावदि-  
धारयिषया इयं षष्ठी वल्ली आरभ्यते । ऊर्ध्वमूलः ऊर्ध्वं मूलं  
यत् तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयमव्यक्तादिस्थावरान्तः  
संसारवृक्षः ऊर्ध्वमूलः । वृक्षश्च ब्रश्चनात् विनश्वरत्वात् ।  
अविच्छिन्नजन्मजरामरणशोकाद्यनेकानर्थात्मकः प्रतिक्षणम-  
न्यथास्वभावः मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवद्दृष्टनष्टस्वरूप-  
त्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भवन्निःसारः अ-  
नेकशतपाषण्डबुद्धिविकल्पास्पदः तत्त्वविजिज्ञासुभिरनिर्धारि-

तेदंतत्त्वः वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारः अविद्याकाम-  
 कर्माव्यक्तबीजप्रभवः अपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहि-  
 रण्यगर्भाङ्कुरः सर्वप्राणिलिङ्गभेदस्कन्धः तत्तत्तृष्णाजलासेकोद्भू-  
 तदर्पः बुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदे-  
 शपलाशः यज्ञदानतपआद्यनेकक्रियासुपुष्पः सुखदुःखवेद-  
 नानेकरसः प्राण्युपजीव्यानन्तफलः तत्तृष्णासलिलावसेकप्ररू-  
 ढजटिलीकृतदृढबद्धमूलः सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मादिभूतप-  
 क्षिकृतनीडः प्राणिसुखदुःखोद्भूतहर्षशोकजातनृत्यगीतवादित्र-  
 क्ष्वेलितास्फोटितहसिताकुष्ठरुदितहाहामुञ्चमुञ्चेत्याद्यनेकशब्द-  
 कृततुमुलीभूतमहारवः वेदान्तविहितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गशस्त्रकृ-  
 तोच्छेदः एषः संसारवृक्षः अश्वत्थः अश्वत्थवत्कामकर्मवातेरि-  
 तनित्यप्रचलितस्वभावः । स्वर्गनरकतिर्यक्प्रेतादिभिः शखाभिः  
 अवाकशाखः, अवाञ्चः शाखा यस्य सः, सनातनः अनादि-  
 त्वाच्चिरप्रवृत्तः । यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं  
 शुद्धं ज्योतिष्मत् चैतन्यात्मज्योतिःस्वभावं तदेव ब्रह्म सर्व-  
 महत्त्वात् । तदेव अमृतम् अविनाशस्वभावम् उच्यते कथ्यते  
 सत्यत्वात् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतमन्यदतो मर्त्य-  
 म् । तस्मिन् परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोकाः गन्धर्वनगरमरी-  
 च्युदकमायासमाः परमार्थदर्शनाभावावगमनाः श्रिताः आ-

श्रिताः सर्वे समस्ताः उत्पत्तिस्थितिलयेषु । तदु तद्ब्रह्म नात्येति  
नातिवर्तते मृदादिकमिव घटादिकार्यं कश्चन कश्चिदपि वि-  
कारः । एतद्वै तत् ॥

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं

प्राण एजति निःसृतम् ।

महद्भयं वज्रमुद्यतं

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

यद्विज्ञानादमृता भवन्तीत्युच्यते, जगतो मूलं तदेव नास्ति  
ब्रह्म ; असत एवेदं निःसृतमिति, तन्न—यदिदं किञ्च यत्कि-  
चेदं जगत्सर्वं प्राणे परस्मिन्ब्रह्माणि सति एजति कम्पते, तत  
एव निःसृतं निर्गतं सत् प्रचलति नियमेन चेष्टते । यदेवं जग-  
दुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म तत् महद्भयम्, महच्च तत् भयं च बिभे-  
त्यस्मादिति महद्भयम्, वज्रमुद्यतम् उद्यतमिव वज्रम् ; यथा  
वज्रोद्यतकरं स्वामिनम् अभिमुखीभूतं दृष्ट्वा भृत्या नियमेन  
तच्छासने वर्तन्ते, तथेदं चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रतारकादिलक्षणं  
जगत्सेश्वरं नियमेन क्षणमप्यविश्रान्तं वर्तत इत्युक्तं भवति ।  
ये एतत् विदुः स्वात्मप्रवृत्तिसाक्षिभूतमेकं ब्रह्म अमृताः अम-  
रणधर्माणः ते भवन्ति ॥

भयादस्याग्निस्तपति

भयात्तपति सूर्यः ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च

मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

कथं तद्भयाज्जगद्वर्तत इति, आह— भयात् भीत्या अस्य परमेश्वरस्य अग्निः तपति; भयात्तपति सूर्यः, भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः । न हि, ईश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां नियन्ता चेद्विज्ञोद्यतकरवन्न स्यात्, स्वामिभयभीतानामिव भृत्यानां नियता प्रवृत्तिरूपपद्यते ॥

इह चेदशकद्वोद्भुं

प्राक्शरीरस्य विस्त्रसः ।

ततः सर्गेषु लोकेषु

शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

तच्च इह जीवन्नेव चेत् यद्यशकत् शक्तः सन् जानातीत्येतत्, भयकारणं ब्रह्म बोद्धुम् अवगन्तुम्, प्राक् पूर्वं शरीरस्य विस्त्रसः अवस्त्रंसनात्पतनात् संसारबन्धनाद्विमुच्यते । न चेदशकद्वोद्भुम्, ततः अनवबोधात् सर्गेषु, सृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः प्राणिन इति सर्गाः पृथिव्यादयो लोकाः तेषु सर्गेषु,

लोकेषु शरीरत्वाय शरीरभावाय कल्पते समर्थो भवति ;  
शरीरं गृह्णातीत्यर्थः । तस्माच्छरीरविस्रंसनात्प्रागात्मावबोधाय  
यत्र आस्थेयः यस्मादिहैवात्मनो दर्शनमादर्शस्थस्येव मुख्य  
स्पष्टमुपपद्यते, न लोकान्तरेषु ब्रह्मलोकादन्यत्र । स च  
दुष्प्रापः ॥

यथादर्शं तथात्मनि

यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।

यथाप्सु परीव ददृशे

तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव

ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

कथमिति, उच्यते—यथा आदर्शे प्रतिबिम्बभूतमात्मानं प-  
श्यति लोकः अत्यन्तविविक्तम्, तथा इह आत्मनि स्वबुद्धावा-  
दर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तमात्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः । यथा  
स्वप्ने अविविक्तं जाग्रद्वासनोद्भूतम्, तथा पितृलोके अविविक्त-  
मेव दर्शनमात्मनः कर्मफलोपभोगासक्तत्वात् । यथा च अप्सु  
अविविक्तावयवमात्मस्वरूपं परीव ददृशे परिदृश्यत इव, तथा  
गन्धर्वलोके अविविक्तमेव दर्शनमात्मनः । एवं च लोकान्तरे-  
ष्वपि शास्त्रप्रामाण्यादवगम्यते । छायातपयोरिव अत्यन्तवि-

वित्तं ब्रह्मलोक एवैकस्मिन् । स च दुष्प्रापः, अत्यन्तविशिष्टकर्मज्ञानसाध्यत्वात् । तस्मादात्मदर्शनाय इहैव यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥

**इन्द्रियाणां पृथग्भाव-**

**मुदयास्तमयौ च यत् ।**

**पृथगुत्पद्यमानानां**

**मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥**

कथमसौ बोद्धव्यः, किं वा तदवबोधे प्रयोजनमिति, उच्यते— इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वविषयग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणेभ्य आकाशादिभ्यः पृथगुत्पद्यमानानाम् अत्यन्तविशुद्धात्केवलास्मिन्मात्रात्मस्वरूपात् पृथग्भावं स्वभावविलक्षणात्मकताम्, तथा तेषामेवेन्द्रियाणाम् उदयास्तमयौ च उत्पत्तिप्रलयौ जाग्रत्स्वप्नावस्थाप्रतिपत्त्या नात्मन इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतो धीरः धीमान् न शोचति, आत्मनो नित्यैकस्वभावत्वान्यभिचाराच्छ्लोककारणत्वानुपपत्तेः । तथा च श्रुत्यन्तरम् ‘तरति शोकमात्मवित्’ इति ॥

**इन्द्रियेभ्यः परं मनो**

**मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।**

## सत्त्वादधि महानात्मा

महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

यस्मादात्मनः इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नासौ बहिर-  
धिगन्तव्यः यस्मात्प्रत्यगात्मा स सर्वस्य ; तत्कथमिति, उच्य-  
ते— इन्द्रियेभ्यः परं मन इत्यादि । अर्थानामिहेन्द्रियसमान-  
जातीयत्वादिन्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणम् । पूर्ववदन्यत् । सत्त्वश-  
ब्दाद्बुद्धिरिहोच्यते ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो

व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।

यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तु-

रमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषः व्यापकः, व्यापकस्याप्याकाशादेः  
सर्वस्य कारणत्वात् । अलिङ्गः लिङ्गयते गम्यते येन तल्लिङ्गं  
बुद्ध्यादि, तदविद्यमानं यस्य सोऽयमलिङ्गः एव च ; सर्वसं-  
सारधर्मवर्जित इत्येतत् । यं ज्ञात्वा आचार्यतः शास्त्रतश्च  
मुच्यते जन्तुः अविद्यादिहृदयग्रन्थिभिर्जीवन्नेव ; पतितेऽपि  
शरीरे अमृतत्वं च गच्छति । सोऽलिङ्गः परोऽव्यक्तात्पुरुष  
इति पूर्वैव संबन्धः ॥



न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य

न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।

हृदा मनीषा मनसाभिकलृप्तो

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

कथं तर्हि तस्य अलिङ्गस्य दर्शनमुपपद्यत इति, उच्यते—  
न संदृशे संदर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनः अस्य रूपम् ।  
अतः न चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण, चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात्,  
पश्यति नोपलभते कश्चन कश्चिदपि एनं प्रकृतमात्मानम् ।  
कथं तर्हि तं पश्येदिति, उच्यते— हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या,  
मनीषा मनसः संकल्पादिरूपस्य ईष्टे नियन्तृत्वेनेति मनीट्  
तया मनीषा विकल्पवर्जितया बुद्ध्या । मनसा मनन-  
रूपेण सम्यग्दर्शनेन अभिकल्पः अभिसमर्थितः अभिप्र-  
काशित इत्येतत् । आत्मा ज्ञातुं शक्य इति वाक्यशेषः ।  
तमात्मानं ब्रह्म एतत् ये विदुः अमृताः ते भवन्ति ॥

यदा पश्चावतिष्ठन्ते

ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टति

तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

सा हृन्मनीट् कथं प्राप्यत इति तदर्थो योग उच्यते—  
यदा यस्मिन्काले स्वविषयेभ्यो निवर्तितानि आत्मन्येव पञ्च ज्ञा-  
नानि— ज्ञानार्थत्वाच्छ्रोत्रादीनीन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्ते—  
अवतिष्ठन्ते सह मनसा यदनुगतानि, तेन संकल्पादिव्यावृत्ते-  
नान्तःकरणेन । बुद्धिश्च अध्यवसायलक्षणा न विचेष्टति स्व-  
व्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते, तामाहुः परमां गतिम् ॥

तां योगमिति मन्यन्ते

स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

अप्रमत्तस्तदा भवति

योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

ताम् ईदृशीं तदवस्थां योगमिति मन्यन्ते वियोगमेव सन्त-  
म् । सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः । ए-  
तस्यां ह्यवस्थायाम् अविद्याध्यारोपणवर्जितस्वरूपप्रतिष्ठ आत्मा  
स्थिरामिन्द्रियधारणां स्थिरामचलामिन्द्रियधारणां बाह्यान्तः-  
करणानां धारणमित्यर्थः । अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं  
प्रति नित्यं यत्नवान् तदा तस्मिन्काले, यदैव प्रवृत्तयोगो  
भवतीति सामर्थ्यादवगम्यते । न हि बुद्ध्यादिचेष्टाभावे प्र-  
मादसंभवोऽस्ति । तस्मात्प्रागेव बुद्ध्यादिचेष्टोपरमात् अप्रमादो

विधीयते । अथवा, यदैव इन्द्रियाणां स्थिरा धारणा, तदानीमेव निरङ्कुशमप्रमत्तत्वमित्यतोऽभिधीयते अप्रमत्तस्तदा भवतीति । कुतः ? योगो हि यस्मात् प्रभवाप्ययौ उपजनापायधर्मक इत्यर्थः । अतः अपायपरिहारायाप्रमादः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥

नैव वाचा न मनसा

प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र

कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥

बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेद्ब्रह्म इदं तदिति विशेषतो गृह्येत, बुद्ध्याद्युपरमे च ग्रहणकारणाभावादनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म । यद्धि करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं लोके विपरीतं चासदिति । अतश्चानर्थको योगोऽनुपलभ्यमानत्वाद्वा नास्तीत्युपलब्धव्यं ब्रह्मेत्येवं प्राप्ते, इदमुच्यते । सत्यम् । नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यते इत्यर्थः । तथापि सर्वविशेषरहितोऽपि जगतो मूलमित्यवगतत्वादस्त्येव, कार्यप्रविलापनस्यास्तित्वनिष्ठत्वात् । तथा हीदं कार्यं सौक्ष्म्यतारतम्यपारम्पर्येणानुगम्यमानं सद्बुद्धिनिष्ठामेवावगमयति । यदापि विषयप्रविलापनेन प्रविलाप्यमाना बुद्धिः, तदापि सा

सत्प्रत्ययगर्भैव विलीयते । बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथा-  
त्म्यावगमे । मूलं चेज्जगतो न स्यादसदन्वितमेवेदं कार्यमस-  
दसदित्येव गृह्येत, न त्वेतदस्ति ; सत्सदित्येव तु गृह्यते ; यथा  
मृदादिकार्यं घटादि मृदाद्यन्वितम् । तस्माज्जगतो मूलमात्मा  
अस्तीत्येवोपलब्धव्यः । कस्मात् ? अस्तीति ब्रुवतः अस्तित्ववा-  
दिन आगमार्थानुसारिणः श्रद्धधानादन्यत्र नास्तिकवादिनि ना-  
स्ति जगतो मूलमात्मा निरन्वयमेवेदं कार्यमभावान्तं प्रवि-  
लीयत इति मन्यमाने विपरीतदर्शिनि, कथं तद्ब्रह्म तत्त्वत  
उपलभ्यते ; न कथंचनोपलभ्यत इत्यर्थः ॥

**अस्तीत्येवोपलब्धव्य-**

**स्तत्त्वभावेन चोभयोः ।**

**अस्तीत्येवोपलब्धस्य**

**तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥**

तस्मादपोह्यासद्वादिपक्षमासुरम् अस्तीत्येव आत्मा उप-  
लब्धव्यः सत्कार्यबुद्ध्याद्युपाधिभिः । यदा तु तद्रहितोऽविक्रिय  
आत्मा कार्यं च कारणव्यतिरेकेण नास्ति 'वाचारम्भणं वि-  
कारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति श्रुतेः, तदा तस्य निरु-  
पाधिकस्यालिङ्गस्य सदसदादिप्रत्ययविषयत्ववर्जितस्यात्मनस्त-

त्त्वभावो भवति । तेन च रूपेणात्मोपलब्धव्य इत्यनुवर्तते ।  
 तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपाधिकयोरस्तित्वतत्त्वभावयोः—  
 निर्धारणार्था षष्ठी—पूर्वमस्तीत्येवोपलब्धस्यात्मनः सत्कार्यो-  
 पाधिकृतास्तित्वप्रत्ययेनोपलब्धस्येत्यर्थः । पश्चात्प्रत्यस्तमितस-  
 र्वोपाधिरूप आत्मनः तत्त्वभावः विदिताविदिताभ्यामन्योऽद्व-  
 यस्वभावः नेति नेतीत्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदृश्येऽनात्म्ये निरु-  
 क्तेऽनिलयन इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टः प्रसीदति अभिमुखीभवति ।  
 आत्मप्रकाशनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्धवत् इत्येतत् ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते

कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भव-

त्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

एवं परमार्थात्मदर्शिनो यदा यस्मिन्काले सर्वे कामाः  
 कामयितव्यस्यान्यस्याभावात् प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते ; ये  
 अस्य प्राक्प्रतिबोधाद्विदुषो हृदि बुद्धौ श्रिताः आश्रिताः ;  
 बुद्धिर्हि कामानामाश्रयः नात्मा, 'कामः संकल्पः' इत्यादिश्रु-  
 त्यन्तराच्च ; अथ तदा मर्त्यः प्राक्प्रबोधादासीत् स प्रबोधोत्त-  
 रकालमविद्याकामकर्मलक्षणस्य मृत्योर्विनाशात् अमृतो भवति

गमनप्रयोजकस्य मृत्योर्विनाशाद्गमनानुपपत्तेः । अत्र इहैव प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वबन्धनोपशमात् ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते

हृदयस्येह ग्रन्थयः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भव-

त्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ १५ ॥

कदा पुनः कामानां मूलतो विनाश इति, उच्यते— यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद्बन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः । अहमिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दुःखी चाहमित्येवमादिलक्षणाः तद्विपरीतात् ब्रह्मात्मप्रत्ययोपजनात् ब्रह्मैवाहमस्म्यसंसारीति विनष्टेष्वविद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः कामा मूलतो विनश्यन्ति । अथ मर्त्योऽमृतो भवति एतावद्धि एतावदेवैतावन्मात्रं नाधिकमस्तीत्याशङ्का कर्तव्या । अनुशासनम् अनुशिष्टिः उपदेशः सर्ववेदान्तानामिति वाक्यशेषः ॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-

स्तासां सूर्धानमभिनिःसृतैका ।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति

विष्वङ् अन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

निरस्ताशेषविशेषव्यापिब्रह्मात्मप्रतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ता-  
विद्यादिग्रन्थेः जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यते,  
'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इत्युक्तत्वात् 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति  
ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' इति श्रुत्यन्तराच्च । ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो  
विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजः ये च तद्विपरीताः संसार-  
भाजः, तेषामेष गतिविशेष उच्यते प्रकृतोत्कृष्टब्रह्मविद्याफल-  
स्तुतये । किंचान्यत्, अग्निविद्या पृष्टा प्रत्युक्ता च । तस्याश्च  
फलप्राप्तिप्रकारो वक्तव्य इति मन्त्रारम्भः । तत्र— शतं च  
शतसंख्याकाः एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृदयाद्विनिः-  
सृताः नाड्यः सिराः ; तासां मध्ये मूर्धानं भित्त्वा अभिनिः-  
सृता निर्गता एका सुषुम्ना नाम । तया अन्तकाले हृदये  
आत्मानं वशीकृत्य योजयेत् । तया नाड्या ऊर्ध्वम् उपरि  
आयन् गच्छन् आदित्यद्वारेण अमृतत्वम् अमरणधर्मत्वमा-  
पेक्षिकम्—'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इति  
स्मृतेः— ब्रह्मणा वा सह कालान्तरेण मुख्यममृतत्वमेति  
भुक्त्वा भोगाननुपमान्ब्रह्मलोकगतान् । विष्वङ् नाना-  
गतयः अन्या नाड्यः उत्क्रमणे उत्क्रमणनिमित्तं भवन्ति

संसारप्रतिपत्त्यर्था एव भवन्तीत्यर्थः ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा

सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।

तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहे-

न्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।

तं विद्याच्छुक्रममृतं

तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥

इदानीं सर्ववत्त्वर्थोपसंहारार्थमाह— अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः  
अन्तरात्मा सदा जनानां संबन्धिनि हृदये संनिविष्टः यथा-  
व्याख्यातः ; तं स्वात् आत्मीयात् शरीरात् प्रवृहेत् उद्यच्छेत्  
निष्कर्षेत् पृथक्कुर्यादित्यर्थः । किमिवेति, उच्यते— मुञ्जादिवे-  
षीकाम् अन्तःस्थां धैर्येण अप्रमादेन । तं शरीरान्निष्कृष्टं  
चिन्मात्रं विद्यात् विजानीयात् शुक्रं शुद्धम् अमृतं यथोक्तं  
ब्रह्मेति । द्विर्वचनमुपनिषत्परिसमाप्त्यर्थम्, इतिशब्दश्च ॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा

विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।



ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु-

रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥ १८ ॥

विद्यान्तुत्यर्थोऽयमाख्यायिकार्थोपसंहारः अधुनोच्यते—  
मृत्युप्रोक्ताम् एतां यथोक्तां ब्रह्मविद्यां योगविधिं च कृत्स्नं समस्तं  
सोपकरणं सफलमित्येतत् । नचिकेताः अथ वरप्रदाना-  
न्मृत्योः लब्ध्वा प्राप्येत्यर्थः । किम् ? ब्रह्म प्राप्तोऽभूत् मुक्तो-  
ऽभवदित्यर्थः । कथम् ? विद्याप्राप्त्या विरजः विगतरजाः विग-  
तधर्माधर्मः विमृत्युः विगतकामाविद्यश्च सन् पूर्वमित्यर्थः । न  
केवलं नचिकेता एव, अन्योऽपि य एवं नचिकेतोवदात्मवित्  
अध्यात्ममेव निरूपचरितं प्रत्यक्स्वरूपं प्राप्यतत्त्वमेवेत्यभि-  
प्रायः । नान्यद्रूपमप्रत्यग्रूपम् । तदेवमध्यात्मम् एवम् उक्तेन  
प्रकारेण वेद विजानातीति एवंवित्, सोऽपि विरजाः सन्  
ब्रह्म प्राप्य विमृत्युर्भवतीति वाक्यशेषः ॥

सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह  
वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा  
विद्विषावहै ॥ १९ ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति षष्ठी वल्ली ॥

अथ शिष्याचार्ययोः प्रमादकृतान्यायेन विद्याग्रहणप्रतिपा-  
दननिमित्तदोषप्रशमनार्थं शान्तिरुच्यते— सह नौ आवाम्  
अवतु पालयतु विद्यास्वरूपप्रकाशनेन । कः ? स एव परमेश्वरः  
उपनिषत्प्रकाशितः । किंच, सह नौ भुनक्तु तत्फलप्रकाशनेन  
नौ पालयतु । सहैव आवां विद्याकृतं वीर्यं सामर्थ्यं करवावहै  
निष्पादयावहै । किंच, तेजस्विनौ तेजस्विनोरावयोः यत्  
अधीतं तत्स्वधीतमस्तु । अथवा, तेजस्वि नौ आवाभ्यां यत् अ-  
धीतं तदतीव तेजस्वि वीर्यवदस्त्वित्यर्थः । मा विद्विषावहै  
शिष्याचार्यावन्योन्यं प्रमादकृतान्यायाध्ययनाध्यापनदोषनि-  
मित्तं द्वेषं मा करवावहै इत्यर्थः । शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति  
त्रिवचनं सर्वदोषोपशमनार्थम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य

श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य

श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

काठकोपनिषद्भाष्यम्

संपूर्णम् ॥

ॐ

सह नावतु । सह नौ  
भुनक्तु । सह वीर्यं कर-  
वावहै । तेजसि नावधीत-  
मस्तु मा विद्विषावहै ॥

---

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

॥ ॐ ॥

॥ प्रश्नोपनिषद्भाष्यम् ॥

श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादैः  
विरचितम् ।



ॐ

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम  
देवाः । भद्रं पश्येमाक्षभिर्य-  
जत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ-  
सस्तनूभिः । व्यशेम देव-  
हितं यदायुः ॥ स्वस्ति न  
इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्वस्ति नः  
पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति न-  
स्ताक्षर्योऽरिष्टनेमिः । स्वस्ति  
नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥





# ॥ प्रश्नोपनिषत् ॥

श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितेन  
भाष्येण सहिता

— \* —



न्त्रोक्तस्यार्थस्य विस्तरानुवादीदं  
ब्राह्मणमारभ्यते । ऋषिप्रश्नप्रतिवच-  
नाख्यायिका तु विद्यास्तुतये । एवं सं-  
वत्सरब्रह्मचर्यसंवासादितपोयुक्तैर्ग्राह्या,  
पिप्पलादवत्सर्वज्ञकल्पैराचार्यैः वक्त-  
व्या च, न येन केनचिदिति विद्यां स्तौति । ब्रह्मचर्यादि-  
साधनसूचनाञ्च तत्कर्तव्यता स्यात्—



सुकेशा च भारद्वाजः शैव्यश्च सत्य-  
 कामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चा-  
 श्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी का-  
 त्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं  
 ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्य-  
 तीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पि-  
 प्लादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

सुकेशा च नामतः, भरद्वाजस्यापत्यं भारद्वाजः ।  
 शैव्यश्च शिवेरपत्यं शैव्यः, सत्यकामो नामतः । सौर्यायणी  
 सूर्यस्यापत्यं सौर्यः, तस्यापत्यं सौर्यायणिः; छान्दसं सौर्याय-  
 णीति; गार्ग्यः गर्गगोत्रोत्पन्नः । कौसल्यश्च नामतः, अश्वल-  
 स्यापत्यमाश्वलायनः । भार्गवः भृगोर्गोत्रापत्यं भार्गवः, वैदर्भिः  
 विदर्भेषु भवः । कबन्धी नामतः, कत्यस्यापत्यं कात्यायनः; वि-  
 द्यमानः प्रपितामहो यस्य सः; युवप्रत्ययः । ते ह एते ब्रह्मपराः  
 अपरं ब्रह्म परत्वेन गताः, तदनुष्ठाननिष्ठाश्च ब्रह्मनिष्ठाः, परं  
 ब्रह्म अन्वेषमाणाः किं तत् यन्नित्यं विज्ञेयमिति तत्प्राप्त्यर्थं  
 यथाकामं यतिष्याम इत्येवं तदन्वेषणं कुर्वन्तः, तदधिगमाय  
 एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति आचार्यमुपजग्मुः । कथम्? ते ह

समित्पाणयः समिद्भारगृहीतहस्ताः सन्तः, भगवन्तं पूजावन्तं  
पिप्पलादमाचार्यम् उपसन्नाः उपजग्मुः ॥

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा  
ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ  
यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः  
सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

तान् एवमुपगतान् सः ह किल ऋषिः उवाच भूयः पुन-  
रेव—यद्यपि यूयं पूर्वं तपस्विन एव, तथापीह तपसा इन्द्रिय-  
संयमेन विशेषतो ब्रह्मचर्येण श्रद्धया च आस्तिक्यबुद्ध्या  
आदरवन्तः संवत्सरं कालं संवत्स्यथ सम्यग्गुरुशुश्रूषापराः  
सन्तो वत्स्यथ । ततः यथाकामं यो यस्य कामस्तमन-  
तिक्रम्य यद्विषये यस्य जिज्ञासा तद्विषयान् प्रश्नान् पृच्छत ।  
यदि तद्युष्मत्पृष्ठं विज्ञास्यामः । अनुद्धतत्वप्रदर्शनार्थो यदि-  
शब्दो नाज्ञानसंशयार्थः प्रश्ननिर्णयादवसीयते सर्वं ह वो  
वः पृष्ठार्थं वक्ष्याम इति ॥

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ  
भगवन्कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त  
इति ॥ ३ ॥

अथ संवत्सरादूर्ध्वं कबन्धी कात्यायनः उपेत्य उपगम्य  
पप्रच्छ पृष्ठवान्—हे भगवन्, कुतः कस्मात् ह वै इमाः ब्रा-  
ह्मणाद्याः प्रजाः प्रजायन्ते उत्पद्यन्ते इति । अपरविद्याकर्मणोः  
समुच्चितयोर्यत्कार्यं या गतिस्तद्वक्तव्यमिति तदर्थोऽयं प्रश्नः ॥

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजा-  
पतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स  
मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेत्येतौ  
मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥ ४ ॥

तस्मै एवं पृष्ठवते स ह उवाच तदपाकरणायाह—  
प्रजाकामः प्रजाः आत्मनः सिसृक्षुः वै, प्रजापतिः सर्वा-  
त्मा सन् जगत्सक्षयामीत्येवं विज्ञानवान्यथोक्तकारी तद्भा-  
वभावितः कल्पादौ निर्वृत्तो हिरण्यगर्भः, सृज्यमानानां  
प्रजानां स्थावरजङ्गमानां पतिः सन्, जन्मान्तरभावितं ज्ञानं  
श्रुतिप्रकाशितार्थविषयं तपः, अन्वालोचयत् अतप्यत । अथ  
तु सः एवं तपः तप्त्वा श्रौतं ज्ञानमन्वालोच्य, सृष्टिसा-  
धनभूतं मिथुनम् उत्पादयते मिथुनं द्वन्द्वमुत्पादितवान्  
रयिं च सोममन्नं प्राणं च अग्निमत्तारम् इत्येतौ अग्नीषोमौ  
अत्रन्नभूतौ मे मम बहुधा अनेकधा प्रजाः करिष्यतः इति  
एवं संचिन्त्य अण्डोत्पत्तिक्रमेण सूर्याचन्द्रमसावकल्पयत् ॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा  
रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्ते चामूर्ते च त-  
स्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

तत्र आदित्यः ह वै प्राणः अत्ता अग्निः । रयिरेव चन्द्रमाः ।  
रयिरेवान्नं सोम एव । तदेतदेकमत्ता अग्निश्चान्नं च प्रजापति-  
रेकं तु मिथुनम् ; गुणप्रधानकृतो भेदः । कथम् ? रयिर्वै अन्न-  
मेव एतत् सर्वम् । किं तत् ? यत् मूर्ते च स्थूलं च अमूर्ते च  
सूक्ष्मं च । मूर्तामूर्ते अन्नन्नरूपे अपि रयिरेव । तस्मात् प्रवि-  
भक्तादमूर्तात् यदन्यन्मूर्तरूपं मूर्तिः, सैव रयिः अन्नम् अमू-  
र्तेन अन्ना अद्यमानत्वात् ॥

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रवि-  
शति तेन प्राच्यान्प्राणान्रश्मिषु संनि-  
धत्ते । यदक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं  
यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं  
प्रकाशयति तेन, सर्वान्प्राणान्रश्मिषु सं-  
निधत्ते ॥ ६ ॥

तथा अमूर्तोऽपि प्राणोऽत्ता सर्वमेव यच्चाद्यम् । कथम् ?

अथ आदित्यः उदयन् उद्गच्छन् प्राणिनां चक्षुर्गोचरमागच्छन् यत्प्राचीं दिशं स्वप्रकाशेन प्रविशति व्याप्नोति, तेन स्वात्मव्याप्त्या सर्वान्तःस्थान् प्राणान् प्राच्यानन्नभूतान् रश्मिषु स्वात्मावभासरूपेषु व्याप्तिमत्सु व्याप्तत्वात्प्राणिनः संनिधत्ते संनिवेशयति आत्मभूतान्करोतीत्यर्थः । तथैव यत्प्रविशति दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीम् अधः ऊर्ध्वं यत्प्रविशति यच्च अन्तरा दिशः कोणदिशोऽवान्तरदिशः यच्चान्यत् सर्वं प्रकाशयति, तेन स्वप्रकाशव्याप्त्या सर्वान् सर्वदिक्स्थान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणो-  
ऽग्निरुदयते । तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

स एषः अत्ता प्राणो वैश्वानरः सर्वात्मा विश्वरूपः विश्वात्मत्वाच्च प्राणः अग्निश्च स एवात्ता उदयते उद्गच्छति प्रत्यहं सर्वा दिशः आत्मसात्कुर्वन् । तदेतत् उक्तं वस्तु ऋचा मन्त्रेणापि अभ्युक्तम् ॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं  
परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।

**सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः**

**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥**

विश्वरूपं सर्वरूपं हरिणं रश्मिवन्तं जातवेदसं जातप्र-  
ज्ञानं परायणं सर्वप्राणाश्रयं ज्योतिः सर्वप्राणिनां चक्षुर्भूतम्  
एकम् अद्वितीयं तपन्तं तापक्रियां कुर्वाणं स्वात्मानं सूर्यं  
विज्ञातवन्तो ब्रह्मविदः । कोऽसौ यं विज्ञातवन्तः ? सहस्र-  
रश्मिः अनेकरश्मिः शतधा अनेकधा प्राणिभेदेन वर्तमानः  
प्राणः प्रजानाम् उदयति एषः सूर्यः ॥

**संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षि-  
णं चोत्तरं च । तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृत-  
मित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभि-  
जयन्ते । त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत  
ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते ।  
एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥ ९ ॥**

यश्चासौ चन्द्रमा मूर्तिरन्नममूर्तिश्च प्राणोऽत्तादित्यस्तदे-  
तदेकं मिथुनं सर्वं कथं प्रजाः करिष्यत इति, उच्यते— तदेव  
कालः संवत्सरो वै प्रजापतिः, तन्निर्वर्त्यत्वात्संवत्सरस्य ।

चन्द्रादित्यनिर्वर्त्यतिथ्यहोरात्रसमुदायो हि संवत्सरः तदन-  
न्यत्वादित्यप्राणैतन्मिथुनात्मक एवेत्युच्यते । तत्कथम्? तस्य  
संवत्सरस्य प्रजापतेः अयने मार्गो द्वौ दक्षिणं चोत्तरं च ।  
प्रसिद्धे ह्ययने षण्मासलक्षणे, याभ्यां दक्षिणेनोत्तरेण च याति  
सविता केवलकर्मिणां ज्ञानसंयुक्तकर्मवतां च लोकान्विदधत् ।  
कथम्? तत् तत्र च ब्राह्मणादिषु ये ह वै ऋषयः तदुपासत  
इति । क्रियाविशेषणो द्वितीयस्तच्छब्दः । इष्टं च पूर्तं च  
इष्टापूर्ते इत्यादि कृतमेवोपासते नाकृतं नित्यम्, ते चान्द्र-  
मसमेव चन्द्रमसि भवं प्रजापतेर्मिथुनात्मकस्यांशं रयिमन्न-  
भूतं लोकम् अभिजयन्ते कृतरूपत्वाच्चान्द्रमसस्य । ते एव च  
कृतक्षयात् पुनरावर्तन्ते इमं लोकं हीनतरं वा विशन्तीति  
युक्तम् । यस्मादेवं प्रजापतिमन्नात्मकं फलत्वेनाभिनिर्वर्त-  
यन्ति चन्द्रमिष्टापूर्तकर्मणा प्रजाकामाः प्रजार्थिनः एते  
ऋषयः स्वर्गद्रष्टारः गृहस्थाः, तस्मात्स्वकृतमेव दक्षिणं दक्षि-  
णायनोपलक्षितं चन्द्रं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिः अन्नम्,  
यः पितृयाणः पितृयाणोपलक्षितश्चन्द्रः ॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया  
विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते ।  
एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमे-

तत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष  
निरोधः । तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

अथ उत्तरेण अयनेन प्रजापतेरंशं प्राणमत्तारम् आदि-  
त्यम् अभिजयन्ते । केन ? तपसा इन्द्रियजयेन । विशेषतो  
ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया च प्रजापत्यात्मविषयया आत्मानं  
प्राणं सूर्यं जगतः तस्थुषश्च अन्विष्य अहमस्मीति विदित्वा  
आदित्यम् अभिजयन्ते अभिप्राप्नुवन्ति । एतद्वै आयतनं  
सर्वप्राणानां सामान्यमायतनम् आश्रयः एतत् अमृतम् अवि-  
नाशि अभयम् अत एव भयवर्जितम् न चन्द्रवत्क्षयवृद्धि-  
भयवत् ; एतत् परायणं परा गतिर्विद्यावतां कर्मिणां च ज्ञान-  
वताम् एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते यथेतरे केवलकर्मिण इति  
यस्मात् एषः अविदुषां निरोधः, आदित्याद्धि निरुद्धा अवि-  
द्वांसः । नैते संवत्सरमादित्यमात्मानं प्राणमभिप्राप्नुवन्ति ।  
स हि संवत्सरः कालात्मा अविदुषां निरोधः । तत् तत्रा-  
स्मिन्नर्थे एषः श्लोकः मन्त्रः ॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं

दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।



अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं

सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥११॥

पञ्चपादं पञ्च ऋतवः पादा इवास्य संवत्सरात्मन  
आदित्यस्य, तैर्हसौ पादैरिव ऋतुभिरावर्तते । हेमन्तशिशिरावे-  
कीकृत्येयं कल्पना । पितरं सर्वस्य जनयितृत्वात्पितृत्वं तस्य ;  
द्वादशाकृतिं द्वादश मासा आकृतयोऽवयवा आकरणं वा अव-  
यविकरणमस्य द्वादशमासैः तं द्वादशाकृतिम्, दिवः शुलोकात्  
परे ऊर्ध्वे अर्धे स्थाने तृतीयस्यां दिवीत्यर्थः ; पुरीषिणं पुरीष-  
वन्तम् उदकवन्तम् आहुः कालविदः । अथ तमेवान्ये इमे उ  
परे कालविदः विचक्षणं निपुणं सर्वज्ञं सप्तचक्रे सप्तहयरूपे  
चक्रे संततगतिमिति कालात्मनि षडरे षडृतुमिति आहुः  
सर्वमिदं जगत्कथयन्ति—अर्पितम् अरा इव रथनाभौ  
निविष्टमिति । यदि पञ्चपादो द्वादशाकृतिर्यदि वा सप्तचक्रः  
षडरः सर्वथापि संवत्सरः कालात्मा प्रजापतिश्चन्द्रादित्य-  
लक्षणो जगतः कारणम् ॥ ।

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव  
रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल  
इष्टं कुर्वन्तीतिर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

यस्मिन्निदं प्रोतं विश्वं स एव प्रजापतिः संवत्सराख्यः  
स्वावयवे मासे कृत्स्नः परिसमाप्यते । मासो वै प्रजापतिः  
यथोक्तलक्षण एव मिथुनात्मकः । तस्य मासात्मनः प्रजापते-  
रेको भागः कृष्णपक्ष एव रयिः अन्नं चन्द्रमाः अपरो भागः  
शुक्लः शुक्लपक्षः प्राणः आदित्योऽत्ताभिर्यस्माच्छुक्लपक्षात्मानं  
प्राणं सर्वमेव पश्यन्ति, तस्मात्प्राणदर्शिन एते ऋषयः कृष्ण-  
पक्षेऽपीष्टं यागं कुर्वन्तः शुक्लपक्ष एव कुर्वन्ति । प्राणव्यति-  
रेकेण कृष्णपक्षस्तैर्न दृश्यते यस्मात्; इतरे तु प्राणं न पश्य-  
न्तीत्यदर्शनलक्षणं कृष्णात्मानमेव पश्यन्ति । इतरे इतरस्मि-  
न्कृष्णपक्ष एव कुर्वन्ति शुक्ले कुर्वन्तोऽपि ॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्रा-  
णो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्द-  
न्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव  
तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

सोऽपि मासात्मा प्रजापतिः स्वावयवे अहोरात्रे परिसमा-  
प्यते । अहोरात्रो वै प्रजापतिः पूर्ववत् । तस्यापि अहरेव प्राणः  
अत्ता अभिः रात्रिरेव रयिः पूर्ववदेव । प्राणम् अहरात्मानं वै  
एते प्रस्कन्दन्ति निर्गमयन्ति शोषयन्ति वा स्वात्मनो विच्छि-

द्यापनयन्ति । के? ये दिवा अहनि रत्या रतिकारणभूतया सह स्त्रिया संयुज्यन्ते मैथुनमाचरन्ति मूढाः । यत एवं तस्मात्तन्न कर्तव्यमिति प्रतिषेधः प्रासङ्गिकः । यत् रात्रौ संयुज्यन्ते रत्या ऋतौ ब्रह्मचर्यमेव तदिति प्रशस्तत्वात् रात्रौ भार्यागमनं कर्तव्यमित्ययमपि प्रासङ्गिको विधिः ॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्त-  
स्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

प्रकृतं तूच्यते सोऽहोरात्रात्मकः प्रजापतिर्व्रीहियवाद्यन्नात्मना व्यवस्थितः एवं क्रमेण परिणम्य । तत् अन्नं वै प्रजापतिः । कथम्? ततः तस्मात् ह वै रेतः नृबीजं तत्प्रजाकारणं तस्मात् योषिति सिक्तात् इमाः मनुष्यादिलक्षणाः प्रजाः प्रजायन्ते यत्पृष्ठं कुतो ह वै प्रजाः प्रजायन्त इति । तदेवं चन्द्रादित्यमिथुनादिक्रमेण अहोरात्रान्तेन अन्नरेतोद्वारेण इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति निर्णीतम् ॥

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते  
मिथुनमुत्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको  
येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठि-  
तम् ॥ १५ ॥

तत् तत्रैवं सति ये गृहस्थाः । ह वै इति प्रसिद्धस्मरणार्थो निपातौ । तत् प्रजापतेर्व्रतं प्रजापतिव्रतम् ऋतौ भार्यागमनं चरन्ति कुर्वन्ति, तेषां दृष्टं फलमिदम् । किम् ? ते मिथुनं पुत्रं दुहितरं च उत्पादयन्ते । अदृष्टं च फलमिष्टापूर्तदत्तकारिणां तेषामेव एषः यश्चान्द्रमसो ब्रह्मलोकः पितृयाणलक्षणः येषां तपः स्नातकव्रतादि ब्रह्मचर्यम् ऋतोरन्यत्र मैथुनासमाचरणं येषु च सत्यम् अनृतवर्जनं प्रतिष्ठितम् अव्यभिचारितया वर्तते नित्यमेव ॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु  
जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

इति प्रथमः प्रश्नः ॥

यस्तु पुनरादित्योपलक्षित उत्तरायणः प्राणात्मभावो विरजः शुद्धो न चन्द्रब्रह्मलोकवद्रजस्वलो वृद्धिक्षयादियुक्तः असौ तेषाम्, केषामिति, उच्यते—यथा गृहस्थानामनेकविरुद्धसंव्यवहारप्रयोजनवत्त्वात् जिह्मं कौटिल्यं वक्रभावोऽवश्यंभावि तथा न येषु जिह्मम्, यथा च गृहस्थानां क्रीडादिनिमित्तमनृतमवर्जनीयं तथा न येषु तत् तथा माया गृहस्थानामिव न येषु विद्यते । माया नाम बहिरन्यथात्मानं प्रकाश्यान्यथैव

कार्यं करोति, सा माया मिथ्याचाररूपा । मायेत्येवमादयो  
 दोषा येष्वेकाकिषु ब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुषु निमित्ताभा-  
 वाभ विद्यन्ते, तत्साधनानुरूप्येणैव तेषामसौ विरजो ब्रह्मलो-  
 क इत्येषा ज्ञानयुक्तकर्मवतां गतिः । पूर्वोक्तस्तु ब्रह्मलोकः  
 केवलकर्मिणां चन्द्रलक्षण इति ॥

इति प्रथमप्रश्नभाष्यम् ॥

## द्वितीयः प्रश्नः ॥

---

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ  
भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते क-  
तर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ  
इति ॥ १ ॥

प्राणोऽत्ता प्रजापतिरित्युक्तम् । तस्य प्रजापतित्वमत्तृत्वं  
चास्मिञ्शरीरेऽवधारयितव्यमित्ययं प्रश्न आरभ्यते । अथ  
अनन्तरं ह किल एनं भार्गवः वैदर्भिः पप्रच्छ—हे भगवन्  
कत्येव देवाः प्रजां शरीरलक्षणां विधारयन्ते विशेषेण धारयन्ते ।  
कतरे बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियविभक्तानाम् एतत् प्रकाशनं स्वमा-  
हात्म्यप्रख्यापनं प्रकाशयन्ते । कः असौ पुनः एषां वरिष्ठः  
प्रधानः कार्यकरणलक्षणानामिति ॥

तस्मै स होवाच । आकाशो ह वा एष  
देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः  
श्रोत्रं च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेत-

द्वाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥

एवं पृष्टवते तस्मै स ह उवाच— आकाशः ह वै एषः  
देवः वायुः अग्निः आपः पृथिवी इत्येतानि पञ्च महाभूतानि  
शरीरारम्भकाणि वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रमित्यादीनि कर्मेन्द्रियबु-  
द्धीन्द्रियाणि च । कार्यलक्षणाः करणलक्षणाश्च ते देवा आत्मनो  
माहात्म्यं प्रकाश्यं प्रकाश्याभिवदन्ति स्पर्धमाना अहंश्रेष्ठतायै ।  
कथं वदन्ति ? वयमेतत् बाणं कार्यकरणसंघातम् अवष्टभ्य  
प्रासादमिव स्तम्भादयः अविशिथिलीकृत्य विधारयामः  
विस्पष्टं धारयामः । मयैवैकेनायं संघातो ध्रियत इत्येकैक-  
स्याभिप्रायः ॥

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमा-  
पद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैत-  
द्वाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्धा-  
ना बभूवुः ॥ ३ ॥

तान् एवमभिमानवतः वरिष्ठः मुख्यः प्राणः उवाच  
उक्तवान्— मा मैवं मोहम् आपद्यथ अविवेकितयाभिमानं  
मा कुरुत ; यस्मात् अहमेव एतद्वाणम् अवष्टभ्य विधारयामि  
पञ्चधा आत्मानं प्रविभज्य प्राणादिवृत्तिभेदं स्वस्य कृत्वा

विधारयामि इति उक्तवति च तस्मिन् ते अश्रद्धानाः अप्र-  
त्ययवन्तः बभूवुः— कथमेतदेवमिति ॥

सोऽभिमानाद्धूर्वमुत्क्रामत इव तस्मि-  
न्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते त-  
स्मिन्<sup>५</sup>श्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते ।  
तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं  
सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिन्<sup>५</sup>श्च प्रतिष्ठ-  
माने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं बाह्यन-  
श्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्व-  
न्ति ॥ ४ ॥

स च प्राणः तेषामश्रद्धानतामालक्ष्य अभिमानात्  
उर्ध्वम् उत्क्रामत इव उत्क्रामतीव उत्क्रान्तवानिव स रोषान्निर-  
पेक्षः । तस्मिन्नुत्क्रामति यद्वृत्तं तद्वृष्टान्तेन प्रत्यक्षीकरोति—  
तस्मिन् उत्क्रामति सति अथ अनन्तरमेव इतरे सर्व एव  
प्राणाश्चक्षुरादयः उत्क्रामन्ते उत्क्रामन्ति उच्चक्रमुः । तस्मिन्श्च  
प्राणे प्रतिष्ठमाने तूष्णीं भवति अनुत्क्रामति सति, सर्व एव  
प्रातिष्ठन्ते तूष्णीं व्यवस्थिता बभूवुः । तत् यथा लोके मक्षिकाः



मधुकराः स्वराजानं मधुकरराजानम् उत्क्रामन्तं प्रति सर्वा  
एव उत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते  
प्रतितिष्ठन्ति । यथायं दृष्टान्तः एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं  
चेत्यादयः ते उत्सृज्याश्रद्धानतां बुद्ध्वा प्राणमाहात्म्यं प्रीताः  
प्राणं स्तुन्वन्ति स्तुवन्ति ॥

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य

एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः ।

एष पृथिवी रयिर्देवः

सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥

कथम् ? एषः प्राणः अग्निः सन् तपति ज्वलति । तथा एषः  
सूर्यः सन् प्रकाशते । तथा एषः पर्जन्यः सन् वर्षति । किञ्च  
मघवान् इन्द्रः सन् प्रजाः पालयति जिघांसत्यसुररक्षांसि ।  
किञ्च, एषः वायुः आवहप्रवहादिभेदः । किञ्च, एषः पृथिवी  
रयिः देवः सर्वस्य जगतः सत् मूर्तम् असत् अमूर्तं च अमृतं  
च यत् देवानां स्थितिकारणम् ॥

अरा इव रथनाभौ

प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

**ऋचो यजूंषि सामानि**

**यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥**

किं बहुना ? अरा इव रथनाभौ श्रद्धादि नामान्तं सर्वं स्थितिकाले प्राणे एव प्रतिष्ठितम् । तथा ऋचः यजूंषि सामानि इति त्रिविधा मन्त्राः तत्साध्यश्च यज्ञः क्षत्रं च सर्वस्य पालयितुं ब्रह्म च यज्ञादिकर्मकर्तृत्वेऽधिकृतं च एष एव प्राणः सर्वम् ॥

**प्रजापतिश्चरसि गर्भे**

**त्वमेव प्रतिजायसे ।**

**तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति**

**यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥**

किंच, यः प्रजापतिरपि स त्वमेव गर्भे चरसि, पितुर्मा-  
तुश्च प्रतिरूपः सन् प्रतिजायसे ; प्रजापतित्वादेव प्रागेव सिद्धं  
तव मातृपितृत्वम् ; सर्वदेहदेह्याकृतिच्छन्नः एकः प्राणः सर्वा-  
त्मासीत्यर्थः । तुभ्यं त्वदर्थाय इमाः मनुष्याद्याः प्रजास्तु  
हे प्राण चक्षुरादिद्वारैः बलिं हरन्ति, यः त्वं प्राणैः चक्षुरा-  
दिभिः सह प्रतितिष्ठसि सर्वशरीरेषु, अतस्तुभ्यं बलिं

हरन्तीति युक्तम् । भोक्तासि यतस्त्वं तवैवान्यत्सर्वं भोज्यम् ॥

**देवानामसि वह्नितमः**

**पितॄणां प्रथमा स्वधा ।**

**ऋषीणां चरितं सत्य-**

**मथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥**

किञ्च, देवानाम् इन्द्रादीनाम् असि भवसि त्वं वह्नितमः हविषां प्रापयितृतमः । पितॄणां नान्दीमुखे श्राद्धे या पितृभ्यो दीयते स्वधा अन्नं सा देवप्रदानमपेक्ष्य प्रथमा भवति । तस्या अपि पितृभ्यः प्रापयिता त्वमेवेत्यर्थः । किञ्च, ऋषीणां चक्षुरादीनां प्राणानाम् अथर्वाङ्गिरसाम् अङ्गिरसभूतानामथर्वणाम्— ‘तेषामेव प्राणो वाथर्वा’ इति श्रुतेः— चरितं चेष्टितं सत्यम् अवितथं देहधारणाद्युपकारलक्षणं त्वमेवासि ॥

**इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा**

**रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।**

त्वमन्तरिक्षे चरसि

सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥

किंच, इन्द्रः परमेश्वरः त्वं हे प्राण, तेजसा वीर्येण रुद्रोऽसि संहरन् जगत् । स्थितौ च परि समन्तात् रक्षिता पालयिता ; परिरक्षिता त्वमेव जगतः सौम्येन रूपेण । त्वम् अन्तरिक्षे अजस्रं चरसि उदयास्तमयाभ्यां सूर्यः त्वमेव च सर्वेषां ज्योतिषां पतिः ॥

यदा त्वमभिवर्षसि

अथेमाः प्राण ते प्रजाः ।

आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति

कामायात्रं भविष्यतीति ॥ १० ॥

यदा पर्जन्यो भूत्वा अभिवर्षसि त्वम्, अथ तदा अन्नं प्राप्य इमाः प्रजाः प्राणते प्राणचेष्टां कुर्वन्तीत्यर्थः । अथवा, हे प्राण, ते तव इमाः प्रजाः स्वात्मभूतास्त्वदन्नसंवर्धितास्त्वदभिवर्षणदर्शनमात्रेण च आनन्दरूपाः सुखं प्राप्ता इव सत्यः तिष्ठन्ति । कामाय इच्छातः अन्नं भविष्यति इत्येवमभिप्रायः ॥

ब्राह्म्यस्त्वं प्राणैकर्षि-

रत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।

वयमाद्यस्य दातारः

पिता त्वं मातरिश्च नः ॥ ११ ॥

किंच, प्रथमजत्वादन्यस्य संस्कर्तुरभावादसंस्कृतो ब्राह्म्यः  
त्वम्, स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्रायः । हे प्राण, एकर्षिः  
त्वम् आथर्वणानां प्रसिद्ध एकर्षिनामा अग्निः सन् अत्ता  
सर्वहविषाम् । त्वमेव विश्वस्य सर्वस्य सतो विद्यमानस्य  
पतिः सत्पतिः; साधुर्वा पतिः सत्पतिः । वयं पुनः  
आद्यस्य तव अदनीयस्य हविषो दातारः । त्वं पिता मात-  
रिश्च हे मातरिश्चन्, नः अस्माकम् अथवा, मातरिश्चनः  
वायोः पिता त्वम् । अतश्च सर्वस्यैव जगतः पितृत्वं सिद्धम् ॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता

या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।

या च मनसि संतता

शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥

किं बहुना ? या ते त्वदीया तनूः वाचि प्रतिष्ठिता वक्तृ-  
त्वेन वदनचेष्टां कुर्वती, या श्रोत्रे या च चक्षुषि या च मन-  
सि संकल्पादिव्यापारेण संतता समनुगता तनूः, तां शिवां  
शान्तां कुरु; मा उत्क्रमीः उत्क्रमणेनाशिवां मा कार्षी-  
रित्यर्थः ॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं

त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।

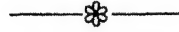
मातेव पुत्रान् रक्षस्व

श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ १३ ॥

किं बहुना । अस्मिँल्लोके प्राणस्यैव वशे सर्वमिदं यत्कि-  
चिदुपभोगजातं त्रिदिवे तृतीयस्यां दिवि च यत् प्रतिष्ठितं  
देवाद्युपभोगलक्षणं तस्यापि प्राण एव ईशिता रक्षिता । अतो  
मातेव पुत्रान् अस्मान् रक्षस्व पालयस्व । त्वन्निमित्ता हि ब्रा-  
ह्मण्यः क्षात्र्यश्च श्रियः ताः त्वं श्रीश्च श्रियश्च प्रज्ञां च त्वत्स्थि-  
तिनिमित्तां विधेहि नः विधत्स्वेत्यर्थः । इत्येवं सर्वात्मतया  
वागादिभिः प्राणैः स्तुत्या गमितमहिमा प्राणः प्रजापतिरेवे-  
त्यवधृतम् ॥

इति द्वितीयः प्रश्नः ॥

## तृतीयः प्रश्नः ॥



अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ  
भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमाया-  
त्यस्मिञ्शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य  
कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यम-  
भिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ १ ॥

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ । प्राणैर्ह्येवं निर्धारि-  
ततत्त्वः उपलब्धमहिमापि संहतत्वात्स्यादस्य कार्यत्वम् ; अतः  
पृच्छामि । हे भगवन् , कुतः कस्मात्कारणात् एषः यथावधृ-  
तः प्राणः जायते । जातश्च कथं केन वृत्तिविशेषेण आयाति  
अस्मिन् शरीरे ; किंनिमित्तकमस्य शरीरग्रहणमित्यर्थः । प्रवि-  
ष्टश्च शरीरे आत्मानं वा प्रविभज्य प्रविभागं कृत्वा कथं केन  
प्रकारेण प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति । केन वा वृत्तिविशेषेणास्मा-  
च्छरीरात् उत्क्रमते उत्क्रामति । कथं बाह्यम् अधिभूतमधि-  
दैवतं च अभिधत्ते धारयति ; कथमध्यात्ममिति, धारयतीति  
शेषः ॥

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्र-  
ह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥

एवं पृष्टः तस्मै स होवाचाचार्यः । प्राण एव तावदुर्विज्ञे-  
यत्वाद्विषमप्रश्नार्हः ; तस्यापि जन्मादि त्वं पृच्छसि ; अतः  
अतिप्रश्नान्पृच्छसि । ब्रह्मिष्ठोऽसीति अतिशयेन त्वं ब्रह्मवित्,  
अतस्तुष्टोऽहम्, तस्मात् ते तुभ्यम् अहं ब्रवीमि यत्पृष्टं शृणु ॥

आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा पु-  
रुषे च्छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनाया-  
त्यस्मिञ्शरीरे ॥ ३ ॥

आत्मनः परस्मात्पुरुषादक्षरात्सत्यात् एषः उक्तः प्राणः  
जायते । कथमित्यत्र दृष्टान्तः । यथा लोके एषा पुरुषे शि-  
रःपाण्यादिलक्षणे निमित्ते च्छाया नैमित्तिकी जायते, तद्वत्  
एतस्मिन् ब्रह्मण्येतत्प्राणाख्यं छायास्थानीयमनृतरूपं तत्त्वं  
सत्ये पुरुषे आततं समर्पितमित्येतत् । छायेव देहे मनोकृतेन  
मनःकृतेन मनःसंकल्पेच्छादिनिष्पन्नकर्मनिमित्तेनेत्येतत् । व-  
क्ष्यति हि पुण्येन पुण्यमित्यादि । ‘ तदेव सक्तः सह कर्मणैति ’  
इति श्रुत्यन्तरात् । आयाति आगच्छत्यस्मिञ्शरीरे ॥



यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्त ए-  
तान्प्रामानेतान्प्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष  
प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनि-  
धत्ते ॥ ४ ॥

यथा येन प्रकारेण लोके राजा सम्राडेव प्रामादिष्वधिकृ-  
तान्विनियुङ्क्ते । कथम् ? एतान्प्रामानेतान्प्रामानधितिष्ठस्वेति ।  
एवमेव यथायं दृष्टान्तः । एषः मुख्यः प्राणः इतरान् प्राणान्  
चक्षुरादीनात्मभेदांश्च पृथक्पृथगेव यथास्थानं संनिधत्ते वि-  
नियुङ्क्ते ॥

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासि-  
काभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु  
समानः । एष ह्येतद्भुतमन्नं समं नयति  
तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ५ ॥

तत्र विभागः । पायूपस्थे पायुश्च उपस्थश्च पायूपस्थं  
तस्मिन् । अपानम् आत्मभेदं मूत्रपुरीषाद्यपनयनं कुर्वन् संनि-  
धत्ते तिष्ठति । तथा चक्षुःश्रोत्रे चक्षुश्च श्रोत्रं च चक्षुःश्रोत्रं  
तस्मिंश्चक्षुःश्रोत्रे । मुखनासिकाभ्यां मुखं च नासिका च मुख-

नासिके ताभ्यां मुखनासिकाभ्यां निर्गच्छन् प्राणः स्वयं सम्रा-  
ट्स्थानीयः प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति । मध्ये तु प्राणापानयोः  
स्थानयोः नाभ्याम्, समानः अशितं पीतं च समं नयतीति  
समानः । एषः हि यस्मात् यदेतत् हुतं भुक्तं पीतं चात्माग्नौ  
प्रक्षिप्तम् अन्नं समं नयति, तस्मात् अशितपीतेन्धनादग्नेरौदर्या-  
द्धृदयदेशं प्राप्तात् एताः सप्तसंख्याका अर्चिषः दीप्तयो निर्ग-  
च्छन्त्यो भवन्ति । शीर्षण्यप्राणद्वारा दर्शनश्रवणादिलक्षणरूपा-  
दिविषयप्रकाश इत्यभिप्रायः ॥

हृदि ह्येष आत्मा । अतैतदेकशतं ना-  
डीनां तासां शतं शतमेकैकस्या द्वास-  
सतिर्द्वाससतिः प्रतिशाखानाडीसहस्रा-  
णि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ६ ॥

हृदि ह्येषः पुण्डरीकाकारमांसपिण्डपरिच्छिन्ने हृदयाकाशे  
एषः आत्मा आत्मसंयुक्तो लिङ्गात्मा, जीवात्मेत्यर्थः ;  
अत्र अस्मिन्हृदये एतत् एकशतम् एकोत्तरशतं संख्यया  
प्रधाननाडीनां भवति । तासां शतं शतम् एकैकस्याः प्रधान-  
नाड्या भेदाः ; पुनरपि द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः द्वे द्वे सहस्रे अधिके  
सप्ततिश्च सहस्राणि, सहस्राणां द्वासप्ततिः, प्रतिशाखानाडी-

सहस्राणि प्रतिप्रतिनाडीशतं संख्यया प्रधाननाडीनां सहस्राणि भवन्ति । आसु नाडीषु व्यानो वायुश्चरति । व्यानो व्यापनात् । आदित्यादिव रश्मयो हृदयात्सर्वतोगामिनीभिर्नाडीभिः सर्वदेहं संव्याप्य व्यानो वर्तते । संधिस्कन्धमर्म-देशेषु विशेषेण प्राणापानवृत्त्योश्च मध्ये उद्भूतवृत्तिर्वीर्यवत्कर्मकर्ता भवति ॥

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं  
नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्य-  
लोकम् ॥ ७ ॥

अथ या तु तत्रैकशतानां नाडीनां मध्ये ऊर्ध्वगा सुषुम्नाख्या नाडी, तया एकया ऊर्ध्वः सन् उदानः वायुः आपादतलमस्तकवृत्तिः संचरन् पुण्येन कर्मणा शास्त्रविहितेन पुण्यं लोकं देवादिस्थानलक्षणं नयति प्रापयति । पापेन तद्विपरीतेन पापं नरकं तिर्यग्योन्यादिलक्षणम् । उभाभ्यां समप्रधानाभ्यां पुण्यपापाभ्यामेव मनुष्यलोकं नयतीत्यनुवर्तते ॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष  
ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां  
या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्या-

**न्तरा यदाकाशः स समानो वायु-  
व्यानः ॥ ८ ॥**

आदित्यः ह वै प्रसिद्धो ह्यधिदैवतं बाह्यः प्राणः स एष उदयति उद्गच्छति । एष हि एनम् आध्यात्मिकं चक्षुषि भवं चाक्षुषं प्राणं प्रकाशेन अनुगृह्णानः रूपोपलब्धौ चक्षुष आलोकं कुर्वन्नित्यर्थः । तथा पृथिव्याम् अभिमानिनी या देवता प्रसिद्धा सैषा पुरुषस्य अपानम् अपानवृत्तिम् अवष्टभ्य आकृष्य वशीकृत्याध एवापकर्षणेनानुग्रहं कुर्वती वर्तत इत्यर्थः । अन्यथा हि शरीरं गुरुत्वात्पतत्सावकाशे वोद्गच्छेत् । यदेतत् अन्तरा मध्ये द्यावापृथिव्योः यः आकाशः तत्स्थो वायुराकाश उच्यते, म-  
श्चस्थवत् । स समानः समानमनुगृह्णानो वर्तत इत्यर्थः । समानस्यान्तराकाशस्थत्वसामान्यात् । सामान्येन च यो बाह्यो वायुः स व्याप्तिसामान्यात् व्यानः व्यानमनुगृह्णानो वर्तत इत्यभिप्रायः ॥

**तेजो ह वाव उदानस्तस्मादुपशान्तते-  
जाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ॥**

यद्बाह्यं ह वाव प्रसिद्धं सामान्यं तेजः तच्छरीरे उदानः उदानं वायुमनुगृह्णाति स्वेन प्रकाशेनेत्यभिप्रायः । यस्मात्तेजः-  
स्वभावो बाह्यतेजोनुगृहीत उत्क्रान्तिकर्ता तस्मात् यदा लौकि-

कः पुरुषः उपशान्ततेजाः भवति, उपशान्तं स्वाभाविकं ते-  
जो यस्य सः । तदा तं क्षीणायुषं मुमूर्षुं विद्यात् । सः पुनः  
भवं शरीरान्तरं प्रतिपद्यते । कथम्? सह इन्द्रियैः मनसि  
संपद्यमानैः प्रविशद्भिर्वागादिभिः ॥

**यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेज-  
सा युक्तः । सहात्मना यथासंकल्पितं  
लोकं नयति ॥ १० ॥**

मरणकाले यच्चित्तो भवति तेन एषः जीवः चित्तेन संक-  
ल्पेनेन्द्रियैः सह प्राणं मुख्यप्राणवृत्तिमायाति । मरणकाले क्षी-  
णेन्द्रियवृत्तिः सन्मुख्यया प्राणवृत्त्यैवावतिष्ठत इत्यर्थः । तदा हि  
वदन्ति ज्ञातय उच्छ्वसिति जीवतीति । स च प्राणः तेजसा  
उदानवृत्त्या युक्तः सन् सहात्मना स्वामिना भोक्ता स एव-  
मुदान उदानवृत्त्यैव युक्तः प्राणस्तं भोक्तारं पुण्यपापकर्मवशात्  
यथासंकल्पितं यथाभिप्रेतं लोकं नयति प्रापयति ॥

**य एवंविद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा  
हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ११ ॥**

यः कश्चित् एवं विद्वान् यथोक्तविशेषणैर्विशिष्टमुत्पत्त्यादि-  
भिः प्राणं वेद जानाति तस्येदं फलमैहिकमामुष्मिकं चोच्यते ।

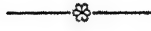
न ह अस्य नैवास्य विदुषः प्रजा पुत्रपौत्रादिलक्षणा हीयते  
च्छिद्यते । पतिते च शरीरे प्राणसायुज्यतया अमृतः अमरण-  
धर्मा भवति ; तत् एतस्मिन्नर्थे संक्षेपाभिधायक एष श्लोकः  
मन्त्रो भवति ॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं  
विभुत्वं चैव पञ्चधा ।  
अध्यात्मं चैव प्राणस्य  
विज्ञायामृतमश्नुते  
विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥  
इति तृतीयः प्रश्नः ॥

उत्पत्तिं परमात्मनः प्राणस्य आयतिम् आगमनं मनोकृते-  
नास्मिञ्शरीरे स्थानं स्थितिं च पायूपस्थादिस्थानेषु विभुत्वं  
च स्वाम्यमेव सम्राडिव प्राणवृत्तिभेदानां पञ्चधा स्थापनम् ।  
बाह्यमादित्यादिरूपेणाध्यात्मं चैव चक्षुराद्याकारेणावस्थानं  
विज्ञाय एवं प्राणम् अमृतमश्नुते इति । विज्ञायामृतमश्नुत इति  
द्विर्वचनं प्रश्नार्थपरिसमाप्त्यर्थम् ॥

इति तृतीयप्रश्नभाष्यम् ॥

## चतुर्थः प्रश्नः ॥



अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ  
भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्य-  
स्मिञ्जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्य-  
ति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे  
संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥

अथ ह एनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ प्रश्नत्रयेणापरविद्या-  
गोचरं सर्वं परिसमाप्य संसारं व्याकृतविषयं साध्यसाधन-  
लक्षणमनित्यम् । अथेदानीं साध्यसाधनविलक्षणमप्राणममनो-  
गोचरमतीन्द्रियमविषयं शिवं शान्तमविकृतमक्षरं सत्यं पर-  
विद्यागम्यं पुरुषाख्यं सबाह्याभ्यन्तरमजं वक्तव्यमित्युत्तरं  
प्रश्नत्रयमारभ्यते । तत्र सुदीप्तादिवाग्नेर्यस्मात्परस्मादक्षरात्सर्वे  
भावा विस्फुलिङ्गा इव जायन्ते तत्र चैवापियन्तीत्युक्तं द्वितीये  
मुण्डके ; के ते सर्वे भावा अक्षराद्विस्फुलिङ्गा इव विभज्यन्ते ।  
कथं वा विभक्ताः सन्तस्तत्रैवापियन्ति । किलक्षणं वा तदक्षर-  
मिति । एतद्विवक्षया अधुना प्रश्नानुद्धावयति— भगवन् , एत-

स्मिन् पुरुषे शिरःपाण्यादिमति कानि करणानि स्वपन्ति  
 स्वापं कुर्वन्ति स्वव्यापारादुपरमन्ते ; कानि च अस्मिन् जाग्रति  
 जागरणमनिद्रावस्थां स्वव्यापारं कुर्वन्ति । कतरः कार्यकरण-  
 लक्षणयोः एष देवः स्वप्नान्पश्यति । स्वप्नो नाम जाग्रद्दर्शना-  
 न्निवृत्तस्य जाग्रद्वदन्तःशरीरे यद्दर्शनम् । तर्हि कार्यलक्षणेन  
 देवेन निर्वर्त्यते, किं वा करणलक्षणेन केनचिदित्यभिप्रायः ।  
 उपरते च जाग्रत्स्वप्नव्यापारे यत्प्रसन्नं निरायासलक्षणमना-  
 बाधं सुखं कस्य एतत् भवति । तस्मिन्काले जाग्रत्स्वप्नव्यापा-  
 रादुपरताः सन्तः कस्मिन्नु सर्वे सम्यगेकीभूताः संप्रतिष्ठिताः ।  
 मधुनि रसवत्समुद्रप्रविष्टनद्यादिवच्च विवेकानर्हाः प्रतिष्ठिता  
 भवन्ति संगताः संप्रतिष्ठिता भवन्तीत्यर्थः । ननु न्यस्तदा-  
 त्रादिकरणवत्स्वव्यापारादुपरतानि पृथक्पृथगेव स्वात्मन्यव-  
 तिष्ठन्त इत्येतद्युक्तम् ; कुतः प्राप्तिः सुषुप्तपुरुषाणां करणानां  
 कस्मिंश्चिदेकीभावगमनाशङ्कायाः प्रष्टुः ? युक्तैव त्वाशङ्का ;  
 यतः संहतानि करणानि स्वाम्यर्थानि परतन्त्राणि च जाग्र-  
 द्विषये ; तस्मात्स्वापेऽपि संहतानां पारतन्त्र्येणैव कस्मिंश्चि-  
 त्संगतिर्निर्याय्येति ; तस्मादाशङ्कानुरूप एव प्रश्नोऽयम् । अत्र  
 तु कार्यकरणसंघातो यस्मिंश्च प्रलीनः सुषुप्तप्रलयकालयोः,  
 तद्विशेषं बुभुत्सोः स को नु स्यादिति कस्मिन्सर्वे संप्रतिष्ठिता  
 भवन्तीति ॥



तस्मै स होवाच यथा गार्ग्य मरीच-  
योऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्ते-  
जोमण्डल एकीभवन्ति ताः पुनः पुन-  
रुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे  
मनस्येकीभवति । तेन तर्ह्येष पुरुषो न  
शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रस-  
यते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नान-  
न्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्या-  
चक्षते ॥ २ ॥

तस्मै स ह उवाच आचार्यः । शृणु हे गार्ग्य, यत्त्वया  
पृष्टम् । यथा मरीचयः रश्मयः अर्कस्य आदित्यस्य अस्तम् अद-  
र्शनं गच्छतः सर्वाः अशेषतः एतस्मिन् तेजोमण्डले तेजोराशि-  
रूपे एकीभवन्ति विवेकानर्हत्वमविशेषतां गच्छन्ति, ताः मरी-  
चयस्तस्यैवार्कस्य पुनः पुनः उदयतः उद्गच्छतः प्रचरन्ति  
विकीर्यन्ते यथायं दृष्टान्तः । एवं ह वै तत् सर्वं विषयेन्द्रिया-  
दिजातं परे प्रकृष्टे देवे द्योतनवति मनसि चक्षुरादिदेवानां  
मनस्तन्त्रत्वात्परो देवो मनः, तस्मिन्स्वप्रकाले एकीभवति  
मण्डले मरीचिवदविशेषतां गच्छति । जिजागरिषोश्च र-

त्रिमवन्मण्डलान्मनस एव प्रचरन्ति स्वव्यापाराय प्रतिष्ठन्ते  
यस्मात्स्वप्रकाले श्रोत्रादीनि शब्दाद्युपलब्धिकरणानि मन-  
स्येकीभूतानीव करणव्यापारादुपरतानि तेन तस्मात् तर्हि  
तस्मिन्स्वापकाले एषः देवदत्तादिलक्षणः पुरुषः न शृणोति  
न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते न अभिवदते  
न आदत्ते न आनन्दयते न विसृजते न इयायते स्वपिति  
इति आचक्षते लौकिकाः ॥

प्राणाम्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति । गा-  
र्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहा-  
र्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयना-  
दाहवनीयः प्राणः ॥ ३ ॥

सुप्तवत्सु श्रोत्रादिषु करणेषु एतस्मिन् पुरे नवद्वारे देहे प्राणा-  
म्रयः प्राणा एव पञ्च वायवोऽग्नय इवाम्रयः जाग्रति । अग्नि-  
सामान्यं हि आह— गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानः । कथमि-  
ति, आह । यस्मात् गार्हपत्यात् अग्नेरग्निहोत्रकाले इतरोऽग्नि-  
राहवनीयः प्रणोयते प्रणयनात्, प्रणीयते अस्मादिति प्रणयनो  
गार्हपत्योऽग्निः, तथा सुप्तस्यापानवृत्तेः प्रणीयत इव प्राणो  
मुखनासिकाभ्यां संचरति अत आहवनीयस्थानीयः प्राणः ।

व्यानस्तु हृदयादक्षिणसुषिरद्वारेण निर्गमादक्षिणदिक्संबन्धान्  
अन्वाहार्यपचनः दक्षिणाग्निः ॥

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं  
नयतीति स समानः । मनो ह वाव  
यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यज-  
मानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४ ॥

अत्र च होता अग्निहोत्रस्य यत् यस्मात् उच्छ्वासनिः-  
श्वासौ अग्निहोत्राहुती इव नित्यं द्वित्वसामान्यादेव तु  
एतौ आहुती समं साम्येन शरीरस्थितिभावाय नयति यो  
वायुरग्निस्थानीयोऽपि होता चाहुत्योर्नेतृत्वात् । कोऽसौ ? स  
समानः । अतश्च विदुषः स्वापोऽप्यग्निहोत्रहवनमेव । तस्मा-  
द्विद्वान्नाकर्मीत्येवं मन्तव्य इत्यभिप्रायः । सर्वदा सर्वाणि च  
भूतानि विचिन्वन्त्यपि स्वपत इति हि वाजसनेयके ।  
अब्रह्म हि जाग्रत्सु प्राणाग्निषूपसंहृत्य बाह्यकरणानि विषयां-  
श्चाग्निहोत्रफलमिव स्वर्गं ब्रह्म जिगमिषुः मनो ह वाव यज-  
मानः जागर्ति । यजमानवत्कार्यकरणेषु प्राधान्येन संव्यवहा-  
रात्स्वर्गमिव ब्रह्म प्रति प्रस्थितत्वाद्यजमानो मनः कल्प्यते ।  
इष्टफलं यागफलमेव उदानः वायुः । उदाननिमित्तत्वादिष्टफ-

लप्राप्तेः । कथम् ? सः उदानः एनं मनआख्यं यजमानं स्वप्न-  
वृत्तिरूपादपि प्रच्याव्य अहरहः सुषुप्तिकाले स्वर्गमिव ब्रह्म  
अक्षरं गमयति । अतो यागफलस्थानीयः उदानः ॥

अतैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति ।  
यदृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनु-  
शृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः  
पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं  
चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च  
सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ ५ ॥

एवं विदुषः श्रोत्राद्युपरमकालादारभ्य यावत्सुप्तोत्थितो  
भवति तावत्सर्वयागफलानुभव एव, नाविदुषामिवानर्थायेति  
विद्वत्ता स्तूयते । न हि विदुष एव श्रोत्रादीनि स्वपन्ति,  
प्राणाग्नयो वा जाग्रति । जाग्रत्स्वप्नयोर्मनः स्वातन्त्र्यमनुभव-  
दहरहः सुषुप्तं वा प्रतिपद्यते । समानं हि सर्वप्राणिनां  
पर्यायेण जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तगमनम् ; अतो विद्वत्तास्तुतिरेवेयमुप-  
पद्यते । यत्पृष्टं कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यतीति ; तदाह—  
अत्र उपरतेषु श्रोत्रादिषु देहरक्षायै जाग्रत्सु प्राणादिवायुषु  
प्राक्सुषुप्तिप्रतिपत्तेः एतस्मिन्नन्तराल एषः देवः अर्करश्मिव-

त्वात्मनि संहतश्रोत्रादिकरणः स्वप्ने महिमानं विभूतिं विषय-  
विषयिलक्षणमनेकात्मभावगमनम् अनुभवति प्रतिपद्यते । ननु  
महिमानुभवने करणं मनोऽनुभवितुः ; तत्कथं स्वातन्त्र्येणानु-  
भवतीत्युच्यते ? स्वतन्त्रो हि क्षेत्रज्ञः । नैष दोषः । क्षेत्रज्ञस्य  
स्वातन्त्र्यस्य मनउपाधिकृतत्वात् । न हि क्षेत्रज्ञः परमार्थतः  
स्वतः स्वपिति जागर्ति वा । मनउपाधिकृतमेव तस्य जागरणं  
स्वप्नश्च । उक्तं वाजसनेयके ‘सधीः स्वप्नो भूत्वा ध्यायतीव  
लेलायतीव’ इत्यादि । तस्मान्मनसो विभूत्यनुभवे स्वातन्त्र्यव-  
चनं न्याय्यमेव । मनउपाधिसहितत्वे स्वप्नकाले क्षेत्रज्ञस्य  
स्वयंज्योतिष्ट्वं बाध्येत इति केचित् । तन्न । श्रुत्यर्थापरिज्ञान-  
कृता भ्रान्तिस्तेषाम् । यस्मात्स्वयंज्योतिष्ठादिव्यवहारोऽप्या-  
मोक्षान्तः सर्वोऽप्यविद्याविषय एव मनआद्युपाधिजनितः ;  
‘यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येन्मात्रासंसर्गस्त्वस्य  
भवति’ ‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्’ इत्या-  
दिश्रुतिभ्यः । अतो मन्दब्रह्मविदामेवेयमाशङ्का, न त्वेकात्मवि-  
दाम् । नन्वेवं सति ‘अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः’ इति विशेष-  
णमनर्थकं भवति । अत्रोच्यते । अत्यल्पमिदमुच्यते ‘य एषो-  
ऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते’ इति अन्तर्हृदयपरिच्छेदकर-  
णे सुतरां स्वयंज्योतिष्ट्वं बाध्येत । सत्यमेवम् ; अयं दोषो यद्यपि

स्यात्स्वप्ने केवलतया स्वयंज्योतिष्ट्वेनार्धं तावदपनीतं भारस्येति चेत्, न; तत्रापि 'पुरीतति नाडीषु शेते' इति श्रुतेः पुरीतन्नाडीसंबन्धादत्रापि पुरुषस्य स्वयंज्योतिष्ट्वेनार्धभारापनयाभिप्रायो मृषैव । कथं तर्हि 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इति? अन्यशाखात्वादनपेक्षा सा श्रुतिरिति चेत्, न; अर्थैकत्वस्येष्टत्वात् । एको ह्यात्मा सर्ववेदान्तानामर्थो विजिज्ञापयिषितो बुभुत्सितश्च । तस्माद्युक्ता स्वप्न आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वोपपत्तिर्वक्तुम्, श्रुतेर्यथार्थतत्त्वप्रकाशकत्वात् । एवं तर्हि शृणु श्रुत्यर्थं हित्वा सर्वमभिमानम्; न ह्यभिमानेन वर्षशतेनापि श्रुत्यर्थो ज्ञातुं शक्यते सर्वैः पण्डितमन्यैः । यथा हृदयाकाशे पुरीतति नाडीषु च स्वपतस्तत्संबन्धाभावात्ततो विविच्य दर्शयितुं शक्यत इति आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं न बाध्यते । एवं मनस्यविद्याकामकर्मनिमित्तोद्भूतवासनावति कर्मनिमित्ता वासना अविद्यया अन्यद्वस्त्वन्तरमिव पश्यतः सर्वकार्यकरणेभ्यः प्रविविक्तस्य द्रष्टृवासनाभ्यो दृश्यरूपाभ्योऽन्यत्वेन स्वयंज्योतिष्ट्वं सुदर्पितेनापि तार्किकेण केन वारयितुं शक्यते? तस्मात्साधूक्तं मनसि प्रलीनेषु करणेष्वप्रलीने च मनसि मनोमयः स्वप्नान्पश्यतीति । कथं महिमानमनुभवतीति उच्यते । यन्मित्रं पुत्रादि वा पूर्वं दृष्टं तद्वासनावासितः पुत्रमित्रादि-

वासनासमुद्भूतं पुत्रं मित्रमिव वा अविद्यया पश्यतीत्येवं मन्यते । शृणोति तथा श्रुतमर्थं तद्वासनयानु शृणोतीव । देशदिगन्तरैश्च देशान्तरैर्दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनस्तत्प्रत्यनुभवतीव अविद्यया । तथा दृष्टं चास्मिज्जन्मन्यदृष्टं च जन्मान्तरदृष्टमित्यर्थः । अत्यन्तादृष्टे वासनानुपपत्तेः । एवं श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चास्मिज्जन्मनि केवलेन मनसा अननुभूतं च मनसैव जन्मान्तरेऽनुभूतमित्यर्थः । सच्च परमार्थोदकादि । असच्च मरीच्युदकादि । किं बहुना, उक्तानुक्तं सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति सर्वमनोवासनोपाधिः सन्नेवं सर्वकरणात्मा मनोदेवः स्वप्नान्पश्यति ॥

स यदा तेजसाभिभूतो भवति । अ-  
तैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथैतदस्मिञ्श-  
रीरे एतत्सुखं भवति ॥ ६ ॥

सः यदा मनोरूपो देवो यस्मिन्काले सौरेण पित्ताख्येन तेजसा नाडीशयेन सर्वतः अभिभूतो भवति तिरस्कृतवासना-  
द्वारो भवति, तदा सह करणैर्मनसो रश्मयो हृद्युपसंहृता भ-  
वन्ति । यदा मनो दार्वाग्निवदविशेषविज्ञानरूपेण कृत्स्नं शरीरं  
व्याप्यावतिष्ठते, तदा सुषुप्तो भवति । अत्र एतस्मिन्काले एषः  
मनआख्यो देवः स्वप्नान् न पश्यति दर्शनद्वारस्य निरुद्धत्वा-

तेजसा । अथ तदा एतस्मिन् शरीरे एतत्सुखं भवति यद्वि-  
ज्ञानं निराबाधमविशेषेण शरीरव्यापकं प्रसन्नं भवतीत्यर्थः ॥

**स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं सं-  
प्रतिष्ठन्त एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्म-  
नि संप्रतिष्ठते ॥ ७ ॥**

एतस्मिन्काले अविद्याकामकर्मनिबन्धनानि कार्यकरणानि  
शान्तानि भवन्ति । तेषु शान्तेष्वात्मस्वरूपमुपाधिभिरन्यथा  
विभाव्यमानमद्वयमेकं शिवं शान्तं भवतीत्येतामेवावस्थां पृ-  
थिव्याद्यविद्याकृतमात्रानुप्रवेशेन दर्शयितुं दृष्टान्तमाह— स  
दृष्टान्तः यथा येन प्रकारेण हि सोम्य प्रियदर्शन, वयांसि  
पक्षिणः वासार्थं वृक्षं वासोवृक्षं प्रति संप्रतिष्ठन्ते गच्छन्ति,  
एवं यथा दृष्टान्तः ह वै तत् वक्ष्यमाणं सर्वं परे आत्मनि  
अक्षरे संप्रतिष्ठते ॥

**पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमा-  
त्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वा-  
युमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च  
द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च**



घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च  
 स्पर्शयितव्यं च वाक्च वक्तव्यं च ह-  
 स्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च  
 पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च ग-  
 न्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च  
 बोद्धव्यं चाहंकारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं  
 च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयित-  
 व्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ८ ॥

किं तत्सर्वम्? पृथिवी च स्थूला पञ्चगुणा तत्कारणं च  
 पृथिवीमात्रा गन्धतन्मात्रा, तथा आपश्च आपोमात्रा च,  
 तेजश्च तेजोमात्रा च, वायुश्च वायुमात्रा च, आकाशश्चाका-  
 शमात्रा च, स्थूलानि च सूक्ष्माणि च भूतानीत्यर्थः । तथा  
 चक्षुश्च इन्द्रियं रूपं च द्रष्टव्यं च, श्रोत्रं च श्रोतव्यं च, घ्राणं  
 च घ्रातव्यं च, रसश्च रसयितव्यं च, त्वक्च स्पर्शयितव्यं च,  
 वाक्च वक्तव्यं च, हस्तौ च आदातव्यं च, उपस्थश्च आनन्द-  
 यितव्यं च, पायुश्च विसर्जयितव्यं च, पादौ च गन्तव्यं च ;  
 बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि तदर्थाश्चोक्ताः । मनश्च पूर्वो-  
 क्तम् । मन्तव्यं च तद्विषयः । बुद्धिश्च निश्चयात्मिका । बो-

द्वयं च तद्विषयः । अहंकारश्च अभिमानलक्षणमन्तःकरणम् ।  
 अहंकर्तव्यं च तद्विषयः । चित्तं च चेतनावदन्तःकरणम् ।  
 चेतयितव्यं च तद्विषयः । तेजश्च त्वग्निन्द्रियव्यतिरेकेण प्रका-  
 शविशिष्टा या त्वक् । तया निर्भास्यो विषयो विद्योतयितव्यम् ।  
 प्राणश्च सूत्रं यदाचक्षते तेन विधारयितव्यं संप्रथनीयम् ।  
 सर्वं हि कार्यकरणजातं पाराध्यैः संहतं नामरूपात्मकमेता-  
 वदेव ॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रस-  
 यिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा  
 पुरुषः । स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥

अतः परं यदात्मस्वरूपं जलसूर्यकादिवद्भोक्तृत्वकर्तृत्वेने-  
 हानुप्रविष्टम्, एषः हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता  
 मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा, विज्ञानं विज्ञायतेऽनेनेति  
 करणभूतं बुद्ध्यादि, इदं तु विजानातीति विज्ञानं कर्तृका-  
 ररूपम्, तदात्मा तत्स्वभावो विज्ञातृस्वभाव इत्यर्थः । पुरुषः  
 कार्यकरणसंघातोक्तोपाधिपूरणात्पुरुषः । स च जलसूर्यका-  
 दिप्रतिबिम्बस्य सूर्यादिप्रवेशवज्जलाद्याधारशोषे परे अक्षरे  
 आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै त-  
दच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेद-  
यते यस्तु सोम्य । स सर्वज्ञः सर्वो  
भवति तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

तदेकत्वविदः फलमाह—परमेव अक्षरं वक्ष्यमाणविशेषणं  
प्रतिपद्यते इति । एतदुच्यते—स यो ह वै तत् सर्वेषणाविनि-  
र्मुक्तः अच्छायं तमोवर्जितम्, अशरीरं नामरूपसर्वोपाधिशरी-  
रवर्जितम्, अलोहितं लोहितादिसर्वगुणवर्जितम्, यत एव-  
मतः शुभ्रं शुद्धम्, सर्वविशेषणरहितत्वादक्षरम्, सत्यं पुरु-  
षाख्यमप्राणममनोगोचरं शिवं शान्तं सबाह्याभ्यन्तरमजं  
वेदयते विजानाति यस्तु सर्वत्यागी हे सोम्य, सः सर्वज्ञः  
न तेनाविदितं किञ्चित्संभवति । पूर्वमविद्यया असर्वज्ञ  
आसीत् । पुनर्विद्यया अविद्यापनये सर्वः भवति । तत् अस्मि-  
न्नर्थे एषः श्लोकः मन्त्रो भवति उक्तार्थसंग्राहकः ॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः

प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र ।

तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य

स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥ ११ ॥

इति चतुर्थः प्रश्नः ॥

विज्ञानात्मा, सह देवैश्च अग्न्यादिभिः प्राणाः चक्षुरा-  
दयः भूतानि पृथिव्यादीनि संप्रतिष्ठन्ति प्रविशन्ति यत्र  
यस्मिन्नक्षरे, तत् अक्षरं वेदयते यस्तु हे सोम्य प्रियदर्शन, स  
सर्वज्ञः सर्वमेव आविवेश आविशतीत्यर्थः ॥

इति चतुर्थप्रश्नभाष्यम् ॥

## पञ्चमः प्रश्नः ॥

---

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ ।  
स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्त-  
मोँकारमभिध्यायीत कतमं वाव स  
तेन लोकं जयतीति ॥

अथ ह एनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । अथेदानीं परा-  
परब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वेन ॐकारस्योपासनविधित्सया प्रश्न आ-  
रभ्यते । सः यः कश्चित् ह वै भगवन्, मनुष्येषु मनु-  
ष्याणां मध्ये तत् अद्भुतमिव प्रायणान्तं मरणान्तं यावज्जीव-  
मित्येतत्; ॐकारम् अभिध्यायीत आभिमुख्येन चिन्तयेत् ।  
बाह्यविषयेभ्य उपसंहृतकरणः समाहितचित्तो भक्त्यावेशि-  
तब्रह्मभावे ॐकारे आत्मप्रत्ययसंतानाविच्छेदो भिन्नजा-  
तीयप्रत्ययान्तराखिलीकृतो निवातस्थदीपशिखासमोऽभिध्या-  
नशब्दार्थः । सत्यब्रह्मचर्याहिंसापरिग्रहत्यागसंन्यासशौचसं-  
तोषामायावित्वाद्यनेकयमनियमानुगृहीतः सः एवं यावज्जी-  
वव्रतधारणः, कतमं वाव, अनेके हि ज्ञानकर्मभिर्जेतव्या

लोकास्तिष्ठन्ति ; तेषु तेन ॐकाराभिध्यानेन कतमं सः लोकं जयतीति ॥

तस्मै स होवाच । एतद्वै सत्यकाम  
परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः । तस्माद्वि-  
द्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥

पृष्ठवते तस्मै स ह उवाच पिप्पलादः— एतद्वै स-  
त्यकाम । एतत् ब्रह्म वै परं च अपरं च ब्रह्म परं  
सत्यमक्षरं पुरुषाख्यम् अपरं च प्राणाख्यं प्रथमजं यत्  
तदोङ्कार एव ॐकारात्मकम् ॐकारप्रतीकत्वात् । परं हि  
ब्रह्म शब्दाद्युपलक्षणानर्हं सर्वधर्मविशेषवर्जितम्, अतो न श-  
क्यमतीन्द्रियगोचरत्वात्केवलेन मनसावगाहितुम् । ॐकारे तु  
विष्ण्वादिप्रतिमास्थानीये भक्त्यावेशितब्रह्मभावे ध्यायिनां त-  
त्प्रसीदतीत्यवगम्यते शास्त्रप्रामाण्यात् । तथा परं च ब्रह्म ।  
तस्मात्परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार इत्युपचर्यते । तस्मादेवं  
विद्वान् एतेनैव आत्मप्राप्तिसाधनेनैव ॐकाराभिध्यानेन एक-  
तरं परमपरं वा अन्वेति ब्रह्मानुगच्छति ; नेदिष्टं ह्यालम्बन-  
मोङ्कारो ब्रह्मणः ॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव  
 संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते ।  
 तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र  
 तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महि-  
 मानमनुभवति ॥ ३ ॥

स यद्यप्योकारस्य सकलमात्राविभागज्ञो न भवति,  
 तथाप्योकाराभिध्यानप्रभावाद्विशिष्टामेव गतिं गच्छति; एत-  
 देकदेशज्ञानवैगुण्यतयोकारशरणः कर्मज्ञानोभयभ्रष्टो न दु-  
 र्गतिं गच्छति; किं तर्हि, यदि एवमोकारमेव एकमात्राविभागज्ञ  
 एव केवलः अभिध्यायीत एकमात्रं सदा ध्यायीत, स तेनैव  
 एकमात्राविशिष्टोकाराभिधानेनैव संवेदितः संबोधितः तूर्णं  
 क्षिप्रमेव जगत्यां पृथिव्याम् अभिसंपद्यते । किम्? मनुष्य-  
 लोकम् । अनेकानि हि जन्मानि जगत्यां संभवन्ति ।  
 तत्र तं साधकं जगत्यां मनुष्यलोकमेव उपनयन्ते उप-  
 निगमयन्ति ऋचः । ऋग्वेदरूपा ह्योकारस्य प्रथमा एक-  
 मात्रा । तेन स तत्र मनुष्यजन्मानि द्विजाग्र्यः सन् तपसा  
 ब्रह्मचर्येण श्रद्धया च संपन्नः महिमानं विभूतिम् अनुभवति  
 न वीतश्रद्धो यथेष्टचेष्टो भवति; योगभ्रष्टः कदाचिदपि न  
 दुर्गतिं गच्छति ॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते  
सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् ।  
स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनराव-  
र्तते ॥ ४ ॥

अथ पुनः यदि द्विमात्राविभागज्ञो द्विमात्रेण विशिष्टमो-  
कारमभिध्यायीत स्वप्रात्मके मनसि मननीये यजुर्मये सौम-  
दैवत्ये संपद्यते एकाग्रतयात्मभावं गच्छति, स एवं संपन्नो  
मृतः अन्तरिक्षम् अन्तरिक्षाधारं द्वितीयमात्रारूपं द्वितीय-  
मात्रारूपैरेव यजुर्भिः उन्नीयते सोमलोकं सौम्यं जन्म  
प्रापयन्ति तं यजुंषीत्यर्थः । स तत्र विभूतिमनुभूय सोम-  
लोके मनुष्यलोकं प्रति पुनरावर्तते ॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्ष-  
रेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि  
सूर्ये संपन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनि-  
र्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः  
स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्मा-  
ज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ।  
तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥



यः पुनः एतम् ओङ्कारं त्रिमात्रेण त्रिमात्राविषयविज्ञान-  
विशिष्टेन ओमित्येतेनैव अक्षरेण परं सूर्यान्तर्गतं पुरुषं  
प्रतीकत्वेन अभिध्यायीत तेनाभिध्यानेन प्रतीकत्वेन ह्याल-  
म्बनत्वं प्रकृतमोङ्कारस्य परं चापरं च ब्रह्मेति अभेदश्रुतेः,  
ओङ्कारमिति च द्वितीयानेकशः श्रुता बाध्येतान्यथा । यद्यपि  
तृतीयाभिधानत्वेन करणत्वमुपपद्यते, तथापि प्रकृतानुरो-  
धात्त्रिमात्रं परं पुरुषमिति द्वितीयैव परिणेत्या 'त्यजेदेकं  
कुलस्यार्थे' इति न्यायेन । सः तृतीयमात्रारूपे तेजसि सूर्ये  
संपन्नो भवति ध्यायमानः, मृतोऽपि सूर्यात्सोमलोकादिवन्न  
पुनरावर्तते ; किंतु सूर्ये संपन्नमात्र एव । यथा पादोदरः सर्पः  
त्वचा विनिर्मुच्यते जीर्णत्वग्विनिर्मुक्तः स पुनर्नवो भवति ।  
एवं ह वै एष यथा दृष्टान्तः स पाप्मना सर्पत्वक्स्थानीये-  
नाशुद्धिरूपेण विनिर्मुक्तः सः सामभिः तृतीयमात्रारूपैः ऊर्ध्व-  
मुन्नीयते ब्रह्मलोकं हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणो लोकं सत्याख्यम् ।  
सः हिरण्यगर्भः सर्वेषां संसारिणां जीवानामात्मभूतः ।  
स ह्यन्तरात्मा लिङ्गरूपेण सर्वभूतानाम् । तस्मिन् हि लिङ्गा-  
त्मनि संहताः सर्वे जीवाः । तस्मात्स जीवघनः स विद्वां-  
स्त्रिमात्रोङ्काराभिज्ञः एतस्माज्जीवघनात् हिरण्यगर्भात्परात्परं  
परमात्माख्यं पुरुषमीक्षते पुरिशयं सर्वशरीरानुप्रविष्टं पश्यति

ध्यायमानः । तत् एतौ अस्मिन्यथोक्तार्थप्रकाशकौ श्लो-  
कौ मन्त्रौ भवतः ॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता  
अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः ।  
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु

सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ ६ ॥

तिस्रः त्रिसंख्याका अकारोकारमकाराख्याः ॐकारस्य  
मात्राः । मृत्युमत्यः मृत्युर्यासां विद्यते ता मृत्युमत्यः मृत्यु-  
गोचरादनतिक्रान्ताः मृत्युगोचरा एवेत्यर्थः । ता आत्मनो  
ध्यानक्रियासु प्रयुक्ताः । किंच, अन्योन्यसक्ताः इतरेतरसंब-  
द्धाः । अनविप्रयुक्ताः विशेषेणैकैकविषय एव प्रयुक्ता विप्रयु-  
क्ताः, न तथा विप्रयुक्ता अविप्रयुक्ताः, न अविप्रयुक्ता अनवि-  
प्रयुक्ताः । किं तर्हि, विशेषेणैकस्मिन्ध्यानकाले तिसृषु क्रिया-  
सु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तस्थानपुरुषाभिध्या-  
नलक्षणासु योगक्रियासु युक्तासु सम्यक्प्रयुक्तासु सम्यग्ध्या-  
नकाले प्रयोजितासु न कम्पते न चलति ज्ञः योगी यथोक्त-  
विभागज्ञः ॐकारस्येत्यर्थः । न तस्यैवंविदश्चलनमुपपद्यते । य-  
स्माज्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तपुरुषाः सह स्थानैर्मात्रात्रयरूपेणोकारात्म-  
रूपेण दृष्टाः ; स ह्येवं विद्वान्सर्वात्मभूत ॐकारमयः कुतो वा

चलेत्कस्मिन्वा ॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं

सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते ।

तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्या-

न्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥

इति पञ्चमः प्रश्नः ॥

सर्वार्थसंग्रहार्थो द्वितीयो मन्त्रः—ऋग्भिः एतं लोकं मनुष्योपलक्षितम् । यजुर्भिः अन्तरिक्षं सोमाधिष्ठितम् । सामभिः यत् तद्ब्रह्मलोक इति तृतीयं कवयः मेधाविनो विद्यावन्त एव नाविद्वांसः वेदयन्ते । तं त्रिविधं लोकमोङ्कारेण साधनेनापरब्रह्मलक्षणम् अन्वेति अनुगच्छति विद्वान् । तेनैवोङ्कारेण यत्तत्परं ब्रह्माक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं शान्तं विमुक्तजाग्रत्स्वप्रसुषुप्तादिविशेषं सर्वप्रपञ्चविवर्जितम्, अत एव अजरं जरावर्जितम् अमृतं मृत्युवर्जितमत एव । यस्माज्जरादिविक्रियारहितमतः अभयम् । यस्मादेवाभयं तस्मात् परं निरतिशयम् । तदप्योङ्कारेणैवायतनेन गमनसाधनेनान्वेतीत्यर्थः । इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः ॥

इति पञ्चमप्रश्नभाष्यम् ॥

## षष्ठः प्रश्नः ॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ ।  
भगवन्निहरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो  
मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत षोडशकलं भा-  
रद्वाज पुरुषं वेत्थ । तमहं कुमारमब्रवं  
नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते  
नावक्ष्यमिति, समूलो वा एष परिशु-  
ष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्य-  
नृतं वक्तुम् । स तूष्णीं रथमारुह्य प्रव-  
त्राज । तं त्वा पृच्छामि कासौ पुरुष  
इति ॥ १ ॥

अथ ह एनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ समस्तं जगत्कार्य-  
कारणलक्षणं सह विज्ञानात्मना परस्मिन्नक्षरे सुषुप्तिकाले  
संप्रतिष्ठत इत्युक्तम् । तत्सामर्थ्यात्प्रलयेऽपि तस्मिन्नेवाक्षरे  
संप्रतिष्ठते जगत्तत एवोत्पद्यत इति च सिद्धं भवति । न

ह्यकारणे कार्यस्य संप्रतिष्ठानमुपपद्यते । उक्तं च 'आत्मन एष प्राणो जायते' इति । जगतश्च यन्मूलं तत्परिज्ञानात्परं श्रेय इति सर्वोपनिषदां निश्चितोऽर्थः । अनन्तरं चोक्तम् 'स सर्वज्ञः सर्वो भवति' इति । वक्तव्यं च क तर्हि तदक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं विज्ञेयमिति ; तदर्थोऽयं प्रश्न आरभ्यते । वृत्तान्वाख्यानं च विज्ञानस्य दुर्लभत्वज्ञापनेन तल्लब्ध्यर्थं मुमुक्षूणां यत्नविशेषोपादानार्थम् । हे भगवन्, हिरण्यनाभः नामतः कोसलायां भवः कौसल्यः राजपुत्रः जातितः क्षत्रियः माम् उपेत्य उपगम्य एतम् उच्यमानं प्रश्नम् अपृच्छत । षोडशकलं षोडशसंख्याकाः कला अवयवा इवात्मन्यविद्याध्यारोपितरूपा यस्मिन्पुरुषे, सोऽयं षोडशकलः ; तं षोडशकलं हे भारद्वाज, पुरुषं वेत्थ त्वं विजानासि । तम् अहं राजपुत्रं कुमारं पृष्ठवन्तम् अब्रवम् उक्तवानस्मि—नाहमिमं वेद यं त्वं पृच्छसीति । एवमुक्तवत्यपि मय्यज्ञानमसंभावयन्तं तमज्ञाने कारणमवादिषम्—यदि कथंचित् अहम् इमं त्वया पृष्टं पुरुषम् अवेदिषं विदितवानस्मि, कथम् अत्यन्तशिष्यगुणवतेऽर्थिने ते तुभ्यं न अवक्ष्यं नोक्तवानस्मि न ब्रूयामित्यर्थः । भूयोऽप्यप्रत्ययमेवालक्ष्य प्रत्याययितुमब्रवम्—समूलः सह मूलेन वै एषः अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा कुर्वन् यः अनृतम् अयथा-

भूतार्थम् अभिवदति, स परिशुष्यति शोषमुपैति इहलोकपर-  
लोकाभ्यां विच्छिद्यते विनश्यति । यत एवं जाने तस्मात् न  
अहामि अहम् अनृतं वक्तुं मूढवत् । स राजपुत्रः एवं प्रत्या-  
यितः तूष्णीं ब्रीडितः रथम् आरुह्य प्रवव्राज प्रगतवान् यथा-  
गतमेव । अतो न्यायत उपसन्नाय योग्याय जानता विद्या  
वक्तव्यैव ; अनृतं च न वक्तव्यं सर्वास्वप्यवस्थास्वित्येतत्सिद्धं  
भवति । तं पुरुषं त्वा त्वां पृच्छामि मम हृदि विज्ञेयत्वेन  
शल्यमिव स्थितम्, क असौ वर्तते विज्ञेयः पुरुष इति ॥

तस्मै स होवाचेहैवान्तःशरीरे सो-  
म्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः  
प्रभवन्तीति ॥ २ ॥

तस्मै स होवाच । इहैव अन्तःशरीरे हृदयपुण्डरीकाकाश-  
मध्ये हे सोम्य स पुरुषः, न देशान्तरे विज्ञेयः । यस्मिन् एताः  
उच्यमानाः षोडश कलाः प्राणाद्याः प्रभवन्ति उत्पद्यन्ते इति  
षोडशभिः कलाभिरुपाधिभूताभिः सकल इव निष्कलः पुरुषो  
लक्ष्यतेऽविद्ययेति ; तदुपाधिकलाध्यारोपापनयनेन विद्यया स  
पुरुषः केवलो दर्शयितव्य इति कलानां तत्प्रभवत्वमुच्यते  
प्राणादीनाम् । अत्यन्तनिर्विशेषे ह्यद्वये विशुद्धे तत्त्वे न शक्यो-

ऽध्यारोपमन्तरेण प्रतिपाद्यप्रतिपादनादिव्यवहारः कर्तुमिति कलानां प्रभवस्थित्यप्यया आरोप्यन्तेऽविद्याविषयाः । चैतन्याव्यतिरेकेणैव हि कला जायमानास्तिष्ठन्त्यः प्रलीयमानाश्च सर्वदालक्ष्यन्ते । अत एव भ्रान्ताः केचित्— अग्निसंयोगाद्धृतमिव घटाद्याकारेण चैतन्यमेव प्रतिश्रुणं जायते नश्यतीति । तन्निरोधे शून्यमेव सर्वमिति अपरे । घटादिविषयं चैतन्यं चेतयितुर्नित्यस्मात्मनोऽनित्यं जायते विनश्यतीत्यपरे । चैतन्यं भूतधर्म इति लौकायतिकाः । अनपायोपजनधर्मकचैतन्यमात्मैव नामरूपाद्युपाधिधर्मैः प्रत्यवभासते ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ ‘प्रज्ञानं ब्रह्म’ ‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ ‘विज्ञानघन एव’ इत्यादिश्रुतिभ्यः । स्वरूपव्यभिचारिषु पदार्थेषु चैतन्यस्याव्यभिचाराद्यथा यथा यो यः पदार्थो ज्ञायते, तथा तथा ज्ञायमानत्वादेव तस्य तस्य चैतन्यस्याव्यभिचारित्वम् । वस्तुतत्त्वं भवति किञ्चित्, न ज्ञायत इति चानुपपन्नम्; रूपं च दृश्यते, न चास्ति चक्षुरिति यथा । व्यभिचरति तु ज्ञेयम्; न ज्ञानं व्यभिचरति कदाचिदपि ज्ञेयम्, ज्ञेयाभावेऽपि ज्ञेयान्तरे भावाज्ज्ञानस्य । न हि ज्ञानेऽसति ज्ञेयं नाम भवति कस्यचित्; सुषुप्तेऽदर्शनात्— ज्ञानस्यापि सुषुप्तेऽभावाज्ज्ञेयवज्ज्ञानस्वरूपस्य व्यभिचार इति चेत्, न; ज्ञेयावभासकस्य ज्ञानस्यालोकव-

ज्ञेयाभिर्व्यक्त्यर्थत्वात्स्वव्यङ्ग्याभावे आलोकाभावानुपपत्ति-  
 वन् अप्रतीतेषु वस्तुषु सुषुप्ते विज्ञानाभावानुपपत्तेः । न ह्यन्ध-  
 कारे चक्षुषो रूपानुपलब्धौ चक्षुषोऽभावः शक्यः कल्पयितु-  
 मवैनाशिकेन । वैनाशिको ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावं कल्पयत्येवेति  
 चेत्, येन तदभावं कल्पयेत्तस्याभावः केन कल्प्यत इति  
 वक्तव्यं वैनाशिकेन ; तदभावस्यापि ज्ञेयत्वाज्ज्ञानाभावे तद-  
 नुपपत्तेः । ज्ञानस्य ज्ञेयाव्यतिरिक्तत्वाज्ज्ञेयाभावे ज्ञानाभाव  
 इति चेत्, न ; अभावस्यापि ज्ञेयत्वाभ्युपगमात्—अभावोऽपि  
 ज्ञेयोऽभ्युपगम्यते वैनाशिकैर्नित्यश्च । तदव्यतिरिक्तं चेज्ज्ञानं  
 नित्यं कल्पितं स्यात् । तदभावस्य च ज्ञानात्मकत्वादभावत्वं  
 च बाध्यात्रमेव ; न परमार्थतोऽभावत्वमनित्यत्वं च ज्ञानस्य ।  
 न च नित्यस्य ज्ञानस्याभावनाममात्राध्यारोपे किञ्चिन्नश्लि-  
 न्नम् । अथाभावो ज्ञेयोऽपि सन् ज्ञानव्यतिरिक्त इति चेत्, न  
 तर्हि ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावः । ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तम् ; न तु  
 ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तमिति चेत्, न ; शब्दमात्रत्वाद्विशेषानुप-  
 पत्तेः । ज्ञेयज्ञानयोरेकत्वं चेदभ्युपगम्यते, ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरि-  
 क्तम्, न ज्ञेयव्यतिरिक्तं ज्ञानम् इति तु शब्दमात्रमेव तत्—  
 वह्निरग्निव्यतिरिक्तः, अग्निर्न वह्निव्यतिरिक्त इति यद्वत्—  
 अभ्युपगम्यम् । ज्ञेयव्यतिरेके तु ज्ञानस्य ज्ञेयाभावे ज्ञानाभा-



वानुपपत्तिः सिद्धा । ज्ञेयाभावेऽदर्शनादभावो ज्ञानस्येति चेत्, न ; सुषुप्ते ज्ञप्त्यभ्युपगमात्— वैनाशिकैरभ्युपगम्यते हि सुषुप्तेऽपि विज्ञानास्तित्वम् । तत्रापि ज्ञेयत्वमभ्युपगम्यते ज्ञानस्य स्वेनैवेति चेत्, न ; भेदस्य सिद्धत्वात्— सिद्धं ह्यभावविज्ञेयविषयस्य ज्ञानस्याभावज्ञेयव्यतिरेकाज्ज्ञेयज्ञानयोरन्यत्वम् । न हि तत्सिद्धं मृतमिवोज्जीवयितुं पुनरन्यथा कर्तुं शक्यते वैनाशिकशतैरपि । ज्ञानस्य स्वाज्ञेयत्वे तदप्यन्येन तदप्यन्येनेति त्वत्पक्षेऽतिप्रसङ्ग इति चेत्, न ; तद्विभागोपपत्तेः सर्वस्य— यदा हि सर्वं ज्ञेयं कस्यचित्, तदा तद्व्यतिरिक्तं ज्ञानं ज्ञानमेवेति द्वितीयो विभाग एवाभ्युपगम्यतेऽवैनाशिकैः । न तृतीयस्तद्विषय इत्यनवस्थानुपपत्तिः । ज्ञानस्य स्वेनैवाविज्ञेयत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति चेत्, सोऽपि दोषस्तस्यैवास्तु ; किं तन्निवर्हणेनास्माकम् ? अनवस्थादोषश्च ज्ञानस्य ज्ञेयत्वाभ्युपगमात्— अवश्यं च वैनाशिकानां ज्ञानं ज्ञेयम् । स्वात्मना चाविज्ञेयत्वेनानवस्था अनिवार्या । समान एवायं दोष इति चेत्, न ; ज्ञानस्यैकत्वोपपत्तेः—सर्वदेशकालपुरुषाद्यवस्थास्वेकमेव ज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधिभेदात् सवित्रादिजलादिप्रतिबिम्बवदनेकधावभासत इति । नासौ दोषः । तथा चेहेदमुच्यते । ननु

श्रुतेरिहैवान्तःशरीरे परिच्छिन्नः कुण्डबदरवत्पुरुष इति, न ; प्राणादिकलाकारणत्वात्— न हि शरीरमात्रपरिच्छिन्नः प्राणश्रद्धादीनां कलानां कारणत्वं प्रतिपत्तुं शक्नुयात् । कलाकार्यत्वाच्च शरीरस्य— न हि पुरुषकार्याणां कलानां कार्यं सच्छरीरं कारणकारणं स्वस्य पुरुषं कुण्डबदरमिवाभ्यन्तरीकुर्यात् । बीजवृक्षादिवत्स्यादिति चेत्— यथा बीजकार्यं वृक्षस्तत्कार्यं च फलं स्वकारणकारणं बीजमभ्यन्तरीकरोत्याम्नादि, तद्वत्पुरुषमभ्यन्तरीकुर्याच्छरीरं स्वकारणकारणमपीति चेत्, न ; अन्यत्वात्सावयवत्वाच्च— दृष्टान्ते कारणाद्रीजाद्वृक्षफलसंवृत्तान्यन्यान्येव बीजानि ; दार्ष्टान्तिके तु स्वकारणकारणभूतः स एव पुरुषः शरीरेऽभ्यन्तरीकृतः श्रूयते । बीजवृक्षादीनां सावयवत्वाच्च स्यादाधाराधेयत्वम् ; निरवयवश्च पुरुषः, सावयवाश्च कलाः शरीरं च । एतेनाकाशस्यापि शरीराधारत्वमनुपपन्नम् ; किमुताकाशकारणस्य पुरुषस्य ? तस्मादसमानो दृष्टान्तः । किं दृष्टान्तेन ? वचनात्स्यादिति चेत्, न ; वचनस्याकारकत्वात्— न हि वचनं वस्तुनोऽन्यथाकरणे व्याप्रियते ; किं तर्हि, यथाभूतार्थावद्योतने । तस्मादन्तःशरीर इत्येतद्वचनम् ‘अण्डस्यान्तर्व्योमि’ इतिवद्ब्रष्टव्यम् । उपलब्धिनिमित्तत्वाच्च— दर्शनश्रवणमनन-

विज्ञानादिलिङ्गैरन्तःशरीरे परिच्छिन्न इव ह्युपलभ्यते पुरुष उपलभ्यते चात्र । अत उच्यते— अन्तःशरीरे सोम्य स पुरुष इति । न पुनराकाशकारणभूतः सन्कुण्डबदरवच्छरीर-परिच्छिन्न इति मनसापीच्छति वक्तुं मूढोऽपि ; किमुत प्रमाणभूता श्रुतिः ॥

स ईक्षांचक्रे कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥ ३ ॥

यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीत्युक्तः पुरुषविशेषणार्थः कलानां प्रभवः, स चान्यार्थोऽपि श्रुतः केन क्रमेण म्यादित्यत इदमुच्यते । चेतनपूर्विका च सृष्टिरित्येवमर्थं च । स पुरुषः षोडशकलः पृष्ठो यो भारद्वाजेन सः ईक्षांचक्रे ईक्षणं दर्शनं चक्रे—कृतवानित्यर्थः—सृष्टिफलक्रमादिविषयम् । कथमिति, उच्यते—कस्मिन् कर्तृविशेषे देहादुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि अहमेव ; कस्मिन्वा शरीरे प्रतिष्ठिते अहं प्रतिष्ठास्यामि प्रतिष्ठितः स्यामित्यर्थः । नन्वात्मा अकर्ता प्रधानं कर्तृ ; अतः पुरुषार्थं प्रयोजनमुररीकृत्य प्रधानं प्रवर्तते महदाद्याकारेण ; तत्रेदमनुपपन्नं पुरुषस्य स्वातन्त्र्येणैकापूर्वकं कर्तृत्वव-

चनम्, सत्त्वादिगुणसाम्ये प्रधाने प्रमाणोपपन्ने सृष्टिकर्तरि सति ईश्वरेच्छानुवर्तिषु वा परमाणुषु सत्सु आत्मनोऽप्येकत्वेन कर्तृत्वे साधनाभावादात्मन आत्मन्यनर्थकर्तृत्वानुपपत्तेश्च । न हि चेतनावान्बुद्धिपूर्वकारी आत्मनः अनर्थं कुर्यात् । तस्मात्पुरुषार्थेन प्रयोजनेनेक्षापूर्वकमिव नियतक्रमेण प्रवर्तमानेऽचेतनेऽपि प्रधाने चेतनवदुपचारोऽयं स ईक्षांचक्रे इत्यादिः ; यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये राजेति, तद्वत् । न ; आत्मनो भोक्तृत्ववत्कर्तृत्वोपपत्तेः—यथा सांख्यस्य चिन्मात्रस्यापरिणामिनोऽप्यात्मनो भोक्तृत्वम्, तद्वद्वेदवादिनामीक्षापूर्वकं जगत्कर्तृत्वमुपपन्नं श्रुतिप्रामाण्यात् । तत्त्वान्तरपरिणामादात्मनोऽनित्यत्वाशुद्धत्वानेकत्वनिमित्तं चिन्मात्रस्वरूपविक्रियातः पुरुषस्य स्वात्मन्येव भोक्तृत्वे चिन्मात्रस्वरूपविक्रिया न दोषाय । भवतां पुनर्वेदवादिनां सृष्टिकर्तृत्वे तत्त्वान्तरपरिणाम एवेत्यात्मनोऽनित्यत्वादिसर्वदोषप्रसङ्ग इति चेत्, न ; एकस्याप्यात्मनोऽविद्याविषयनामरूपोपाध्यनुपाधिकृतविशेषाभ्युपगमात् । अविद्याकृतनामरूपोपाधिनिमित्तो हि विशेषोऽभ्युपगम्यते आत्मनो बन्धमोक्षादिशास्त्रकृतसंव्यवहाराय । परमार्थतोऽनुपाधिकृतं च तत्त्वमेकमेवाद्वितीयमुपादेयं सर्वतार्किकबुद्ध्यनवगम्यं ह्यजमभयं शिवमिष्यते । न

तत्र कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा क्रियाकारकफलं वास्ति, अद्वैतत्वा-  
त्सर्वभावानाम् । सांख्यास्त्वविद्याध्वारोपितमेव पुरुषे क-  
र्तृत्वं क्रियाकारकं फलं चेति कल्पयित्वा आगमबाह्यत्वात्पु-  
नस्ततस्त्रस्यन्तः परमार्थत एव भोक्तृत्वं पुरुषस्येच्छन्ति ।  
तत्त्वान्तरं च प्रधानं पुरुषाद्बाह्यं परमार्थवस्तुभूतमेव कल्पय-  
न्तोऽन्यतार्किककृतबुद्धिविषयाः सन्तो विहन्यन्ते । तथेतरे  
तार्किकाः सांख्यैः ; इत्येवं परस्परविरुद्धार्थकल्पनात् आमिषा-  
र्थिन इव प्राणिनोऽन्योन्यविरुध्यमानार्थदर्शित्वात्परमार्थत-  
त्त्वाद्दूरमेवापकृष्यन्ते । अतस्तन्मतमनादृत्य वेदान्तार्थतत्त्वमे-  
कत्वदर्शनं प्रत्यादरवन्तो मुमुक्षवः स्युरिति तार्किकमतदोष-  
प्रदर्शनं किञ्चिदुच्यतेऽस्माभिः ; न तु तार्किकवत्तात्पर्येण ।  
तथैतदत्रोक्तम्— विवदत्स्वेव निक्षिप्य विरोधोद्भवकारणम् ।  
तैः संरक्षितसद्बुद्धिः सुखं निर्वाति वेदवित् ॥ किञ्च,  
भोक्तृत्वकर्तृत्वयोर्विक्रिययोर्विशेषानुपपत्तिः । का नामासौ  
कर्तृत्वाज्जात्यन्तरभूता भोक्तृत्वविशिष्टा विक्रिया, यतो  
भोक्तैव पुरुषः कल्प्यते न कर्ता ; प्रधानं तु कर्त्रेव न  
भोक्तृ इति । ननु उक्तं पुरुषश्चिन्मात्र एव ; स च स्वात्मस्थो  
विक्रियते भुञ्जानः, न तत्त्वान्तरपरिणामेन । प्रधानं तु त-  
त्त्वान्तरपरिणामेन विक्रियते ; अतो नैकमशुद्धमचेतनं चेत्या-

दिधर्मवत् । तद्विपरीतः पुरुषः । नासौ विशेषः, वाङ्मात्रत्वात् ।  
 प्राग्भोगोत्पत्तेः केवलचिन्मात्रस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वं नाम  
 विशेषो भोगोत्पत्तिकाले चेत् जायते, निवृत्ते च भोगे पुनस्त-  
 द्विशेषादपेतश्चिन्मात्र एव भवतीति चेत्; महदाद्याकारेण च  
 परिणम्य प्रधानं ततोऽपेत्य पुनः प्रधानस्वरूपेण व्यवतिष्ठत  
 इति अस्यां कल्पनायां न कश्चिद्विशेष इति वाङ्मात्रेण प्रधान-  
 पुरुषयोर्विशिष्टविक्रिया कल्प्यते । अथ भोगकालेऽपि चिन्मात्र  
 एव प्राग्वत्पुरुष इति चेत्, न तर्हि परमार्थतो भोगः पुरुषस्य ।  
 अथ भोगकाले चिन्मात्रस्य विक्रिया परमार्थैव, तेन भोगः  
 पुरुषस्येति चेत्, न; प्रधानस्यापि भोगकाले विक्रियावत्त्वाद्भो-  
 क्तृत्वप्रसङ्गः । चिन्मात्रस्यैव विक्रिया भोक्तृत्वमिति चेत्, औ-  
 ण्याद्यसाधारणधर्मवतामग्न्यादीनामभोक्तृत्वे हेत्वनुपपत्तिः ।  
 प्रधानपुरुषयोर्द्वयोर्युगपद्भोक्तृत्वमिति चेत्, न; प्रधानस्य पा-  
 राध्यानुपपत्तेः—न हि भोक्तोर्द्वयोरितरेतरगुणप्रधानभाव उप-  
 पद्यते प्रकाशयोरिवेतरप्रकाशने । भोगधर्मवति सत्त्वाङ्गिनि  
 चेतसि पुरुषस्य चैतन्यप्रतिबिम्बोदयादविक्रियस्य पुरुषस्य भो-  
 क्तृत्वमिति चेत्, न; पुरुषस्य विशेषाभावे भोक्तृत्वकल्पनान-  
 र्थक्यात् । भोगरूपश्चेदनर्थः पुरुषस्य नास्ति सदा निर्विशेष-  
 त्वात्पुरुषस्य, कस्यापनयनार्थं मोक्षसाधनं शास्त्रं प्रणीयते ? अ-

विद्याध्यारोपितानर्थापनयनाय शास्त्रप्रणयनमिति चेत्, पर-  
मार्थतः पुरुषो भोक्तैव, न कर्ता ; प्रधानं कर्त्तैव न भोक्तृ पर-  
मार्थसद्वस्त्वन्तरं पुरुषाच्च इतीयं कल्पना आगमबाह्या व्यर्था  
निर्हेतुका च इति नादर्तव्या मुमुक्षुभिः । एकत्वेऽपि शास्त्रप्र-  
णयनाद्यानर्थक्यमिति चेत्, न ; अभावान्—सत्सु हि शास्त्र-  
प्रणेत्रादिषु तत्फलार्थिषु च शास्त्रस्य प्रणयनमर्थवदनर्थकं वेति  
विकल्पना स्यात् । न ह्यात्मैकत्वे शास्त्रप्रणेत्रादयस्ततो भिन्नाः  
सन्ति ; तदभावे एवं विकल्पनैवानुपपन्ना । अभ्युपगते आत्मै-  
कत्वे प्रमाणार्थश्चाभ्युपगतो भवता यदात्मैकत्वमभ्युपगच्छ-  
ता । तदभ्युपगमे च विकल्पानुपपत्तिमाह शास्त्रम् ‘यत्र त्वस्य  
सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्’ इत्यादि ; शास्त्रप्रणयनाद्युप-  
पत्तिं चाह अन्यत्र परमार्थवस्तुस्वरूपादविद्याविषये ‘यत्र हि  
द्वैतमिव भवति’ इत्यादि विस्तरतो वाजसनेयके । अत्र च  
विभक्ते विद्याविद्ये परापरे इत्यादावेव शास्त्रस्य । अतो  
न तार्किकवादभट्टप्रवेशो वेदान्तराजप्रमाणबाहुगुप्ते इहात्मै-  
कत्वविषये इति । एतेनाविद्याकृतनामरूपाद्युपाधिकृतानेक-  
शक्तिसाधनकृतभेदवत्त्वाद्ब्रह्मणः सृष्ट्यादिकर्तृत्वे साधनाद्य-  
भावो दोषः प्रत्युक्तो वेदितव्यः, परैरुक्त आत्मानर्थकर्तृत्वा-  
दिदोषश्च । यस्तु दृष्टान्तो राज्ञः सर्वार्थकारिणि कर्तरि भृत्ये

उपचारो राजा कर्तेति, सोऽत्रानुपपन्नः ; 'स ईक्षांचक्रे' इति श्रुतेर्मुख्यार्थबाधनात्प्रमाणभूतायाः । तत्र हि गौणी कल्पना शब्दस्य, यत्र मुख्यार्थो न संभवति । इह त्वचेतनस्य मुक्त-  
बद्धपुरुषविशेषापेक्षया कर्तृकर्मदेशकालनिमित्तापेक्षया च बन्धमोक्षादिफलार्था नियता पुरुषं प्रति प्रवृत्तिर्नोपपद्यते ; यथोक्तसर्वज्ञेश्वरकर्तृत्वपक्षे तु उपपन्ना । ईश्वरेणैव सर्वाधि-  
कारी प्राणः पुरुषेण सृज्यते ॥

**स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धा खं वायु-  
ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः । अन्नम-  
न्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्मलोका लोकेषु  
च नाम च ॥ ४ ॥**

कथम् ? सः पुरुषः उक्तप्रकारेणेक्षित्वा सर्वप्राणं हिरण्य-  
गर्भाख्यं सर्वप्राणिकरणाधारमन्तरात्मानम् असृजत सृष्टवान् ।  
ततः प्राणात् श्रद्धां सर्वप्राणिनां शुभकर्मप्रवृत्तिहेतुभूताम् ; ततः  
कर्मफलोपभोगसाधनाधिष्ठानानि कारणभूतानि महाभूतानि  
असृजत—खं शब्दगुणकम्, वायुः स्वेन स्पर्शगुणेन शब्दगुणेन  
च विशिष्टो द्विगुणः, तथा ज्योतिः स्वेन रूपेण पूर्वगुणाभ्यां  
च विशिष्टं शब्दस्पर्शाभ्यां त्रिगुणम्, तथा आपो रसगुणेना-



साधारणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन च चतुर्गुणाः, तथा गन्धगुणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन च पञ्चगुणा पृथिवी, तथा तैरेव भूतैरारब्धम् इन्द्रियं द्विप्रकारं बुद्धयर्थं कर्मार्थं च दशसंख्याकम्, तस्य चेश्वरमन्तःस्थं संशयविकल्पादिलक्षणं मनः । एवं प्राणिनां कार्यं करणं च सृष्ट्वा तत्स्थित्यर्थं ब्रीहियवादिलक्षणम् अन्नम्, ततश्च अन्नात् अद्यमानात् वीर्यं सामर्थ्यं बलं सर्वकर्मप्रवृत्तिसाधनम्, तद्वीर्यवतां च प्राणिनां तपः विशुद्धिसाधनं संकीर्यमाणानाम्, मन्त्राः तपोविशुद्धान्तर्बहिःकरणेभ्यः कर्मसाधनभूता ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसः; ततः कर्म अग्निहोत्रादिलक्षणम्, ततो लोकाः कर्मणां फलम्, तेषु च लोकेषु सृष्टानां प्राणिनां नाम च देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादि । एवमेताः कलाः प्राणिनामविद्यादिदोषबीजापेक्षया सृष्टास्तैमिरिकदृष्टिसृष्टा इव द्विचन्द्रमशकमक्षिकाद्याः स्वप्रदृक्सृष्टा इव च सर्वपदार्थाः पुनस्तस्मिन्नेव पुरुषे प्रलीयन्ते हित्वा नामरूपादिविभागम् ॥

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्राय-  
णाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते  
तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते ।  
एवमेवास्य परिदृष्टुरिमाः षोडश कलाः

पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति  
भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रो-  
च्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष  
श्लोकः ॥ ५ ॥

कथम् ? सः दृष्टान्तः, यथा लोके इमा नद्यः स्यन्दमानाः  
स्रवन्त्यः समुद्रायणाः, समुद्र एव अयनं गतिरात्मभावो यासां  
ताः समुद्रायणाः, समुद्रं प्राप्य उपगम्य अस्तम् अदर्शनं नामरू-  
पतिरस्कारं गच्छन्ति ; तासां चास्तं गतानां भिद्येते विनश्ये-  
ते नामरूपे गङ्गा यमुनेत्यादिलक्षणे ; तदभेदेन समुद्र इत्येवं  
प्रोच्यते तद्वस्तूदकलक्षणम् ; एवं यथायं दृष्टान्तः उक्तलक्षण-  
स्य प्रकृतस्य अस्य पुरुषस्य परिद्रष्टुः परि समन्ताद्ब्रह्मदर्शनस्य  
कर्तुः स्वरूपभूतस्य । यथा अर्कः स्वात्मप्रकाशस्य कर्ता सर्वतः,  
तद्वत् इमाः षोडश प्राणाद्या उक्ताः कलाः पुरुषायणाः नदी-  
नामिव समुद्रः पुरुषोऽयनमात्मभावगमनं यासां कलानां ताः  
पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्य पुरुषात्मभावमुपगम्य तथैवास्तं ग-  
च्छन्ति । भिद्येते च आसां नामरूपे कलानां प्राणाद्याख्या रूपं  
च यथास्वम् । भेदे च नामरूपयोर्यदनष्टं तत्तत्त्वं पुरुषः इत्ये-  
वं प्रोच्यते ब्रह्मविद्भिः । य एवं विद्वान्गुरुणा प्रदर्शितकलाप्र-

लयमार्गः, स एषः विद्यया प्रविलापितास्वविद्याकामकर्मज-  
नितासु प्राणादिकलासु अकलः अविद्याकृतकलानिमित्तो हि  
मृत्युः; तदपगमेऽकलत्वादेव अमृतः भवति । तदेतस्मिन्नर्थे  
एषः श्लोकः ॥

अरा इव रथनाभौ

कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।

तं वेद्यं पुरुषं वेद

यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥

अरा इव रथचक्रपरिवारा इव रथनाभौ रथचक्रस्य नाभौ  
यथाप्रवेशिताः तदाश्रया भवन्ति यथा, तथेत्यर्थः । कलाः  
प्राणाद्याः यस्मिन् पुरुषे प्रतिष्ठिताः उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु,  
तं पुरुषं कलानामात्मभूतं वेद्यं वेदनीयं पूर्णत्वात्पुरुषं पुरि-  
शयनाद्वा वेद जानाति; यथा हे शिष्याः, मा वः युष्मान्  
मृत्युः परिव्यथाः मा परिव्यथयतु । न चेद्विज्ञायेत पुरुषो  
मृत्युनिमित्तां व्यथामापन्ना दुःखिन एव यूयं स्थ । अतस्त-  
न्माभूद्युष्माकमित्यभिप्रायः ॥

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद  
नातः परमस्तीति ॥ ७ ॥

तान् एवमनुशिष्य शिष्यान् तान् होवाच पिप्पलादः किल  
एतावदेव वेद्यं परं ब्रह्म वेद विजानाम्यहमेतत् । न अतः  
अस्मात् परम् अस्ति प्रकृष्टतरं वेदितव्यम् इत्येवमुक्तवान्  
शिष्याणामविदितशेषास्तित्वाशङ्कानिवृत्तये कृतार्थबुद्धिजन-  
नार्थं च ॥

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता यो-  
ऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति ।  
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥

इति षष्ठः प्रश्नः समाप्तः ॥

ततः ते शिष्या गुरुणानुशिष्टाः तं गुरुं कृतार्थाः सन्तो वि-  
द्यानिष्क्रयमन्यदपश्यन्तः किं कृतवन्त इत्युच्यते—अर्चयन्तः  
पूजयन्तः पादयोः पुष्पाञ्जलिप्रकिरणेन प्रणिपातेन च  
शिरसा । किमूचुरित्याह—त्वं हि नः अस्माकं पिता ब्रह्मश-  
रीरस्य विद्याया जनयितृत्वान्नित्यस्याजरामरणस्याभयस्य । यः  
त्वमेव अस्माकम् अविद्यायाः विपरीतज्ञानाज्जन्मजरामरणरो-  
गदुःखादिग्राहादपारादविद्यामहोदधेर्विद्याप्लवेन परम् अपुनरा-  
वृत्तिलक्षणं मोक्षाख्यं महोदधेरिव पारं तारयसि अस्मानित्यतः

पितृत्वं तवास्मान्प्रत्युपपन्नमितरस्मात् । इतरोऽपि हि पिता  
 शरीरमात्रं जनयति, तथापि स पूज्यतमो लोके ; किमु वक्त-  
 व्यमात्यन्तिकाभयदातुरित्यभिप्रायः । नमः परमऋषिभ्यः  
 ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यः । नमः परमऋषिभ्य इति द्विर्व-  
 चनमादरार्थम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगव-  
 त्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ  
 प्रश्नोपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥

ॐ

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम  
देवाः । भद्रं पश्येमाक्षभिर्य-  
जत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ-  
सस्तनूभिः । व्यशेम देव-  
हितं यदायुः ॥ स्वस्ति न  
इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्वस्ति नः  
पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति न-  
स्ताक्षर्योऽरिष्टनेमिः । स्वस्ति  
नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

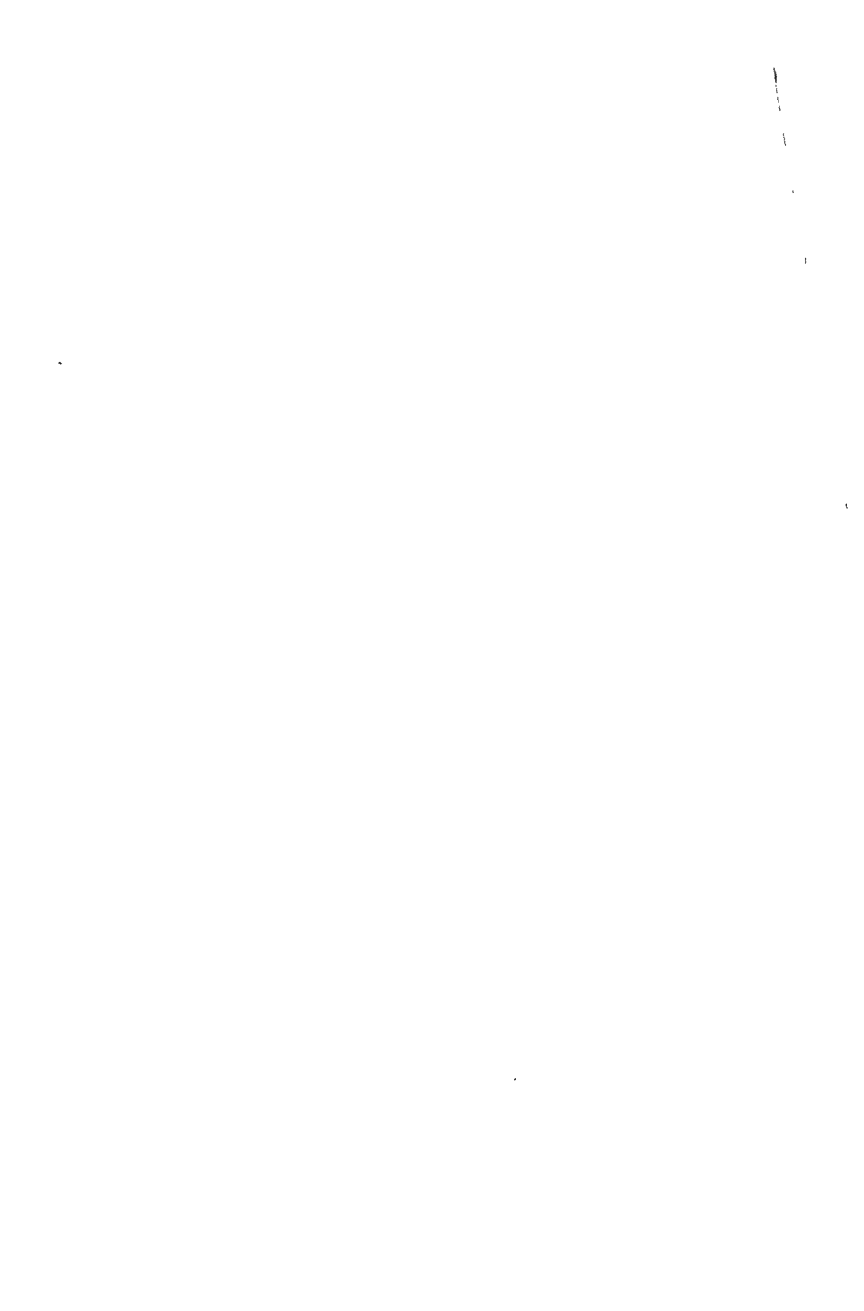


॥ ॐ ॥

# मुण्डकोपनिषद्भाष्यम्

श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादैः  
विरचितम् ।





ॐ

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम  
देवाः । भद्रं पश्येमाक्षभिर्य-  
जत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ-  
सस्तनूभिः । व्यशेम देव-  
हितं यदायुः ॥ स्वस्ति न  
इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्वस्ति नः  
पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति न-  
स्ताक्षर्योऽरिष्टनेमिः । स्वस्ति  
नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



# मुण्डकोपनिषद्भाष्यम्

प्रथमं मुण्डकम्





# ॥ मुण्डकोपनिषत् ॥

श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितेन  
भाष्येण सहिता ॥

—\*—



ह्या देवानाम्' इत्याद्याथर्वणोपनिषत् ।

अस्याश्च विद्यासंप्रदायकर्तृपारम्पर्यल-  
क्षणं संबन्धमादावेवाह स्वयमेव स्तु-  
त्यर्थम्— एवं हि महद्भिः परमपुरु-  
षार्थसाधनत्वेन गुरुणायासेन लब्धा  
विद्येति । श्रोतृबुद्धिप्ररोचनाय विद्यां

महीकरोति, स्तुत्या प्ररोचितायां हि विद्यायां सादराः

प्रवर्तेरन्निति । प्रयोजनेन तु विद्यायाः साध्यसाधनलक्षणं संबन्धमुत्तरत्र वक्ष्यति 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादिना । अत्र चापरशब्दवाच्याया ऋग्वेदादिलक्षणाया विधिप्रतिषेधमात्रपराया विद्यायाः संसारकारणाविद्यादिदोषनिवर्तकत्वं नास्तीति स्वयमेवोक्त्वा परापरेति विद्याभेदकरणपूर्वकम् 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः' इत्यादिना, तथा परप्राप्तिसाधनं सर्वसाधनसाध्यविषयवैराग्यपूर्वकं गुरुप्रसादलभ्यां ब्रह्मविद्यामाह 'परीक्ष्य लोकान्' इत्यादिना । प्रयोजनं चासकृद्ब्रवीति 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति 'परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे' इति च । ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाश्रमिणामधिकारः, तथापि संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनं न कर्मसहितेति 'भैक्षचर्या चरन्तः' 'संन्यासयोगात्' इति च ब्रुवन्दर्शयति । विद्याकर्मविरोधाच्च । न हि ब्रह्मात्मैकत्वदर्शनेन सह कर्म स्वप्नेऽपि संपादयितुं शक्यम्; विद्यायाः कालविशेषाभावादनियतनिमित्तत्वाच्च कालसंकोचानुपपत्तेः । यत्तु गृहस्थेषु ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृत्वादि लिङ्गं न तत्स्थितं न्यायं बाधितुमुत्सहते; न हि विधिशतेनापि तमःप्रकाशयोरेकत्र सद्भावः शक्यते कर्तुम्, किमुत लिङ्गैः केवलैरिति । एवमुक्तसंबन्धप्रयोजनाया उप-

निप्रदोऽल्पग्रन्थं विवरणमारभ्यते । य इमां ब्रह्मविद्यामुप-  
यन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तः, तेषां गर्भजन्म-  
जरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्या-  
दिसंसारकारणं वा अत्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युप-  
निषत् ; उपनिपूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात् ॥

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव  
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।  
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-  
मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥

ब्रह्मा परिवृढो महान् धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः सर्वानन्या-  
तिशेत् इति ; देवानां द्योतनवतामिन्द्रादीनां प्रथमः गुणैः  
प्रधानः सन्, प्रथमः अग्रे वा संबभूव अभिव्यक्तः सम्यक्  
स्वातन्त्र्येणेत्यभिप्रायः । न तथा यथा धर्माधर्मवशात्संसारि-  
णोऽन्ये जायन्ते, 'योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः' इत्यादिस्मृतेः ।  
विश्वस्य सर्वस्य जगतः कर्ता उत्पादयिता, भुवनस्य उत्पन्नस्य  
गोप्ता पालयितेति विशेषणं ब्रह्मणो विद्यास्तुतये । सः एवं  
प्रख्यातमहत्त्वो ब्रह्मा ब्रह्मविद्यां ब्रह्मणः परमात्मनो विद्यां  
ब्रह्मविद्याम्, 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्' इति विशेषणात् ।



परमात्मविषया हि सा । ब्रह्मणा वाप्रजेनोक्तेति ब्रह्मविद्या ।  
 तां ब्रह्मविद्याम्, सर्वविद्याप्रतिष्ठां सर्वविद्याभिव्यक्तिहेतुत्वा-  
 त्सर्वविद्याश्रयामित्यर्थः ; सर्वविद्यावेद्यं वा वस्त्वनयैव ज्ञायत  
 इति, 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमृतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्'  
 इति श्रुतेः । सर्वविद्याप्रतिष्ठामिति च स्तौति विद्याम् ।  
 अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय ज्येष्ठश्चासौ पुत्रश्च, अनेकेषु ब्रह्मणः  
 सृष्टिप्रकारेष्वन्यतमस्य सृष्टिप्रकारस्य प्रमुखे पूर्वम् अथर्वा  
 सृष्ट इति ज्येष्ठः ; तस्मै ज्येष्ठपुत्राय प्राह प्रोक्तवान् ॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा-

थर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।

स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह

भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

याम् एताम् अथर्वणे प्रवदेत प्रावदब्रह्मविद्यां ब्रह्मा,  
 तामेव ब्रह्मणः प्राप्ताम् अथर्वा पुरा पूर्वम् ; उवाच उक्तवान्  
 अङ्गिरे अङ्गीर्नाम्ने ब्रह्मविद्याम् । स चाङ्गीः भारद्वाजाय  
 भरद्वाजगोत्राय सत्यवहाय सत्यवहनाम्ने प्राह प्रोक्तवान् ।  
 भारद्वाजः अङ्गिरसे स्वशिष्याय पुत्राय वा परावरां पर-  
 स्मात्परस्मादवरेणावरेण प्राप्तेति परावरा परावरसर्वविद्या-

विषयव्याप्तेर्वा, तां परावरामङ्गिरसे प्राहेत्यनुषङ्गः ॥

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं वि-  
धिवदुपसन्नः पप्रच्छ कस्मिन्नु भगवो वि-  
ज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥

शौनकः शुनकस्यापत्यं महाशालः महागृहस्थः अङ्गिरसं  
भारद्वाजशिष्यमाचार्यं विधिवत् यथाशास्त्रमित्येतत् ; उपसन्नः  
उपगतः सन् पप्रच्छ पृष्टवान् । शौनकाङ्गिरसोः संबन्धादर्वा-  
ग्विधिवद्विशेषणाभावादुपसदनविधेः पूर्वेषामनियम इति गम्य-  
ते । मर्यादाकरणार्थं विशेषणम् । मध्यदीपिकान्यायार्थं वा वि-  
शेषणम्, अस्मदादिष्वप्युपसदनविधेरिष्टत्वात् । किमित्याह—  
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते, नु इति वितर्के, भगवः हे भगवन्,  
सर्वं यदिदं विज्ञेयं विज्ञातं विशेषेण ज्ञातमवगतं भवतीति  
'एकस्मिन्विज्ञाते सर्वविद्भवति' इति शिष्टप्रवादं श्रुतवाञ्छौ-  
नकः तद्विशेषं विज्ञातुकामः सन्कस्मिन्निति वितर्कयन्पप्रच्छ ।  
अथवा, लोकसामान्यदृष्ट्या ज्ञातवैव पप्रच्छ । सन्ति हि लोके  
सुवर्णादिशकलभेदाः सुवर्णत्वाद्येकत्वविज्ञानेन विज्ञायमाना  
लौकिकैः ; तथा किं न्वस्ति सर्वस्य जगद्वेदस्यैकं कारणम्,  
यत्रैकस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीति । नन्वविदिते हि

कस्मिन्निति प्रश्नोऽनुपपन्नः ; किमस्ति तदिति तदा प्रश्नो  
युक्तः ; सिद्धे ह्यस्तित्वे कस्मिन्निति स्यात्, यथा कस्मिन्निधेय-  
मिति । न ; अक्षरबाहुल्यादायासभीरुत्वात्प्रश्नः संभवत्येव—  
किं न्वस्ति तद्यस्मिन्नेकस्मिन्निज्ञाते सर्ववित्स्यादिति ॥

तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये  
इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चै-  
वापरा च ॥ ४ ॥

तस्मै शौनकाय सः अङ्गिराः ह किल उवाच उक्तवान् ।  
किमिति, उच्यते—द्वे विद्ये वेदितव्ये ज्ञातव्ये इति । एवं ह  
स्म किल यत् ब्रह्मविदः वेदार्थाभिज्ञाः परमार्थदर्शिनः वद-  
न्ति । के ते इत्याह— परा च परमात्मविद्या, अपरा च  
धर्माधर्मसाधनतत्फलविषया । ननु कस्मिन्निवदिते सर्वविद्भव-  
तीति शौनकेन पृष्टम् ; तस्मिन्वक्तव्येऽपृष्टमाहाङ्गिराः— द्वे  
विद्ये इत्यादि । नैष दोषः, क्रमापेक्षत्वात्प्रतिवचनस्य । अपरा  
हि विद्या अविद्या ; सा निराकर्तव्या तद्विषये हि अविदिते  
न किञ्चित्तत्त्वतो विदितं स्यादिति ; ‘ निराकृत्य हि पूर्वपक्षं  
पश्चात्सिद्धान्तो वक्तव्यो भवति ’ इति न्यायात् ॥

तन्नापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो-

ऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं  
छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया  
तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥

तत्र का अपरेत्युच्यते— ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथ-  
र्ववेदः इत्येते चत्वारो वेदाः । शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं  
छन्दो ज्योतिषम् इत्यङ्गानि षट् ; एषा अपरा विद्योक्ता । अथ  
इदानीम् इयं परा विद्योच्यते यया तत् वक्ष्यमाणविशेषणम्  
अक्षरम् अधिगम्यते प्राप्यते, अधिपूर्वस्य गमेः प्रायशः  
प्राप्त्यर्थत्वात् ; न च परप्राप्तेरवगमार्थस्य च भेदोऽस्ति ;  
अविद्याया अपाय एव हि परप्राप्तिर्नार्थान्तरम् । ननु ऋग्वे-  
दादिबाह्या तर्हि सा कथं परा विद्या स्यात् मोक्षसाधनं च ।  
'या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः.....' इति हि  
स्मरन्ति । कुदृष्टित्वान्निष्फलत्वाद्नादेया स्यात् ; उपनिषदां  
च ऋग्वेदादिबाह्यत्वं स्यात् । ऋग्वेदादित्वे तु पृथक्करणम-  
नर्थकम् अथ परेति । न, वेद्यविषयविज्ञानस्य विवक्षित-  
त्वात् । उपनिषद्वेद्याक्षरविषयं हि विज्ञानमिह परा विद्येति  
प्राधान्येन विवक्षितम्, नोपनिषच्छब्दराशिः । वेदशब्देन  
तु सर्वत्र शब्दराशिर्विवक्षितः । शब्दराश्यधिगमेऽपि यन्ना-

न्तरमन्तरेण गुर्वभिगमनादिलक्षणं वैराग्यं च नाक्षराधि-  
गमः संभवतीति पृथक्करणं ब्रह्मविद्याया अथ परा विद्येति ॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्ण-

मचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं

तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

यथा विधिविषये कर्त्तव्येनेककारकोपसंहारद्वारेण वाक्या-  
र्थज्ञानकालादन्यत्रानुष्ठेयोऽर्थोऽस्त्यग्निहोत्रादिलक्षणः, न त-  
थेह परविद्याविषये वाक्यार्थज्ञानसमकाल एव तु पर्यवसितो  
भवति, केवलशब्दप्रकाशितार्थज्ञानमात्रनिष्ठाव्यतिरिक्ताभा-  
वात् । तस्मादिह परां विद्यां सविशेषणेनाक्षरेण विशि-  
नष्टि— यत्तदद्रेश्यमित्यादिना । वक्ष्यमाणं बुद्धौ संहृत्य  
सिद्धवत्परामृशति— यत्तदिति । अद्रेश्यम् अदृश्यं सर्वेषां  
बुद्धीन्द्रियाणामगम्यमित्येतत् । दृशेर्बहिःप्रवृत्तस्य पञ्चे-  
न्द्रियद्वारकत्वात् । अग्राह्यं कर्मेन्द्रियाविषयमित्येतत् । अगो-  
त्रम्, गोत्रमन्वयो मूलमित्यनर्थान्तरम् । अगोत्रम् अनन्वय-  
मित्यर्थः । न हि तस्य मूलमस्ति येनान्वितं स्यात् । वर्ण्यन्त  
इति वर्णा द्रव्यधर्माः स्थूलत्वादयः शुक्लत्वादयो वा । अवि-

द्यमाना वर्णा यस्य तत् अवर्णम् अक्षरम् । अचक्षुःश्रोत्रं चक्षुश्च श्रोत्रं च नामरूपविषये करणे सर्वजन्तूनाम्, ते अविद्यमाने यस्य तदचक्षुःश्रोत्रम् । ‘यः सर्वज्ञः सर्ववित्’ इति चेतनावत्त्वविशेषणात्प्राप्तं संसारिणामिव चक्षुःश्रोत्रादिभिः करणैरर्थसाधकत्वम्; तदिह अचक्षुःश्रोत्रमिति वार्यते, ‘पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः’ इत्यादिदर्शनात् । किंच, तत् अपाणिपादं कर्मेन्द्रियरहितमित्येतत् । यत एवम् अग्राह्यमग्राहकं च अतो नित्यमविनाशि । विभुं विविधं ब्रह्मादिस्थावरान्तप्राणिभेदैर्भवतीति विभुम् । सर्वगतं व्यापकमाकाशवत्सुसूक्ष्मम् । शब्दादिस्थूलत्वकारणरहितत्वात् । शब्दादयो ह्याकाशवाय्वादीनामुत्तरोत्तरस्थूलत्वकारणानि; तदभावात्सुसूक्ष्मम्, किंच, तत् अव्ययम् उक्तधर्मत्वादेव न व्येतीत्यव्ययम् । न ह्यनङ्गस्य स्वाङ्गापचयलक्षणो व्ययः संभवति शरीरस्येव । नापि कोशापचयलक्षणो व्ययः संभवति राज्ञ इव । नापि गुणद्वारको व्ययः संभवति, अगुणत्वात्सर्वात्मकत्वाच्च । यत् एवंलक्षणं भूतयोनिं भूतानां कारणं पृथिवीव स्थावरजङ्गमानां परिपश्यन्ति सर्वत आत्मभूतं सर्वस्य अक्षरं पश्यन्ति धीराः धीमन्तो विवेकिनः । ईदृशमक्षरं यया विद्यया अधिगम्यते सा परा विद्येति समुदायार्थः ॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च

यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।

यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि

तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥

भूतयोनिरक्षरमित्युक्तम् । तत्कथं भूतयोनित्वमित्युच्यते  
दृष्टान्तैः— यथा लोके प्रसिद्धः ऊर्णनाभिः लूताकीटः  
किञ्चित्कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव सृजते स्वशरीराव्यति-  
रिक्तानेव तन्तून्बहिः प्रसारयति पुनस्तानेव गृह्णते च गृह्णा-  
ति स्वात्मभावमेवापादयति ; यथा च पृथिव्याम् ओषधयः,  
व्रीह्यादिस्थावराणीत्यर्थः, स्वात्माव्यतिरिक्ता एव प्रभवन्ति  
संभवन्ति ; यथा च सतः विद्यमानाज्जीवतः पुरुषात् केश-  
लोमानि केशाश्च लोमानि च संभवन्ति विलक्षणानि । यथै-  
ते दृष्टान्ताः, तथा विलक्षणं सलक्षणं च निमित्तान्तरानपे-  
क्षाद्यथोक्तलक्षणात् अक्षरात् संभवति समुत्पद्यते इह संसा-  
रमण्डले विश्वं समस्तं जगत् । अनेकदृष्टान्तोपादानं तु सु-  
खावबोधनार्थम् ॥

तपसा चीयते ब्रह्म

ततोऽन्नमभिजायते ।

अन्नात्प्राणो मनः सत्यं

लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ ८ ॥

यद्ब्रह्मण उत्पद्यमानं विश्वं तदनेन क्रमेणोत्पद्यते, न युग-  
पद्ब्रह्ममुष्टिप्रक्षेपवदिति क्रमनियमविवक्षाार्थोऽयं मन्त्र आ-  
रभ्यते— तपसा ज्ञानेन उत्पत्तिविधिज्ञतया भूतयोन्यक्षरं  
ब्रह्म चीयते उपचीयते उत्पादयिष्यदिदं जगत् अङ्कुरमिव  
बीजमुच्छूनतां गच्छति पुत्रमिव पिता हर्षेण । एवं सर्वज्ञ-  
तया सृष्टिस्थितिसंहारशक्तिविज्ञानवत्तयोपचितात् ततः ब्रह्म-  
णः अन्नम् अद्यते भुज्यत इत्यन्नमव्याकृतं साधारणं कारणं  
संसारिणां व्याचिकीर्षितावस्थारूपेण अभिजायते उत्पद्यते ।  
ततश्च अव्याकृताव्याचिकीर्षितावस्थात् अन्नात् प्राणः हिरण्य-  
गर्भो ब्रह्मणो ज्ञानक्रियाशक्त्यधिष्ठितो जगत्साधारणोऽविद्या-  
कामकर्मभूतसमुदायबीजाङ्कुरो जगदात्मा अभिजायत इत्यनु-  
षङ्गः । तस्माच्च प्राणात् मनः मनआख्यं संकल्पविकल्पसंशय-  
निर्णयाद्यात्मकमभिजायते । ततोऽपि संकल्पाद्यात्मकान्मनसः  
सत्यं सत्याख्यमाकाशादिभूतपञ्चकमभिजायते । तस्मात्स-  
त्याख्याद्भूतपञ्चकादण्डक्रमेण सप्त लोकाः भूरादयः । तेषु म-  
नुष्यादिप्राणिवर्णाश्रमक्रमेण कर्माणि । कर्मसु च निमित्तभू-  
तेषु अमृतं कर्मजं फलम् । यावत्कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि



न विनश्यन्ति, तावत्फलं न विनश्यतीत्यमृतम् ॥

यः सर्वज्ञः सर्ववि-

द्यस्य ज्ञानमयं तपः ।

तस्मादेतद्ब्रह्म नाम

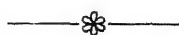
रूपमन्नं च जायते ॥ ९ ॥

इति प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः ॥

उक्तमेवार्थमुपसंजिहीर्षुर्मन्त्रो वक्ष्यमाणार्थमाह—यः उ-  
क्तलक्षणोऽक्षराख्यः सर्वज्ञः सामान्येन सर्वं जानातीति स-  
र्वज्ञः । विशेषेण सर्वं वेत्तीति सर्ववित् । यस्य ज्ञानमयं ज्ञान-  
विकारमेव सार्वज्ञ्यलक्षणं तपः अनायासलक्षणम्, तस्मात् य-  
थोक्तात्सर्वज्ञात् एतत् उक्तं कार्यलक्षणं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं  
जायते । किंच, नाम असौ देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादिलक्षणम्,  
रूपम् इदं शुक्लं नीलमित्यादि, अन्नं च ब्रीहियवादिलक्षणम्,  
जायते पूर्वमन्त्रोक्तक्रमेणेत्यविरोधो द्रष्टव्यः ॥

इति प्रथममुण्डके प्रथमखण्डभाष्यम् ॥

## द्वितीयः खण्डः ॥



तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यं-  
स्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि ।

तान्याचरथ नियतं सत्यकामा

एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ १ ॥

साङ्गा वेदा अपरा विद्योक्ता ‘ऋग्वेदो यजुर्वेदः’ इत्या-  
दिना । ‘यत्तदद्रेश्यम्’ इत्यादिना ‘नामरूपमन्नं च जायते’  
इत्यन्तेन ग्रन्थेनोक्तलक्षणमक्षरं यथा विद्ययाधिगम्यत इति  
सा परा विद्या सविशेषणोक्ता । अतः परमनयोर्विद्ययोर्विषयौ  
विवेक्तव्यौ संसारमोक्षावित्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते । तत्राप-  
रविद्याविषयः कर्त्तादिसाधनक्रियाफलभेदरूपः संसारोऽना-  
दिरनन्तो दुःखस्वरूपत्वाद्वातव्यः प्रत्येकं शरीरिभिः साम-  
स्येन नदीस्रोतोवदविच्छेदरूपसंबन्धः तदुपशमलक्षणो मोक्षः  
परविद्याविषयोऽनाद्यनन्तोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः शुद्धः प्र-  
सन्नः स्वात्मप्रतिष्ठाालक्षणः परमानन्दोऽद्वय इति । पूर्वं ताव-  
दपरविद्याया विषयप्रदर्शनार्थमारम्भः । तद्दर्शने हि तन्निर्वे-  
दोपपत्तिः । तथा च वक्ष्यति—‘परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्’

इत्यादिना । न ह्यप्रदर्शिते परीक्षोपपद्यत इति तत्प्रदर्शय-  
 आह— तदेतन् सत्यम् अवितथम् । किं तन् ? मन्त्रेषु  
 ऋग्वेदाद्याख्येषु कर्माणि अग्निहोत्रादीनि मन्त्रैरेव प्रकाशि-  
 तानि कवयः मेधाविनो वसिष्ठादयः यानि अपश्यन् दृष्टव-  
 न्तः । यत्तदेतत्सत्यमेकान्तपुरुषार्थसाधनत्वात् , तानि च वेद-  
 विहितानि ऋषिदृष्टानि कर्माणि त्रेतायां त्रयीसंयोगलक्षणायां  
 हौत्राध्वर्यवौद्रात्रप्रकारायामधिकरणभूतायां बहुधा बहुप्रकारं  
 संततानि संप्रवृत्तानि कर्मिभिः क्रियमाणानि त्रेतायां वा युगे  
 प्रायशः प्रवृत्तानि ; अतो यूयं तानि आचरथ निर्वर्तयत निय-  
 तं नित्यं सत्यकामा यथाभूतकर्मफलकामाः सन्तः । एषः वः  
 युष्माकं पन्थाः मार्गः सुकृतस्य स्वयं निर्वर्तितस्य कर्मणः लोके  
 फलनिमित्तं लोक्यते दृश्यते भुज्यत इति कर्मफलं लोक उच्य-  
 ते । तदर्थं तत्प्राप्तये एष मार्ग इत्यर्थः । यान्येतान्यग्निहोत्रादीनि  
 त्रय्यां विहितानि कर्माणि, तान्येष पन्था अवश्यफलप्राप्ति-  
 साधनमित्यर्थः ॥

यदा लेलायते ह्यर्चिः

समिद्धे हव्यवाहने ।

तदाज्यभागावन्तरे-

णाहुतीः प्रतिपादयेत् ॥ २ ॥

तत्राग्निहोत्रमेव तावत्प्रथमं प्रदर्शनार्थमुच्यते, सर्वक-  
र्मणां प्राथम्यात् । तत्कथम् ? यदैव इन्धनैरभ्याहितैः सम्य-  
गिद्धे समिद्धे दीप्ते हव्यवाहने लेलायते चलति अर्चिः ;  
तदा तस्मिन्काले लेलायमाने चलत्यर्चिषि आज्यभागौ  
आज्यभागयोः अन्तरेण मध्ये आवापस्थाने आहुतीः प्रति-  
पादयेत् प्रक्षिपेत् देवतामुद्दिश्य । अनेकाहः प्रयोगापेक्षया आ-  
हुतीरिति बहुवचनम् । एष सम्यगाहुतिप्रक्षेपादिलक्षणः कर्म-  
मार्गो लोकप्राप्तये पन्थाः । तस्य च सम्यकरणं दुष्करम् ;  
विपत्तयस्त्वनेका भवन्ति ॥

**यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमास-**

**मचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।**

**अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत-**

**माससप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥ ३ ॥**

कथम् ? यस्य अग्निहोत्रिणः अग्निहोत्रम् अदर्श दर्श-  
ख्येन कर्मणा वर्जितम् । अग्निहोत्रिभिरवश्यकर्तव्यत्वाद-  
र्शस्य । अग्निहोत्रिसंबन्ध्यग्निहोत्रविशेषणमिव भवति । तद-  
क्रियमाणमित्येतत् । तथा अपौर्णमासम् इत्यादिष्वप्यग्नि-  
होत्रविशेषणत्वं द्रष्टव्यम् । अग्निहोत्राङ्गत्वस्याविशिष्टत्वात् ।  
अपौर्णमासं पौर्णमासकर्मवर्जितम् । अचातुर्मास्यं चातुर्मा-

स्यकर्मवर्जितम् । अनाग्रयणम् आग्रयणं शरदादिषु कर्तव्यम् ,  
 तच्च न क्रियते यस्य तत्तथा । अतिथिवर्जितं च अतिथिपूजनं  
 चाहन्यहन्यक्रियमाणं यस्य । स्वयं सम्यग्भिहोत्रकाले अहुतम् ।  
 अदर्शादिवत् अवैश्वदेवं वैश्वदेवकर्मवर्जितम् । हूयमानमप्यवि-  
 धिना हुतम् अयथाहुतमित्येतत् । एवं दुःसंपादितमसंपादितम-  
 भिहोत्राद्युपलक्षितं कर्म किं करोतीत्युच्यते— आसप्तमान्  
 सप्तमसहितान् तस्य कर्तुर्लोकान् हिनस्ति हिनस्तीव आयास-  
 मात्रफलत्वात् । सम्यक् क्रियमाणेषु हि कर्मसु कर्मपरिणा-  
 मानुरूप्येण भूरादयः सत्यान्ताः सप्त लोकाः फलं प्राप्तव्यम् ।  
 ते लोकाः एवंभूतेनाभिहोत्रादिकर्मणा त्वप्राप्यत्वाद्विंस्यन्त इव,  
 आयासमात्रं त्वव्यभिचारीत्यतो हिनस्तीत्युच्यते । पिण्डदाना-  
 यनुग्रहेण वा संबध्यमानाः पितृपितामहप्रपितामहाः पुत्रपौ-  
 त्रप्रपौत्राः स्वात्मोपकाराः सप्त लोका उक्तप्रकारेणाभिहोत्रा-  
 दिना न भवन्तीति हिंस्यन्त इत्युच्यते ॥

काली कराली च मनोजवा च

सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।

स्फुलिङ्गिनी विश्वरूची च देवी

लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ ४ ॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधू-

म्रवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना दह-  
नस्य जिह्वाः । काल्याद्या विश्वरुच्यन्ता लेलायमानाः अग्ने-  
हविराहुतिप्रसनार्था एताः किल सप्त जिह्वाः ॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु

यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।

तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो

यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ ५ ॥

एतेषु अग्निजिह्वाभेदेषु यः अग्निहोत्री चरते कर्माचर-  
त्यग्निहोत्रादिकं भ्राजमानेषु दीप्यमानेषु । यथाकालं च  
यस्य कर्मणो यः कालस्तं कालमनतिक्रम्य यथाकालं यज-  
मानम् आददायन् आददाना आहुतयः तं नयन्ति प्रापयन्ति ।  
एताः आहुतयो या इमा अनेन निर्वर्तिताः सूर्यस्य रश्मयः  
भूत्वा, रश्मिद्वारैरित्यर्थः । यत्र यस्मिन्स्वर्गे देवानां पतिः  
इन्द्रः एकः सर्वानुपरि अधि वसतीति अधिवासः ॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः

सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।

प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य

एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥

कथं सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्तीत्युच्यते—एहि एहि  
इति आह्वयन्त्यः तं यजमानम् आहुतयः सुवर्चसः दीप्तिमत्यः;  
किंच, प्रियाम् इष्टां वाचं स्तुत्यादिलक्षणाम् अभिवदन्त्यः  
उच्चारयन्त्यः अर्चयन्त्यः पूजयन्त्यश्च एषः वः युष्माकं पुण्यः  
मुकृतः ब्रह्मलोकः फलरूपः, इत्थं प्रियां वाचम् अभिवद-  
न्त्यो वहन्तीत्यर्थः । ब्रह्मलोकः स्वर्गः प्रकरणात् ॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा

अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा

जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ ७ ॥

एतच्च ज्ञानरहितं कर्मैतावत्फलमविद्याकामकर्मकार्यम् अ-  
तोऽसारं दुःखमूलमिति निन्द्यते—प्लवाः विनाशिन इत्यर्थः ।  
हि यस्मात् एते अदृढाः अस्थिराः यज्ञरूपाः यज्ञस्य रूपा-  
णि यज्ञरूपाः यज्ञनिर्वर्तकाः अष्टादश अष्टादशसंख्याकाः  
षोडशत्विजः पत्नी यजमानश्चेत्यष्टादश । एतदाश्रयं कर्म उक्तं  
कथितं शास्त्रेण येषु अष्टादशसु अवरं केवलं ज्ञानवर्जितं कर्म ।  
अतस्तेषामवरकर्मश्रयाणामष्टादशानामदृढतया प्लवत्वात्प्लवते  
सह फलेन तत्साध्यं कर्म; कुण्डविनाशादिव क्षीरदध्यादी-  
नां तत्स्थानां नाशः; यत एवम् एतत् कर्म श्रेयः श्रेयःसाधन-

मिति ये अभिनन्दन्ति अभिहृष्यन्ति अविवेकिनः मूढाः, अतः  
ते जरां च मृत्युं च जरामृत्युं कंचित्कालं स्वर्गे स्थित्वा पुन-  
रेव अपि यन्ति भूयोऽपि गच्छन्ति ॥

**अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः**

**स्वयं धीराः पण्डितमन्यमानाः ।**

**जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा**

**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ८ ॥**

किंच, अविद्यायाम् अन्तरे मध्ये वर्तमानाः अविवेकप्रा-  
याः स्वयं वयमेव धीराः धीमन्तः पण्डिता विदितवेदितव्या-  
श्चेति मन्यमाना आत्मानं संभावयन्तः, ते च जङ्घन्यमानाः  
जरारोगाद्यनेकानर्थव्रातैर्हन्यमाना भृशं पीड्यमानाः परियन्ति  
विभ्रमन्ति मूढाः । दर्शनवर्जितत्वात् अन्धेनैव अचक्षुष्केणैव  
नीयमानाः प्रदर्श्यमानमार्गाः; यथा लोके अन्धाः चक्षूरहिता  
गर्तकण्टकादौ पतन्ति, तद्वत् ॥

**अविद्यायां बहुधा वर्तमाना**

**वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।**

**यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागा-**

**त्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ९ ॥**

किंच, अविद्यायां बहुधा बहुप्रकारं वर्तमानाः वयमेव



कृतार्थाः कृतप्रयोजनाः इति एवम् अभिमन्यन्ति अभिमन्यन्ते अभिमानं कुर्वन्ति बालाः अज्ञानिनः । यत् यस्मादेवं कर्मिणः न प्रवेदयन्ति तत्त्वं न जानन्ति रागात् कर्मफलरागाभिभवनिमित्तम्, तेन कारणेन आतुराः दुःस्वार्ताः सन्तः क्षीणलोकाः क्षीणकर्मफलाः स्वर्गलोकात् च्यवन्ते ॥

**इष्टापूर्ते मन्यमाना वरिष्ठं**

**नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।**

**नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-**

**मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥ १० ॥**

इष्टापूर्तम् इष्टं यागादि श्रौतं कर्म पूर्तं स्मार्तं वापीकूप-  
तडागादिकर्म मन्यमानाः एतदेवातिशयेन पुरुषार्थसाधनं  
वरिष्ठं प्रधानमिति चिन्तयन्तः, अन्यत् आत्मज्ञानाख्यं श्रे-  
यःसाधनं न वेदयन्ते न जानन्ति प्रमूढाः पुत्रपशुबान्धवा-  
दिषु प्रमत्ततया मूढाः; ते च नाकस्य स्वर्गस्य पृष्ठे उपरिस्थाने  
सुकृते भोगायतने अनुभूत्वा अनुभूय कर्मफलं पुनः इमं  
लोकं मानुषम् अस्मात् हीनतरं वा तिर्यङ्मरकादिलक्ष्णं  
यथाकर्मशेषं विशन्ति ॥

**तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये**

**शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।**

## सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति

यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ११ ॥

ये पुनस्तद्विपरीतज्ञानयुक्ता वानप्रस्थाः संन्यासिनश्च, तपःश्रद्धे हि तपः स्वाश्रमविहितं कर्म, श्रद्धा हिरण्यगर्भोदिविषया विद्या, ते तपःश्रद्धे उपवसन्ति सेवन्तेऽरण्ये वर्तमानाः सन्तः । शान्ताः उपरतकरणग्रामाः । विद्वांसः गृहस्थाश्च ज्ञानप्रधाना इत्यर्थः । भैक्षचर्या चरन्तः परिग्रहाभावादुपवसन्त्यरण्ये इति संबन्धः । सूर्यद्वारेण सूर्योपलक्षितेनोत्तरेण पथा ते विरजाः विरजसः, क्षीणपुण्यपापकर्माणः सन्त इत्यर्थः । प्रयान्ति प्रकर्षेण यान्ति यत्र यस्मिन्सत्यलोकादौ अमृतः स पुरुषः प्रथमजो हिरण्यगर्भः हि अव्ययात्मा अव्ययस्वभावो यावत्संसारस्थायी । एतदन्तास्तु 'संसारगतयोऽपरविद्यागम्याः । नन्वेतं मोक्षमिच्छन्ति केचित् । न, 'इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः' 'ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति' इत्यादि-श्रुतिभ्यः ; अप्रकरणाच्च । अपरविद्याप्रकरणे हि प्रवृत्ते न ह्यकस्मान्मोक्षप्रसङ्गोऽस्ति । विरजस्त्वं त्वापेक्षिकम् । समस्तमपरविद्याकार्यं साध्यसाधनलक्षणं क्रियाकारकफलभेदभिन्नं द्वैतम् एतावदेव यद्विरण्यगर्भप्राप्त्यवसानम् । तथा च म-

नूनोक्तं स्थावराद्यां संसारगतिमनुक्रामता—‘ब्रह्मा विश्व-  
सृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च । उत्तमां सात्त्विकीमेतां ग-  
तिमाहुर्मनीषिणः’ इति ॥

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो

निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छे-

त्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

अथेदानीमस्मात्साध्यसाधनरूपात्सर्वस्मात्संसारद्विरक्तस्य  
परस्यां विद्यायामधिकारप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते— परीक्ष्य  
यदेतद्वेदाद्यपरविद्याविषयं स्वाभाविकाविद्याकामकर्मदोष-  
वत्पुरुषानुष्ठेयमविद्यादिदोषवन्तमेव पुरुषं प्रति विहितत्वा-  
त्तदनुष्ठानकार्यभूताश्च लोका ये दक्षिणोत्तरमार्गलक्षणाः  
फलभूताः, ये च विहिताकरणप्रतिषेधातिक्रमदोषसाध्या नर-  
कतिर्यक्प्रेतलक्षणाः, तानेतान्परीक्ष्य प्रत्यक्षानुमानोपमाना-  
गमैः सर्वतो याथात्म्येनावधार्य लोकान् संसारगतिभूतान-  
व्यक्तादिस्थावरान्तान्ध्याकृताव्याकृतलक्षणान्बीजाङ्कुरवदित -  
रेतरोत्पत्तिनिमित्ताननेकानर्थशतसहस्रसंकुलान्कदलीगर्भवद -  
सारान्मायामरीच्युदकगन्धर्वनगराकारस्वप्नजलबुद्बुदफेनस -  
मान्प्रतिक्षणप्रध्वंसान्पृष्ठतः कृत्वा विद्याकामदोषप्रवर्तितकर्म-

चितान्धर्माधर्मनिर्वर्तितानित्येतत् । ब्राह्मणः, ब्राह्मणस्यैव विशेषतोऽधिकारः सर्वत्यागेन ब्रह्मविद्यायामिति ब्राह्मण-ग्रहणम् । परीक्ष्य लोकान्किं कुर्यादित्युच्यते— निर्वेदम्, निष्पूर्वो विदिरत्र वैराग्यार्थे, वैराग्यम् आयात् कुर्यादित्येतत् । स वैराग्यप्रकारः प्रदर्श्यते— इह संसारे नास्ति कश्चिदपि अकृतः पदार्थः । सर्व एव हि लोकाः कर्मचिताः कर्म-कृतत्वाच्चानित्याः । न नित्यं किञ्चिदस्तीत्यभिप्रायः । सर्वं तु कर्मानित्यस्यैव साधनम् । यस्माच्चतुर्विधमेव हि सर्वं कर्म कार्यम्—उत्पाद्यमाप्त्यं विकार्यं संस्कार्यं वा । नातः परं कर्मणो विषयोऽस्ति । अहं च नित्येनामृतेनाभयेन कूटस्थेनाचलेन ध्रुवेणार्थेनार्थी, न तद्विपरीतेन । अतः किं कृतेन कर्मणा आयासबहुलेनानर्थसाधनेन इत्येवं निर्विण्णोऽभयं शिवम-कृतं नित्यं पदं यत्, तद्विज्ञानार्थं विशेषेणाधिगमार्थं स निर्वि-ण्णो ब्राह्मणः गुरुमेव आचार्यं शमदमादिसंपन्नम् अभिग-च्छेत् । शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यादित्येतद्गुरुमेवेत्यवधारणफलम् । समित्पाणिः समिद्धार-गृहीतहस्तः श्रोत्रियम् अध्ययनश्रुतार्थसंपन्नं ब्रह्मनिष्ठं हित्वा सर्वकर्माणि केवलेऽद्वये ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सोऽयं ब्रह्म-निष्ठः ; जपनिष्ठस्तपोनिष्ठ इति यद्वत् । न हि कर्मिणो ब्रह्म-

निष्ठता संभवति, कर्मात्मज्ञानयोर्विरोधात् । स तं गुरुं  
विधिवदुपसन्नः प्रसाद्य पृच्छेदक्षरं पुरुषं सत्यम् ॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्य-

क्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं

प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥

तस्मै सः विद्वान् गुरुर्ब्रह्मवित्, उपसन्नाय उपगताय ।  
सम्यक् यथाशास्त्रमित्येतत् । प्रशान्तचित्ताय उपरतदर्पा-  
दिदोषाय । शमान्विताय बाह्येन्द्रियोपरमेण च युक्ताय,  
सर्वतो विरक्तायेत्येतत् । येन विज्ञानेन यथा विद्यया च  
परया अक्षरम् अद्रेश्यादिविशेषणं तदेवाक्षरं पुरुषशब्द-  
वाच्यं पूर्णत्वात्पुरि शयनाच्च, सत्यं तदेव परमार्थस्वाभा-  
व्यादव्ययम्, अक्षरं चाक्षरणादक्षतत्वादक्षयत्वाच्च, वेद विजा-  
नाति तां ब्रह्मविद्यां तत्त्वतः यथावत् प्रोवाच प्रब्रूयादित्यर्थः ।  
आचार्यस्याप्ययमेव नियमो यज्ञ्यायप्राप्तसच्छिष्यनिस्तार-  
णमविद्यामहोदधेः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्द-  
भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ  
मुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथमं मुण्डकं समाप्तम् ॥

मुण्डकोपनिषद्भाष्यम्

द्वितीयं मुण्डकम्



## द्वितीयं मुण्डकम् ॥

—\*—



परविद्यायाः सर्वं कार्यमु-  
क्तम् । स च संसारो यत्सारो यस्मा-  
न्मूलादक्षरात्संभवति यस्मिंश्च प्रलीय-  
ते, तदक्षरं पुरुषाख्यं सत्यम् । यस्मि-  
न्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति, त-  
त्परस्या ब्रह्मविद्याया विषयः । स

वक्तव्य इत्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः

सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।

तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः

प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ १ ॥

यदपरविद्याविषयं कर्मफललक्षणम्, सत्यं तदापेक्षिकम् ।  
इदं तु परविद्याविषयम्, परमार्थसलक्षणत्वात् । तदेतत् सत्यं  
यथाभूतं विद्याविषयम्; अविद्याविषयत्वाच्च अनृतमितरत् ।



अत्यन्तपरोक्षत्वात्कथं नाम प्रत्यक्षवत्सत्यमक्षरं प्रतिपद्येर-  
न्निति दृष्टान्तमाह— यथा सुदीप्तात् सुष्ठु दीप्तादिद्धात्  
पावकान् अग्नेः विस्फुलिङ्गाः अग्न्यवयवाः सहस्रशः अने-  
कशः प्रभवन्ते निर्गच्छन्ति सरूपाः अग्निसलक्षणा एव,  
तथा उक्तलक्षणात् अक्षरात् विविधाः नानादेहोपाधिभे-  
दमनुविधीयमानत्वाद्विविधाः हे सोम्य, भावाः जीवाः  
आकाशादिवद्धटादिपरिच्छिन्नाः सुषिरभेदा घटाद्युपाधि-  
प्रभेदमनु भवन्ति; एवं नानानामरूपकृतदेहोपाधिप्रभव-  
मनु प्रजायन्ते तत्र चैव तस्मिन्नेव चाक्षरे अपियन्ति देहो-  
पाधिविलयमनु विलीयन्ते घटादिविलयमन्विव सुषिरभेदाः ।  
यथाकाशस्य सुषिरभेदोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वं घटाद्युपाधि-  
कृतमेव, तद्वदक्षरस्यापि नामरूपकृतदेहोपाधिनिमित्तमेव जी-  
वोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वम् ॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः

सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो

ह्यक्षरात्परतः परः ॥ २ ॥

नामरूपबीजभूतादव्याकृताख्यात्स्वविकारापेक्षया पराद-

क्षरात्परं यत्सर्वोपाधिभेदवर्जितमक्षरस्यैव स्वरूपमाकाशस्यैव  
 सर्वमूर्तिवर्जितं नेति नेतीत्यादिविशेषणं विवक्षन्नाह—दिव्यः  
 द्योतनवान्, स्वयंज्योतिष्वात् । दिवि वा स्वात्मनि भवः  
 अलौकिको वा । हि यस्मात् अमूर्तः सर्वमूर्तिवर्जितः, पुरुषः  
 पूर्णः पुरिशयो वा, सबाह्याभ्यन्तरः सह बाह्याभ्यन्तरेण वर्तत  
 इति । अजः न जायते कुतश्चित्, स्वतोऽजस्य जन्मनिमित्तस्य  
 चाभावात्; यथा जलबुद्बुदादेर्वाय्वादिः, यथा नभःसुषि-  
 रभेदानां घटादिः । सर्वभावविकाराणां जनिमूलत्वात् तत्प्रति-  
 षेधेन सर्वे प्रतिषिद्धा भवन्ति । सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः अतो-  
 ऽजरोऽमृतोऽक्षरो ध्रुवोऽभय इत्यर्थः । यद्यपि देहाद्युपा-  
 धिभेददृष्टिभेदेषु सप्राणः समनाः सेन्द्रियः सविषय  
 इव प्रत्यवभासते तलमलादिमदिवाकाशम्, तथापि तु  
 स्वतः परमार्थस्वरूपदृष्टीनाम् अप्राणः अविद्यमानः  
 क्रियाशक्तिभेदवान् चलनात्मको वायुर्यस्मिन्नसौ अप्राणः ।  
 तथा अमनाः अनेकज्ञानशक्तिभेदवत्संकल्पाद्यात्मकं मनो-  
 ऽप्यविद्यमानं यस्मिन्सोऽयममनाः । अप्राणो ह्यमनाश्चेति  
 प्राणादिवायुभेदाः कर्मेन्द्रियाणि तद्विषयाश्च तथा बुद्धिम-  
 नसी बुद्धीन्द्रियाणि तद्विषयाश्च प्रतिषिद्धा वेदितव्याः;  
 यथा श्रुत्यन्तरे ध्यायतीव लेलायतीवेति । यस्माच्चैवं प्रति-

षिद्धोपाधिद्वयस्तस्मात् शुभ्रः शुद्धः । अतोऽक्षरान्नामरूपबी-  
जोपाधिलक्षितस्वरूपात् सर्वकार्यकरणबीजत्वेनोपलक्ष्यमाण-  
त्वात्परं तत्त्वं तदुपाधिलक्षणमव्याकृताख्यमक्षरं सर्वविकारे-  
भ्यस्तस्मात्परतोऽक्षरात्परः निरुपाधिकः पुरुष इत्यर्थः ।  
यस्मिंस्तदाकाशाख्यमक्षरं संव्यवहारविषयमोतं च प्रोतं च ।  
कथं पुनरप्राणादिमत्त्वं तस्येत्युच्यते । यदि हि प्राणादयः  
प्रागुत्पत्तेः पुरुष इव स्वेनात्मना सन्ति, तदा पुरुषस्य प्रा-  
णादिना विद्यमानेन प्राणादिमत्त्वं स्यात्; न तु ते प्राणादयः  
प्रागुत्पत्तेः सन्ति । अतः प्राणादिमान्परः पुरुषः, यथानुत्पन्ने  
पुत्रे अपुत्रो देवदत्तः ॥

एतस्माज्जायते प्राणो

मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

खं वायुर्ज्योतिरापः

पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३ ॥

कथं ते न सन्ति प्राणादय इति, उच्यते— यस्मात्  
एतस्मादेव पुरुषान्नामरूपबीजोपाधिलक्षितात् जायते उत्प-  
द्यतेऽविद्याविषयो विकारभूतो नामधेयोऽनृतात्मकः प्रा-  
णः, ‘वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्’ ‘अनृतम्’ इति

श्रुत्यन्तरात् । न हि तेनाविद्याविषयेणानृतेन प्राणेन स-  
प्राणत्वं परस्य स्यादपुत्रस्य स्वप्नदृष्टेनेव पुत्रेण सपुत्रत्वम् ।  
एवं मनः सर्वाणि चेन्द्रियाणि विषयाश्चैतस्मादेव जायन्ते ।  
तस्मात्सिद्धमस्य निरुपचरितमप्राणादिमत्त्वमित्यर्थः । यथा  
च प्रागुत्पत्तेः परमार्थतोऽसन्तस्तथा प्रलीनाश्चेति द्रष्टव्याः ।  
यथा करणानि मनश्चेन्द्रियाणि च, तथा शरीरविषयकारणा-  
नि भूतानि खम् आकाशम्, वायुः बाह्य आवहादिभेदः,  
ज्योतिः अग्निः, आपः उदकम्, पृथिवी धरित्री विश्वस्य  
सर्वस्य धारिणी; एतानि च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोत्तरोत्त-  
रगुणानि पूर्वपूर्वगुणसहितान्येतस्मादेव जायन्ते ॥

**अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ**

**दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।**

**वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य**

**पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥**

संक्षेपतः परविद्याविषयमक्षरं निर्विशेषं पुरुषं सत्यम्  
'दिव्यो ह्यमूर्तः' इत्यादिना मन्त्रेणोक्त्वा, पुनस्तदेव  
सविशेषं विस्तरेण वक्तव्यमिति प्रवृत्तेः; संक्षेपविस्तरोक्तो  
हि पदार्थः सुखाधिगम्यो भवति सूत्रभाष्योक्तिवदिति ।  
यो हि प्रथमजात्प्राणाद्धिरण्यगर्भाज्जायतेऽण्डस्यान्तर्विराट्,

स तत्त्वान्तरितत्वेन लक्ष्यमाणोऽप्येतस्मादेव पुरुषाज्जाय-  
त एतन्मयश्चेत्येतदर्थमाह, तं च विशिनष्टि— अग्निः द्युलो-  
कः, 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' इति श्रुतेः । मूर्धा  
यस्योत्तमाङ्गं शिरः, चक्षुषी चन्द्रश्च सूर्यश्चेति चन्द्रसूर्यौ; य-  
स्येति सर्वत्रानुषङ्गः कर्तव्यः अस्येत्यस्य पदस्य वक्ष्यमाणस्य  
यस्येति विपरिणामं कृत्वा । दिशः श्रोत्रे यस्य । वाक् विवृ-  
ताश्च उद्घाटिताः प्रसिद्धा वेदाः यस्य । वायुः प्राणो यस्य ।  
हृदयम् अन्तःकरणं विश्वं समस्तं जगत् अस्य यस्येत्येतत् ।  
सर्वं ह्यन्तःकरणविकारमेव जगत्, मनस्येव सुषुप्ते प्रलयदर्श-  
नात् ; जागरितेऽपि तत् एवाग्निविस्फुलिङ्गवद्विप्रतिष्ठानात् ।  
यस्य च पद्भ्यां जाता पृथिवी, एष देवो विष्णुरनन्तः प्रथ-  
मशरीरी त्रैलोक्यदेहोपाधिः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा । स  
हि सर्वभूतेषु द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता सर्वकरणात्मा ॥

पञ्चाग्निद्वारेण च याः संसरन्ति प्रजाः, ता अपि तस्मादेव  
पुरुषात्प्रजायन्त इत्युच्यते—

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः

सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।

पुमान्रेतः सिञ्चति योषितायां

बह्वीः प्रजाः पुरुषात्संप्रसूताः ॥ ५ ॥

तस्मात् परस्मात्पुरुषात् प्रजावस्थानविशेषरूपः अग्निः ।  
 स विशेष्यते— समिधो यस्य सूर्यः, समिध इव समिधः ;  
 सूर्येण हि द्युलोकः समिध्यते । ततो हि द्युलोकाग्नेर्निष्पन्ना-  
 त् सोमात् पर्जन्यः द्वितीयोऽग्निः संभवति । तस्माच्च पर्ज-  
 न्यात् ओषधयः पृथिव्यां संभवन्ति । ओषधिभ्यः पुरुषाग्नौ  
 हुताभ्य उपादानभूताभ्यः पुमानग्निः रेतः सिञ्चति योषिता-  
 यां योषिति योषाग्नौ स्त्रियामिति । एवं क्रमेण बह्वीः बह्वयः  
 प्रजाः ब्राह्मणाद्याः पुरुषात् परस्मात् संप्रसूताः समुत्पन्नाः ॥

**तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा**

**यज्ञाश्च सर्वे ऋतवो दक्षिणाश्च ।**

**संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः**

**सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥**

किञ्च, कर्मसाधनानि फलानि च तस्मादेवेत्याह—कथम् ?  
 तस्मात् पुरुषात् ऋचः नियताक्षरपादावसानाः गायत्र्यादि-  
 च्छन्दोविशिष्टा मन्त्राः ; साम पाञ्चभक्तिकं सामभक्तिकं च  
 स्तोभादिगीतिविशिष्टम् ; यजूंषि अनियताक्षरपादावसानानि  
 वाक्यरूपाणि ; एवं त्रिविधा मन्त्राः । दीक्षाः मौञ्ज्यादि-  
 लक्षणाः कर्तृनियमविशेषाः । यज्ञाश्च सर्वे अग्निहोत्रादयः ।

क्रतवः सयूपाः । दक्षिणाश्च एकगवाद्या अपरिमितसर्वस्वान्ताः । संवत्सरश्च कालः कर्माङ्गभूतः । यजमानश्च कर्ता । लोकाः तस्य कर्मफलभूताः ; ते विशेष्यन्ते—सोमः यत्र येषु लोकेषु पवते पुनाति लोकान् यत्र च येषु सूर्यस्तपति । ते च दक्षिणायनोत्तरायणमार्गद्वयगम्या विद्वद्विद्वत्कर्तृफलभूताः ॥

तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः

साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ।

प्राणापानौ ब्रीहियवौ तपश्च

श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥

तस्माच्च पुरुषात्कर्माङ्गभूता देवाः बहुधा वस्वादिगणभेदेन संप्रसूताः सम्यक् प्रसूताः— साध्याः देवविशेषाः, मनुष्याः कर्माधिकृताः, पशवः ग्राम्यारण्याः, वयांसि पक्षिणः ; जीवनं च मनुष्यादीनां प्राणापानौ, ब्रीहियवौ हविरर्थौ ; तपश्च कर्माङ्गं पुरुषसंस्कारलक्षणं स्वतन्त्रं च फलसाधनम् ; श्रद्धा यत्पूर्वकः सर्वपुरुषार्थसाधनप्रयोगश्चित्तप्रसाद आस्तिक्यबुद्धिः ; तथा सत्यम् अनृतवर्जनं यथाभूतार्थवचनं चापीडाकरम् ; ब्रह्मचर्यं मैथुनासमाचारः ; विधिश्च इतिकर्तव्यता ॥

**सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मा-**

**तप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।**

**सप्तेमे लोका येषु चरन्ति प्राणा**

**गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥**

किंच, सप्त शीर्षण्याः प्राणाः तस्मादेव पुरुषात् प्रभवन्ति । तेषां सप्त अर्चिषः दीपयः स्वस्वविषयावद्योतनानि । तथा सप्त समिधः सप्त विषयाः ; विषयैर्हि समिध्यन्ते प्राणाः । सप्त होमाः तद्विषयविज्ञानानि, 'यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति' इति श्रुत्यन्तरात् । किंच, सप्त इमे लोकाः इन्द्रियस्थानानि, येषु चरन्ति संचरन्ति प्राणाः इति विशेषणात् । प्राणा येषु चरन्तीति प्राणानां विशेषणमिदं प्राणापानादिनिवृत्त्यर्थम् । गुहायां शरीरे हृदये वा स्वापकाले शेरत इति गुहाशयाः । निहिताः स्थापिता धात्रा सप्त सप्त प्रतिप्राणिभेदम् । यानि च आत्मयाजिनां विदुषां कर्माणि कर्मफलानि चाविदुषां च कर्माणि तत्साधनानि कर्मफलानि च सर्वं चैतत्परस्मादेव पुरुषात्सर्वज्ञात्प्रसूतमिति प्रकरणार्थः ॥

**अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-**

**ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।**



अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च

येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥

अतः पुरुषात् समुद्राः सर्वे क्षाराद्याः । गिरयश्च हिम-  
वदादयः अस्मादेव पुरुषात् सर्वे । स्यन्दन्ते स्रवन्ति  
गङ्गाद्याः सिन्धवः नद्यः सर्वरूपाः बहुरूपाः । अस्मादेव  
पुरुषात् सर्वाः ओषधयः व्रीहियवाद्याः । रसश्च मधुरादिः  
षड्विधः, येन रसेन भूतैः पञ्चभिः स्थूलैः परिवेष्टितः तिष्ठते  
तिष्ठति हि अन्तरात्मा लिङ्गं सूक्ष्मं शरीरम् । तद्धयन्तराले  
शरीरस्यात्मनश्चात्मवद्वर्तते इत्यन्तरात्मा ॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म

तपो ब्रह्म परामृतम् ।

एतद्यो वेद निहितं गुहायां

सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य ॥

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥

एवं पुरुषात्सर्वमिदं संप्रसूतम् । अतो वाचारम्भणं वि-  
कारो नामधेयमनृतं पुरुष इत्येव सत्यम् ; अतः पुरुष एव  
इदं विश्वं सर्वम् । न विश्वं नाम पुरुषादन्यत्किञ्चिदस्ति । अ-

तो यदुक्तं तदेवेदमभिहितम् ‘कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्व-  
मिदं विज्ञातं भवति’ इति ; एतस्मिन्हि परस्मिन्नात्मनि सर्व-  
कारणे पुरुषे विज्ञाते, पुरुष एवेदं विश्वं नान्यदस्तीति विज्ञातं  
भवतीति । किं पुनरिदं विश्वमित्युच्यते— कर्म अग्निहोत्रा-  
दिलक्षणम् ; तपः ज्ञानं तत्कृतं फलमन्यदेव तावद्धीदं सर्वम् ;  
तच्च एतद्ब्रह्मणः कार्यम् ; तस्मात्सर्वं ब्रह्म परामृतं परममृतमह-  
मेवेति यो वेद निहितं स्थितं गुहायां हृदि सर्वप्राणिनाम्, सः  
एवं विज्ञानात् अविद्याग्रन्थि ग्रन्थिमिव दृढीभूतामविद्यावा-  
सनां विकिरति विक्षिपति विनाशयति इह जीवन्नेव, न  
मृतः सन् हे सोम्य प्रियदर्शन ॥

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमखण्डभाष्यम् ॥

## द्वितीयः खण्डः ॥

—\*—

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम  
महत्पदमत्रैतत्समर्पितम् ।

एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्ज्ञानथ सदसद्वरेण्यं  
परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ १ ॥

अरूपं सदक्षरं केन प्रकारेण विज्ञेयमित्युच्यते— आविः प्रकाशं संनिहितम्, वागाद्युपाधिभिः—ज्वलति भ्राजतीति श्रुत्यन्तरात्—शब्दादीनुपलभमानवदवभासते ; दर्शनश्रवणमनन-विज्ञानाद्युपाधिधर्मैराविर्भूतं सलक्ष्यते हृदि सर्वप्राणिनाम् । यदेतदाविर्भूतं ब्रह्म संनिहितं सम्यक् स्थितं हृदि, तत् गुहाचरं नाम गुहायां चरतीति दर्शनश्रवणादिप्रकारैर्गुहाचरमिति प्रख्यातम् । महत् सर्वमहत्त्वात् पदं पद्यते सर्वेणेति, सर्वपदार्थास्पदत्वात् । कथं तन्महत्पदमित्युच्यते ? यतः अत्र अस्मिन्ब्रह्मणि एतत्सर्वं समर्पितं संप्रवेशितं रथनाभाविवाराः— एजत् चलत्पक्ष्यादि, प्राणत् प्राणितीति प्राणापानादिमन्मनुष्यपश्यादि, निमिषच्च यन्निमेषादिक्रियावत् यच्चानिमिषत्;

च-शब्दान् समस्तमेतदत्रैव ब्रह्मणि समर्पितम् । एतत् यदा-  
स्पदं सर्वं जानथ हे शिष्याः, अवगच्छत तदात्मभूतं भव-  
ताम् ; सदसन् सदसत्स्वरूपं सदसतोर्मूर्तामूर्तयोः स्थूलसूक्ष्म-  
योः, तद्व्यतिरेकेणाभावान् । वरेण्यं वरणीयम्, तदेव हि सर्वस्य  
नित्यत्वात्प्रार्थनीयम् ; परं व्यतिरिक्तं विज्ञानात्प्रजानामिति  
व्यवहितेन संबन्धः ; यल्लौकिकविज्ञानागोचरमित्यर्थः । यत्  
वरिष्ठं वरतमं सर्वपदार्थेषु वरेषु ; तद्व्येकं ब्रह्म अतिशयेन  
वरं सर्वदोषरहितत्वात् ॥

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च

यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च ।

तदेतदक्षरं ब्रह्म

स प्राणस्तदु वाङ्मनः ।

तदेतत्सत्यं तदमृतं

तद्वेद्व्यं सोम्य विद्धि ॥ २ ॥

किंच, यत् अर्चिमत् दीप्तिमत् ; तद्दीप्त्या ह्यादित्यादि दीप्यत  
इति दीप्तिमद्ब्रह्म । किंच, यत् अणुभ्यः श्यामाकादिभ्योऽपि  
अणु च सूक्ष्मम् । च-शब्दात्स्थूलेभ्योऽप्यतिशयेन स्थूलं  
[अथिव्यादिभ्यः] । यस्मिन् लोकाः भूरादयः निहिताः स्थिताः,

ये च लोकिनः लोकनिवासिनः मनुष्यादयः, चैतन्याश्रया हि सर्वे प्रसिद्धाः; तदेतत् सर्वाश्रयम् अक्षरं ब्रह्म स प्राणः तदु वाङ्मनः वाक्च मनश्च सर्वाणि च करणानि तदु अन्तश्चैतन्यम्; चैतन्याश्रयो हि प्राणेन्द्रियादिसर्वसंघातः, 'प्राणस्य प्राणम्' इति श्रुत्यन्तरात् । यत्प्राणादीनामन्तश्चैतन्यमक्षरं तदेतत् सत्यम् अवितथम्, अतः अमृतम् अविनाशि तत् वेद्व्यं मनसा ताडयितव्यम् । तस्मिन्मनसः समाधानं कर्तव्यमित्यर्थः । यस्मादेवं हे सोम्य, विद्धि अक्षरे चेतः समाधत्स्व ॥

**धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं**

**शरं ह्युपासानिशितं संदधीत ।**

**आयम्य तद्भावगतेन चेतसा**

**लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥ ३ ॥**

कथं वेद्व्यमिति, उच्यते— धनुः इष्वासनं गृहीत्वा आदाय औपनिषदम् उपनिषत्सु भवं प्रसिद्धं महास्त्रं महश्च तदस्त्रं च महास्त्रं धनुः, तस्मिन् शरम्; किंविशिष्टमित्याह— उपासानिशितं संतताभिध्यानेन तनूकृतम्, संस्कृतमित्येतत्; संदधीत संधानं कुर्यात् । संधाय च आयम्य आकृष्य सेन्द्रियमन्तःकरणं स्वविषयाद्विनिवर्त्य लक्ष्य एवावर्जितं कृत्वे-

त्यर्थः । न हि हस्तेनेव धनुष आयमनमिह संभवति । तद्भावगतेन तस्मिन्ब्रह्मण्यक्षरे लक्ष्ये भावना भावः तद्गतेन चेतसा, लक्ष्यं तदेव यथोक्तलक्षणम् अक्षरं सोम्य, विद्धि ॥

**प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा**

**ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।**

**अप्रमत्तेन वेद्धव्यं**

**शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ ४ ॥**

यदुक्तं धनुरादि, तदुच्यते—प्रणवः ओंकारः धनुः । यथा इष्वासनं लक्ष्ये शरस्य प्रवेशकारणम्, तथा आत्मशरस्याक्षरे लक्ष्ये प्रवेशकारणमोंकारः । प्रणवेन ह्यभ्यस्यमानेन संस्क्रियमाणस्तदालम्बनोऽप्रतिबन्धेनाक्षरेऽवतिष्ठते । यथा धनुषा अस्त इषुर्लक्ष्ये । अतः प्रणवो धनुरिव धनुः । शरो ह्यात्मा उपाधिलक्षणः पर एव जले सूर्यादिवदिह प्रविष्टो देहे सर्वबौद्धप्रत्ययसाक्षितया ; स शर इव स्वात्मन्येवार्पितोऽक्षरे ब्रह्मणि ; अतः ब्रह्म तत् लक्ष्यमुच्यते लक्ष्य इव मनः समाधित्सुभिरात्मभावेन लक्ष्यमाणत्वात् । तत्रैवं सति अप्रमत्तेन बाह्यविषयोपलब्धिनृणाप्रमादवर्जितेन सर्वतो विरक्तेन जितेन्द्रियैकाग्रचित्तेन वेद्धव्यं ब्रह्म लक्ष्यम् । ततस्तद्वेधनादूर्ध्वं

शरवन् तन्मयः भवेत्; यथा शरस्य लक्ष्यैकात्मत्वं फलं भवति, तथा देहाद्यात्मताप्रत्ययतिरस्करणेनाक्षरैकात्मत्वं फलमापादयेदित्यर्थः ॥

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष-

मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।

तमेवैकं जानथ आत्मान-

मन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥

अक्षरस्यैव दुर्लक्ष्यत्वात्पुनः पुनर्वचनं सुलक्षणार्थम् । यस्मिन् अक्षरे पुरुषे द्यौः पृथिवी च अन्तरिक्षं च ओतं समर्पितं मनश्च सह प्राणैः करणैः अन्यैः सर्वैः, तमेव सर्वाश्रयमेकमद्वितीयं जानथ जानीत हे शिष्याः । आत्मानं प्रत्यक्स्वरूपं युष्माकं सर्वप्राणिनां च ज्ञात्वा च अन्याः वाचः अपरविद्यारूपाः विमुञ्चथ विमुञ्चत परित्यजत । तत्प्रकाश्यं च सर्वं कर्म ससाधनम् । यतः अमृतस्य एषः सेतुः एतदात्मज्ञानममृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य प्राप्तये सेतुरिव सेतुः, संसारमहोदधेरुत्तरणहेतुत्वात्; तथा च श्रुत्यन्तरम्— ‘तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय’ इति ॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः  
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।  
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं

स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥

किंच, अरा इव यथा रथनाभौ समर्पिता अराः,  
एवं संहताः संप्रविष्टाः यत्र यस्मिन्हृदये सर्वतो देहव्यापि-  
न्यः नाड्यः, तस्मिन्हृदये बुद्धिप्रत्ययसाक्षिभूतः स एषः प्रकृत  
आत्मा अन्तः मध्ये चरते चरति वर्तते । पश्यन् शृण्वन्म-  
न्वानो विजानन् बहुधा अनेकधा क्रोधहर्षादिप्रत्ययैर्जायमान  
इव जायमानः अन्तःकरणोपाध्यनुविधायित्वात्; वदन्ति हि  
लौकिका हृष्टो जातः क्रुद्धो जात इति । तमात्मानम् ओमित्येवम्  
ओंकारालम्बनाः सन्तः यथोक्तकल्पनया ध्यायथ चिन्तयत ।  
उक्तं च वक्तव्यं शिष्येभ्य आचार्येण जानता । शिष्याश्च  
ब्रह्मविद्याविविदिषुत्वान्निवृत्तकर्माणो मोक्षपथे प्रवृत्ताः ।  
तेषां निर्विघ्नतया ब्रह्मप्राप्तिमाशास्त्याचार्यः— स्वस्ति निर्वि-  
घ्नमस्तु वः युष्माकं पाराय परकूलाय ; कस्य ? अविद्यातमसः  
परस्तात् ; अविद्यारहितब्रह्मात्मस्वरूपगमनायेत्यर्थः ॥

यः सर्वज्ञः सर्ववि-

द्यस्यैष महिमा भुवि ।



दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष

व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥

योऽसौ तमसः परस्तात्संसारमहोदधिं तीर्त्वा गन्तव्यः  
 परविद्याविषयः, स कस्मिन्वर्तत इत्याह— यः सर्वज्ञः सर्व-  
 वित् व्याख्यातः । तं पुनर्विशिनष्टि—यस्यैष प्रसिद्धो महिमा  
 विभूतिः । कोऽसौ महिमा? यस्येमे द्यावापृथिव्यौ शा-  
 सने विधृते तिष्ठतः ; सूर्याचन्द्रमसौ यस्य शासनेऽलात-  
 चक्रवदजस्रं भ्रमतः ; यस्य शासने सरितः सागराश्च  
 स्वगोचरं नातिक्रामन्ति ; तथा स्थावरं जङ्गमं च यस्य  
 शासने नियतम् ; तथा ऋतवोऽयने अब्दाश्च यस्य  
 शासनं नातिक्रामन्ति ; तथा कर्तारः कर्माणि फलं च  
 यच्छासनात्स्वं स्वं कालं नातिवर्तन्ते, स एष महिमा ; भुवि  
 लोके यस्य स एष सर्वज्ञ एवमहिमा देवः । दिव्ये द्योत-  
 नवति सर्वबौद्धप्रत्ययकृतद्योतने ब्रह्मपुरे । ब्रह्मणो ह्यत्र चैतन्य-  
 स्वरूपेण नित्याभिव्यक्तत्वात् ; ब्रह्मणः पुरं हृदयपुण्डरीकं  
 तस्मिन्यव्योम, तस्मिन्व्योमनि आकाशे हृत्पुण्डरीकमध्यस्थे  
 प्रतिष्ठित इवोपलभ्यते ; न ह्याकाशवत्सर्वगतस्य गतिरागतिः  
 प्रतिष्ठा वान्यथा संभवति ॥

मनोमयः प्राणशरीरनेता  
 प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय ।  
 तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा  
 आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ८ ॥

स ह्यात्मा तत्रस्थो मनोवृत्तिभिरेव विभाव्यत इति मनो-  
 मयः, मनउपाधित्वात् । प्राणशरीरनेता प्राणश्च तच्छरीरं च  
 तत्प्राणशरीरं तस्यायं नेता । अस्मात्स्थूलाच्छरीराच्छरीरा-  
 न्तरं सूक्ष्मं प्रति प्रतिष्ठितः अवस्थितः अन्ने भुज्यमानान्नवि-  
 परिणामे प्रतिदिनमुपचीयमाने अपचीयमाने च पिण्डरूपेऽन्ने  
 हृदयं बुद्धिं पुण्डरीकच्छिद्रे संनिधाय समवस्थाप्य ; हृदयाव-  
 स्थानमेव ह्यात्मनः स्थितिः, न ह्यात्मनः स्थितिरन्ने ; तत् आ-  
 त्मतत्त्वं विज्ञानेन विशिष्टेन शास्त्राचार्योपदेशजनितेन ज्ञानेन  
 शमदमध्यानसर्वत्यागवैराग्योद्भूतेन परिपश्यन्ति सर्वतः पूर्णं  
 पश्यन्ति उपलभन्ते धीराः विवेकिनः ! आनन्दरूपं सर्वा-  
 नर्थदुःखायासप्रहीणं सुखरूपम् अमृतं यद्विभाति विशेषेण  
 स्वात्मन्येव भाति सर्वदा ॥

भियते हृदयग्रन्थि-  
 शिच्छद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि

तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ९ ॥

अस्य परमात्मज्ञानस्य फलमिदमभिधीयते— हृदय-  
ग्रन्थिः अविद्यावासनामयो बुद्ध्याश्रयः कामः, 'कामा  
येऽस्य हृदि श्रिताः' इति श्रुत्यन्तरात् । हृदयाश्रयोऽसौ, ना-  
त्माश्रयः । भिद्यते भेदं विनाशमुपयाति । छिद्यन्ते सर्वे ज्ञेय-  
विषयाः संशयाः लौकिकानाम् आ मरणात् गङ्गास्रोतोवत्प्रवृ-  
त्ता विच्छेदमायान्ति । अस्य विच्छिन्नसंशयस्य निवृत्तावि-  
द्यस्य यानि विज्ञानोत्पत्तेः प्राक्कृतानि जन्मान्तरे चाप्रवृत्तफ-  
लानि ज्ञानोत्पत्तिसहभावीनि च क्षीयन्ते कर्माणि, न त्वेत-  
ज्जन्मारम्भकाणि, प्रवृत्तफलत्वात् । तस्मिन् सर्वज्ञेऽसंसारिणि  
परावरे परं च कारणात्मना अवरं च कार्यात्मना तस्मिन्प-  
रावरे साक्षादहमस्मीति दृष्टे, संसारकारणोच्छेदान्मुच्यत  
इत्यर्थः ॥

हिरण्मये परे कोशे

विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योति-

स्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ १० ॥

उक्तस्यैवार्थस्य संक्षेपाभिधायका उत्तरे मन्त्राख्योऽपि—  
 हिरण्यये ज्योतिर्मये बुद्धिविज्ञानप्रकाशे परे कोशे कोश  
 इवासेः । आत्मस्वरूपोपलब्धिस्थानत्वात्परं तत्सर्वाभ्यन्तर-  
 त्वात्, तस्मिन् विरजम् अविद्याद्यशेषदोषरजोमलवर्जितं ब्रह्म  
 सर्वमहत्त्वात्सर्वात्मत्वाच्च निष्कलं निर्गताः कला यस्मात्तन्नि-  
 ष्कलं निरवयवमित्यर्थः । यस्माद्विरजं निष्कलं च अतः तच्छु-  
 भ्रं शुद्धं ज्योतिषां सर्वप्रकाशात्मनामग्न्यादीनामपि तज्ज्योतिः  
 अवभासकम् । अग्न्यादीनामपि ज्योतिष्मन्तर्गतब्रह्मात्मचै-  
 तन्यज्योतिर्निमित्तमित्यर्थः । तद्धि परं ज्योतिर्यदन्यानवभास्य-  
 मात्मज्योतिः, तत् यत् आत्मविदः आत्मानं स्वं शब्दादिविष-  
 यबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणं ये विवेकिनो विदुः विजानन्ति, ते आ-  
 त्मविदः तद्विदुः, आत्मप्रत्ययानुसारिणः । यस्मात्परं ज्योति-  
 स्तस्मात्त एव तद्विदुः, नेतरे बाह्यार्थप्रत्ययानुसारिणः ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ ११ ॥

कथं तत् 'ज्योतिषां ज्योतिः' इति, उच्यते—न तत्र तस्मि-

न्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति, तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः । स हि तस्यैव भासा सर्वमन्यदनात्मजातं प्रकाशयति; न तु तस्य स्वतः प्रकाशनसामर्थ्यम् । तथा न चन्द्रतारकम्, न इमाः विद्युतः भान्ति, कुतोऽयमग्निः अस्मद्गोचरः । किं बहुना । यदिदं जगद्भाति, तत्तमेव परमेश्वरं स्वतो भारूपत्वात् भान्तं दीप्यमानम् अनुभाति अनुदीप्यते । यथा जलमुल्मुकादि वा अग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनुदहति, न स्वतः; तद्वत्तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि जगद्विभाति । यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च कार्यगतेन विविधेन भासा; अतस्तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते । न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यथ कर्तुं शक्नोति । घटादीनामन्यावभासकत्वाददर्शनात् भारूपाणां चादित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥

**ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ता-**

**द्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।**

**अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं**

**ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ १२ ॥**

**इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥**

यत्तज्ज्योतिषां ज्योतिर्ब्रह्म, तदेव सत्यम् ; सर्वं तद्विकारः  
वाचारम्भणं विकारो नामधेयमात्रमनृतमितरदित्येतमर्थं वि-  
स्तरेण हेतुतः प्रतिपादितं निगमनस्थानीयेन मन्त्रेण पुनरुप-  
संहरति— ब्रह्मैव उक्तलक्षणम्, इदं यत् पुरस्तात् अग्रेऽब्र-  
ह्मेवाविद्यादृष्टीनां प्रत्यवभासमानं तथा पश्चाद्ब्रह्म तथा दक्षि-  
णतश्च तथा उत्तरेण तथैवाधस्तात् ऊर्ध्वं च सर्वतोऽन्यदिव  
कार्याकारेण प्रसृतं प्रगतं नामरूपवदवभासमानम् । किं  
बहुना, ब्रह्मैवेदं विश्वं समस्तमिदं जगत् वरिष्ठं वरतमम् ।  
अब्रह्मप्रत्ययः सर्वोऽविद्यामात्रो रज्ज्वामिव सर्पप्रत्ययः । ब्रह्मै-  
वैकं परमार्थसत्यमिति वेदानुशासनम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्द-  
भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ  
मुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयं मुण्डकं समाप्तम् ॥



मुण्डकोपनिषद्भाष्यम्

तृतीयं मुण्डकम्





## तृतीयं मुण्डकम् ॥



परा विद्योक्ता यया तदक्षरं पुरु-  
षाख्यं सत्यमधिगम्यते । यदधिगमे हृद-  
यग्रन्थ्यादिसंसारकारणस्यात्यन्तिको वि-  
नाशः स्यात्, तद्दर्शनोपायश्च योगो  
धनुराद्युपादानकल्पनयोक्तः । अथेदानीं  
तत्सहकारीणि सत्यादिसाधनानि वक्तव्यानीति तदर्थं उत्तर-  
ग्रन्थारम्भः । प्राधान्येन तत्त्वनिर्धारणं च प्रकारान्तरेण  
क्रियते । अत्यन्तदुरवगाहत्वात्कृतमपि तत्र सूत्रभूतो मन्त्रः  
परमार्थवस्त्ववधारणार्थमुपन्यस्यते—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया  
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।  
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति

अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ १ ॥

द्वा द्वौ, सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ सुपर्णौ, पक्षि-

सामान्याद्वा सुपर्णौ, सयुजा सयुजौ सहैव सर्वदा युक्तौ,  
 सखाया सखायौ समानाख्यानौ समानाभिव्यक्तिकारणौ,  
 एवंभूतौ सन्तौ समानम् अविशेषमुपलब्ध्यधिष्ठानतया, एकं  
 वृक्षं वृक्षमिवोच्छेदसामान्याच्छरीरं वृक्षं परिष्वज्जाते परि-  
 ष्वक्तवन्तौ । सुपर्णाविवैकं वृक्षं फलोपभोगार्थम् । अयं हि वृक्ष  
 ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखोऽश्वत्थोऽव्यक्तमूलप्रभवः क्षेत्रसंज्ञकः सर्व  
 प्राणिकर्मफलाश्रयः, तं परिष्वक्तवन्तौ सुपर्णाविव अविद्याका-  
 मकर्मवासनाश्रयलिङ्गोपाध्यात्मेश्वरौ । तयोः परिष्वक्तयोः अ-  
 न्यः एकः क्षेत्रज्ञो लिङ्गोपाधिवृक्षमाश्रितः पिप्पलं कर्मनिष्पन्नं  
 सुखदुःखलक्षणं फलं स्वादु अनेकविचित्रवेदनास्वादरूपं स्वादु  
 अस्ति भक्षयत्युपभुङ्क्ते अविवेकतः । अनश्नन् अन्यः इतरः  
 ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सत्त्वोपाधिरी-  
 श्वरो नाश्नाति । प्रेरयिता ह्यसावुभयोर्भोज्यभोक्तोर्नित्यसाक्षि-  
 त्वसत्तामात्रेण । स तु अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति पश्य-  
 त्येव केवलम् । दर्शनमात्रं हि तस्य प्रेरयितृत्वं राजवत् ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-

ऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-

मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥

तत्रैवं क्षति समाने वृक्षे यथोक्ते शरीरे पुरुषः भोक्ता जीवोऽविद्याकामकर्मफलरागादिगुरुभाराक्रान्तोऽल्लबुरिव सा-  
मुद्रे जले निमग्नः निश्चयेन देहात्मभावमापन्नोऽयमेवाहममुष्य  
पुत्रोऽस्य नप्ता कृशः स्थूलो गुणवान्निर्गुणः सुखी दुःखीत्येवं-  
प्रत्ययो नास्त्यन्योऽस्मादिति जायते म्रियते संयुज्यते वियुज्य-  
ते च संबन्धिवान्धवैः, अतः अनीशया, न कस्यचित्समर्थो-  
ऽहं पुत्रो मम विनष्टो मृता मे भार्या किं मे जीवितेनेत्येवं  
दीनभावोऽनीशा, तथा शोचति संतप्यते मुह्यमानः अनेकै-  
रनर्थप्रकारैरविवेकितया अन्तश्चिन्तामापद्यमानः स एवं  
प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वाजवंजवीभावमापन्नः कदाचिदने-  
कजन्मसु शुद्धधर्मसंचितनिमित्ततः केनचित्परमकारुणिकेन  
दर्शितयोगमार्गः अहिंसासत्यब्रह्मचर्यसर्वत्यागशमदमादिसंपन्नः  
समाहितात्मा सन् जुष्टं सेवितमनेकैर्योगमार्गैः कर्मिभिश्च यदा  
यस्मिन्काले पश्यति ध्यायमानः अन्यं वृक्षोपाधिलक्षणाद्वि-  
लक्षणम् ईशम् असंसारिणमशनायापिपासाशोकमोहजरामृ-  
त्यवतीतमीशं सर्वस्य जगतोऽयमहमस्म्यात्मा सर्वस्य समः  
सर्वभूतस्थो नेतरोऽविद्याजनितोपाधिपरिच्छिन्नो मायात्मेति  
महिमानं विभूतिं च जगद्रूपमस्यैव मम परमेश्वरस्य इति

यदैवं द्रष्टा, तदा वीतशोकः भवति सर्वस्माच्छोकसागराद्वि-  
प्रमुच्यते, कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं  
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।  
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय  
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३ ॥

अन्योऽपि मन्त्र इममेवार्थमाह सविस्तरम्—यदा यस्मि-  
न्काले पश्यः पश्यतीति विद्वान् साधक इत्यर्थः । पश्यते  
पश्यति पूर्ववत्, रुक्मवर्णं स्वयंज्योतिःस्वभावं रुक्मस्येव  
वा ज्योतिरस्याविनाशि ; कर्तारं सर्वस्य जगतः ईशं पुरुषं  
ब्रह्मयोनिं ब्रह्म च तद्योनिश्चासौ ब्रह्मयोनिस्तं ब्रह्मयोनिं  
ब्रह्मणो वा अपरस्य योनिं स यदा चैवं पश्यति, तदा स  
विद्वान्पश्यः पुण्यपापे बन्धनभूते कर्मणी समूले विधूय  
निरस्य दग्ध्वा निरञ्जनः निर्लेपो विगतक्लेशः परमं प्रकृष्टं  
निरतिशयं साम्यं समतामद्वयलक्षणाम् ; द्वैतविषयाणि सा-  
म्यान्वतः अर्वाञ्च्येव, अतोऽद्वयलक्षणमेतत् परमं साम्य-  
मुपैति प्रतिपद्यते ॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति  
विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी ।  
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावा-  
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥

किञ्च, योऽयं प्राणस्य प्राणः पर ईश्वरः हि एषः प्रकृतः सर्वभूतैः सर्वैर्भूतैः ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तैः; इत्थंभूतलक्षणा तृतीया । सर्वभूतस्थः सर्वात्मा सन्नित्यर्थः । विभाति विविधं दीप्यते । एवं सर्वभूतस्थं यः साक्षादात्मभावेनायमहमस्मीति विजानन् विद्वान् वाक्यार्थज्ञानमात्रेण न भवते न भवतीत्येतत् । किम् ? अतिवादी अतीत्य सर्वानन्यान्वदितुं शीलमस्येत्यतिवादी । यस्त्वेवं साक्षादात्मानं प्राणस्य प्राणं विद्वान्, सोऽतिवादी न भवतीत्यर्थः । सर्वं यदा आत्मैव नान्यदस्तीति दृष्टम्, तदा किं ह्यसावतीत्य वदेत् । यस्य त्वपरमन्यदृष्टमस्ति, स तदतीत्य वदति । अयं तु विद्वान्नात्मनोऽन्यत्पश्यति; नान्यच्छृणोति; नान्यद्विजानाति । अतो नातिवदति । किञ्च, आत्मक्रीडः आत्मन्येव क्रीडा क्रीडनं यस्य नान्यत्र पुत्रदारादिषु, स आत्मक्रीडः । तथा आत्मरतिः आत्मन्येव रती रमणं प्रीतिर्यस्य, स आत्मरतिः । क्रीडा बाह्यसाधनसापेक्षा; रतिस्तु साधननिरपेक्षा बाह्य-

विषयप्रीतिमात्रमिति विशेषः । तथा क्रियावान् ज्ञानध्यान-  
 वैराग्यादिक्रिया यस्य सोऽयं क्रियवान् । समासपाठे आत्म-  
 रतिरेव क्रियास्य विद्यत इति बहुव्रीहिमतुवर्थयोरन्यतरो-  
 ऽतिरिच्यते । केचित्त्वमिहोत्रादिकर्मब्रह्मविद्ययोः समुच्चयार्थ-  
 मिच्छन्ति । तच्चैष ब्रह्मविदां वरिष्ठ इत्यनेन मुख्यार्थवच-  
 नेन विरुध्यते । न हि बाह्यक्रियावानात्मक्रीड आत्मरतिश्च  
 भवितुं शक्तः । कश्चित्कचिद्बाह्यक्रियाविनिवृत्तो ह्यात्मक्रीडो  
 भवति बाह्यक्रियात्मक्रीडयोर्विरोधात् । न हि तमःप्रकाश-  
 थोर्युगपदेकत्र स्थितिः संभवति । तस्मादसत्प्रलपितमे-  
 वैतदनेन ज्ञानकर्मसमुच्चयप्रतिपादनम् । ‘अन्या वाचो  
 विमुञ्चथ’ ‘संन्यासयोगात्’ इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । तस्माद-  
 यमेवेह क्रियावान्यो ज्ञानध्यानादिक्रियावानसंभिन्नार्यम-  
 र्यादः संन्यासी । य एवंलक्षणो नातिवाद्यात्मक्रीड  
 आत्मरतिः क्रियावान्ब्रह्मनिष्ठः, स ब्रह्मविदां सर्वेषां वरिष्ठः  
 प्रधानः ॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा

सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।

अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो

यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥

अधुना सत्यादीनि भिक्षोः सम्यग्ज्ञानसहकारीणि साधनानि विधीयन्ते निवृत्तिप्रधानानि—सत्येन अनृतत्यागेन मृषावदनत्यागेन लभ्यः प्राप्तव्यः । किंच, तपसा हीन्द्रियमनएकाग्रतया । ‘मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः’ इति स्मरणात् । तद्धयनुकूलमात्मदर्शनाभिमुखीभावात्परमं साधनं तपो नेतरञ्चान्द्रायणादि । एष आत्मा लभ्य इत्यनुषङ्गः सर्वत्र । सम्यग्ज्ञानेन यथाभूतात्मदर्शनेन ब्रह्मचर्येण मैथुनासमाचारेण । नित्यं सर्वदा ; नित्यं सत्येन नित्यं तपसा नित्यं सम्यग्ज्ञानेनेति सर्वत्र नित्यशब्दोऽन्तर्दीपिकान्यायेनानुषक्तव्यः । वक्ष्यति च ‘न येषु जिह्ममनृतं न माया च’ इति । कासावात्मा य एतैः साधनैर्लभ्य इत्युच्यते—अन्तःशरीरेऽन्तर्मध्ये शरीरस्य पुण्डरीकाकाशे ज्योतिर्मयो हि रुक्मवर्णः शुभ्रः शुद्धो यमात्मानं पश्यन्ति उपलभन्ते यतयः यतनशीलाः संन्यासिनः क्षीणदोषाः क्षीणक्रोधादिचित्तमलाः, स आत्मा नित्यं सत्यादिसाधनैः संन्यासिर्भिलभ्यत इत्यर्थः । न कादाचित्कैः सत्यादिभिर्लभ्यते । सत्यादिसाधनस्तुत्यर्थोऽयमर्थवादः ॥

**सत्यमेव जयते नानृतं**

**सत्येन पन्था विततो देवयानः ।**



येनाक्रमन्तृषयो ह्यासकामा

यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥

सत्यमेव सत्यवानेव जयते जयति, नानृतं नानृतवादीत्यर्थः ।  
न हि सत्यानृतयोः केवलयोः पुरुषानाश्रितयोः जयः पराजयो  
वा संभवति । प्रसिद्धं लोके सत्यवादिनानृतवाद्यभिभूयते  
न विपर्ययः ; अतः सिद्धं सत्यस्य बलवत्साधनत्वम् । किंच,  
शास्त्रतोऽप्यवगम्यते सत्यस्य साधनातिशयत्वम् । कथम् ?  
सत्येन यथाभूतवादव्यवस्थया पन्थाः देवयानाख्यः विततो  
विस्तीर्णः सातत्येन प्रवृत्तः । येन पथा हि अक्रमन्ति आक्रमन्ते  
ऋषयः दर्शनवन्तः कुहकमायाशाठ्याहंकारदम्भानृतवर्जिता  
ह्याप्तकामाः विगततृष्णाः सर्वतो यत्र यस्मिन्, तत्परमार्थतत्त्वं  
सत्यस्य उत्तमसाधनस्य संबन्धि साध्यं परमं प्रकृष्टं निधानं  
पुरुषार्थरूपेण निधीयत इति निधानं वर्तते । तत्र च येन  
पथा आक्रमन्ति, स सत्येन वितत इति पूर्वेण संबन्धः ॥

बृहच्च तदिव्यमचिन्त्यरूपं

सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।

दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च

पश्यत्स्वहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ ॥

किं तत्किंधर्मकं च तदित्युच्यते— बृहत् महत्  
तत् प्रकृतं ब्रह्म सत्यादिसाधनेन सर्वतो व्याप्तत्वात् ।  
दिव्यं स्वयंप्रभमनिन्द्रियगोचरम् अत एव न चिन्तयितुं  
शक्यतेऽस्य रूपमिति अचिन्त्यरूपम् । सूक्ष्मादाकाशादे-  
रपि तत्सूक्ष्मतरम्, निरतिशयं हि सौक्ष्म्यमस्य सर्वकारण-  
त्वात् ; विभाति विविधमादित्यचन्द्राद्याकारेण भाति दीप्यते ।  
किंच, दूरात् विप्रकृष्टादेशात्सुदूरे विप्रकृष्टतरे देशे वर्ततेऽवि-  
दुषामत्यन्तागम्यत्वात्तद्ब्रह्म । इह देहे अन्तिके समीपे च,  
विदुषामात्मत्वात् । सर्वान्तरत्वाच्चाकाशस्याप्यन्तरश्रुतेः । इह  
पश्यत्सु चेतनावत्स्वित्येतत्, निहितं स्थितं दर्शनादिक्रियाव-  
त्त्वेन योगिभिर्लक्ष्यमाणम् । क? गुहायां बुद्धिलक्षणायाम् ।  
तत्र हि निगूढं लक्ष्यते विद्वद्भिः । तथाप्यविद्यया संवृतं सन्न  
लक्ष्यते तत्रस्थमेवाविद्वद्भिः ॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा

नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-

स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

पुनरप्यसाधारणं तदुपलब्धिसाधनमुच्यते—यस्मात् न

चक्षुषा गृह्यते केनचिदप्यरूपत्वात् नापि गृह्यते वाचा अन-  
भिधेयत्वात् न चान्यैर्देवैः इतरेन्द्रियैः । तपसः सर्वप्राप्ति-  
साधनत्वेऽपि न तपसा गृह्यते । तथा वैदिकेनाग्निहोत्रादि-  
कर्मणा प्रसिद्धमहत्त्वेनापि न गृह्यते । किं पुनस्तस्य ग्रहणे  
साधनमित्याह—ज्ञानप्रसादेन आत्मावबोधनसमर्थमपि स्वभा-  
वेन सर्वप्राणिनां ज्ञानं बाह्यविषयरगादिदोषकलुषितमप्रस-  
सन्नमशुद्धं सन्नावबोधयति नित्यसंनिहितमप्यात्मतत्त्वं म-  
लावनद्धमिवाददर्शम्, विलुलितमिव सलिलम् । तद्यदेन्द्रि-  
यविषयसंसर्गजनितरागादिमलकालुष्यापनयनादादर्शसलिला-  
दिवत्प्रसादितं स्वच्छं शान्तमवतिष्ठते, तदा ज्ञानस्य प्रसादः  
स्यात् । तेन ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः विशुद्धान्तःकरणः  
योग्यो ब्रह्म द्रष्टुं यस्मात्, ततः तस्मात्तु तमात्मानं पश्यते  
पश्यति उपलभते निष्कलं सर्वावयवभेदवर्जितं ध्यायमानः  
सत्यादिसाधनवानुपसंहृतकरण एकाग्रेण मनसा ध्यायमानः  
चिन्तयन् ॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो

यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ।

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां

यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ९ ॥

यमात्मानमेवं पश्यति, एषः अणुः सूक्ष्मः आत्मा चेतसा विशुद्धज्ञानेन केवलेन वेदितव्यः । कासौ ? यस्मिन् शरीरे प्राणः वायुः पञ्चधा प्राणापानादिभेदेन संविवेश सम्यक् प्रविष्टः, तस्मिन्नेव शरीरे हृदये चेतसा ज्ञेय इत्यर्थः । कीदृशेन चेतसा वेदितव्य इत्याह—प्राणैः सहेन्द्रियैः चित्तं सर्वमन्तः-करणं प्रजानाम् ओतं व्याप्तं येन क्षीरमिव स्नेहेन, काष्ठमिव चाग्निना । सर्वं हि प्रजानामन्तःकरणं चेतनावत्प्रसिद्धं लोके । यस्मिंश्च चित्ते क्लेशादिमलवियुक्ते शुद्धे विभवति, एषः उक्त आत्मा विशेषेण स्वेनात्मना विभवति आत्मानं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति

विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।

तं तं लोकं जयते तांश्च कामां-

स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥१०॥

इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥

य एवमुक्तलक्षणं सर्वात्मानमात्मत्वेन प्रतिपन्नस्तस्य सर्वात्मत्वादेव सर्वावाप्तिलक्षणं फलमाह—यं यं लोकं पित्रादिलक्षणं मनसा संविभाति संकल्पयति मह्यमन्यस्मै वा भ-

वेदिति, विशुद्धसत्त्वः क्षीणक्लेशः आत्मविभिर्मलान्तःकरणः  
 कामयते यांश्च कामान् प्रार्थयते भोगान्, तं तं लोकं जयते  
 प्राप्नोति तांश्च कामान्संकल्पितान्भोगान् । तस्माद्विदुषः स-  
 त्यसंकल्पत्वादात्मज्ञमात्मज्ञानेन विशुद्धान्तःकरणं ह्यर्चयेत्पू-  
 जयेत्पादप्रक्षालनशुश्रूषानमस्कारादिभिः भूतिकामः विभूति-  
 मिच्छुः । ततः पूजार्ह एवासौ ॥

इति तृतीयमुण्डके प्रथमखण्डभाष्यम् ॥

## द्वितीयः खण्डः ॥

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम

यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।

उपासते पुरुषं ये ह्यकामा-

स्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥ १ ॥

यस्मात् स वेद जानाति एतत् यथोक्तलक्षणं ब्रह्म परमं प्रकृष्टं धाम सर्वकामाणामाश्रयमास्पदम्, यत्र यस्मिन्ब्रह्मणि धाम्नि विश्वं समस्तं जगत् निहितम् अर्पितम्, यच्च स्वेन ज्योतिषा भाति शुभ्रं शुद्धम्, तमप्येवंविधमात्मज्ञं पुरुषं ये हि अकामाः विभूतिवृष्णावर्जिता मुमुक्षवः सन्तः उपासते परमिव देवम्, ते शुक्रं नृबीजं यदेतत्प्रसिद्धं शरीरोपादानकारणम् अतिवर्तन्ति अतिगच्छन्ति धीराः बुद्धिमन्तः, न पुनर्योनिं प्रसर्पन्ति । 'न पुनः क रतिं करोति' इति श्रुतेः । अतस्तं पूजयेदित्यभिप्रायः ॥

कामान्यः कामयते मन्यमानः

स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु

इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥

मुमुक्षोः कामत्याग एव प्रधानं साधनमित्येतद्दर्शयति—  
कामान् यः दृष्टादृष्टेष्टविषयान् कामयते मन्यमानः तद्गुणां-  
श्चिन्तयानः प्रार्थयते, सः तैः कामभिः कामैर्धर्माधर्मप्र-  
वृत्तिहेतुभिर्विषयेच्छारूपैः सह जायते; तत्र तत्र, यत्र यत्र  
विषयप्राप्तिनिमित्तं कामाः कर्मसु पुरुषं नियोजयन्ति, तत्र  
तत्र तेषु तेषु विषयेषु तैरेव कामैर्वेष्टितो जायते । यस्तु  
परमार्थतत्त्वविज्ञानात्पर्याप्तकामः आत्मकामत्वेन परि सम-  
न्ततः आप्ताः कामा यस्य, तस्य पर्याप्तकामस्य कृतात्मनः  
अविद्यालक्षणादपररूपादपनीय स्वेन परेण रूपेण कृत  
आत्मा विद्यया यस्य, तस्य कृतात्मनस्तु इहैव तिष्ठत्येव  
शरीरे सर्वे धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतवः प्रविलीयन्ति प्रविलीयन्ते  
विलयमुपयान्ति, नश्यन्तीत्यर्थः । कामाः तज्जन्महेतुवि-  
नाशान्न जायन्त इत्यभिप्रायः ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

**यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-**

**स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥**

यद्येवं सर्वलाभात्परम आत्मलाभः, तद्वाभाय प्रवचना-  
दय उपाया बाहुल्येन कर्तव्या इति प्राप्ते, इदमुच्यते—  
यः अयमात्मा व्याख्यातः, यस्य लाभः परः पुरुषार्थः,  
नासौ वेदशास्त्राध्ययनबाहुल्येन प्रवचनेन लभ्यः । तथा  
न मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या, न बहुना श्रुतेन नापि  
भूयसा श्रवणेनेत्यर्थः । केन तर्हि लभ्य इति, उच्यते—  
यमेव परमात्मानमेव एषः विद्वान् वृणुते प्राप्तुमिच्छति,  
तेन वरणेन एष पर आत्मा लभ्यः, नान्येन साधनान्तरेण,  
नित्यलब्धस्वभावत्वात् । कीदृशोऽसौ विदुष आत्मलाभ  
इति, उच्यते— तस्य एष आत्मा अविद्यासंछन्नां स्वां परां  
तनूं स्वात्मतत्त्वं स्वरूपं विवृणुते प्रकाशयति, प्रकाश इव  
घटादिर्विद्यायां सत्यामाविर्भवतीत्यर्थः । तस्मादन्यत्यागेना-  
त्मप्रार्थनैव आत्मलाभसाधनमित्यर्थः ॥

**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो**

**न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् ।**



एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-

स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्म धाम ॥

आत्मप्रार्थनासहायभूतान्येतानि च साधनानि बलाप्रमा-  
दतपांसि लिङ्गयुक्तानि संन्याससहितानि । यस्मात् न अयमा-  
त्मा बलहीनेन बलप्रहीणेनात्मनिष्ठाजनितवीर्यहीनेन ल-  
भ्यः ; नापि लौकिकपुत्रपश्वादिविषयासङ्गनिमित्तात्प्रमादात् ;  
तथा तपसो वापि अलिङ्गात् लिङ्गरहितात् । तपोऽत्र ज्ञा-  
नम् ; लिङ्गं संन्यासः ; संन्यासरहिताज्ज्ञानान्न लभ्यत इत्यर्थः ।  
एतैः उपायैः बलाप्रमादसंन्यासज्ञानैः यतते तत्परः सन्प्रयतते  
यस्तु विद्वान्विवेकी आत्मवित् , तस्य विदुषः एष आत्मा  
विशते संप्रविशति ब्रह्म धाम ॥

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः

कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।

ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा

युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥ ५ ॥

कथं ब्रह्म विशत इति, उच्यते—संप्राप्य समवगम्य एनम्  
आत्मानम् ऋषयः दर्शनवन्तः तेनैव ज्ञानेन तृप्ताः, न, बा-

ह्येन तृप्तिसाधनेन शरीरोपचयकारणेन । कृतात्मानः परमा-  
त्मस्वरूपेणैव निष्पन्नात्मानः सन्तः । वीतरागाः विगतरा-  
गादिदोषाः । प्रशान्ताः उपरतेन्द्रियाः । ते एवंभूताः सर्वगं  
सर्वव्यापिनम् आकाशवत् सर्वतः सर्वत्र प्राप्य, नोपाधिपरि-  
च्छिन्नेनैकदेशेन; किं तर्हि, तद्ब्रह्मैवाद्वयमात्मत्वेन प्रतिपद्य  
धीराः अत्यन्तविवेकिनः युक्तात्मानो नित्यसमाहितस्वभावाः  
सर्वमेव समस्तं शरीरपातकालेऽपि आविशन्ति भिन्नघटा-  
काशवदविद्याकृतोपाधिपरिच्छेदं जहति । एवं ब्रह्मविदो ब्रह्म  
धाम प्रविशन्ति ॥

**वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः**

**संन्यासयोगायतयः शुद्धसत्त्वाः ।**

**ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले**

**परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ६ ॥**

किञ्च, वेदान्तजनितं विज्ञानं वेदान्तविज्ञानं तस्यार्थः पर  
आत्मा विज्ञेयः, सोऽर्थः सुनिश्चितो येषां ते वेदान्तविज्ञानसु-  
निश्चितार्थाः । ते च संन्यासयोगात् सर्वकर्मपरित्यागलक्षणयो-  
गात्केवलब्रह्मनिष्ठास्वरूपाद्योगात् यतयः यतनशीलाः शुद्धस-  
त्त्वाः शुद्धं सत्त्वं येषां संन्यासयोगात्, ते शुद्धसत्त्वाः । ते ब्र-

ह्यलोकेषु ; संसारिणां ये मरणकालास्ते अपरान्तकालाः; तान-  
 पेक्ष्य मुमुक्षूणां संसारावसाने देहपरित्यागकालः परान्तकालः  
 तस्मिन् परान्तकाले साधकानां बहुत्वाद्ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः  
 एकोऽप्यनेकवद्दृश्यते प्राप्यते च । अतो बहुवचनं ब्रह्मलोके-  
 ष्विति, ब्रह्मणीत्यर्थः । परामृताः परम् अमृतम् अमरणधर्मकं  
 ब्रह्म आत्मभूतं येषां ते परामृता जीवन्त एव ब्रह्मभूताः, परा-  
 मृताः सन्तः परिमुच्यन्ति परि समन्तात्प्रदीपनिर्वाणवद्विन्न-  
 घटाकाशवच्च निवृत्तिमुपयान्ति परिमुच्यन्ति परि सम-  
 न्तान्मुच्यन्ते सर्वे, न देशान्तरं गन्तव्यमपेक्षन्ते । ‘शकु-  
 नीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य वा । पदं यथा न दृश्येत  
 तथा ज्ञानवतां गतिः’ ‘अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः’  
 इति श्रुतिस्मृतिभ्याम्; देशपरिच्छिन्ना हि गतिः संसारविषयैव  
 परिच्छिन्नसाधनसाध्यत्वात् । ब्रह्म तु समस्तत्वान्न देशपरि-  
 च्छेदेन गन्तव्यम् । यदि हि देशपरिच्छिन्नं ब्रह्म स्यात्, मू-  
 र्त्तद्रव्यवदाद्यन्तवदन्याश्रितं सावयवमनित्यं कृतकं च स्यात् ।  
 न त्वेवंविधं ब्रह्म भवितुमर्हति । अतस्तत्प्राप्तिश्च नैव देशप-  
 रिच्छिन्ना भवितुं युक्ता ॥

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा

देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।

## कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा

परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥ ७ ॥

अपि च, अविद्यादिसंसारबन्धापनयनमेव मोक्षमिच्छन्ति ब्रह्मविदः, न तु कार्यभूतम् । किञ्च, मोक्षकाले या देहारम्भिकाः कलाः प्राणाद्याः, ताः स्वाः प्रतिष्ठाः गताः स्वं स्वं कारणं गता भवन्तीत्यर्थः । प्रतिष्ठा इति द्वितीयाबहुवचनम् । पञ्चदश पञ्चदशसंख्याका या अन्त्यप्रश्नपरिपठिताः प्रसिद्धाः, देवाश्च देहाश्रयाश्चक्षुरादिकरणस्थाः सर्वे प्रतिदेवतास्वादित्यादिषु गता भवन्तीत्यर्थः । यानि च मुमुक्षुणा कृतानि कर्माण्यप्रवृत्तफलानि, प्रवृत्तफलानामुपभोगेनैव क्षीणत्वात् । विज्ञानमयश्चात्मा अविद्याकृतबुद्ध्याद्युपाधिमात्मत्वेन गत्वा जलादिषु सूर्यादिप्रतिबिम्बवदिह प्रविष्टो देहभेदेषु कर्मणां तत्फलार्थत्वात्सह तेनैव विज्ञानमयेनात्मना; अतो विज्ञानमयो विज्ञानप्रायः । त एते कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा उपाध्यपनये सति परे अव्यये अनन्तेऽक्षये ब्रह्मणि आकाशकल्पेऽजेऽजरेऽमृतेऽभयेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेऽबाह्येऽद्वये शिवे शान्ते सर्वे एकीभवन्ति अविशेषतां गच्छन्ति एकत्वमापद्यन्ते जलाद्याधारापनय इव सू-

र्यादिप्रतिबिम्बाः सूर्ये, घटाद्यपनय इवाकाशे घटाद्या-  
काशाः ॥

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-

ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः

परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८ ॥

किंच, यथा नद्यः गङ्गाद्याः स्यन्दमानाः गच्छन्त्यः समुद्रे  
समुद्रं प्राप्य अस्तम् अदर्शनमविशेषात्मभावं गच्छन्ति प्राप्नु-  
वन्ति नाम च रूपं च नामरूपे विहाय हित्वा, तथा अवि-  
द्याकृतनामरूपात् विमुक्तः सन् विद्वान् परात् अक्षरात्पूर्वो-  
क्तात् परं दिव्यं पुरुषं यथोक्तलक्षणम् उपैति उपगच्छति ॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद

ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति ।

तरति शोकं तरति पाप्मानं

गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ९ ॥

ननु श्रेयस्यनेके विघ्नाः प्रसिद्धाः; अतः क्लेशानामन्यतमे-  
नान्येन वा देवादिना च विघ्नितो ब्रह्मविदप्यन्यां गतिं मृतो

गच्छति न ब्रह्मैव ; न, विद्यैव सर्वप्रतिबन्धस्यापनीतत्वात् ।  
अविद्याप्रतिबन्धमात्रो हि मोक्षो नान्यप्रतिबन्धः, नित्यत्वा-  
दात्मभूतत्वाच्च । तस्मात् सः यः कश्चित् ह वै लोके तत् पर-  
मं ब्रह्म वेद साक्षादहमेवास्मीति जानाति, स नान्यां गतिं  
गच्छति । देवैरपि तस्य ब्रह्मप्राप्तिं प्रति विघ्नो न शक्यते  
कर्तुम् ; आत्मा ह्येषां स भवति । तस्माद्ब्रह्म विद्वान् ब्रह्मैव  
भवति । किंच, न अस्य विदुषः अब्रह्मवित् कुले भवति ; किंच,  
तरति शोकम् अनेकेष्टवैकल्यनिमित्तं मानसं संतापं जीव-  
न्नेवातिक्रान्तो भवति । तरति पाप्मानं धर्माधर्माख्यं गुहाप्र-  
न्थिभ्यः हृदयाविद्याप्रन्थिभ्यः विमुक्तः सन् मृतः भवती-  
त्युक्तमेव ‘भिद्यते हृदयप्रन्थिः’ इत्यादि ॥

तदेतदृचाभ्युक्तम्—

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः

स्वयं जुह्वत एकांषि श्रद्धयन्तः ।

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत

शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥ १० ॥

अथेदानीं ब्रह्मविद्यासंप्रदानविध्युपप्रदर्शनेनोपसंहारः क्रि-  
यते—तदेतत् विद्यासंप्रदानविधानम् ऋचा मन्त्रेण अभ्यु-

क्तम् अभिप्रकाशितम् । क्रियावन्तः यथोक्तकर्मानुष्ठानयुक्ताः ।  
 श्रोत्रियाः ब्रह्मनिष्ठाः अपरस्मिन्ब्रह्मण्यभियुक्ताः परं ब्रह्म  
 बुभुत्सवः स्वयम् एकर्षिम् एकर्षिनामानमग्निं जुह्वते जुह्वति  
 श्रद्धयन्तः श्रद्धावानाः सन्तः ये, तेषामेव संस्कृतात्मनां पात्र-  
 भूतानाम् एतां ब्रह्मविद्यां वदेत ब्रूयात् शिरोव्रतं शिरस्त्रि-  
 धारणलक्षणम् । यथा आथर्वणानां वेदव्रतं प्रसिद्धम् । यैस्तु  
 यैश्च तत् चीर्णं विधिवत् यथाविधानं तेषामेव वदेत ॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैत-  
 द्चीर्णव्रतोऽधीते । नमः परमऋषिभ्यो  
 नमः परमऋषिभ्यः ॥ ११ ॥

तदेतत् अक्षरं पुरुषं सत्यम् ऋषिः अङ्गिरा नाम पुरा  
 पूर्वं शौनकाय विधिवदुपसन्नाय पृष्ठवते उवाच । तद्वदन्यो-  
 ऽपि तथैव श्रेयार्थिने मुमुक्षवे मोक्षार्थं विधिवदुपसन्नाय ब्रू-  
 यादित्यर्थः । न एतत् ग्रन्थरूपम् अचीर्णव्रतः अचरितव्रतो-  
 ऽपि अधीते न पठति ; चीर्णव्रतस्य हि विद्या फलाय संस्कृ-  
 ता भवतीति । समाप्ता ब्रह्मविद्या ; सा येभ्यो ब्रह्मादिभ्यः  
 पारम्पर्यक्रमेण संप्राप्ता, तेभ्यो नमः परमऋषिभ्यः । परमं

ब्रह्म साक्षाद्दृष्टवन्तो ये ब्रह्मादयोऽवगतवन्तश्च, ते परमर्षयः  
तेभ्यो भूयोऽपि नमः । द्विर्वचनमत्यादरार्थं मुण्डकसमा-  
प्त्यर्थं च ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्द-  
भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ  
मुण्डकोपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥



ॐ

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम  
देवाः । भद्रं पश्येमाक्षभिर्य-  
जत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ-  
सस्तनूभिः । व्यशेम देव-  
हितं यदायुः ॥ स्वस्ति न  
इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्वस्ति नः  
पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति न-  
स्ताक्षर्योऽरिष्टनेमिः । स्वस्ति  
नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

॥ ॐ ॥

# माण्डूक्योपनिषद्भाष्यम्

श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादैः  
विरचितम् ।



ॐ

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम  
देवाः । भद्रं पश्येमाक्षभिर्य-  
जत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ-  
सस्तनूभिः । व्यशेम देव-  
हितं यदायुः ॥ स्वस्ति न  
इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्वस्ति नः  
पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति न-  
स्ताक्ष्योऽरिष्टनेमिः । स्वस्ति  
नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

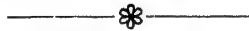
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥





# सगौडपादीयकारिका ॥ माण्डूक्योपनिषत् ॥

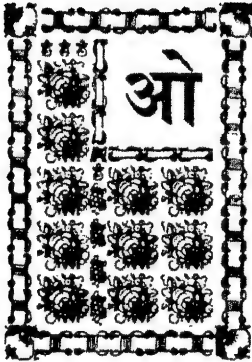
श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितेन  
भाष्येण सहिता ॥



प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोका-  
न्भुक्त्वा भोगान्स्थविष्टान्पुनरपि धिषणोद्भासितान्कामजन्यान् ।  
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ्गायया भोजयन्तो  
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥ १ ॥

यो विश्वात्मा विधिजविषयान्प्राश्य भोगान्स्थविष्टा-  
न्पश्चाच्चान्यान्स्वमतिविभवाब्ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान् ।  
सर्वानेतान्पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा  
हित्वा सर्वान्विशेषान्विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः ॥ २ ॥

## आगमप्रकरणम् ॥



मित्येतदक्षरमिदं सर्वं त-  
स्योपव्याख्यानम् । वेदान्तार्थसार-  
संग्रहभूतमिदं प्रकरणचतुष्टयम् ओ-  
मित्येतदक्षरमित्यादि आरभ्यते । अत-  
एव न पृथक् संबन्धाभिधेयप्रयोज-  
नानि वक्तव्यानि । यान्येव तु वे-  
दान्ते संबन्धाभिधेयप्रयोजनानि, तान्येवेहापि भवितुमर्हन्ति ;  
तथापि प्रकरणव्याचिख्यासुना संक्षेपतो वक्तव्यानीति मन्य-  
न्ते व्याख्यातारः । तत्र प्रयोजनवत्साधनाभिव्यञ्जकत्वेना-  
भिधेयसंबद्धं शास्त्रं पारम्पर्येण विशिष्टसंबन्धाभिधेयप्रयो-  
जनवद्भवति । किं पुनस्तत्प्रयोजनमिति, उच्यते—रोगार्त-  
स्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता, तथा दुःखात्मकस्यात्मनो  
द्वैतप्रपञ्चोपशमे स्वस्थता ; अद्वैतभावः प्रयोजनम् । द्वैतप्रप-  
ञ्चस्य चाविद्याकृतत्वाद्विद्यया तदुपशमः स्यादिति ब्र-  
ह्मविद्याप्रकाशनाय अस्यारम्भः क्रियते । ‘यत्र हि  
द्वैतमिव भवति’ ‘यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्य-

त्पश्येदन्योऽन्यद्विजानीयात्' 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मै-  
वाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयात्' इत्यादिश्रु-  
तिभ्योऽस्यार्थस्य सिद्धिः । तत्र तावदोकारनिर्णयाय प्रथमं  
प्रकरणमागमप्रधानमात्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायभूतम् । यस्य द्वैत-  
प्रपञ्चस्योपशमे अद्वैतप्रतिपत्तिः रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पो-  
पशमे रज्जुतत्त्वप्रतिपत्तिः, तस्य द्वैतस्य हेतुतो वैतथ्यप्रति-  
पादनाय द्वितीयं प्रकरणम् । तथा अद्वैतस्यापि वैतथ्यप्रस-  
ङ्गप्राप्तौ, युक्तितस्तथात्वप्रतिपादनाय तृतीयं प्रकरणम् । अद्वै-  
तस्य तथात्वप्रतिपत्तिविपक्षभूतानि यानि वादान्तराण्यवैदि-  
कानि सन्ति, तेषामन्योन्यविरोधित्वादतथार्थत्वेन तदुपप-  
त्तिभिरेव निराकरणाय चतुर्थं प्रकरणम् ॥

**ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योप-  
व्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमो-  
कार एव । यच्चान्यन्निकालातीतं तदप्यो-  
कार एव ॥ १ ॥**

कथं पुनरोकारनिर्णय आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायत्वं प्रतिप-  
द्यत इति, उच्यते—'ओमित्येतत्' 'एतदालम्बनम्' 'एतद्वै-  
सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोकारः । तस्माद्विद्वानेतेनै-



वायतनेनैकतरमन्वेति' 'ओमित्यात्मानं युञ्जीत' 'ओमिति ब्रह्म' 'ओंकार एवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः । रज्ज्वादि-  
 रिब सर्पादिविकल्पस्यास्पदमद्वय आत्मा परमार्थतः सन्प्रा-  
 णादिविकल्पस्यास्पदं यथा, तथा सर्वोऽपि वाक्प्रपञ्चः प्रा-  
 णाद्यात्मविकल्पविषय ओंकार एव । स चात्मस्वरूप-  
 मेव, तदभिधायकत्वान् । ओंकारविकारशब्दाभिधेयश्च सर्वः  
 प्राणादिरात्मविकल्पः अभिधानव्यतिरेकेण नास्ति ; 'वा-  
 चारम्भणं विकारो नामधेयम्' 'तदस्येदं वाचा तन्त्या  
 नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्, सर्वं ह्रीदं नामनि' इत्यादिश्रु-  
 तिभ्यः । अत आह—ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति । य-  
 दिदम् अर्थजातमभिधेयभूतम्, तस्य अभिधानाव्यतिरेकात्,  
 अभिधानभेदस्य च ओंकाराव्यतिरेकात् ओंकार एवेदं सर्वम् ।  
 परं च ब्रह्म अभिधानाभिधेयोपायपूर्वकमवगम्यत इत्योंकार  
 एव । तस्य एतस्य परापरब्रह्मरूपस्याक्षरस्य ओमित्येतस्य  
 उपव्याख्यानम्, ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वाद्ब्रह्मसमीपतया विस्पष्टं  
 प्रकथनमुपव्याख्यानम् ; प्रस्तुतं वेदितव्यमिति वाक्यशेषः ।  
 भूतं भवत् भविष्यत् इति कालत्रयपरिच्छेद्यं यत्, तदपि  
 ओंकार एव, उक्तन्यायतः । यच्च अन्यत् त्रिकालातीतं कार्या-  
 धिगम्यं कालापरिच्छेद्यमव्याकृतादि, तदपि ओंकार एव ॥

## सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽय- मात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

अभिधानाभिधेययोरेकत्वेऽपि अभिधानप्राधान्येन निर्देशः कृतः ‘ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्’ इत्यादि । अभिधानप्राधान्येन निर्दिष्टस्य पुनरभिधेयप्राधान्येन निर्देशः अभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थः । इतरथा हि अभिधानतन्त्राभिधेयप्रतिपत्तिरिति अभिधेयस्याभिधानत्वं गौणमित्याशङ्का स्यात् । एकत्वप्रतिपत्तेश्च प्रयोजनमभिधानाभिधेययोः— एकेनैव प्रयत्नेन युगपत्प्रविलापयंस्तद्विलक्षणं ब्रह्म प्रतिपद्येतेति । तथा च वक्ष्यति— ‘पादा मात्रा मात्राश्च पादाः’ इति । तदाह— सर्वं ह्येतद्ब्रह्मेति । सर्वं यदुक्तमोकारमात्रमिति, तदेतत् ब्रह्म । तच्च ब्रह्म परोक्षाभिहितं प्रत्यक्षतो विशेषेण निर्दिशति—अयमात्मा ब्रह्मेति । अयम् इति चतुष्पात्त्वेन प्रविभज्यमानं प्रत्यगात्मतयाभिनयेन निर्दिशति अयमात्मेति । सोऽयमात्मा ओंकाराभिधेयः परापरत्वेन व्यवस्थितः चतुष्पात् कार्षापणवत्, न गौरिव । त्रयाणां विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करणसाधनः पादशब्दः; तुरीयस्य तु पद्यत इति कर्मसाधनः पादशब्दः ॥

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग ए-  
कोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथ-  
मः पादः ॥ ३ ॥

कथं चतुष्पात्त्वमित्याह—जागरितस्थान इति । जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थानः, बहिःप्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य, सः बहिःप्रज्ञः; बहिर्विषयेव प्रज्ञा यस्याविद्याकृतावभासत इत्यर्थः । तथा सप्त अङ्गान्यस्य; ‘तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धेव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ’ इत्यग्निहोत्राहुतिकल्पनाशेषत्वेनाग्निर्मुखत्वेनाहवनीय उक्त इत्येवं सप्ताङ्गानि यस्य, सः सप्ताङ्गः । तथा एकोनविंशतिर्मुखान्यस्य; बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश, वायवश्च प्राणादयः पञ्च, मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तमिति, मुखानीव मुखानि तानि; उपलब्धिद्वाराणीत्यर्थः । स एवंविशिष्टो वैश्वानरः यथोक्तैर्द्वारैः शब्दादीन्स्थूलान्विषयान्भुङ्क्ते इति स्थूलभुक् । विश्वेषां नराणामनेकधा सुखादिनयनाद्विश्वानरः, यद्वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरः, विश्वानर एव वैश्वानरः, सर्वपिण्डात्मानन्यत्वात्; स प्रथमः पादः । एतत्पूर्वकत्वादुत्तरपादाधिगमस्य प्राथम्यमस्य । कथम् ‘अयमात्मा ब्रह्म’

इति प्रत्यगात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते शुलोकादीनां मूर्धा-  
द्यङ्गत्वमिति ? नैष दोषः, सर्वस्य प्रपञ्चस्य साधिदैवि-  
कस्य अनेनात्मना चतुष्पात्त्वस्य विवक्षितत्वात् । एवं च  
सति सर्वप्रपञ्चोपशमे अद्वैतसिद्धिः । सर्वभूतस्थश्च आत्मा  
एको दृष्टः स्यात्; सर्वभूतानि चात्मनि । ‘यस्तु सर्वाणि  
भूतानि’ इत्यादिश्रुत्यर्थश्चैवमुपसंहृतः स्यात्; अन्यथा हि  
स्वदेहपरिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा सांख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्;  
तथा च सति अद्वैतमिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात्, सां-  
ख्यादिदर्शनेनाविशेषात् । इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मै-  
क्यप्रतिपादकत्वम्; ततो युक्तमेवास्य आध्यात्मिकस्य पि-  
ण्डात्मनो शुलोकाद्यङ्गत्वेन विराडात्मनाधिदैविकेनैकत्वमित्य-  
भिप्रेत्य सप्ताङ्गत्ववचनम् । ‘मूर्धा ते व्यपतिष्यत्’ इत्यादि-  
लिङ्गदर्शनाच्च । विराजैकत्वमुपलक्षणार्थं हिरण्यगर्भाव्याकृ-  
तात्मनोः । उक्तं चैतन्मधुब्राह्मणे— ‘यश्चायमस्यां पृथिव्यां  
तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मम्’ इत्यादि ।  
सुषुप्ताव्याकृतयोस्त्वेकत्वं सिद्धमेव, निर्विशेषत्वात् । एवं च  
सत्येतत्सिद्धं भविष्यति— सर्वद्वैतोपशमे चाद्वैतमिति ॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोन-  
विंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्विती-

यः पादः ॥ ४ ॥

स्वप्नः स्थानमस्य तैजसस्येति स्वप्नस्थानः । जाग्रत्प्रज्ञा अने-  
कसाधना बहिर्विषयेवावभासमाना मनःस्पन्दनमात्रा सती  
तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते; तन्मनः तथा संस्कृतं  
चित्रित इव पटो बाह्यसाधनानपेक्षमविद्याकामकर्मभिः प्रेर्य-  
माणं जाग्रदवभासते । तथा चोक्तम्— ‘अस्य लोकस्य  
सर्वावतो मात्रामपादाय’ इत्यादि । तथा ‘परे देवे मनस्येकी-  
भवति’ इति प्रस्तुत्य ‘अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनु-  
भवति’ इत्याथर्वणे । इन्द्रियापेक्षया अन्तःस्थत्वान्मनसः  
तद्वासनारूपा च स्वप्ने प्रज्ञा यस्येति अन्तःप्रज्ञः, विषय-  
शून्यायां प्रज्ञायां केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवती-  
ति तैजसः । विश्वस्य सविषयत्वेन प्रज्ञायाः स्थूलाया भोज्य-  
त्वम्; इह पुनः केवला वासनामात्रा प्रज्ञा भोज्येति प्रवि-  
क्तो भोग इति । समानमन्यत् । द्वितीयः पादः  
तैजसः ॥

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न  
कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्त-  
स्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दम-

यो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राप्स्यति ।

गादः ॥ ५ ॥

दर्शनादर्शनवृत्त्योः स्वापस्य तुल्यत्वात्सुषुप्तग्रहणार्थं यत्र सुप्त इत्यादिविशेषणम् । अथवा, त्रिष्वपि स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणः स्वापोऽविशिष्ट इति पूर्वाभ्यां सुषुप्तं विभजते — यत्र यस्मिन्स्थाने काले वा सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति । न हि सुषुप्ते पूर्वयोरिवान्यथाग्रहणलक्षणं स्वप्नदर्शनं कामो वा कश्चन विद्यते । तदेतत्सुषुप्तं स्थानमस्येति सुषुप्तस्थानः । स्थानद्वयप्रविभक्तं मनःस्पन्दितं द्वैतजातं तथा रूपापरित्यागेनाविवेकापन्नं नैशतमोघस्तमिवाहः सप्रपञ्चमेकीभूतमित्युच्यते । अत एव स्वप्नजाग्रन्मनःस्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानीव ; सेयमवस्था अविवेकरूपत्वात्प्रज्ञानघन उच्यते । यथा रात्रौ नैशेन तमसा अविभज्यमानं सर्वं घनमिव, तद्वत्प्रज्ञानघन एव । एवमब्दान्न जात्यन्तरं प्रज्ञानव्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः । मनसो विषयविषयकारस्पन्दनायासदुःखाभावात् आनन्दमयः आनन्दप्रायः ; नानन्द एव, अनात्यन्तिकत्वात् । यथा लोके निरायासः स्थितः सुख्यानन्दभुगुच्यते । अत्यन्तानायासरूपा हीयं स्थितिरनेनात्मनानुभूयत इत्यानन्दभुक्, ' एषोऽस्य परम आनन्दः '

इति श्रुतः । चक्षुःप्रतिबोधं चेतः प्रति द्वारीभूतत्वात्  
 चेतोमुखः ; बोधलक्षणं वा चेतो द्वारं मुखमस्य स्वप्राणाग-  
 मनं प्रतीतिं चेतोमुखः । भूतभविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषय-  
 ज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः । सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ  
 उच्यते । अथवा, प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैव असाधारणं रूपमिति  
 प्राज्ञः ; इतरयोर्विशिष्टमपि विज्ञानमस्तीति । सोऽयं प्राज्ञ-  
 स्तृतीयः पादः ॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्या-  
 म्येष योनिः सर्वस्य प्रभवान्ययौ हि  
 भूतानाम् ॥ ६ ॥

एषः हि स्वरूपावस्थः सर्वेश्वरः साधिदैविकस्य भेदजा-  
 तस्य सर्वस्य ईश्वरः ईशिता ; नैतस्माज्जात्यन्तरभूतोऽन्येषामि-  
 व, 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इति श्रुतेः । अयमेव हि  
 सर्वस्य सर्वभेदावस्थो ज्ञातेति एषः सर्वज्ञः । अत एव एषः  
 अन्तर्यामी, अन्तरनुप्रविश्य सर्वेषां भूतानां यमायिता नि-  
 यन्ताप्येष एव । अत एव यथोक्तं सभेदं जगत्प्रसूयत इति  
 एषः योनिः सर्वस्य । यत एवम्, प्रभवश्चाप्यवश्च प्रभवा-  
 न्ययौ हि भूतानामेष एव ॥

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

बहिःप्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः ।

घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्थितः ॥ १ ॥

अत्र एतस्मिन्यथोक्तेऽर्थे एते श्लोका भवन्ति—बहिःप्रज्ञ इति । पर्यायेण त्रिस्थानत्वात् सोऽहमिति स्मृत्या प्रतिसंधानाच्च स्थानत्रयव्यतिरिक्तत्वमेकत्वं शुद्धत्वमसङ्गत्वं च सिद्धमित्यभिप्रायः, महामत्स्यादिदृष्टान्तश्रुतेः ॥

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः ।

आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ॥ २ ॥

जागरितावस्थायामेव विश्वादीनां त्रयाणामनुभवप्रदर्शनार्थोऽयं श्लोकः—दक्षिणाक्षीति । दक्षिणमक्ष्येव मुखम्, तस्मिन्प्राधान्येन द्रष्टा स्थूलानां विश्वः अनुभूयते, ‘इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः’ इति श्रुतेः । इन्धो दीप्तिगुणो वैश्वानर आदित्यान्तर्गतो वैराज आत्मा चक्षुषि च द्रष्टैकः । नन्वन्यो हिरण्यगर्भः, क्षेत्रज्ञो दक्षिणेऽक्षिण्यक्ष्णोर्नियन्ता द्रष्टा चान्यो देहस्वामी ; न, स्वतो भेदानभ्युपगमात् ; ‘एको देवः सर्वभूतेषु गूढः’ इति श्रुतेः, ‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत’ ‘अविभक्तं च भू-



तेषु विभक्तमिव च स्थितम्' इति स्मृतेश्च; सर्वेषु करणेष्व-  
विशेषेष्वपि दक्षिणाक्षिण्युपलब्धिपाटवदर्शनात्तत्र विशेषेण  
निर्देशोऽस्य विश्वस्य । दक्षिणाक्षिगतो दृष्ट्वा रूपं निमीलिताक्ष-  
स्तदेव स्मरन्मनस्यन्तः स्वप्न इव तदेव वासनारूपाभिव्यक्तं  
पश्यति । यथा तत्र तथा स्वप्ने; अतः मनसि अन्तस्तु तैज-  
सोऽपि विश्व एव । आकाशे च हृदि स्मरणाख्यव्यापारोप-  
रमे प्राज्ञ एकीभूतो घनप्रज्ञ एव भवति, मनोव्यापाराभा-  
वात् । दर्शनस्मरणे एव हि मनःस्पन्दितम्; तदभावे हृद्येवा-  
विशेषेण प्राणात्मनावस्थानम्, 'प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृद्धे'  
इति श्रुतेः । तैजसः हिरण्यगर्भः, मनःस्थत्वात्; 'लिङ्गं  
मनः' 'मनोमयोऽयं पुरुषः' इत्यादिश्रुतिभ्यः । ननु, व्या-  
कृतः प्राणः सुषुप्ते; तदात्मकानि करणानि भवन्ति; कथम-  
व्याकृतता? नैष दोषः, अव्याकृतस्य देशकालविशेषाभावा-  
त् । यद्यपि प्राणाभिमाने सति व्याकृततैव प्राणस्य; तथा-  
पि पिण्डपरिच्छिन्नविशेषाभिमाननिरोधः प्राणे भवतीत्यव्या-  
कृत एव प्राणः सुषुप्ते परिच्छिन्नाभिमानवताम् । यथा प्राण-  
लये परिच्छिन्नाभिमानिनां प्राणोऽव्याकृतः, तथा प्राणाभि-  
मानिनोऽप्यविशेषापत्तावव्याकृतता समाना, प्रसवबीजात्म-  
कत्वं च । तदध्यक्षश्चैकोऽव्याकृतावस्थः । परिच्छिन्नाभिमा-

निनामध्यक्षाणां च तेनैकत्वमिति पूर्वोक्तं विशेषणमेकीभूतः  
 प्रज्ञानघन इत्याद्युपपन्नम् । तस्मिन्नेतस्मिन्नुक्तहेतुसत्त्वाच्च । कथं  
 प्राणशब्दत्वमव्याकृतस्य ? ‘प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः’  
 इति श्रुतेः । ननु, तत्र ‘सदेव सोम्य’ इति प्रकृतं सद्ब्रह्म  
 प्राणशब्दवाच्यम् ; नैष दोषः, बीजात्मकत्वाभ्युपगमात्सतः ।  
 यद्यपि सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यं तत्र, तथापि जीवप्रसवबीजा-  
 त्मकत्वमपरित्यज्यैव प्राणशब्दत्वं सतः सच्छब्दवाच्यता च ।  
 यदि हि निर्बीजरूपं विवक्षितं ब्रह्माभविष्यत्, ‘नेति नेति’  
 ‘यतो वाचो निवर्तन्ते’ ‘अन्यदेव तद्विदितादथो अवि-  
 दितादधि’ इत्यवक्ष्यत् ; ‘न सत्तन्नासदुच्यते’ इति स्मृतेः ।  
 निर्बीजतयैव चेत्, सति प्रलीनानां संपन्नानां सुषुप्तिप्रलययोः  
 पुनरुत्थानानुपपत्तिः स्यात् ; मुक्तानां च पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः,  
 बीजाभावाविशेषात्, ज्ञानदाह्यबीजाभावे च ज्ञानानर्थक्य-  
 प्रसङ्गः ; तस्मात्सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यप-  
 देशः, सर्वश्रुतिषु च कारणत्वव्यपदेशः । अत एव ‘अक्ष-  
 रात्परतः परः’ ‘सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः’ ‘यतो वाचो  
 निवर्तन्ते’ ‘नेति नेति’ इत्यादिना बीजत्वापनयनेन व्यप-  
 देशः । तामबीजावस्थां तस्यैव प्राज्ञशब्दवाच्यस्य तुरीयत्वेन  
 देहादिसंबन्धजाग्रदादिरहितां पारमार्थिकीं पृथग्वक्ष्यति ।

बीजावस्थापि 'न किञ्चिद्वेदिषम' इत्युत्थितस्य प्रत्ययदर्शनाद्देहेऽनुभूयत एवेति त्रिधा देहे व्यवस्थित इत्युच्यते ॥

विश्वो हि स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।  
 आनन्दभुक्तया प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ॥ ३ ॥  
 स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम् ।  
 आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ॥ ४ ॥

उक्तार्थो हि श्लोकौ ॥

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।  
 वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥ ५ ॥

त्रिषु धामसु जाग्रदादिषु स्थूलप्रविविक्तानन्दाख्यं यद्भोज्यमेकं त्रिधाभूतम्; यश्च विश्वतैजसप्राज्ञाख्यो भोक्तैकः 'सोऽहम्' इत्येकत्वेन प्रतिसंधानात् द्रष्टृत्वाविशेषाच्च प्रकीर्तितः; चो वेद एतदुभयं भोज्यभोक्तृतया अनेकधा भिन्नम्, सः भुञ्जानः न लिप्यते, भोज्यस्य सर्वस्यैकभोक्तृ-भोज्यत्वात् । न हि यस्य यो विषयः, स तेन हीयते वर्धते वा । न ह्यग्निः स्वविषयं दग्ध्वा काष्ठादि, तद्वत् ॥

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः ।  
 सर्वं जनयति प्राणश्चेतौशून्पुरुषः पृथक् ॥ ६ ॥

सतां विद्यमानानां स्वेन अविद्याकृतनामरूपमायास्वरू-  
पेण सर्वभावानां विश्वतैजसप्राज्ञभेदानां पभवः उत्पत्तिः ।  
वक्ष्यति च— ‘वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि  
जायते’ इति । यदि ह्यसतामेव जन्म स्यात्, ब्रह्मणोऽव्य-  
वहार्यस्य ग्रहणद्वाराभावादसत्त्वप्रसङ्गः । दृष्टं च रज्जुसर्पा-  
दीनामविद्याकृतमायाबीजोत्पन्नानां रज्ज्वाद्यात्मना सत्त्वम् ।  
न हि निरास्पदा रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादयः कचिदुपलभ्यन्ते  
केनचित् । यथा रज्ज्वां प्राक्सर्पोत्पत्तेः रज्ज्वात्मना सर्पः  
सन्नेवासीत्, एवं सर्वभावानामुत्पत्तेः प्राक्प्राणबीजात्म-  
नैव सत्त्वमिति । श्रुतिरपि वक्ति ‘ब्रह्मैवेदम्’ ‘आत्मैवेदमग्र  
आसीत्’ इति । अतः सर्वं जनयति प्राणः चेतोऽंशून् अंशव  
इव रवेश्चिदात्मकस्य पुरुषस्य चेतोरूपा जलार्कसमाः प्राज्ञ-  
तैजसविश्वभेदेन देवमनुष्यतिर्यगादिदेहभेदेषु विभाव्यमाना-  
श्चेतोऽंशवो ये, तान् पुरुषः पृथक् सृजति विषयभावविलक्ष-  
णानग्निविस्फुलिङ्गवत्सलक्षणान् जलार्कवच्च जीवलक्षणांस्त्व-  
तरान्सर्वभावान् प्राणो बीजात्मा जनयति, ‘यथोर्णनाभिः’  
‘यथाम्रेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः’ इत्यादिश्रुतेः ॥

विभूतिं प्रसवं तन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।

स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥ ७ ॥

विभूतिर्विस्तार ईश्वरस्य सृष्टिरिति सृष्टिचिन्तका मन्यन्ते; न तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादर इत्यर्थः, 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति श्रुतेः । न हि मायाविनं सूत्रमाकाशे निःक्षिप्य तेन सायुधमारुह्य चक्षुर्गोचरतामतीत्य युद्धेन खण्डशश्छिन्नं पतितं पुनरुत्थितं च पश्यतां तत्कृत-मायादिसतत्त्वचिन्तायामादरो भवति । तथैवायं मायाविनः सूत्रप्रसारणसमः सुषुप्तस्वप्नादिविकासः; तदारूढमायाविस-मश्च तत्स्थप्राज्ञतैजसादिः; सूत्रतदारूढाभ्यामन्यः परमार्थमायावी । स एव भूमिष्ठो मायाच्छन्नः अदृश्यमान एव स्थितो यथा, तथा तुरीयाख्यं परमार्थतत्त्वम् । अतस्तच्चिन्तायामेवादरो मुमुक्षूणामार्याणाम्, न निष्प्रयोजनायां सृष्टावादर इत्यतः सृष्टिचिन्तकानामेवैते विकल्पा इत्याह—स्वप्नमायासरूपेति । स्वप्नसरूपा मायासरूपा चेति ॥

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः ।

कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥ ८ ॥

इच्छामात्रं प्रभोः सत्यसंकल्पत्वात् सृष्टिः घटादीनां संकल्पनामात्रम्, न संकल्पनातिरिक्तम् । कालादेव सृष्टिरिति केचित् ॥

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।

देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥ ९ ॥

इति ।

भोगार्थम्, क्रीडार्थमिति च अन्ये सृष्टिं मन्यन्ते । अनयोः पक्षयोर्दूषणं देवस्यैष स्वभावोऽयमिति देवस्य स्वभावपक्षमाश्रित्य, सर्वेषां वा पक्षाणाम्— आप्तकामस्य का स्पृहेति । न हि रज्ज्वादीनामविद्यास्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्याभासत्वे कारणं शक्यं वक्तुम् ॥

नान्तःप्रज्ञं नबहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं  
नप्रज्ञानघनं नप्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृश्यम-  
व्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदे-  
श्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शा-  
न्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा  
स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

चतुर्थः पादः क्रमप्राप्तो वक्तव्य इत्याह—नान्तःप्रज्ञमित्यादिना । सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तशून्यत्वात्तस्य शब्दानभिधेयत्वमिति विशेषप्रतिषेधेनैव तुरीयं निर्दिदिक्षति । शून्यमेव तर्हि; तन्न, मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः; न

हि रजतसर्पपुरुषमृगतृष्णिकादिविकल्पाः शुक्तिकारञ्जुस्था-  
 णूषरादिव्यतिरेकेण अवस्त्वास्पदाः शक्याः कल्पयितुम् ।  
 एवं तर्हि प्राणादिसर्वविकल्पास्पदत्वात्तुरीयस्य शब्दवाच्य-  
 त्वमिति न प्रतिषेधैः प्रत्याग्यत्वमुदकाधारादेरिव घटादेः ;  
 न, प्राणादिविकल्पस्यावस्तुत्वाच्छुक्तिकादिष्विव रजतादेः ;  
 न हि सदसतोः संबन्धः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभाक्, अवस्तु-  
 त्वान् ; नापि प्रमाणान्तरविषयत्वं स्वरूपेण गवादिवत्,  
 आत्मनो निरुपाधिकत्वात् ; गवादिवन्नापि जातिमत्त्वम्,  
 अद्वितीयत्वेन सामान्यविशेषाभावात् ; नापि क्रियावत्त्वं  
 पाचकादिवत्, अविक्रियत्वात् ; नापि गुणवत्त्वं नीलादिवत्,  
 निर्गुणत्वात् ; अतो नाभिधानेन निर्देशमर्हति । शशविषा-  
 णादिसमत्वान्निरर्थकत्वं तर्हि ; न, आत्मत्वावगमे तुरीयस्या-  
 नात्मतृष्णान्यावृत्तिहेतुत्वात् शुक्तिकावगम इव रजततृष्णायाः ;  
 न हि तुरीयस्यात्मत्वावगमे सति अविद्यातृष्णादिदोषाणां  
 संभवोऽस्ति ; न च तुरीयस्यात्मत्वानवगमे कारणमस्ति, सर्वो-  
 पनिषदां तादर्थ्येनोपक्षयात्— ‘तत्त्वमसि’ ‘अयमात्मा ब्रह्म’  
 ‘तत्सत्यं स आत्मा’ ‘यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म’ ‘सबाह्याभ्यन्तरो  
 ह्यजः’ ‘आत्मैवेदं सर्वम्’ इत्यादीनाम् । सोऽयमात्मा पर-  
 मार्थापरमार्थरूपश्चतुष्पादित्युक्तः । तस्यापरमार्थरूपमविद्या-

कृतं रज्जुसर्पादिसममुक्तं पादत्रयलक्षणं बीजाङ्कुरस्थानी-  
यम् । अथेदानीमबीजात्मकं परमार्थस्वरूपं रज्जुस्थानीयं  
सर्पादिस्थानीयोक्तस्थानत्रयनिराकरणेनाह— नान्तःप्रज्ञमि-  
त्यादिना । नन्वात्मनश्चतुष्पात्त्वं प्रतिज्ञाय पादत्रयकथने-  
नैव चतुर्थस्यान्तःप्रज्ञादिभ्योऽन्यत्वे सिद्धे ‘नान्तःप्रज्ञम्’  
इत्यादिप्रतिषेधोऽनर्थकः ; न , सर्पादिविकल्पप्रतिषेधेनैव रज्जु-  
स्वरूपप्रतिपत्तिवत्त्रयवस्थस्यैवात्मनस्तुरीयत्वेन प्रतिपिपाद-  
यिषितत्वात्, ‘तत्त्वमसि’ इतिवत् । यदि हि त्रयवस्थात्म-  
विलक्षणं तुरीयमन्यत्, तत्प्रतिपत्तिद्वाराभावात् शास्त्रोपदे-  
शानर्थक्यं शून्यतापत्तिर्वा । रज्जुरिव सर्पादिभिर्विकल्प्य-  
माना स्थानत्रयेऽप्यात्मैक एव अन्तःप्रज्ञादित्वेन विकल्प्यते  
यदा, तदा अन्तःप्रज्ञादित्वप्रतिषेधविज्ञानप्रमाणसमकालमेव  
आत्मन्यनर्थप्रपञ्चनिवृत्तिलक्षणं फलं परिसमाप्तमिति तुरी-  
याधिगमे प्रमाणान्तरं साधनान्तरं वा न मृग्यम् ; रज्जुस-  
र्पविवेकसमकाल इव रज्ज्वां सर्पनिवृत्तिफले सति रज्ज्व-  
धिगमस्य । येषां पुनस्तमोपनयनव्यतिरेकेण घटाधिगमे  
प्रमाणं व्याप्रियते, तेषां छेद्यावयवसंबन्धवियोगव्यतिरेकेण  
अन्यतरावयवेऽपि च्छिदिव्याप्रियत इत्युक्तं स्यात् । यदा  
पुनर्घटतमसोर्विवेककरणे प्रवृत्तं प्रमाणमनुपादित्सिततमो-



निवृत्तिफलावसानं छिदिरिव च्छेद्यावयवसंबन्धविवेककरणे प्रवृत्ता तदवयवद्वैधीभावफलावसाना, तदा नान्तरीयकं घट-  
विज्ञानं न प्रमाणफलम् । न च तद्वदप्यात्मन्यध्यारोपि-  
तान्तःप्रज्ञत्वादिविवेककरणे प्रवृत्तस्य प्रतिषेधविज्ञानप्रमा-  
णस्य अनुपादित्सितान्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिव्यतिरेकेण तुरीये  
व्यापारोपपत्तिः, अन्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिसमकालमेव प्रमातृ-  
त्वादिभेदनिवृत्तेः । तथा च वक्ष्यति— ‘ज्ञाते द्वैतं न  
विद्यते’ इति । ज्ञानस्य द्वैतनिवृत्तिक्षणव्यतिरेकेण क्षणा-  
न्तरानवस्थानात्, अवस्थाने वा अनवस्थाप्रसङ्गाद्वैतानि-  
वृत्तिः; तस्मात्प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणव्यापारसमकालैव आ-  
त्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वाद्यनर्थनिवृत्तिरिति सिद्धम् । ना-  
न्तःप्रज्ञमिति तैजसप्रतिषेधः; नबहिःप्रज्ञमिति विश्वप्रति-  
षेधः; नोभयतःप्रज्ञमिति जागरितस्वप्नयोरन्तरालावस्थाप्रति-  
षेधः; नप्रज्ञानघनमिति सुषुप्तावस्थाप्रतिषेधः, बीजभा-  
वाविवेकस्वरूपत्वात्; नप्रज्ञमिति युगपत्सर्वविषयज्ञातृत्व-  
प्रतिषेधः; नाप्रज्ञमित्यचैतन्यप्रतिषेधः । कथं पुनरन्तःप्र-  
ज्ञत्वादीनामात्मनि गम्यमानानां रज्ज्वादौ सर्पादिवत्प्रति-  
षेधादसत्त्वं गम्यत इति, उच्यते; ज्ञस्वरूपाविशेषेऽपि इतरे-  
तरव्यभिचारादसत्यत्वं रज्ज्वादाविव सर्पधारादिविकल्पभेद-

वन् ; सर्वत्राव्यभिचाराज्ज्ञस्वरूपस्य सत्यत्वम् । सुषुप्ते व्यभि-  
चरतीति चेत् ; न, सुषुप्तस्यानुभूयमानत्वात्, 'न हि विज्ञा-  
तुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इति श्रुतेः ; अत एव अदृश्यम् ।  
यस्माददृश्यम्, तस्मादव्यवहार्यम् । अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः ।  
अलक्षणम् अलिङ्गमित्येतत्, अननुमेयमित्यर्थः । अत एव  
अचिन्त्यम् । अत एव अव्यपदेश्यं शब्दैः । एकात्मप्रत्यय-  
सारं जाग्रदादिस्थानेषु एक एवायमात्मा इत्यव्यभिचारी यः  
प्रत्ययः, तेनानुसरणीयम् ; अथवा, एक आत्मप्रत्ययः सारः  
प्रमाणं यस्य तुरीयस्याधिगमे, तत्तुरीयमेकात्मप्रत्ययसारम्,  
'आत्मैत्येवोपासीत' इति श्रुतेः । अन्तःप्रज्ञत्वादस्थानिधर्म-  
प्रतिषेधः कृतः । प्रपञ्चोपशममिति जाग्रदादिस्थानधर्मा-  
भाव उच्यते । अत एव शान्तम् अविक्रियम्, शिवं यतः  
अद्वैतं भेदविकल्परहितं चतुर्थं तुरीयं मन्यन्ते, प्रतीयमान-  
पादत्रयरूपवैलक्षण्यात् । स आत्मा स विज्ञेयः इति । प्रती-  
यमानसर्पदण्डभूच्छिद्रादिव्यतिरिक्ता यथा रज्जुः, तथा 'त-  
त्त्वमसि' इत्यादिवाक्यार्थः आत्मा 'अदृष्टो द्रष्टा' 'न हि  
द्रष्टुदृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादिभिरुक्तो यः, स विज्ञेय  
इति भूतपूर्वगत्या । ज्ञाते द्वैताभावः ॥

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः ।

अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥ १० ॥

अत्रैते श्लोका भवन्ति । प्राज्ञतैजसविश्वलक्षणानां सर्व-  
दुःखानां निवृत्तेः ईशानः तुरीय आत्मा । ईशान इत्यस्य  
पदस्य व्याख्यानं प्रभुरिति ; दुःखनिवृत्तिं प्रति प्रभुर्भवती-  
त्यर्थः, तद्विज्ञाननिमित्तत्वाद्दुःखनिवृत्तेः । अव्ययः न व्येति,  
स्वरूपान्न व्यभिचरति न च्यवत इत्येतत् । कुतः ? यस्मात्  
अद्वैतः, सर्वभावानाम्—सर्पादीनां रज्जुरद्वया सत्या च ;  
एवं तुरीयः, ' न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते ' इति श्रुतेः—  
अतो रज्जुसर्पवन्मृषात्वात् । स एष देवः द्योतनात् तुर्यः  
चतुर्थः विभुः व्यापी स्मृतः ॥

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।

प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः ॥

विश्वादीनां सामान्यविशेषभावो निरूप्यते तुर्ययाथात्म्या-  
वधारणार्थम्—कार्यं क्रियत इति फलभावः, कारणं करो-  
तीति बीजभावः । तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणाभ्यां बीजफलभा-  
वाभ्यां तौ यथोक्तौ विश्वतैजसौ बद्धौ संगृहीतौ इष्येते ।  
प्राज्ञस्तु बीजभावेनैव बद्धः । तत्त्वाप्रतिबोधमात्रमेव हि बीजं

प्राज्ञत्वे निमित्तम् । ततः द्वौ तौ बीजफलभावौ तत्त्वाग्रहणा-  
न्यथाग्रहणे तुरीये न सिध्यतः न विद्यते, न संभवत इत्यर्थः ॥

नात्मानं न परं चैव न सत्यं नापि चानृतम् ।

प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा ॥ १२ ॥

कथं पुनः कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्य तुरीये वा तत्त्वाग्रह-  
णान्यथाग्रहणलक्षणौ बन्धौ न सिध्यत इति ? यस्मात्— आ-  
त्मानम्, विलक्षणम्, अविद्याबीजप्रसूतं वेद्यं बाह्यं द्वैतम्—  
प्राज्ञो न किञ्चन संवेत्ति, यथा विश्वतैजसौ ; ततश्चासौ तत्त्वा-  
ग्रहणेन तमसा अन्यथाग्रहणबीजभूतेन बद्धो भवति । यस्मा-  
त् तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा तुरीयादन्यस्याभावात् सर्वदा सदैव  
भवति, सर्वं च तदृक्चेति सर्वदृक् ; तस्मान्न तत्त्वाग्रहणलक्षणं  
बीजम् । तत्र तत्प्रसूतस्यान्यथाग्रहणस्याप्यत एवाभावः । न  
हि सवितरि सदाप्रकाशात्मके तद्विरुद्धमप्रकाशनमन्यथाप्रका-  
शनं वा संभवति, ‘न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते’ इति  
श्रुतेः । अथवा, जाग्रत्स्वप्रयोः सर्वभूतावस्थः सर्ववस्तुदृ-  
गाभासस्तुरीय एवेति सर्वदृक्सदा, ‘नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ’  
इत्यादिश्रुतेः ॥

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।

बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥ १३ ॥

निमित्तान्तरप्राप्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं श्लोकः—कथं द्वै-  
ताग्रहणस्य तुल्यत्वे कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्यैव, न तुरीयस्येति  
प्राप्ता आशङ्का निवर्त्यते; यस्मात् बीजनिद्रायुतः, तत्त्वाप्र-  
तिबोधो निद्रा; सैव च विशेषप्रतिबोधप्रसवस्य बीजम्;  
सा बीजनिद्रा; तथा युतः प्राज्ञः । सदासर्वदृक्स्वभावत्वात्त-  
त्त्वाप्रतिबोधलक्षणा बीजनिद्रा तुर्ये न विद्यते; अतो न  
कारणबन्धस्तस्मिन्नित्यभिप्रायः ॥

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।

न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥

स्वप्नः अन्यथाग्रहणं सर्प इव रज्ज्वाम्, निद्रोक्ता तत्त्वा-  
प्रतिबोधलक्षणं तम इति; ताभ्यां स्वप्ननिद्राभ्यां युतौ विश्व-  
तैजसौ; अतस्तौ कार्यकारणबद्धावित्युक्तौ । प्राज्ञस्तु स्वप्न-  
वर्जितया केवलस्यैव निद्रया युत इति कारणबद्ध इत्युक्तम् ।  
नोभयं पश्यन्ति तुरीये निश्चिताः ब्रह्मविद इत्यर्थः, विरु-  
द्धत्वात्सवितरीव तमः । अतो न कार्यकारणबद्ध इत्युक्त-  
स्तुरीयः ॥

अन्यथा गृह्यतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः ।

विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥ १५ ॥

कदा तुरीये निश्चितो भवतीत्युच्यते— स्वप्नजागरि-  
तयोः अन्यथा रज्ज्वां सर्पवत् गृह्यतः तत्त्वं स्वप्नो भवति ;  
निद्रा तत्त्वमजानतः तिसृष्ववस्थासु तुल्या । स्वप्ननिद्रयो-  
स्तुल्यत्वाद्विश्रुतैजसयोरेकराशित्वम् । अन्यथाग्रहणप्राधान्याच्च  
गुणभूता निद्रेति तस्मिन्विपर्यासः स्वप्नः । तृतीये तु  
स्थाने तत्त्वाग्रहणलक्षणा निद्रैव केवला विपर्यासः । अतः  
तयोः कार्यकारणस्थानयोः अन्यथाग्रहणतत्त्वाग्रहणलक्षणवि-  
पर्यासे कार्यकारणबन्धरूपे परमार्थतत्त्वप्रतिबोधतः क्षीणे  
तुरीयं पदमश्नुते ; तदा उभयलक्षणं बन्धनं तत्रापश्यंस्तु-  
रीये निश्चितो भवतीत्यर्थः ॥

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।

अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥ १६ ॥

योऽयं संसारी जीवः, सः उभयलक्षणेन तत्त्वाप्रतिबो-  
धरूपेण बीजात्मना, अन्यथाग्रहणलक्षणेन चानादिकालप्रवृ-  
त्तेन मायालक्षणेन स्वापेन, समायं पिता पुत्रोऽयं नप्ता क्षेत्रं  
गृहं पशवः, अहमेषां स्वामी सुखी दुःखी क्षयितोऽहमनेन  
वर्धितश्चानेन इत्येवंप्रकारान्स्वप्नान् स्थानद्वयेऽपि पश्य-  
न्सुप्तः, यदा वेदान्तार्थतत्त्वाभिज्ञेन परमकारुणिकेन गुरुणा  
' नास्येवं त्वं हेतुफलात्मकः, किंतु तत्त्वमसि ' इति प्रति-

बोध्यमानः, तदैवं प्रतिबुध्यते । कथम्? नास्मिन्बाह्यमाभ्य-  
न्तरं वा जन्मादिभावविकारोऽस्ति, अतः अजम् 'सबाह्या-  
भ्यन्तरो ह्यजः' इति श्रुतेः, सर्वभावविकारवर्जितमित्यर्थः ।  
यस्माज्जन्मादिकारणभूतम्, नास्मिन्नविद्यातमोबीजं निद्रा  
विद्यत इति अनिद्रम्; अनिद्रं हि तत्तुरीयम्; अत एव  
अस्वप्नम्, तन्निमित्तत्वादन्यथाग्रहणस्य । यस्माच्च अनि-  
द्रमस्वप्नम्, तस्मादजम् अद्वैतं तुरीयमात्मानं बुध्यते तदा ॥

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।

मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥ १७ ॥

प्रपञ्चनिवृत्त्या चेत्प्रतिबुध्यते, अनिवृत्ते प्रपञ्चे कथ-  
मद्वैतमिति, उच्यते । सत्यमेवं स्यात्प्रपञ्चो यदि विद्येत;  
रज्ज्वां सर्प इव कल्पितत्वान्न तु स विद्यते । विद्यमान-  
श्चेत् निवर्तेत, न संशयः । न हि रज्ज्वां भ्रान्तिबुद्ध्या क-  
ल्पितः सर्पो विद्यमानः सन्निवेकतो निवृत्तः; न च माया  
मायाविना प्रयुक्ता तद्दर्शिनां चक्षुर्बन्धापगमे विद्यमाना  
सती निवृत्ता; तथेदं प्रपञ्चाख्यं मायामात्रं द्वैतम्; रज्जु-  
वन्मायाविवञ्च अद्वैतं परमार्थतः; तस्मान्न कश्चित्प्रपञ्चः  
प्रवृत्तो निवृत्तो वास्तीत्यभिप्रायः ॥

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।

उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥ १८ ॥

ननु शास्ता शास्त्रं शिष्य इत्ययं विकल्पः कथं निवृत्त इति, उच्यते— विकल्पो विनिवर्तेत यदि केनचित्कल्पितः स्यात् । यथा अयं प्रपञ्चो मायारज्जुसर्पवत्, तथा अयं शिष्यादिभेदविकल्पोऽपि प्राक्प्रतिबोधादेवोपदेशनिमित्तः ; अत उपदेशादयं वादः—शिष्यः शास्ता शास्त्रमिति । उपदेश-कार्ये तु ज्ञाने निर्वृत्ते ज्ञाते परमार्थतत्त्वे, द्वैतं न विद्यते ॥

**सोऽयमात्माध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं**

**पादा माला मात्राश्च पादा अकार उका-**

**रो मकार इति ॥ ८ ॥**

अभिधेयप्राधान्येन ओंकारश्चतुष्पादात्मेति व्याख्यातो यः, सोऽयम् आत्मा अध्यक्षरम् अक्षरमधिकृत्य अभिधान-प्राधान्येन वर्ण्यमानोऽध्यक्षरम् । किं पुनस्तदक्षरमित्याह— ओंकारः । सोऽयमोंकारः पादशः प्रविभज्यमानः, अधिमात्रं मात्रामधिकृत्य वर्तत इत्यधिमात्रम् । कथम् ? आत्मनो ये पादाः, ते ओंकारस्य मात्राः । कास्ताः ? अकार उकारो मकार इति ॥



जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथ-  
मा मात्रासेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वा-  
न्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

तत्र विशेषनियमः क्रियते—जागरितस्थानः वैश्वानरः  
यः, स ओंकारस्य अकारः प्रथमा मात्रा । केन सामान्येने-  
त्याह—आप्तेः ; आप्तिर्व्याप्तिः ; अकारेण सर्वा वाग्व्याप्ता,  
'अकारो वै सर्वा वाक्' इति श्रुतेः । तथा वैश्वानरेण ज-  
गत्, 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धेव सुतेजाः'  
इत्यादिश्रुतेः । अभिधानाभिधेययोरेकत्वं चावोचाम । आदि-  
रस्य विद्यत इत्यादिमत् ; यथैव आदिमदकाराख्यमक्षरम्,  
तथा वैश्वानरः ; तस्माद्वा सामान्यादकारत्वं वैश्वानरस्य ।  
तदेकत्वविदः फलमाह—आप्नोति ह वै सर्वान्कामान्, आदिः  
प्रथमश्च भवति महताम्, य एवं वेद, यथोक्तमेकत्वं वेदे-  
त्यर्थः ॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया  
मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्बोत्कर्षति ह वै ज्ञा-  
नसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवि-  
त्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

स्वप्रस्थानः तैजसः यः, स ओंकारस्य उकारः द्वितीया मात्रा । केन सामान्येनेत्याह— उत्कर्षात्; अकारादुत्कृष्ट इव ह्युकारः; तथा तैजसो विश्वात् । उभयत्वाद्वा; अकार-मकारयोर्मध्यस्थ उकारः; तथा विश्वप्राज्ञयोर्मध्ये तैजसः; अत उभयभाक्त्वसामान्यात् । विद्वत्फलमुच्यते— उत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं विज्ञानसंततिं वर्धयतीत्यर्थः; समानः तुल्यश्च, मित्रपक्षस्येव शत्रुपक्षाणामप्यप्रद्वेष्ट्यो भवति; अब्रह्मविच्च अम्य कुले न भवति, य एवं वेद ॥

**सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥**

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञः यः, स ओंकारस्य मकारः तृतीया मात्रा । केन सामान्येनेत्याह— सामान्यमिदमत्र—मितेः; मितिर्मानम्; मीयेते इव हि विश्वतैजसौ प्राज्ञेन प्रलयोत्पत्त्योः प्रवेशनिर्गमाभ्यां प्रस्थेनेव यवाः; तथा ओंकारसमाप्तौ पुनः प्रयोगे च प्रविश्य निर्गच्छत इव अकारोकारौ मकारे । अपीतेर्वा; अपीतिरप्यय एकीभावः; ओंकारोच्चारणे हि अन्त्येऽक्षरे एकीभूताविव अकारोकारौ; तथा वि-

श्वतैजसौ सुषुप्तकाले प्राज्ञे । अतो वा सामान्यादेकत्वं प्राज्ञम-  
कारयोः । विद्वत्फलमाह—मिनोति ह वै इदं सर्वम्, जग-  
द्याथात्म्यं जानातीत्यर्थः ; अपीतिश्च जगत्कारणात्मा च भव-  
तीत्यर्थः । अत्रावान्तरफलवचनं प्रधानसाधनस्तुत्यर्थम् ॥

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् ।

मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च ॥ १९ ॥

अत्र एते श्लोका भवन्ति । विश्वस्य अत्वम् अकारमा-  
त्रत्वं यदा विवक्ष्यते, तदा आदित्वसामान्यम् उक्तन्यायेन  
उत्कटम् उद्भूतं दृश्यत इत्यर्थः । अत्वविवक्षायामित्यस्य  
व्याख्यानम्—मात्रासंप्रतिपत्तौ इति । विश्वस्य अकारमात्र-  
त्वं यदा संप्रतिपद्यते इत्यर्थः । आप्तिसामान्यमेव च, उत्क-  
टमित्यनुवर्तते, च-शब्दात् ॥

तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् ।

मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ॥ २० ॥

तैजसस्य उत्त्वविज्ञाने उकारत्वविवक्षायाम् उत्कर्षो दृ-  
श्यते स्फुटं स्पष्टमित्यर्थः । उभयत्वं च स्फुटमेवेति । पूर्व-  
वत्सर्वम् ॥

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् ।

मात्रासंप्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥ २१ ॥

मकारत्वे प्राज्ञस्य मितिलयावुत्कृष्टे सामान्ये इत्यर्थः ॥

त्रिषु धामसु यस्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः ।

स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥ २२ ॥

यथोक्तस्थानत्रये यः तुल्यमुक्तं सामान्यं वेत्ति, एवमेवैत-  
दिति निश्चितः स न सः पूज्यः वन्द्यश्च ब्रह्मविन् लोके  
भवति ॥

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।

मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ॥ २३ ॥

इति ।

यथोक्तैः सामान्यैः आत्मपादानां मात्वाभिः सह एक-  
त्वं कृत्वा यथोक्तोकारं प्रतिपद्यते यो ध्यायी, तम् अकारः  
नयते विश्वं प्रापयति । अकारालम्बनमोकारं विद्वान्वै-  
श्वानरो भवतीत्यर्थः । तथा उकारः तैजसम्; मकारश्चापि  
पुनः प्राज्ञम्, च-शब्दान्नयत इत्यनुवर्तते । क्षीणे तु मकारे  
बीजभावक्षयात् अमात्रे ओंकारे गतिः न विद्यते कचिदि-  
त्यर्थः ॥

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपश-  
मः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संवि-  
शत्यात्मनात्मानं य एवं वेद ॥ १२ ॥

इति माण्डूक्योपनिषत्समाप्ता ॥

अमात्रः मात्रा यस्य न सन्ति, सः अमात्रः ओंकारः चतु-  
र्थः तुरीयः आत्मैव केवलः अभिधानाभिधेयरूपयोर्वाङ्मन-  
सयोः क्षीणत्वात् अव्यवहार्यः ; प्रपञ्चोपशमः शिवः अद्वैतः  
संवृत्तः एवं यथोक्तविज्ञानवता प्रयुक्त ओंकारस्त्रिमात्रस्त्रिपाद  
आत्मैव ; संविशति आत्मना स्वेनैव स्वं पारमार्थिकमात्मा-  
नम्, य एवं वेद ; परमार्थदर्शनात् ब्रह्मवित् तृतीयं बीज-  
भावं दग्ध्वा आत्मानं प्रविष्ट इति न पुनर्जायते, तुरी-  
यस्याबीजत्वात् । न हि रज्जुसर्पयोर्विवेके रज्ज्वां प्रविष्टः  
सर्पः बुद्धिसंस्कारात्पुनः पूर्ववत्तद्विवेकिनामुत्थास्यति । म-  
न्दमध्यमधियां तु प्रतिपन्नसाधकभावानां सन्मार्गगामिनां  
संन्यासिनां मात्राणां पादानां च क्लृप्तसामान्यविदां यथाव-  
दुपास्यमान ओंकारो ब्रह्मप्रतिपत्तये आलम्बनीभवति । तथा  
च वक्ष्यति— ‘ आश्रमास्त्रिविधाः ’ इत्यादि ॥

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

ओंकारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः ।

ओंकारं पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२४॥

पूर्ववदत्रैते श्लोका भवन्ति । यथोक्तैः सामान्यैः पादा  
एव मात्राः, मात्राश्च पादाः; तस्मात् ओंकारं पादशः  
विद्यात् इत्यर्थः । एवमोंकारे ज्ञाते दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा न  
किञ्चिदपि प्रयोजनं चिन्तयेत्, कृतार्थत्वादित्यर्थः ॥

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।

प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २५ ॥

युञ्जीत समादध्यात् यथाव्याख्याते परमार्थरूपे प्रणवे  
चेतः मनः; यस्मात्प्रणवः ब्रह्म निर्भयम्; न हि तत्र सदा-  
युक्तस्य भयं विद्यते क्वचित्, 'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन'  
इति श्रुतेः ॥

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परं स्मृतः ।

अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥ २६ ॥

परापरे ब्रह्मणी प्रणवः; परमार्थतः क्षीणेषु मात्रापादेषु  
पर एवात्मा ब्रह्म इति; न पूर्वं कारणमस्य विद्यत इत्यपूर्वः;  
नास्य अन्तरं भिन्नजातीयं किञ्चिद्विद्यत इति अनन्तरः, तथा

बाह्यमन्वत् न विद्यत इत्यबाह्यः ; अपरं कार्यमस्य न विद्यत  
इत्यनपरः, सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः सैन्धवघनवत्प्रज्ञानघन  
इत्यर्थः ॥

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च ।

एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥ २७ ॥

आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः सर्वस्य प्रणव एव ।  
मायाहस्तिरज्जुसर्पमृगतृष्णिकास्वप्रादिवदुत्पद्यमानस्य विद्यदा-  
दिप्रपञ्चस्य यथा मायाव्यादयः, एवं हि प्रणवमात्मानं माया-  
व्यादिस्थानीयं ज्ञात्वा तत्क्षणादेव तदात्मभावं व्यश्नुत  
इत्यर्थः ॥

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदये स्थितम् ।

सर्वव्यापिनमोकारं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २८ ॥

सर्वस्य प्राणिजातस्य स्मृतिप्रत्ययास्पदे हृदये स्थितमीश्वरं  
प्रणवं विद्यात् सर्वव्यापिनं व्योमवत् ओंकारमात्मानमसंसा-  
रिणं धीरः धीमान्बुद्धिमान् आत्मतत्त्वं मत्वा ज्ञात्वा न शोचति,  
शोकनिमित्तानुपपत्तेः, 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादिश्रु-  
तिभ्यः ॥

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।

ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥ २९ ॥

अमात्रः तुरीय ओंकारः, मीयते अनयेति मात्रा परि-  
च्छित्तिः, सा अनन्ता यस्य सः अनन्तमात्रः ; नैतावत्त्व-  
मस्य परिच्छेत्तुं शक्यत इत्यर्थः । सर्वद्वैतोपशमत्वादेव शिवः ।  
ओंकारो यथाव्याख्यातो विदितो येन, स एव परमार्थतत्त्वस्य  
मननान्मुनिः, नेतरो जनः शास्त्रविदपीत्यर्थः ॥

इति प्रथममागमप्रकरणं संपूर्णम् ॥



## वैतथ्यप्रकरणम् ॥

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः ।

अन्तःस्थानास्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ॥ १ ॥

‘ज्ञाते द्वैतं न विद्यते’ इत्युक्तम् ‘एकमेवाद्वितीयम्’  
इत्यादिश्रुतिभ्यः । आगममात्रं तत् । तत्र उपपत्त्यापि द्वैतस्य  
वैतथ्यं शक्यतेऽवधारयितुमिति द्वितीयं प्रकरणमारभ्यते—  
वैतथ्यमित्यादिना । वितथस्य भावो वैतथ्यम् ; असत्यत्व-  
मित्यर्थः । कस्य ? सर्वेषां बाह्याध्यात्मिकानां भावानां पदा-  
र्थानां स्वप्ने उपलभ्यमानानाम्, आहुः कथयन्ति मनीषिणः  
प्रमाणकुशलाः । वैतथ्ये हेतुमाह— अन्तःस्थानात्, अन्तः  
शरीरस्य मध्ये स्थानं येषाम् ; तत्र हि भावा उपलभ्यन्ते  
पर्वतहस्त्यादयः, न बहिः शरीरात् ; तस्मात् ते वितथा  
भवितुमर्हन्ति । ननु अपवरकाद्यन्तरूपलभ्यमानैर्घटादिभि-  
रनैकान्तिको हेतुरित्याशङ्क्याह— संवृतत्वेन हेतुनेति । अ-  
न्तः संवृतस्थानादित्यर्थः । न ह्यन्तः संवृते देहान्तर्नाडीषु  
पर्वतहस्त्यादीनां संभवोऽस्ति ; न हि देहे पर्वतोऽस्ति ॥

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देहान्न पश्यति ।

प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥ २ ॥

स्वप्नदृश्यानां भावानामन्तः संवृतस्थानमित्येतदसिद्धम् ,  
यस्मात्प्राच्येषु सुप्त उदक्षु स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्यत इत्येत-  
दाशङ्क्याह— न देहाद्वहिर्देशान्तरं गत्वा स्वप्नान्पश्यति ;  
यस्मात्सुप्तमात्र एव देहदेशाद्योजनशतान्तरिते मासमा-  
त्रप्राप्ये देशे स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्यते ; न च तद्देशप्राप्ते-  
रागमनस्य च दीर्घः कालोऽस्ति ; अतः अदीर्घत्वाच्च कालस्य  
न स्वप्नदृग्देशान्तरं गच्छति । किंच, प्रतिबुद्धश्च वै सर्वः  
स्वप्नदृक् स्वप्नदर्शनदेशे न विद्यते । यदि च स्वप्ने देशान्तरं  
गच्छेत्, यस्मिन्देशे स्वप्नान्पश्येत्, तत्रैव प्रतिबुध्येत ।  
न चैतदस्ति । रात्रौ सुप्तः अहनीव भावान्पश्यति ;  
बहुभिः संगतो भवति ; यैश्च संगतः स तैर्गृह्येत, न च गृह्यते ;  
गृहीतश्चेत्त्वामद्य तत्त्रोपलब्धवन्तो वयमिति ब्रूयुः ; न चैत-  
दस्ति । तस्मान्न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने ॥

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम् ।

वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम् ॥ ३ ॥

इतश्च स्वप्नदृश्या भावा वितथाः, यतः अभावश्च

रथादीनां स्वप्नदृश्यानां श्रूयते, न्यायपूर्वकं युक्तितः श्रुतौ  
 'न तत्र रथाः' इत्यत्र । तेन अन्तःस्थानसंवृतत्वादि-  
 हेतुना प्राप्तं वैतथ्यं तदनुवादिन्या श्रुत्या स्वप्ने स्वयंज्योति-  
 द्वप्रतिपादनपरया प्रकाशितमाहुः ब्रह्मविदः ॥

अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम् ।

यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते ॥ ४ ॥

जाग्रदृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा । दृश्यत्वा-  
 दिति हेतुः । स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टान्तः । यथा तत्र  
 स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यम्, तथा जागरितेऽपि दृश्य-  
 त्वमविशिष्टमिति हेतूपनयः । तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं  
 स्मृतमिति निगमनम् । अन्तःस्थानात्संवृतत्वेन च स्वप्न-  
 दृश्यानां भावानां जाग्रदृश्येभ्यो भेदः । दृश्यत्वमसत्यत्वं  
 चाविशिष्टमुभयत्र ॥

स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः ।

भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥ ५ ॥

प्रसिद्धेनैव भेदानां प्राकृतत्वेन हेतुना समत्वेन स्वप्न-  
 जागरितस्थानयोरेकत्वमाहुर्विवेकिन इति पूर्वप्रमाणसिद्ध-  
 स्यैव फलम् ॥

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।

वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥ ६ ॥

इतश्च वैतथ्यं जाग्रदृश्यानां भेदानाम् आद्यन्तयोरभावात् , यदादावन्ते च नास्ति वस्तु मृगतृष्णिकादि, तन्मध्येऽपि नास्तीति निश्चितं लोके ; तथेमे जाग्रदृश्या भेदाः आद्यन्तयोरभावात् वितथैरेव मृगतृष्णिकादिभिः सदृशत्वाद्वितथा एव ; तथापि अवितथा इव लक्षिता मूढैरनात्मविद्धिः ॥

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।

तस्मदाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ ७ ॥

स्वप्नदृश्यवज्जागरितदृश्यानामप्यसत्त्वमिति यदुक्तम् , तदयुक्तम् ; यस्माज्जाग्रदृश्या अन्नपानवाहनादयः क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिं कुर्वन्तो गमनागमनादि कार्यं च सप्रयोजना दृष्टाः । न तु स्वप्नदृश्यानां तदस्ति । तस्मात्स्वप्नदृश्यवज्जाग्रदृश्यानामसत्त्वं मनोरथमात्रमिति । तन्न । कस्मात् ? यस्माद्या सप्रयोजनता दृष्टा अन्नपानादीनाम् , सा स्वप्ने विप्रतिपद्यते । जागरिते हि भुक्त्वा पीत्वा च तृप्तो विनिवर्तितवृट् सुप्तमात्र एव क्षुत्पिपासाद्यार्तमहोरात्रोपोषितमभुक्त्वन्तमात्मानं मन्यते, यथा स्वप्ने भुक्त्वा पीत्वा च अ-

तृप्तोत्थितः, तथा । तस्माज्जाग्रदृश्यानां स्वप्ने विप्रतिपत्ति-  
र्दृष्टा । अतो मन्यामहे तेषामप्यसत्त्वं स्वप्नदृश्यवदनाश-  
ङ्कनीयमिति । तस्मादाद्यन्तवत्त्वमुभयत्र समानमिति मि-  
थ्यैव खलु ते स्मृताः ॥

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम् ।

तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः ॥ ८ ॥

स्वप्नजाग्रद्वेदयोः समत्वाज्जाग्रद्वेदानामसत्त्वमिति यदु-  
क्तम्, तदसत् । कस्मान् ? दृष्टान्तस्यासिद्धत्वात् । कथम् ?  
न हि जाग्रदृश्या ये, ते भेदाः स्वप्ने दृश्यन्ते । किं तर्हि ?  
अपूर्वं स्वप्ने पश्यति चतुर्दन्तं गजमारूढोऽष्टभुजमात्मानम् ।  
अन्यदप्येवंप्रकारमपूर्वं पश्यति स्वप्ने । तन्नान्येनासता  
सममिति सदेव । अतो दृष्टान्तोऽसिद्धः । तस्मात्स्वप्न-  
वज्जागरितस्यासत्त्वमित्ययुक्तम् । तन्न । स्वप्ने दृष्टमपूर्वं  
यन्मन्यसे, न तत्स्वतः सिद्धम् । किं तर्हि ? अपूर्वं  
स्थानिधर्मो हि, स्थानिनो द्रष्टुरेव हि स्वप्नस्थानवतो धर्मः ;  
यथा स्वर्गनिवासिनामिन्द्रादीनां सहस्राश्वत्वादि, तथा स्व-  
प्नदृशोऽपूर्वोऽयं धर्मः, न स्वतःसिद्धो द्रष्टुः स्वरूपवत् । तान्  
एवंप्रकारानपूर्वान्स्वचित्तविकल्पान् अयं स्थानी यः स्वप्नदृ-  
क्स्वप्नस्थानं गत्वा प्रेक्षते । यथैव इह लोके सुशिक्षितदेशान्त-

रमार्गस्तेन मार्गेण देशान्तरं गत्वा पदार्थान्पश्यति,  
तद्वत् । तस्माद्यथा स्थानिधर्माणां रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादी-  
नामसत्त्वम्, तथा स्वप्नद्रष्टव्यानामप्यपूर्वाणां स्थानिधर्मत्वमे-  
वेत्यसत्त्वम् ; अतो न स्वप्नद्रष्टान्तस्यासिद्धत्वम् ॥

स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।

बहिश्चेतो गृहीतं सदृष्टं वैतथ्यमेतयोः ॥ ९ ॥

अपूर्वत्वाशङ्कां निराकृत्य स्वप्नद्रष्टान्तस्य पुनः स्वप्न-  
तुल्यतां जाग्रद्वेदानां प्रपञ्चयन्नाह— स्वप्नवृत्तावपि स्व-  
प्नस्थानेऽपि अन्तश्चेतसा मनोरथसंकल्पितमसत् ; संक-  
ल्पानन्तरसमकालमेवाददर्शनात् । तत्रैव स्वप्ने बहिश्चेतसा  
गृहीतं चक्षुरादिद्वारेणोपलब्धं घटादि सदित्येवमसत्यमिति  
निश्चितेऽपि सदसद्विभागो दृष्टः । उभयोरप्यन्तर्बहिश्चेतः-  
कल्पितयोर्वैतथ्यमेव दृष्टम् ॥

जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।

बहिश्चेतो गृहीतं सदुक्तं वैतथ्यमेतयोः ॥ १० ॥

सदसतोर्वैतथ्यं युक्तम्, अन्तर्बहिश्चेतःकल्पितत्वाविशे-  
षादिति । व्याख्यातमन्यत् ॥

उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि ।

क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः ॥११॥

चोदक आह—स्वप्नजाग्रत्स्थानयोर्भेदानां यदि वैतथ्यम्,  
क एतानन्तर्बहिश्चेतःकल्पितान्बुध्यते । को वै तेषां विक-  
ल्पकः ; स्मृतिज्ञानयोः क आलम्बनमित्यभिप्रायः ; न चेन्नि-  
रात्मवाद इष्टः ॥

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया ।

स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥ १२ ॥

स्वयं स्वमायया स्वमात्मानमात्मा देवः आत्मन्येव  
बक्ष्यमाणं भेदाकारं कल्पयति रज्ज्वादाविव सर्पादीन्,  
स्वयमेव च तान्बुध्यते भेदान्, तद्वदेवेत्येवं वेदान्तनिश्चयः ।  
नान्योऽस्ति ज्ञानस्मृत्याश्रयः । न च निरास्पदे एव ज्ञान-  
स्मृती वैनाशिकानामिवेत्यभिप्रायः ॥

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान् ।

नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः ॥ १३ ॥

संकल्पयन्केन प्रकारेण कल्पयतीत्युच्यते—विकरोति  
नाना करोति अपरान् लौकिकान् भावान् पदार्थाञ्जशब्दा-

दीनन्यांश्च अन्तश्चित्ते वासनारूपेण व्यवस्थितानव्याकृतान् नियतांश्च पृथिव्यादीननियतांश्च कल्पनाकालान् बहिश्चित्तः सन्, तथा अन्तश्चित्तो मनोरथादिलक्षणानित्येवं कल्पयति, प्रभुः ईश्वरः, आत्मेत्यर्थः ॥

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः ।

कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः ॥ १४ ॥

स्वप्नवच्चित्तपरिकल्पितं सर्वमित्येतदाशङ्क्यते—यस्माच्चित्तपरिकल्पितैर्मनोरथादिलक्षणैश्चित्तपरिच्छेद्यैर्वैलक्षण्यं बाह्यानामन्योन्यपरिच्छेद्यत्वमिति, सा न युक्ताशङ्का । चित्तकाला हि येऽन्तस्तु चित्तपरिच्छेद्याः, नान्यश्चित्तकालव्यतिरेकेण परिच्छेदकः कालो येषाम्, ते चित्तकालाः; कल्पनाकाल एवोपलभ्यन्त इत्यर्थः । द्वयकालाश्च भेदकाला अन्योन्यपरिच्छेद्याः, यथा आगोदोहनमास्ते; यावदास्ते तावद्वां दोग्धि; यावद्वां दोग्धि तावदास्ते, तावानयमेतावान्स इति परस्परपरिच्छेद्यपरिच्छेदकत्वं बाह्यानां भेदानाम्, ते द्वयकालाः । अन्तश्चित्तकाला बाह्याश्च द्वयकालाः कल्पिता एव ते सर्वे । न बाह्यो द्वयकालत्वविशेषः कल्पितत्वव्यतिरेकेणान्यहेतुकः । अत्रापि हि स्वप्नदृष्टान्तो भवत्येव ॥



अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः ।

कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ॥ १५ ॥

यदपि अन्तरव्यक्तत्वं भावानां मनोवासनामात्राभिव्यक्तानां स्फुटत्वं वा बहिश्चक्षुरादीन्द्रियान्तरे विशेषः, नासौ भेदानामस्तित्वकृतः, स्वप्नेऽपि तथा दर्शनात् । किं तर्हि ? इन्द्रियान्तरकृत एव । अतः कल्पिता एव जाग्रद्भावा अपि स्वप्नभाववदिति सिद्धम् ॥

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान् ।

बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः ॥ १६ ॥

बाह्याध्यात्मिकानां भावानामितरेतरनिमित्तनैमित्तिकतया कल्पनायाः किं मूलमित्युच्यते— जीवं हेतुफलात्मकम् ‘अहं करोमि, मम सुखदुःखे’ इत्येवंलक्षणम् । अनेवंलक्षण एव शुद्ध आत्मनि रज्ज्वामिव सर्पं कल्पयते पूर्वम् । ततस्तादर्थ्येन क्रियाकारकफलभेदेन प्राणादीन्नानाविधान्भावान्बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव कल्पयते । तत्र कल्पनायां को हेतुरित्युच्यते— योऽसौ स्वयं कल्पितो जीवः सर्वकल्पनायामधिकृतः, सः यथाविद्यः यादृशी विद्या विज्ञानमस्येति यथाविद्यः, तथाविधैव स्मृतिस्तस्येति तथास्मृतिर्भवति स इति । अतो हेतु-

कल्पनाविज्ञानात्फलविज्ञानम्, ततो हेतुफलस्मृतिः, ततस्तद्विज्ञानम्, ततः तदर्थक्रियाकारकतत्फलभेदविज्ञानानि, तेभ्यस्तस्मृतिः, तस्मृतेश्च पुनस्तद्विज्ञानानि इत्येवं बाह्यानाध्यात्मिकांश्च इतरेतरनिमित्तनैमित्तिकभावेनानेकधा कल्पयते ॥

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता ।

सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा चिकल्पितः ॥ १७ ॥

तत्र जीवकल्पना सर्वकल्पनामूलमित्युक्तम्; सैव जीवकल्पना किंनिमित्तेति दृष्टान्तेन प्रतिपादयति— यथा लोके स्वेन रूपेण अनिश्चिता अनवधारिता एवमेवेति रज्जुः मन्दान्धकारे किं सर्प उदकधारा दण्ड इति वा अनेकधा विकल्पिता भवति पूर्वं स्वरूपानिश्चयनिमित्तम् । यदि हि पूर्वमेव रज्जुः स्वरूपेण निश्चिता स्यात्, न सर्पादिविकल्पोऽभविष्यत्, यथा स्वहस्ताङ्गुल्यादिषु; एष दृष्टान्तः । तद्वद्धेतुफलादिसंसारधर्मानर्थविलक्षणतया स्वेन विशुद्धविज्ञप्तिमात्रसत्ताद्वयरूपेणानिश्चितत्वाज्जीवप्राणायनन्तभावभेदैरात्मा विकल्पित इत्येष सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः ॥

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते ।

रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः ॥ १८ ॥

रज्जुरेवेति निश्चये सर्पादिविकल्पनिवृत्तौ रज्जुरेवेति चाद्वैतं  
यथा, तथा नेति नेतीति सर्वसंसारधर्मशून्यप्रतिपादकशास्त्र-  
जनितविज्ञानसूर्यालोककृतात्मविनिश्चयः ‘आत्मैवेदं सर्वमपू-  
र्वोऽनपरोऽनन्तरोऽबाह्यः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजोऽजरोऽमृतो-  
ऽमय एक एवाद्वयः’ इति ॥

प्राणादिभिरनन्तैस्तु भावैरेतैर्विकल्पितः ।

मायैषा तस्य देवस्य ययायं मोहितः स्वयम् ॥

यदि आत्मैक एवेति निश्चयः, कथं प्राणादिभिरनन्तै-  
र्भावैरेतैः संसारलक्षणैर्विकल्पित इति ? उच्यते शृणु—मायैषा  
तस्यात्मनो देवस्य । यथा मायाविना विहिता माया गगन-  
मतिविमलं कुसुमितैः सपलाशैस्तरुभिराकीर्णमिव करोति,  
तथा इयमपि देवस्य माया, यया अयं स्वयमपि मोहित  
इव मोहितो भवति । ‘मम माया दुरत्यया’ इत्युक्तम् ॥

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः ।

गुणा इति गुणविदस्तत्त्वानीति च तद्विदः ॥ २० ॥

पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः ।

लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः ॥ २१ ॥

वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः ।

भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विदः ॥

सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद्विदः ।

मूर्त इति मूर्तविदोऽमूर्त इति च तद्विदः ॥ २३ ॥

काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः ।

वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः ॥ २४ ॥

मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः ।

चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः ॥ २५ ॥

पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे ।

एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे ॥ २६ ॥

लोकाँल्लोकविदः प्राहुराश्रमा इति तद्विदः ।

स्त्रीपुंनपुंसकं लैङ्गाः परापरमथापरे ॥ २७ ॥

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः ।

स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वे चेह तु सर्वदा ॥ २८ ॥

प्राणः प्राज्ञो बीजात्मा, तत्कार्यभेदा हीतरे स्थित्यन्ताः ।

अन्ये च सर्वे लौकिकाः सर्वप्राणिपरिकल्पिता भेदा  
 रज्ज्वामिव सर्पादयः । तच्छून्ये आत्मन्यात्मस्वरूपानिश्चय-  
 हेतोरविद्यया कल्पिता इति पिण्डितोऽर्थः । प्राणादि-  
 श्लोकानां प्रत्येकं पदार्थव्याख्याने फल्गुप्रयोजनत्वात्सिद्धपदा-  
 र्थत्वाच्च ब्रह्मो न कृतः ॥

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति ।

तं चावति स भूत्वासौ तद्ब्रह्मः समुपैति तम् ॥ २९ ॥

किं बहुना ? प्राणादीनामन्यतममुक्तमनुक्तं वा अन्यं यं  
 भावं पदार्थं दर्शयेद्यस्याचार्योऽन्यो वा आप्तः इदमेव तत्त्व-  
 मिति, स तं भावमात्मभूतं पश्यत्ययमहमिति वा ममेति  
 वा, तं च द्रष्टारं स भावोऽवति, यो दर्शितो भावः, असौ स  
 भूत्वा रक्षति ; स्वेनात्मना सर्वतो निरुणद्धि । तस्मिन्प्रह-  
 स्तद्ब्रह्मस्तदभिनिवेशः इदमेव तत्त्वमिति स तं ग्रहीतारमु-  
 पैति, तस्यात्मभावं निगच्छतीत्यर्थः ॥

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः ।

एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः ॥ ३० ॥

एतैः प्राणादिभिः आत्मनोऽपृथग्भूतैरपृथग्भावैः एषः  
 आत्मा रज्जुरिव सर्पादिविकल्पनारूपैः पृथगेवेति लक्षितः

अभिलक्षितः निश्चितः मूढैरित्यर्थः । विवेकिनां तु रज्ज्वाभिव-  
कल्पिताः सर्पादयो नात्मव्यतिरेकेण प्राणादयः सन्तीत्य-  
भिप्रायः ; ‘ इदं सर्वं यदयमात्मा ’ इति श्रुतेः । एवमात्मव्य-  
तिरेकेणासत्त्वं रज्जुसर्पवदात्मनि कल्पितानामात्मानं च  
केवलं निर्विकल्पं यो वेद तत्त्वेन श्रुतितो युक्तितश्च, सः  
अविशङ्कितो वेदार्थं विभागतः कल्पयेत् कल्पयतीत्यर्थः—  
इदमेवंपरं वाक्यम् अदोऽन्यपरम् इति । न ह्यनध्यात्मविद्वे-  
दान्ज्ञातुं शक्नोति तत्त्वतः, ‘ न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफ-  
लमुपाश्नुते ’ इति हि मानवं वचनम् ॥

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।

तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ ३१ ॥

यदेतद्वैतस्यासत्त्वमुक्तं युक्तितः, तदेतद्वेदान्तप्रमाणावगत-  
मित्याह— स्वप्नश्च माया च स्वप्नमाये असद्वस्त्वात्मिके  
सत्यौ सद्वस्त्वात्मिके इव लक्ष्येते अविवेकिभिः । यथा  
च प्रसारितपण्यापणगृहप्रासादस्त्रीपुंजनपदव्यवहाराकीर्णमिव  
गन्धर्वनगरं दृश्यमानमेव सत् अकस्मादभावतां गतं दृष्टम्,  
यथा च स्वप्नमाये दृष्टे असद्रूपे, तथा विश्वमिदं द्वैतं सम-  
स्तमसदृष्टम् । केत्याह—वेदान्तेषु, ‘ नेह नानास्ति किञ्चन ’  
‘ इन्द्रो मायाभिः ’ ‘ आत्मैवेदमग्र आसीत् ’ ‘ ब्रह्मैवेदमग्र

आसीत्' 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' 'न तु तद्वितीयमस्ति'  
 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इत्यादिषु, विचक्षणैः निपुण-  
 तरवस्तुदर्शिभिः पण्डितैरित्यर्थः ; 'तमः श्वभ्रनिभं दृष्टं वर्ष-  
 बुद्बुदसंनिभम् । नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमभावगम्'  
 इति व्यासस्मृतेः ॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।

न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ३२ ॥

प्रकरणार्थोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः— यदा वितथं द्वैतम्  
 आत्मैवैकः परमार्थतः सन्, तदा इदं निष्पन्नं भवति—स-  
 र्वोऽयं लौकिको वैदिकश्च व्यवहारोऽविद्याविषय एवेति ।  
 तदा न निरोधः, निरोधनं निरोधः प्रलयः, उत्पत्तिः जन-  
 नम्, बद्धः संसारी जीवः, साधकः साधनवान्मोक्षस्य, मु-  
 मुक्षुः मोचनार्थी, मुक्तः विमुक्तबन्धः । उत्पत्तिप्रलययोरभा-  
 वाद्ब्रह्मादयो न सन्तीत्येषा परमार्थता । कथमुत्पत्तिप्रलययो-  
 रभाव इति, उच्यते— द्वैतस्यासत्त्वात् । 'यत्र हि द्वैतमिव  
 भवति' 'य इह नानेव पश्यति' 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'ब्रह्मै-  
 वेदं सर्वम्' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'इदं सर्वं यदयमात्मा'  
 इत्यादिनानाश्रुतिभ्यो द्वैतस्यासत्त्वं सिद्धम् । सतो ह्युत्पत्तिः  
 प्रलयो वा स्यात्, नासतः शशविषाणादेः । नाप्यद्वैतमुत्प-

द्यते प्रलीयते वा । अद्वैतं च, उत्पत्तिप्रलयवच्चेति विप्रतिषिद्धम् । यस्तु पुनर्द्वैतसंव्यवहारः, स रज्जुसर्पवदात्मनि प्राणादिलक्षणः कल्पित इत्युक्तम्; न हि मनोविकल्पनाया रज्जुसर्पादिलक्षणाया रज्ज्वां प्रलय उत्पत्तिर्वा; न च मनसि रज्जुसर्पस्योत्पत्तिः प्रलयो वा, न चोभयतो वा । तथा मानसत्वाविशेषाद्वैतस्य । न हि नियते मनसि सुषुप्ते वा द्वैतं गृह्यते; अतो मनोविकल्पनामात्रं द्वैतमिति सिद्धम् । तस्मात्सूक्तम्— द्वैतस्यासत्त्वान्निरोधाद्यभावः परमार्थतेति । यद्येवं द्वैताभावे शास्त्रव्यापारः, नाद्वैते, विरोधात्; तथा च सत्यद्वैतस्य वस्तुत्वे प्रमाणाभावाच्छून्यवादप्रसङ्गः, द्वैतस्य चाभावात्; न, रज्जुवत्सर्पादिकल्पनाया निरास्पदत्वेऽनुपपत्तिरिति प्रत्युक्तमेतत्कथमुज्जीवयसीति, आह—रज्जुरपि सर्पविकल्पस्यास्पदभूता कल्पितैवेति दृष्टान्तानुपपत्तिः; न, विकल्पनाक्षये अविकल्पितस्याविकल्पितत्वादेव सत्त्वोपपत्तेः; रज्जुसर्पवदसत्त्वमिति चेत्, न एकान्तेनाविकल्पितत्वात् अविकल्पितरज्ज्वंशवत्प्राक्सर्पाभावविज्ञानात्, विकल्पयितुश्च प्राग्विकल्पनोत्पत्तेः सिद्धत्वाभ्युपगमादेवासत्त्वानुपपत्तिः । कथं पुनः स्वरूपे व्यापाराभावे शास्त्रस्य द्वैतविज्ञाननिवर्तकत्वम्? नैष दोषः, रज्ज्वां सर्पादि-



वदात्मनि द्वैतस्याविद्याध्यस्तत्वात् कथं मुख्यं दुःखी  
मूढो जातो मृतो जीर्णो देहवान् पश्यामि व्यक्ता-  
व्यक्तः कर्ता फली संयुक्तो वियुक्तः क्षीणो वृद्धोऽहं ममैते  
इत्येवमादयः सर्वे आत्मन्यध्यारोप्यन्ते । आत्मा एतेष्वनु-  
गतः, सर्वज्ञव्यभिचारात्, यथा सर्पधारादिभेदेषु रज्जुः ।  
वदा चैवं विशेष्यस्वरूपप्रत्ययस्य सिद्धत्वान्न कर्तव्यत्वं  
शास्त्रेण । अकृतकर्तृ च शास्त्रं कृतानुकारित्वे अप्रमाणम् ।  
यतः अविद्याध्यारोपितसुखित्वादिविशेषप्रतिबन्धादेवात्मनः  
स्वरूपेणानवस्थानम्, स्वरूपावस्थानं च श्रेयः इति सुखि-  
त्वादिनिवर्तकं शास्त्रमात्मन्यसुखित्वादिप्रत्ययकरणेन नेति  
नेत्यस्थूलादिवाक्यैः ; आत्मस्वरूपवदसुखित्वादिरपि सुखित्वा-  
दिभेदेषु नानुवृत्तोऽस्ति धर्मः । यद्यनुवृत्तः स्यात्, नाध्यारो-  
प्येत सुखित्वादिलक्षणो विशेषः, यथोष्णत्वगुणविशेषवत्यग्नौ  
शीतिता ; तस्मान्निविशेष एवात्मनि सुखित्वादयो विशेषाः  
कल्पिताः । यत्त्वसुखित्वादिशास्त्रमात्मनः, तत्सुखित्वादि-  
विशेषनिवृत्त्यर्थमेवेति सिद्धम् । ‘सिद्धं तु निवर्तकत्वात्’  
इत्यागमविदां सूत्रम् ॥

भाचैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः ।

भावा अप्यद्वयेनैव तस्मादद्वयता शिवा ॥ ३३ ॥

पूर्वश्लोकार्थस्य हेतुमाह—यथा रज्ज्वामसद्भिः सर्पधा-  
रादिभिः अद्वयेन च रज्जुद्रव्येण सता अयं सर्प इति धा-  
रेयं दण्डोऽयमिति वा रज्जुद्रव्यमेव कल्प्यते, एवं प्राणादि-  
भिरनन्तैः असद्भिरेव अविद्यमानैः, न परमार्थतः । न ह्यप्रच-  
लिते मनसि कश्चिद्भाव उपलक्षयितुं शक्यते केनचित् ; न  
चात्मनः प्रचलनमस्ति । प्रचलितस्यैवोपलभ्यमाना भावा न  
परमार्थतः सन्तः कल्पयितुं शक्याः । अतः असद्भिरेव प्रा-  
णादिभिर्भावैरद्वयेन च परमार्थसता आत्मना रज्जुवत्सर्ववि-  
कल्पास्पदभूतेन अयं स्वयमेवात्मा कल्पितः सदैकस्वभावोऽपि  
सन् । ते चापि प्राणादिभावाः अद्वयेनैव सता आत्मना  
विकल्पिताः ; न हि निरास्पदा काचित्कल्पना उपपद्यते ; अतः  
सर्वकल्पनास्पदत्वात्स्वेनात्मना अद्वयस्य अव्यभिचारात् क-  
ल्पनावस्थायामपि अद्वयता शिवा ; कल्पना एव त्वशिवाः ,  
रज्जुसर्पादिवत्त्रासादिकारिण्यो हि ताः । अद्वयता अभया ;  
अतः सैव शिवा ॥

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथंचन ।

न पृथङ् नापृथक्किंचिदिति तत्त्वविदो विदुः ॥ ३४ ॥

कुतश्चाद्वयता शिवा ? नानाभूतं प्रथक्त्वम् अन्यस्य अ-  
न्यस्मात् यत्र दृष्टम्, तत्राशिवं भवेत् । न ह्यत्राद्वये परमा-

र्थसत्यात्मनि प्राणादिसंसारजातमिदं जगन् आत्मभावेन परमार्थस्वरूपेण निरूप्यमाणं नाना वस्त्वन्तरभूतं भवति; यथा रज्जुस्वरूपेण प्रकाशेन निरूप्यमाणो न नानाभूतः कल्पितः सर्पोऽस्ति, तद्वत् । नापि स्वेन प्राणाद्यात्मना इदं विद्यते कदाचिदपि, रज्जुसर्पवत्कल्पितत्वादेव । तथा अन्योन्यं न पृथक् प्राणादि वस्तु, यथा अश्वान्महिषः पृथग्विद्यते, एवम् । अतः असत्त्वात् नापि अपृथक् विद्यतेऽन्योन्यं परेण वा किञ्चिदिति । एवं परमार्थतत्त्वविदो ब्राह्मणा विदुः । अतः अशिवहेतुत्वाभावादद्वयतैव शिवेत्यभिप्रायः ॥

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः ।

निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥ ३५ ॥

तदेतत्सम्यग्दर्शनं स्तूयते— विगतरागभयक्रोधादिसर्वदोषैः सर्वदा मुनिभिः मननशीलैर्विवेकिभिः वेदपारगैः अवगतवेदान्तार्थतत्त्वैर्ज्ञानिभिः निर्विकल्पः सर्वविकल्पशून्यः अयम् आत्मा दृष्टः उपलब्धो वेदान्तार्थतत्परैः, प्रपञ्चोपशमः, प्रपञ्चो द्वैतभेदविस्तारः, तस्योपशमोऽभावो यस्मिन्, स आत्मा प्रपञ्चोपशमः, अत एव अद्वयः विगतदोषैरेव पण्डितैर्वेदान्तार्थतत्परैः संन्यासिभिः अयमात्मा द्रष्टुं शक्यः,

नान्यैः रागादिकलुषितचेतोभिः स्वपक्षपातिदर्शनैस्तार्किका-  
दिभिरित्यभिप्रायः ॥

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत्स्मृतिम् ।

अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ॥ ३६ ॥

यस्मात्सर्वानर्थोपशमरूपत्वादद्वयं शिवमभयम् , अतः एवं  
विदित्वैनम् अद्वैते स्मृतिं योजयेत् ; अद्वैतावगमायैव स्मृतिं  
कुर्यादित्यर्थः । तच्च अद्वैतम् अवगम्य ‘ अहमास्मि परं ब्रह्म ’  
इति विदित्वा अशनायाद्यतीतं साक्षादपरोक्षादजमात्मानं  
सर्वलोकव्यवहारातीतं जडवत् लोकमाचरेत् ; अप्रख्याप-  
यन्नात्मानमहमेवंविध इत्यभिप्रायः ॥

निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।

चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥ ३७ ॥

कया चर्यया लोकमाचरेदिति, आह— स्तुतिनमस्कारा-  
दिसर्वकर्मविवर्जितः त्यक्तसर्वबाह्यैषणः प्रतिपन्नपरमहंसपारि-  
व्राज्य इत्यभिप्रायः, ‘ एतं वै तमात्मानं विदित्वा ’ इत्यादिश्रुतेः,  
‘ तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ’ इत्यादिस्मृतिश्च ।  
चलं शरीरम् , प्रतिक्षणमन्यथाभावात् ; अचलम् आत्म-

तत्त्वम् । यदा कदाचिद्भोजनादिसंव्यवहारनिमित्तमाकाशवद-  
चलं स्वरूपमात्मतत्त्वम् आत्मनो निकेतमाश्रयमात्मस्थितिं  
विस्मृत्य अहमिति मन्यते यदा, तदा चलो देहो निकेतो यस्य  
सोऽयमेवं चलाचलनिकेतो विद्वान्न पुनर्बाह्यविषयाश्रयः ।  
स च यादृच्छिको भवेत्, यदृच्छाप्राप्तकौपीनाच्छादनप्राप्त-  
मात्रवेदस्थितिरित्यर्थः ॥

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः ।

तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत् ॥ ३८ ॥

बाह्यं पृथिव्यादि तत्त्वमाध्यात्मिकं च देहादिलक्षणं  
रज्जुसर्पादिवत्स्वप्रमायादिवच्च असत्, 'वाचारम्भणं विकारो  
नामधेयम्' इत्यादिश्रुतेः । आत्मा च सबाह्याभ्यन्तरो  
ह्यजोऽपूर्वोऽनपरोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः तथा आकाशवत्सर्व-  
गतः सूक्ष्मोऽचलो निर्गुणो निष्कलो निष्क्रियः 'तत्सत्यं  
स आत्मा तत्त्वमसि' इति श्रुतेः, इत्येवं तत्त्वं दृष्ट्वा तत्त्वी-  
भूतस्तदारामो न बाह्यरमणः ; यथा अतत्त्वदर्शी कश्चित्तमा-  
त्मत्वेन प्रतिपन्नश्चित्तचलनमनु चलितमात्मानं मन्यमानः  
तत्त्वाचलितं देहादिभूतमात्मानं कदाचिन्मन्यते प्रच्युतोऽह-  
मात्मतत्त्वादिदानीमिति, समाहिते तु मनसि कदाचि-  
त्तत्त्वभूतं प्रसन्नमात्मानं मन्यते इदानीमस्मि तत्त्वीभूत इति;

न तथा आत्मविद्भवेत्, आत्मन एकरूपत्वात्, स्वरूपप्रच्य-  
वनासंभवाच्च । सदैव ब्रह्मास्मीत्यप्रच्युतो भवेत्तत्त्वात्, सदा  
अप्रच्युतात्मतत्त्वदर्शनो भवेदित्यभिप्रायः; ‘शुनि चैव श्र-  
पाके च’ ‘समं सर्वेषु भूतेषु’ इत्यादिस्मृतेः ॥

इति द्वितीयं वैतथ्यप्रकरणं संपूर्णम् ॥

## अद्वैतप्रकरणम् ॥

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।

प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः ॥ १ ॥

ओंकारनिर्णये उक्तः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत आलेति प्रतिज्ञामात्रेण, 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' इति च । तत्र द्वैताभावस्तु वैतथ्यप्रकरणेन स्वप्नमायागन्धर्वनगरादिदृष्टान्तैर्दृश्यत्वाद्यन्तवत्त्वादिहेतुभिस्तर्केण च प्रतिपादितः । अद्वैतं किमागममात्रेण प्रतिपत्तव्यम्, आहोस्वित्तर्केणापीत्यत आह — शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्; तत्कथमित्यद्वैतप्रकरणमारभ्यते । उपास्योपासनादिभेदजातं सर्वं वितथम्, केवल-  
आत्मा अद्वयः परमार्थ इति स्थितमतीते प्रकरणे; यतः उपासनाश्रितः उपासनामात्मनो मोक्षसाधनत्वेन गतः उपासकोऽहं ममोपास्यं ब्रह्म । तदुपासनं कृत्वा जाते ब्रह्मणी-  
दानीं वर्तमानः अजं ब्रह्म शरीरपातादूर्ध्वं प्रतिपत्स्ये प्रागु-  
त्पत्तेश्चाजमिदं सर्वमहं च । यदात्मकोऽहं प्रागुत्पत्तेरिदानीं जातो जाते ब्रह्मणि च वर्तमान उपासनया पुनस्तदेव प्रति-

पत्स्ये इत्येवमुपासनाश्रितो धर्मः साधकः येनैवं क्षुद्रब्रह्म-  
वित्, तेनासौ कारणेन कृपणो दीनोऽल्पकः स्मृतो नित्या-  
जब्रह्मदर्शिभिर्महात्मभिरित्यभिप्रायः, 'यद्वाचानभ्युदितं येन  
वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते'  
इत्यादिश्रुतेस्तलवकाराणाम् ॥

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम् ।

यथा न जायते किञ्चिज्जायमानं समन्ततः ॥ २ ॥

सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मानं प्रतिपत्तुमशक्नुवन् अवि-  
द्यया दीनमात्मानं मन्यमानः जातोऽहं जाते ब्रह्मणि वर्ते  
तदुपासनाश्रितः सन्ब्रह्म प्रतिपत्स्ये इत्येवं प्रतिपन्नः कृपणो  
भवति यस्मात्, अतो वक्ष्यामि अकार्पण्यम् अकृपणभाव-  
मजं ब्रह्म । तद्धि कार्पण्यास्पदम्, 'यत्रान्योऽन्यत्पश्यत्यन्य-  
च्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्' 'मर्त्यं तत्' 'वाचारम्भणं  
विकारो नामधेयम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः । तद्विपरीतं सबा-  
ह्याभ्यन्तरमजमकार्पण्यं भूमाख्यं ब्रह्म; यत्प्राप्याविद्याकृत-  
सर्वकार्पण्यनिवृत्तिः, तदकार्पण्यं वक्ष्यामीत्यर्थः । तत् अ-  
जाति अविद्यमाना जातिरस्य । समतां गतं सर्वसाम्यं  
गतम्; कस्मात्? अवयववैषम्याभावात् । यद्धि सावयवं



वस्तु, तदवयववैषम्यं गच्छज्जायत इत्युच्यते ; इदं तु निरव-  
यवत्वात्समतां गतमिति न कैश्चिदवयवैः स्फुटति ; अतः  
अजाति अकार्पण्यं समन्ततः समन्तान् , यथा न जायते  
किञ्चिन् अल्पमपि न स्फुटति रज्जुसर्पवदविद्याकृतदृष्ट्या  
जायमानं येन प्रकारेण न जायते सर्वतः अजमेव ब्रह्म भवति,  
तथा तं प्रकारं शृण्वित्यर्थः ॥

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः ।

घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ॥ ३ ॥

अजाति ब्रह्माकार्पण्यं वक्ष्यामीति प्रतिज्ञातम् ; तत्सि-  
द्धयर्थं हेतुं दृष्टान्तं च वक्ष्यामीत्याह— आत्मा परः हि य-  
स्मात् आकाशवत् सूक्ष्मो निरवयवः सर्वगत आकाशवदुक्तः  
जीवैः क्षेत्रज्ञैः घटाकाशैरिव घटाकाशतुल्यैः उदितः उक्तः ;  
स एव आकाशसमः पर आत्मा । अथवा घटाकाशैर्यथा  
आकाश उदितः उत्पन्नः, तथा परो जीवात्मभिरुत्पन्नः ;  
जीवात्मनां परस्मादात्मन उत्पत्तिर्या श्रूयते वेदान्तेषु, सा  
महाकाशाद्धटाकाशोत्पत्तिसमा, न परमार्थत इत्यभिप्रायः ।  
तस्मादेवाकाशाद्धटादयः संघाता यथा उत्पद्यन्ते, एवमाका-  
शस्थानीयात्परमात्मनः पृथिव्यादिभूतसंघाता आध्यात्मि-

काश्च कार्यकरणलक्षणा रज्जुसर्पवद्विकल्पिता जायन्ते ; अत उच्यते— घटादिवच्च संघातैरुदित इति । यदा मन्दबुद्धि-  
प्रतिपिपादयिषया श्रुत्या आत्मनो जातिरुच्यते जीवादीनाम्,  
तदा जातावुपगम्यमानायाम् एतत् निदर्शनं दृष्टान्तः यथो-  
दिताकाशवदित्यादिः ॥

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।

आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ॥ ४ ॥

यथा घटाद्युत्पत्त्या घटाकाशाद्युत्पत्तिः, यथा च घटादि-  
प्रलयेन घटाकाशादिप्रलयः, तद्वद्देहादिसंघातोत्पत्त्या जीवो-  
त्पत्तिः तत्प्रलयेन च जीवानाम् इह आत्मनि प्रलयः, न स्वत  
इत्यर्थः ॥

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।

न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ॥ ५ ॥

सर्वदेहेष्वात्मैकत्वे एकस्मिन् जननमरणसुखदुःखादिमत्या-  
त्मनि सर्वात्मनां तत्संबन्धः क्रियाफलसांकर्यं च स्यादिति ये  
त्वाहुर्द्वैतिनः, तान्प्रतीदमुच्यते— यथा एकस्मिन् घटाकाशे  
रजोधूमादिभिः युते संयुक्ते, न सर्वे घटाकाशादयः तद्वजो-  
धूमादिभिः संयुज्यन्ते, तद्वत् जीवाः सुखादिभिः । ननु,

एक एवात्मा; बाढम्; ननु न श्रुतं त्वया आकाशवत्सर्व-  
 संघातेष्वेक एवात्मेति? यद्येक एवात्मा, तर्हि सर्वत्र सुखी  
 दुःखी च स्यात्; न चेदं सांख्यस्य चोद्यं संभवति; न हि  
 सांख्य आत्मनः सुखदुःखादिमत्त्वमिच्छति, बुद्धिसमवाया-  
 भ्युपगमात्सुखदुःखादीनाम्; न चोपलब्धिस्वरूपस्यात्मनो  
 भेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति । भेदाभावे प्रधानस्य पारार्थ्या-  
 नुपपत्तिरिति चेत्, न; प्रधानकृतस्यार्थस्यात्मन्यसमवा-  
 यान्; यदि हि प्रधानकृतो बन्धो मोक्षो वा अर्थः पुरुषेषु  
 भेदेन समवैति, ततः प्रधानस्य पारार्थ्यमात्मैकत्वे नोपप-  
 द्यत इति युक्ता पुरुषभेदकल्पना; न च सांख्यैर्बन्धो मोक्षो  
 वार्थः पुरुषसमवेतोऽभ्युपगम्यते, निर्विशेषाश्च चेतनमात्रा  
 आत्मानोऽभ्युपगम्यन्ते; अतः पुरुषसत्तामात्रप्रयुक्तमेव प्र-  
 धानस्य पारार्थ्यं सिद्धम्, न तु पुरुषभेदप्रयुक्तमिति;  
 अतः पुरुषभेदकल्पनायां न प्रधानस्य पारार्थ्यं हेतुः; न  
 चान्यत्पुरुषभेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति सांख्यानाम् । परस-  
 त्तामात्रमेव चैतन्निमित्तीकृत्य स्वयं बध्यते मुच्यते च प्रधा-  
 नम्; परश्चोपलब्धिमात्रसत्तास्वरूपेण प्रधानप्रवृत्तौ हेतुः, न  
 केनचिद्विशेषेणेति, केवलमूढतयैव पुरुषभेदकल्पना वेदार्थप-  
 रित्यागश्च । ये त्वाहुर्वैशेषिकादयः इच्छादय आत्मसमवायिन

इति ; तदप्यसत्, स्मृतिहेतूनां संस्काराणामप्रदेशवत्यात्मन्य-  
समवायान्, आत्ममनःसंयोगाच्च स्मृत्युत्पत्तेः स्मृतिनियमानु-  
पपत्तिः, युगपद्वा सर्वस्मृत्युत्पत्तिप्रसङ्गः । न च भिन्नजातीया-  
नां स्पर्शादिहीनानामात्मनां मनआदिभिः संबन्धो युक्तः । न च  
द्रव्याद्रूपादयो गुणाः कर्मसामान्यविशेषसमवाया वा भिन्नाः  
सन्ति । परेषां यदि ह्यत्यन्तभिन्ना एव द्रव्यात्स्युः इच्छाद-  
यश्चात्मनः, तथा सति द्रव्येण तेषां संबन्धानुपपत्तिः । अ-  
युतसिद्धानां समवायलक्षणः संबन्धो न विरुध्यत इति चेत्,  
न; इच्छादिभ्योऽनित्येभ्य आत्मनो नित्यस्य पूर्वसिद्धत्वान्ना-  
युतसिद्धत्वोपपत्तिः । आत्मना अयुतसिद्धत्वे च इच्छादीना-  
मात्मगतमहत्त्ववन्नित्यत्वप्रसङ्गः । स चानिष्टः, आत्मनोऽनि-  
र्गोक्षप्रसङ्गात् । समवायस्य च द्रव्यादन्यत्वे सति द्रव्येण सं-  
बन्धान्तरं वाच्यम्, यथा द्रव्यगुणयोः । समवायो नित्यसं-  
बन्ध एवेति न वाच्यमिति चेत्, तथा सति समवायसंबन्ध-  
वतां नित्यसंबन्धप्रसङ्गात्पृथक्त्वानुपपत्तिः । अत्यन्तपृथक्त्वे  
च द्रव्यादीनां स्पर्शवदस्पर्शद्रव्ययोरिव षष्ठ्यर्थानुपपत्तिः ।  
इच्छाद्युपजनापायवद्गुणवत्त्वे च आत्मनोऽनित्यत्वप्रसङ्गः ।  
देहफलादिवत्सावयवत्वं विक्रियावत्त्वं च देहादिवदेवेति दो-  
षावपरिहार्यौ । यथा त्वाकाशस्य अविद्याध्यारोपितघटाद्यु-

पाधिकृतरजोधूममलवत्त्वादोषवत्त्वम्, तथा आत्मनः अ-  
विद्याध्यारोपितबुद्ध्याद्युपाधिकृतसुखदुःखादिदोषवत्त्वे बन्ध-  
मोक्षादयो व्यावहारिका न विरुध्यन्ते; सर्ववादिभिरवि-  
द्याकृतव्यवहाराभ्युपगमात् परमार्थानभ्युपगमाच्च । तस्मा-  
दात्मभेदपरिकल्पना वृथैव तार्किकैः क्रियत इति ॥

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै ।

आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः ॥ ६ ॥

कथं पुनरात्मभेदनिमित्त इव व्यवहार एकस्मिन्नात्म-  
न्यविद्याकृत उपपद्यत इति, उच्यते । यथा इहाकाशे एक-  
स्मिन्घटकरकापवरकाद्याकाशानामल्पत्वमहत्त्वादिरूपाणि भि-  
द्यन्ते, तथा कार्यमुदकाहरणधारणशयनादि, समाख्याश्च  
घटाकाशः करकाकाश इत्याद्याः तत्कृताश्च भिन्ना दृश्यन्ते,  
तत्र तत्र वै व्यवहारविषये इत्यर्थः । सर्वोऽयमाकाशे रूपा-  
दिभेदकृतो व्यवहारः अपरमार्थ एव । परमार्थतत्त्वाका-  
शस्य न भेदोऽस्ति । न चाकाशभेदनिमित्तो व्यवहारोऽस्ति  
अन्तरेण परोपाधिकृतं द्वारम् । यथैतत्, तद्वद्देहोपाधिभेदकृ-  
तेषु जीवेषु घटाकाशस्थानीयेष्वात्मसु निरूपणात्कृतः बुद्धि-  
मद्भिः निर्णयः निश्चय इत्यर्थः ॥

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा ।

नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा ॥ ७ ॥

ननु तत्र परमार्थकृत एव घटाकाशादिषु रूपकार्यादि-  
भेदव्यवहार इति ; नैतदस्ति, यस्मात्परमार्थाकाशस्य घटा-  
काशो न विकारः, यथा सुवर्णस्य रुचकादिः, यथा वा  
अपां फेनबुद्बुदहिमादिः ; नाप्यवयवः, यथा वृक्षस्य शा-  
खादिः । न तथा आकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा,  
तथा नैवात्मनः परस्य परमार्थसतो महाकाशस्थानीयस्य  
घटाकाशस्थानीयो जीवः सदा सर्वदा यथोक्तदृष्टान्तवन्न  
विकारः, नाप्यवयवः । अत आत्मभेदकृतो व्यवहारो  
मृषैवेत्यर्थः ॥

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः ।

तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः ॥ ८ ॥

यस्माद्यथा घटाकाशादिभेदबुद्धिनिबन्धनो रूपकार्यादि-  
भेदव्यवहारः, तथा देहोपाधिजीवभेदकृतो जन्ममरणादि-  
व्यवहारः, तस्मात्तत्कृतमेव क्लेशकर्मफलमलवत्त्वमात्मनः,  
न परमार्थत इत्येतमर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपिपादयिषन्नाह—  
यथा भवति लोके बालानाम् अविवेकिनां गगनम् आ-

काशं घनरजोधूमादिमलैः मलिनं मलवत्, न गगन-  
याथात्म्यविवेकवताम्, तथा भवति आत्मा परोऽपि— यो  
विज्ञाता प्रत्यक्— क्लेशकर्मफलमलैर्मलिनः अबुद्धानां प्रत्य-  
गात्मविवेकरहितानाम्, नात्मविवेकवताम् । न दूषरदेशः  
तृड्प्रप्राण्यध्यारोपितोदकफेनतरङ्गादिमान्, तथा नात्मा अबु-  
धारोपितक्लेशादिमलैः मलिनो भवतीत्यर्थः ॥

मरणे संभवे चैव गत्यागमनयोरपि ।

स्थितौ सर्वशरीरेषु चाकाशेनाविलक्षणः ॥ ९ ॥

पुनरप्युक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—घटाकाशजन्मनाशगमना-  
गमनस्थितिवत्सर्वशरीरेष्व्वात्मनो जन्ममरणादिराकाशेनावि-  
लक्षणः प्रत्येतव्य इत्यर्थः ॥

संघाताः स्वप्नवत्सर्व आत्ममायाविसर्जिताः ।

आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ॥ १० ॥

घटादिस्थानीयास्तु देहादिसंघाताः स्वप्नदृश्यदेहादिवन्मा-  
याविकृतदेहादिवच्च आत्ममायाविसर्जिताः, आत्मनो माया  
अविद्या, तया प्रत्युपस्थापिताः, न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः ।  
यदि आधिक्यमधिकभावः तिर्यग्देहाद्यपेक्षया देवादिकार्य-

करणसंघातानाम्, यदि वा सर्वेषां समतैव, तेषां न ह्युपपत्तिसंभवः, संभवप्रतिपादको हेतुः न विद्यते नास्ति; हि यस्मात्, तस्मादविद्याकृता एव, न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः ॥

रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके ।

तेषामात्मा परो जीवः खं यथा संप्रकाशितः ॥११॥

उत्पत्त्यादिवर्जितस्याद्वयस्यास्यात्मतत्त्वस्य श्रुतिप्रमाणकत्वप्रदर्शनार्थं वाक्यान्युपन्यस्यन्ते— रसादयः अन्नरसमयः प्राणमय इत्येवमादयः कोशा इव कोशाः अस्यादेः, उत्तरोत्तरापेक्षया बहिर्भावात्पूर्वपूर्वस्य व्याख्याताः विस्पष्टमाख्याताः तैत्तिरीयके तैत्तिरीयकशाखोपनिषद्वल्लयाम्, तेषां कोशानामात्मा येनात्मना पञ्चापि कोशा आत्मवन्तोऽन्तरतमेन । स हि सर्वेषां जीवननिमित्तत्वाज्जीवः । कोऽसावित्याह— पर एवात्मा यः पूर्वम् ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इति प्रकृतः; यस्मादात्मनः स्वप्रमायादिवदाकाशादिक्रमेण रसादयः कोशलक्षणाः संघाता आत्ममायाविसर्जिता इत्युक्तम् । स आत्मा अस्माभिः यथा खं तथेति संप्रकाशितः, ‘आत्मा ह्याकाशवत्’ इत्यादिश्लोकैः । न तार्किकपरिकल्पितात्मवत्पुरुषबुद्धिप्रमाणगम्य इत्यभिप्रायः ॥



द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितम् ।

पृथिव्यामुदरे चैव यथाकाशः प्रकाशितः ॥ १२ ॥

किञ्च, अधिदैवतमध्यात्मं च तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः पृथिव्याद्यन्तर्गतो यो विज्ञाता पर एवात्मा ब्रह्म सर्वमिति द्वयोर्द्वयोः आ द्वैतक्षयात् परं ब्रह्म प्रकाशितम् ; केत्याह— ब्रह्मविद्याख्यं मधु अमृतम्, अमृतत्वं मोदनहेतुत्वात्, तद्विज्ञायते यस्मिन्निति मधुज्ञानं मधुब्राह्मणम्, तस्मिन्नित्यर्थः । किमिवेत्याह— पृथिव्याम् उदरे चैव यथा एक आकाशः अनुमानेन प्रकाशितः लोके, तद्वदित्यर्थः ॥

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।

नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम् ॥ १३ ॥

यद्युक्तिः श्रुतितश्च निर्धारितं जीवस्य परस्य चात्मनोऽनन्यत्वम् अभेदेन प्रशस्यते स्तूयते शास्त्रेण व्यासादिभिश्च, यच्च सर्वप्राणिसाधारणं स्वाभाविकं शास्त्रबहिर्मुखैः कुतार्किकैर्विरचितं नानात्वदर्शनं निन्द्यते, 'न तु द्वितीयमस्ति' 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' 'उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति' 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इत्येवमादिवाक्यैरन्यै-

अत्र ब्रह्मविद्धिः यच्चैतत्, तदेवं हि समञ्जसम् ऋज्ववबोधं  
न्याय्यमित्यर्थः । यास्तु तार्किकपरिकल्पिताः कुदृष्टयः,  
ताः अनृज्वयो निरूप्यमाणा न घटनां प्राञ्चन्तीत्यभिप्रायः ॥

जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम् ।

भविष्यद्वृत्त्या गौणं तन्मुख्यत्वं हि न युज्यते ॥१४॥

ननु श्रुत्यापि जीवपरमात्मनोः पृथक्त्वं यत् प्रागुत्पत्तेः  
उत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः पूर्वं प्रकीर्तितं कर्मकाण्डे अनेकशः  
कामभेदतः इदं कामः अदः काम इति, परञ्च 'स दाधार  
पृथिवीं द्याम्' इत्यादिमन्त्रवर्णैः; तत्र कथं कर्मज्ञानका-  
ण्डवाक्यविरोधे ज्ञानकाण्डवाक्यार्थस्यैवैकत्वस्य सामञ्जस्य-  
मवधार्यत इति । अत्रोच्यते— 'यतो वा इमानि भूतानि  
जायन्ते' 'यथाम्रे क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः' 'तस्माद्वा एतस्मा-  
दात्मन आकाशः संभूतः' 'तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत' इ-  
त्याद्युत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः प्राक्पृथक्त्वं कर्मकाण्डे प्रकी-  
र्तितं यत्, तन्न परमार्थतः । किं तर्हि? गौणम्; महाका-  
शघटाकाशादिभेदवत्, यथा ओदनं पचतीति भविष्यद्वृत्त्या,  
तद्वत् । न हि भेदवाक्यानां कदाचिदपि मुख्यभेदार्थकत्वमु-  
पपद्यते, स्वाभाविकाविद्यावत्प्राणिभेददृष्टयनुवादित्वादात्मभे-

दवाक्यानाम् । इह च उपनिषत्सु उत्पत्तिप्रलयादिवाक्यै-  
 र्जीवपरात्मनोरेकत्वमेव प्रतिपिपादयिषितम् 'तत्त्वमसि'  
 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' इत्यादिभिः; अत  
 उपनिषत्स्वेकत्वं श्रुत्या प्रतिपिपादयिषितं भविष्यतीति भावि-  
 नीमिव वृत्तिमाश्रित्य लोके भेददृष्ट्यनुवादो गौण एवेत्यभि-  
 प्रायः । अथवा, 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' इत्याद्युत्पत्तेः  
 प्राक् 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्येकत्वं प्रकीर्तितम्; तदेव च  
 'तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि' इत्येकत्वं भविष्यतीति तां  
 भविष्यद्वृत्तिमपेक्ष्य यज्जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्र कचिद्वाक्ये  
 गम्यमानम्, तद्वौणम्; यथा ओदनं पचतीति, तद्वत् ॥

मृलोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा ।

उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ॥ १५ ॥

ननु यद्युत्पत्तेः प्रागजं सर्वमेकमेवाद्वितीयम्, तथापि उ-  
 त्पत्तेरूर्ध्वं जातमिदं सर्वं जीवाश्च भिन्ना इति । मैवम्, अ-  
 न्यार्थत्वादुत्पत्तिश्रुतीनाम् । पूर्वमपि परिहृत एवायं दोषः—  
 स्वप्नवदात्ममायाविसर्जिताः संघाताः, घटाकाशोत्पत्तिभेदा-  
 दिवज्जीवानामुत्पत्तिभेदादिरिति । इत एव उत्पत्तिभेदादिश्रु-  
 तिभ्य आकृष्य इह पुनरुत्पत्तिश्रुतीनामैदंपर्यप्रतिपिपादयिष-

योपन्यासः मूलोहविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तोपन्यासैः सृष्टिः या च उदिता प्रकाशिता कल्पिता अन्यथान्यथा च, स सर्वः सृष्टि-प्रकारो जीवपरमात्मैकत्वबुद्ध्यवतारायोपायोऽस्माकम्, यथा प्राणसंवादे वागाद्यासुरपाप्मवेधाद्याख्यायिका कल्पिता प्राणवै-शिष्ट्यबोधावताराय; तदप्यसिद्धमिति चेत्; न, शाखाभेदेष्वन्यथान्यथा च प्राणादिसंवादश्रवणात् । यदि हि वादः परमार्थ एवाभूत्, एकरूप एव संवादः सर्वशाखास्वश्रोष्यत, विरु-द्धानेकप्रकारेण नाश्रोष्यत; श्रूयते तु; तस्मान्न तादर्थ्यं सं-वादश्रुतीनाम् । तथोत्पत्तिवाक्यानि प्रत्येतव्यानि । कल्पस-र्गभेदात्संवादश्रुतीनामुत्पत्तिश्रुतीनां च प्रतिसर्गमन्यथात्व-मिति चेत्; न, निष्प्रयोजनत्वाद्यथोक्तबुद्ध्यवतारप्रयोज-नव्यतिरेकेण । न ह्यन्यप्रयोजनवत्त्वं संवादोत्पत्तिश्रुतीनां शक्यं कल्पयितुम् । तथात्वप्रतिपत्तये ध्यानार्थमिति चेत्; न, कलहोत्पत्तिप्रलयानां प्रतिपत्तेरनिष्टत्वात् । तस्मादुत्पत्त्या-दिश्रुतय आत्मैकत्वबुद्ध्यवतारायैव, नान्यार्थाः कल्पयितुं युक्ताः । अतो नास्त्युत्पत्त्यादिकृतो भेदः कथंचन ॥

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः ।

उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ॥ १६ ॥

यदि हि पर एवात्मा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एकः पर-

मार्थतः सन् 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः, असदन्यत्, किमर्थेयमुपासनोपदिष्टा 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' 'य आत्मापहतपाप्मा' 'स क्रतुं कुर्वीत' 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादिश्रुतिभ्यः, कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि? शृणु तत्र कारणम्— आश्रमाः आश्रमिणोऽधिकृताः, वर्णिनश्च मार्गगाः, आश्रमशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात्, त्रिविधाः । कथम्? हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः हीना निकृष्टा मध्यमा उत्कृष्टा च दृष्टिः दर्शनसामर्थ्यं येषां ते, मन्दमध्यमोत्तमबुद्धिसामर्थ्योपेता इत्यर्थः । उपासना उपदिष्टा इयं तदर्थं मन्दमध्यमदृष्ट्याश्रमाद्यर्थं कर्माणि च । न चात्मैक एवाद्वितीय इति निश्चितोत्तमदृष्ट्यर्थम् । दयालुना वेदेनानुकम्पया सन्मार्गगाः सन्तः कथमिमामुत्तमामेकत्वदृष्टिं प्राप्नुयुरिति, 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' 'तत्त्वमसि' 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् ।

परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ॥ १७ ॥

शास्त्रोपपत्तिभ्यामवधारितत्वादद्वयात्मदर्शनं सम्यग्दर्शनम्, तद्वाह्यत्वान्मिथ्यादर्शनमन्यत् । इतश्च मिथ्यादर्शनं

द्वैतिनां रागद्वेषादिदोषास्पदत्वात् । कथम् ? स्वसिद्धान्तव्यव-  
स्थासु स्वसिद्धान्तरचनानियमेषु कपिलकणादबुद्धार्हतादिदृष्ट्य-  
नुसारिणो द्वैतिनो निश्चिताः, एवमेवैष परमार्थो नान्यथेति,  
तत्र तत्रानुरक्ताः प्रतिपक्षं चात्मनः पश्यन्तस्तं द्विषन्त  
इत्येवं रागद्वेषोपेताः स्वसिद्धान्तदर्शननिमित्तमेव परस्परम्  
अन्योन्यं विरुध्यन्ते । तैरन्योन्यविरोधिभिरस्मदीयोऽयं वै-  
दिकः सर्वानन्यत्वादात्मैकत्वदर्शनपक्षो न विरुध्यते, यथा  
स्वहस्तपादादिभिः । एवं रागद्वेषादिदोषानास्पदत्वादात्मैक-  
त्वबुद्धिरेव सम्यग्दर्शनमित्यभिप्रायः ।

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते ।

तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते ॥ १८ ॥

केन हेतुना तैर्न विरुध्यत इत्युच्यते—अद्वैतं परमार्थः,  
हि यस्मात् द्वैतं नानात्वं तस्याद्वैतस्य भेदः तद्भेदः, तस्य का-  
र्यमित्यर्थः, ‘एकमेवाद्वितीयम्’ ‘तत्तेजोऽसृजत’ इति श्रुतेः;  
उपपत्तेश्च, स्वचित्तस्पन्दनाभावे समाधौ मूर्च्छायां सुषुप्तौ वा  
अभावात् । अतः तद्भेद उच्यते द्वैतम् । द्वैतिनां तु तेषां  
परमार्थतोऽपरमार्थतश्च उभयथापि द्वैतमेव; यदि च तेषां  
भ्रान्तानां द्वैतदृष्टिः अस्माकमद्वैतदृष्टिरभ्रान्तानाम्, तेनायं  
हेतुना अस्मत्पक्षो न विरुध्यते तैः, ‘इन्द्रो मायाभिः’ ‘न

तु तद्वितीयमस्ति' इति श्रुतेः । यथा मत्तगजारूढः उन्मत्तं भूमिष्ठम् 'प्रतिगजारूढोऽहं गजं वाहय मां प्रति' इति ब्रुवाण-  
मपि तं प्रति न वाहयत्यविरोधबुद्ध्या, तद्वन् । ततः परमा-  
र्थतो ब्रह्मविदात्मैव द्वैतिनाम् । तेनायं हेतुना अस्मत्पक्षो न  
विरुध्यते तैः ॥

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथंचन ।

तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं व्रजेत् ॥ १९ ॥

द्वैतमद्वैतभेद इत्युक्ते द्वैतमप्यद्वैतवत्परमार्थसदिति ह्या-  
त्कस्यचिदाशङ्केत्यत आह— यत्परमार्थसदद्वैतम्, मायया  
भिद्यते ह्येतन् तैमिरिकानेकचन्द्रवत् रज्जुः सर्पधारादिभिर्भे-  
दैरिव; न परमार्थतः, निरवयवत्वादात्मनः । सावयवं  
ह्यवयवान्यथात्वेन भिद्यते, यथा मृत् घटादिभेदैः । तस्मान्नि-  
रवयवमजं नान्यथा कथंचन, केनचिदपि प्रकारेण न भिद्यत  
इत्यभिप्रायः । तत्त्वतो भिद्यमानं हि अमृतमजमद्वयं स्वभावतः  
सत् मर्त्यतां व्रजेत्, यथा अग्निः शीतताम् । तच्चानिष्टं स्वभा-  
ववैपरीत्यगमनम्, सर्वप्रमाणविरोधात् । अजमद्वयमात्म-  
तत्त्वं माययैव भिद्यते, न परमार्थतः । तस्मान्न परमार्थ-  
सद्वैतम् ॥

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।

अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥ २० ॥

ये तु पुनः केचिदुपनिषद्वाख्यातारो ब्रह्मवादिनो वावदू-  
काः अजातस्यैव आत्मतत्त्वस्यामृतस्य स्वभावतो जातिम् उ-  
त्पत्तिम् इच्छन्ति परमार्थत एव, तेषां जातं चेत्, तदेव मर्त्य-  
तामेष्यत्यवश्यम् । स च अजातो ह्यमृतो भावः स्वभावतः  
सन्नात्मा कथं मर्त्यतामेष्यति ? न कथंचन मर्त्यत्वं स्वभाव-  
वैपरीत्यमेष्यतीत्यर्थः ॥

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।

प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥ २१ ॥

यस्मान्न भवति अमृतं मर्त्यं लोके नापि मर्त्यममृतं तथा,  
ततः प्रकृतेः स्वभावस्य अन्यथाभावः स्वतः प्रच्युतिः न  
कथंचिद्भविष्यति, अग्रेरिवौष्ण्यस्य ॥

स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम् ।

कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥ २२ ॥

यस्य पुनर्वादिनः स्वभावेन अमृतो भावः मर्त्यतां गच्छ-  
ति परमार्थतो जायते, तस्य प्रागुत्पत्तेः स भावः स्वभावतो-



ऽमृत इति प्रतिज्ञा मृषैव । कथं तर्हि? कृतकेनामृतः तस्य स्वभावः । कृतकेनामृतः स कथं स्थास्यति निश्चलः? अमृत-स्वभावतया न कथंचित्स्थास्यति । आत्मजातिवादिनः सर्वथा अजं नाम नास्त्येव । सर्वमेतन्मर्त्यम् ; अतः अनिमोक्षप्रसङ्ग इत्यभिप्रायः ॥

भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समा श्रुतिः ।

निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद्भवति नेतरत् ॥ २३ ॥

नन्वजातिवादिनः सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिर्न संगच्छते । बाढम्; विद्यते सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिः; सा त्वन्यपरा, 'उपायः सोऽवतारय' इत्यवोचाम । इदानीमुक्तेऽपि परिहारे पुनश्चोद्यपरिहारौ विवक्षितार्थं प्रति सृष्टिश्रुत्यक्षराणामानुलोम्यविरोधशङ्कामात्रपरिहारार्थौ । भूततः परमार्थतः सृज्यमाने वस्तुनि, अभूततः मायया वा मायाविनेव सृज्यमाने वस्तुनि समा तुल्या सृष्टिश्रुतिः । ननु गौणमुख्ययोर्मुख्ये शब्दार्थप्रतिपत्तिर्युक्ता; न, अन्यथासृष्टेरप्रसिद्धत्वान्निष्प्रयोजनत्वाच्च इत्यवोचाम । अविद्यासृष्टिविषयैव सर्वा गौणी मुख्या च सृष्टिः, न परमार्थतः, 'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' इति श्रुतेः । तस्मात् श्रुत्या निश्चितं यत् एकमेवाद्वितीयमजममृतमिति, युक्तियुक्तं च युक्त्या च संपन्नम्,

तदेवेत्यवोचाम पूर्वेर्ग्रन्थैः; तदेव श्रुत्यर्थो भवति, नेतरत्क-  
दाचिदपि कचिदपि ॥

नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि ।

अजायमानो बहुधा जायते मायया तु सः ॥ २४ ॥

कथं श्रुतिनिश्चय इत्याह—यदि हि भूतत एव सृष्टिः  
स्यात्, ततः सत्यमेव नानावस्त्विति तदभावप्रदर्शनार्थं आ-  
म्नायो न स्यात्; अस्ति च ‘नेह नानास्ति किंचन’ इत्या-  
म्नायो द्वैतभावप्रतिषेधार्थः; तस्मादात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्था क-  
ल्पिता सृष्टिरभूतैव प्राणसंवादवत् । ‘इन्द्रो मायाभिः’ इ-  
त्यभूतार्थप्रतिपादकेन मायाशब्देन व्यपदेशात् । ननु प्रज्ञाव-  
चनो मायाशब्दः; सत्यम्, इन्द्रियप्रज्ञाया अविद्यामयत्वेन  
मायात्वाभ्युपगमाददोषः । मायाभिः इन्द्रियप्रज्ञाभिरविद्यारू-  
पाभिरित्यर्थः । ‘अजायमानो बहुधा विजायते’ इति श्रुतेः ।  
तस्मात् जायते मायया तु सः; तु-शब्दोऽवधारणार्थः माय-  
यैवेति । न ह्यजायमानत्वं बहुधाजन्म च एकत्र संभवति,  
अग्नाविव शैत्यमौष्ण्यं च । फलवत्त्वाच्चात्मैकत्वदर्शनमेव श्रुति-  
निश्चितोऽर्थः, ‘तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः’  
इत्यादिमन्त्रवर्णात् ‘मृत्योः स मृत्युमाप्नोति’ इति निन्दित-

त्वाच्च सृष्ट्यादिभेददृष्टेः ॥

संभूतेरपवादाच्च संभवः प्रतिषिध्यते ।

को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यते ॥ २५ ॥

‘अन्धं तमः प्रविशन्ति ये संभूतिमुपासते’ इति संभूतेरुपास्यत्वापवादात्संभवः प्रतिषिध्यते; न हि परमार्थसद्भूतायां संभूतौ तदपवाद उपपद्यते । ननु विनाशेन संभूतेः समुच्चयविधानार्थः संभूत्यपवादः, यथा ‘अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते’ इति । सत्यमेव, देवतादर्शनस्य संभूतिविषयस्य विनाशशब्दवाच्यस्य च कर्मणः समुच्चयविधानार्थः संभूत्यपवादः; तथापि विनाशाख्यस्य कर्मणः स्वाभाविकाज्ञानप्रवृत्तिरूपस्य मृत्योरतितरणार्थत्ववत् देवतादर्शनकर्मसमुच्चयस्य पुरुषसंस्कारार्थस्य कर्मफलरागप्रवृत्तिरूपस्य साध्यसाधनैषणाद्वयलक्षणस्य मृत्योरतितरणार्थत्वम् । एवं ह्येषणाद्वयरूपान्मृत्योरशुद्धेर्वियुक्तः पुरुषः संस्कृतः स्यात् । अतो मृत्योरतितरणार्था देवतादर्शनकर्मसमुच्चयलक्षणा ह्यविद्या । एवमेव एषणाद्वयलक्षणाविद्याया मृत्योरतितीर्णस्य विरक्तस्योपनिषच्छास्त्रार्थालोचनपरस्य नान्तरीयिका परमात्मैकत्वविद्योत्पत्तिरिति पूर्वभाविनीमविद्यामपेक्ष्य पश्चाद्भाविनी ब्रह्मवि-

द्या अमृतत्वसाधना एकेन पुरुषेण संबध्यमाना अविद्यया समुच्चीयत इत्युच्यते । अतः अन्यार्थत्वादमृतत्वसाधनं ब्रह्म-  
विद्यामपेक्ष्य, निन्दार्थ एव भवति संभूत्यपवादः यद्यप्यशु-  
द्धिवियोगहेतुः अतन्निष्ठत्वात् । अत एव संभूतेरपवादात्संभू-  
तेरापेक्षिकमेव सत्त्वमिति परमार्थसदात्मैकत्वमपेक्ष्य अमृ-  
ताख्यः संभवः प्रतिषिध्यते । एवं मायानिर्मितस्यैव जीवस्य  
अविद्यया प्रत्युपस्थापितस्य अविद्यानाशे स्वभावरूपत्वात्पर-  
मार्थतः को न्वेनं जनयेत् ? न हि रज्ज्वामविद्याध्यारोपितं  
सर्पं पुनर्विवेकतो नष्टं जनयेत्कश्चित् ; तथा न कश्चिदेनं जन-  
येदिति । को न्वित्याक्षेपार्थत्वात्कारणं प्रतिषिध्यते । अविद्यो-  
द्धूतस्य नष्टस्य जनयितृ कारणं न किञ्चिदस्तीत्यभिप्रायः ;  
'नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्' इति श्रुतेः ॥

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निहुते यतः ।

सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते ॥ २६ ॥

सर्वविशेषप्रतिषेधेन 'अथात आदेशो नेति नेति' इति  
प्रतिपादितस्यात्मनो दुर्बोधत्वं मन्यमाना श्रुतिः पुनः पुन-  
रुपायान्तरत्वेन तस्यैव प्रतिपिपादयिषया यद्यद्व्याख्यातं  
तत्सर्वं निहुते । ग्राह्यं जनिमद्बुद्धिविषयमपलप्यार्थात् 'स एष

नेति नेति' इत्यात्मनोऽदृश्यतां दर्शयन्ती श्रुतिः । उपायस्यो-  
पेयनिष्ठतामजानत उपायत्वेन व्याख्यातस्य उपेयवद्ग्राह्यता  
मा भूदिति अप्राह्यभावेन हेतुना कारणेन निहुत इत्यर्थः ।  
ततश्चैवमुपायस्योपेयनिष्ठतामेव जानत उपेयस्य च नित्यै-  
करूपत्वमिति तस्य सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वं प्रकाशते  
स्वयमेव ॥

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः ।

तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ॥ २७ ॥

एवं हि श्रुतिवाक्यशतैः सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वम-  
द्वयं न ततोऽन्यदस्तीति निश्चितमेतत् । युक्त्या चाधुनैत-  
देव पुनर्निर्धार्यत इत्याह—तत्रैतत्स्यात् सदा अप्राह्यमेव चे-  
दसदेवात्मतत्त्वमिति; तन्न, कार्यग्रहणान् । यथा सतो  
मायाविनः मायया जन्म कार्यम्, एवं जगतो जन्म कार्यं  
गृह्यमाणं मायाविनमिव परमार्थसन्तमात्मानं जगज्जन्म मा-  
यास्पदमेव गमयति । यस्मात् सतो हि विद्यमानात्कारणान्  
मायानिर्मितस्य हस्त्यादिकार्यस्येव जगज्जन्म युज्यते, ना-  
सतः कारणात् । न तु तत्त्वत एव आत्मनो जन्म युज्यते ।  
अथवा, सतः विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिवन् मा-  
यया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतो यथा, तथा अप्राह्यस्यापि

सत एवात्मनो रज्जुसर्पवज्जगद्रूपेण मायया जन्म युज्यते ।  
न तु तत्त्वत एवाजस्यात्मनो जन्म । यस्य पुनः परमार्थ-  
सदजमात्मतत्त्वं जगद्रूपेण जायते वादिनः, न हि तस्य अजं  
जायत इति शक्यं वक्तुम्, विरोधात् । ततः तस्या-  
र्थाज्जातं जायत इत्यापन्नम् । ततश्चानवस्थापाताज्जायमानत्वं  
न । तस्मादजमेकमेवात्मतत्त्वमिति सिद्धम् ॥

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।

बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ॥ २८ ॥

असद्वादिनाम् असतो भावस्य मायया तत्त्वतो वा न  
कथंचन जन्म युज्यते, अदृष्टत्वात् । न हि बन्ध्यापुत्रो  
मायया तत्त्वतो वा जायते । तस्मादत्रासद्वादो दूरत एवा-  
नुपपन्न इत्यर्थः ॥

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ।

तथा जाग्रद्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ॥ २९ ॥

कथं पुनः सतो माययैव जन्मेत्युच्यते— यथा रज्ज्वां  
विकल्पितः सर्पो रज्जुरूपेणावेक्ष्यमाणः सन्, एवं मनः पर-  
मात्मविज्ञप्त्यात्मरूपेणावेक्ष्यमाणं सत् ग्राह्यग्राहकरूपेण द्वया-  
भासं स्पन्दते स्वप्ने मायया, रज्ज्वामिव सर्पः; तथा तद्व-

देव जाग्रन् जागरिते स्पन्दते मायया मनः, स्पन्दत इवेत्यर्थः ॥

अद्वयं च द्वाभासं मनः स्वप्ने न संशयः ।

अद्वयं च द्वाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥ ३० ॥

रज्जुरूपेण सर्प इव परमार्थत आत्सरूपेण अद्वयं सत् द्वा-  
याभासं मनः स्वप्ने, न संशयः । न हि स्वप्ने हस्त्यादि ग्राह्यं  
तद्ग्राहकं वा चक्षुरादि, द्वयं विज्ञानव्यतिरेकेणास्ति ; जाग्रदपि  
तथैवेत्यर्थः ; परमार्थसद्विज्ञानमात्राविशेषात् ॥

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम् ।

मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ३१ ॥

रज्जुसर्पवद्विकल्पनारूपं द्वैतरूपेण मन एवेत्युक्तम् । तत्र  
किं प्रमाणमिति, अन्वयव्यतिरेकलक्षणमनुमानमाह । कथम् ?  
तेन हि मनसा विकल्प्यमानेन दृश्यं मनोदृश्यम् इदं द्वैतं सर्वं  
मन इति प्रतिज्ञा, तद्भावे भावात् तदभावे चाभावात् ।  
मनसो हि अमनीभावे निरुद्धे विवेकदर्शनाभ्यासवैराग्याभ्यां  
रज्ज्वामिव सर्पे लयं गते वा सुषुप्ते द्वैतं नैवोपलभ्यत इति  
अभावात्सिद्धं द्वैतस्यासत्त्वमित्यर्थः ॥

आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा ।

अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम् ॥ ३२ ॥

कथं पुनरयममनीभाव इत्युच्यते— आत्मैव सत्यमात्मसत्यम्, मृत्तिकावत्, 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति श्रुतेः । तस्य शास्त्राचार्योपदेशमन्ववबोध आत्मसत्यानुबोधः । तेन संकल्प्याभावात्तन्न संकल्पयते दाह्याभावे ज्वलनमिवाग्नेः यदा यस्मिन्काले, तदा तस्मिन्काले अमनस्ताम् अमनोभावं याति; ग्राह्याभावे तत् मनः अग्रहं ग्रहणविकल्पनावर्जितमित्यर्थः ॥

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते ।

ब्रह्म ज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुध्यते ॥ ३३ ॥

यद्यसदिदं द्वैतम्, केन समञ्जसमात्मतत्त्वं विबुध्यत इति, उच्यते—अकल्पकं सर्वकल्पनावर्जितम्, अत एव अजं ज्ञानं ज्ञप्तिमात्रं ज्ञेयेन परमार्थसता ब्रह्मणा अभिन्नं प्रचक्षते कथयन्ति ब्रह्मविदः । 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' अग्न्युष्णवत्, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभ्यः । तस्यैव विशेषणम्— ब्रह्म ज्ञेयं यस्य, स्वस्थं तदिदं ब्रह्म ज्ञेयम् औष्ण्यस्येवाग्निवदभिन्नम्, तेन आत्मस्वरूपेण अजेन ज्ञानेन अजं ज्ञेयमात्मतत्त्वं स्वयमेव विबुध्यते अवगच्छति । नित्यप्रकाशस्वरूप इव सविता नित्यविज्ञानैकरसघनत्वान्न ज्ञानान्तरमपेक्षत इत्यर्थः ॥



निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः ।

प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः ॥३४॥

आत्मसत्यानुबोधेन संकल्पमकुर्वत् बाह्यविषयाभावे नि-  
रिन्धनाप्रिवत्प्रशान्तं सन् निगृहीतं निरुद्धं मनो भवतीत्युक्तम् ।  
एवं च मनसो ह्यमनीभावे द्वैताभावश्चोक्तः । तस्यैवं निगृ-  
हीतस्य निरुद्धस्य मनसः निर्विकल्पस्य सर्वकल्पनावर्जितस्य  
धीमतः विवेकवतः प्रचरणं प्रचारो यः, स तु प्रचारः विशेषेण  
ज्ञेयो विज्ञेयो योगिभिः । ननु सर्वप्रत्ययाभावे यादृशः सुषुप्ति-  
स्थस्य मनसः प्रचारः, तादृश एव निरुद्धस्यापि, प्रत्ययाभा-  
वाविशेषात्; किं तत्र विज्ञेयमिति । अत्रोच्यते— नैवम्,  
यस्मात्सुषुप्ते अन्यः प्रचारोऽविद्यामोहतमोप्रस्तस्य अन्त-  
र्लिनानेकानर्थप्रवृत्तिबीजवासनावतो मनसः आत्मसत्यानु-  
बोधहुताशविप्लुष्टाविद्याद्यनर्थप्रवृत्तिबीजस्य निरुद्धस्य अन्य  
एव प्रशान्तसर्वक्लेशरजसः स्वतन्त्रः प्रचारः । अतो न  
तत्समः । तस्माद्युक्तः स विज्ञातुमित्यभिप्रायः ॥

लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते ।

तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ॥ ३५ ॥

प्रचारभेदे हेतुमाह—लीयते सुषुप्तौ हि यस्मात्सर्वाभिर-

विद्यादिप्रत्ययबीजवासनाभिः सह तमोरूपम् अविशेषरूपं बीजभावमापद्यते तद्विवेकविज्ञानपूर्वकं निगृहीतं निरुद्धं सत् न लीयते तमोबीजभावं नापद्यते । तस्माद्युक्तः प्रचारभेदः सुषुप्तस्य समाहितस्य मनसः । यदा ग्राह्यग्राहकाविद्याकृतमलद्वयवर्जितम्, तदा परमद्वयं ब्रह्मैव तत्संवृत्तमित्यतः तदेव निर्भयम्, द्वैतग्रहणस्य भयनिमित्तस्याभावात् । शान्तमभयं ब्रह्म यद्विद्वान्न बिभेति कुतश्चन । तदेव विशेष्यते— ज्ञप्तिर्ज्ञानम् आत्मस्वभावचैतन्यम्, तदेव ज्ञानमालोकः प्रकाशो यस्य, तद्ब्रह्म ज्ञानालोकं विज्ञानैकरसघनमित्यर्थः । समन्ततः समन्तात्; सर्वतो व्योमवन्नैरन्तर्येण व्यापकमित्यर्थः ॥

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।

सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ॥ ३६ ॥

जन्मनिमित्ताभावात्सबाह्याभ्यन्तरम् अजम्; अविद्यानिमित्तं हि जन्म रज्जुसर्पवदित्यवोचाम । सा चाविद्या आत्मसत्यानुबोधेन निरुद्धा यतः, अतः अजम्, अत एव अनिद्रम् अविद्यालक्षणानादिर्मायानिद्रास्वापात्प्रबुद्धम् अद्वयस्वरूपेणात्मना; अतः अस्वप्नम् । अप्रबोधकृते ह्यस्य नामरूपे; प्रबोधाच्च ते रज्जुसर्पवद्विनष्टे । न नान्नाभिधीयते ब्रह्म, रूप्य-

ते वा न केनचित्प्रकारेण इति अनामकम् अरूपकं च तन् ,  
 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतेः । किंच, सकृद्विभातं  
 सदैव विभातं सदा भारूपम्, अग्रहणान्यथाग्रहणाविर्भावति-  
 रोभाववर्जितत्वात् । ग्रहणाग्रहणे हि राज्यहनी; तमश्चावि-  
 द्यालक्षणं सदा अप्रभातत्वे कारणम्; तदभावान्नित्यचैतन्य-  
 भारूपत्वाच्च युक्तं सकृद्विभातमिति । अत एव सर्वं च तन्  
 ज्ञमिस्वरूपं चेति सर्वज्ञम् । नेह ब्रह्मण्येवंविधे उपचरणमुप-  
 चारः कर्तव्यः, यथा अन्येषामात्मस्वरूपव्यतिरेकेण समाधा-  
 नाद्युपचारः । नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वाद्व्रह्मणः कथंचन न  
 कथंचिदपि कर्तव्यसंभवः अविद्यानाशे इत्यर्थः ॥

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।

सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥

अनामकत्वाद्युक्तार्थसिद्धये हेतुमाह—अभिलप्यते अनेने-  
 ति अभिलापः वाक्करणं सर्वप्रकारस्याभिधानस्य, तस्माद्विग-  
 तः; वागत्रोपलक्षणार्था, सर्वबाह्यकरणवर्जित इत्येतत् । तथा,  
 सर्वचिन्तासमुत्थितः, चिन्त्यते अनयेति चिन्ता बुद्धिः, तस्याः  
 समुत्थितः, अन्तःकरणविवर्जित इत्यर्थः, 'अप्राणो ह्यमनाः  
 शुभ्रः' 'अक्षरात्परतः परः' इत्यादिश्रुतेः । यस्मात्सर्वविषयव-  
 र्जितः, अतः सुप्रशान्तः । सकृज्ज्योतिः सदैव ज्योतिः आ-

त्मचैतन्यस्वरूपेण । समाधिः समाधिनिमित्तप्रज्ञावगम्यत्वा-  
त्; समाधीयते अस्मिन्निति वा समाधिः । अचलः अवि-  
क्रियः । अत एव अभयः विक्रियाभावात् ॥

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।

आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ॥ ३८ ॥

यस्माद्ब्रह्मैव 'समाधिरचलोऽभयः' इत्युक्तम्, अतः न  
तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि ग्रहः ग्रहणमुपादानम्, न उत्सर्गः उत्स-  
र्जनं हानं वा विद्यते । यत्र हि विक्रिया तद्विषयत्वं वा,  
तत्र हानोपादाने स्याताम्; न तद्वयमिह ब्रह्मणि संभवति,  
विकारहेतोरन्यस्याभावान्निरवयवत्वाच्च; अतो न तत्र हानो-  
पादाने संभवतः । चिन्ता यत्र न विद्यते, सर्वप्रकारैव चिन्ता  
न संभवति यत्र अमनस्त्वान्, कुतस्तत्र हानोपादाने इत्यर्थः ।  
यदैव आत्मसत्यानुबोधो जातः, तदैव आत्मसंस्थं विषया-  
भावादग्न्युष्णवदात्मन्येव स्थितं ज्ञानम्, अजाति जातिव-  
र्जितम्, समतां गतम् परं साम्यमापन्नं भवति । यदादौ  
प्रतिज्ञातम् 'अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम्'  
इति, इदं तदुपपत्तितः शास्त्रतश्चोक्तमुपसंह्रियते— अजाति  
समतां गतमिति । एतस्मादात्मसत्यानुबोधात्कार्पण्यविषय-  
मन्यत्, 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति

स कृपणः' इति श्रुतेः । प्राप्यैतत्सर्वः कृतकृत्यो ब्राह्मणो  
भवतीत्यभिप्रायः ॥

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिणाम् ।

योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥ ३९ ॥

यद्यपीदमित्थं परमार्थतत्त्वम्, अस्पर्शयोगो नाम अयं  
सर्वसंबन्धाख्यस्पर्शवर्जितत्वात् अस्पर्शयोगो नाम वै स्मर्यते  
प्रसिद्ध उपनिषत्सु । दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शः सर्वयोगि-  
णाम् वेदान्तविज्ञानरहितानाम् ; आत्मसत्यानुबोधायासलभ्य  
एवेत्यर्थः । योगिनः बिभ्यति हि अस्मात्सर्वभयवर्जितादपि  
आत्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति, अभये  
अस्मिन् भयदर्शिनः भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीलाः अवि-  
वेकिनः इत्यर्थः ॥

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिणाम् ।

दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥ ४० ॥

येषां पुनर्ब्रह्मस्वरूपव्यतिरेकेण रज्जुसर्पवत्कल्पितमेव मन  
इन्द्रियादि च न परमार्थतो विद्यते, तेषां ब्रह्मस्वरूपाणाम-  
भयं मोक्षाख्या च अक्षया शान्तिः स्वभावत एव सिद्धा,  
नान्यायत्ता, 'नोपचारः कथंचन' इत्युक्तेः; ये त्वतोऽन्ये

योगिनो मार्गगा हीनमध्यमदृष्टयो मनोऽन्यदात्मव्यतिरिक्त-  
मात्मसंबन्धि पश्यन्ति, तेषामात्मसत्यानुबोधरहितानां म-  
नसो निग्रहायत्तमभयं सर्वेषां योगिनाम् । किंच, दुःखक्ष-  
योऽपि । न ह्यात्मसंबन्धिनि मनसि प्रचलिते दुःखक्षयो-  
ऽस्त्यविवेकिनाम् । किंच, आत्मप्रबोधोऽपि मनोनिग्रहायत्त  
एव । तथा, अक्षयापि मोक्षारूपा शान्तिस्तेषां मनोनि-  
ग्रहायत्तैव ॥

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।

मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥ ४१ ॥

मनोनिग्रहोऽपि तेषाम् उदधेः कुशाग्रेण एकबिन्दुना  
उत्सेचनेन शोषणव्यवसायवत् व्यवसायवतामनवसन्नान्तः-  
करणानामनिर्वेदात् अपरिखेदतः भवतीत्यर्थः ॥

उपायेन निगृहीयाद्विशिष्टं कामभोगयोः ।

सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥ ४२ ॥

किमपरिखिन्नव्यवसायमात्रमेव मनोनिग्रहे उपायः ? ने-  
त्युच्यते ; अपरिखिन्नव्यवसायवान्सन , वक्ष्यमाणेनोपायेन  
कामभोगविषयेषु विशिष्टं मनो निगृहीयात् निरुन्ध्यादाल-  
न्येवेत्यर्थः । किंच, लीयतेऽस्मिन्निति सुषुप्तो लयः ; तस्मिन्

लये च सुप्रसन्नम् आयासवर्जितमपीत्येतत्, निगृहीयादित्यनुवर्तते । सुप्रसन्नं चेत्कस्मान्निगृह्यत इति, उच्यते; यस्मान् यथा कामः अनर्थहेतुः, तथा लयोऽपि; अतः कामविषयस्य मनसो निग्रहवल्यादपि निरोद्धव्यत्वमित्यर्थः ॥

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।

अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥ ४३ ॥

कः स उपाय इति, उच्यते— सर्वं द्वैतमविद्याविजृम्भितं दुःखमेव इत्यनुस्मृत्य कामभोगात् कामनिमित्तो भोगः इच्छाविषयः तस्मात् विप्रसृतं मनो निवर्तयेत् वैराग्यभावनयेत्यर्थः । अजं ब्रह्म सर्वम् इत्येतच्छास्त्राचार्योपदेशतः अनुस्मृत्य तद्विपरीतं द्वैतजातं नैव तु पश्यति अभावात् ॥

लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।

सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥ ४४ ॥

एवमनेन ज्ञानाभ्यासवैराग्यद्वयोपायेन लये सुषुप्ते लीनं संबोधयेत् मनः आत्मविवेकदर्शनेन योजयेत् । चित्तं मन इत्यनर्थान्तरम् । विक्षिप्तं च कामभोगेषु शमयेत्पुनः । एवं पुनः पुनरभ्यासतो लयात्संबोधितं विषयेभ्यश्च व्यावर्तितम्, नापि साम्यापन्नमन्तरालावस्थं सकषायं सरागं बीजसंयुक्तं

मन इति विजानीयात् । ततोऽपि यन्नतः साम्यमापादयेत् ।  
यदा तु समप्राप्तं भवति, समप्राप्त्यभिमुखीभवतीत्यर्थः ;  
ततः तन् न चालयेत् , विषयाभिमुखं न कुर्यादित्यर्थः ॥

नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।

निश्चलं निश्चरचित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥ ४५ ॥

समाधित्सतो योगिनो यत्सुखं जायते, तन् नास्वादयेत्  
तत्र न रज्येतेत्यर्थः । कथं तर्हि ? निःसङ्गः निःस्पृहः प्रज्ञया  
विवेकबुद्ध्या यदुपलभ्यते सुखम्, तदविद्यापरिकल्पितं मृषै-  
वेति विभावयेत् ; ततोऽपि सुखरागान्निगृहीयादित्यर्थः ।  
यदा पुनः सुखरागान्निवृत्तं निश्चलस्वभावं सन् निश्चरत्  
बहिर्निर्गच्छद्भवति चित्तम्, ततस्ततो नियम्य उक्तोपायेन  
आत्मन्येव एकीकुर्यात् प्रयत्नतः । चित्स्वरूपसत्तामात्रमेवापा-  
दयेदित्यर्थः ॥

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।

अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥ ४६ ॥

यथोक्तेनोपायेन निगृहीतं चित्तं यदा सुषुप्ते न लीयते,  
न च पुनर्विषयेषु विक्षिप्यते ; अनिङ्गनम् अचलं निवातप्रदी-



पकल्पम्, अनाभासं न केनचित्कल्पितेन विषयभावेनावभा-  
सते इति; यदा एवंलक्षणं चित्तम्, तदा निष्पन्नं ब्रह्म;  
ब्रह्मस्वरूपेण निष्पन्नं चित्तं भवतीत्यर्थः ॥

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम् ।

अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते ॥ ४७ ॥

यथोक्तं परमार्थसुखमात्मसत्यानुबोधलक्षणं स्वस्थं स्वा-  
त्मनि स्थितम्; शान्तं सर्वानर्थोपशमरूपम्; सनिर्वाणम्,  
निर्वृतिर्निर्वाणं कैवल्यम्, सह निर्वाणेन वर्तते; तच्च अक-  
थ्यं न शक्यते कथयितुम्, अत्यन्तासाधारणविषयत्वान्;  
सुखमुत्तमं निरतिशयं हि तद्योगिप्रत्यक्षमेव; न जातमिति  
अजम्, यथा विषयविषयम्; अजेन अनुत्पन्नेन ज्ञेयेन अव्य-  
तिरिक्तं सन् स्वेन सर्वज्ञरूपेण सर्वज्ञं ब्रह्मैव सुखं परिचक्षते  
कथयन्ति ब्रह्मविदः ॥

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।

एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ ४८ ॥

सर्वोऽप्ययं मनोनिग्रहादिः मृल्लोहादिवत्सृष्टिरूपासना च  
उक्ता परमार्थस्वरूपप्रतिपत्त्युपायत्वेन, न परमार्थसत्येति ।  
परमार्थसत्यं तु न कश्चिज्जायते जीवः कर्ता भोक्ता च नोत्प-

द्यते केनचिदपि प्रकारेण । अतः स्वभावतः अजस्य अस्य  
एकस्यात्मनः संभवः कारणं न विद्यते नास्ति । यस्मान्न वि-  
द्यतेऽस्य कारणम्, तस्मान्न कश्चिज्जायते जीव इत्येतत् । पू-  
र्वेषूपायत्वेनोक्तानां सत्यानाम् एतत् उत्तमं सत्यं यस्मिन्स-  
त्यस्वरूपे ब्रह्मणि अणुमात्रमपि किञ्चिन्न जायते इति ॥

इति तृतीयमद्वैतप्रकरणं संपूर्णम् ॥

## अलातशान्तिप्रकरणम् ॥

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान् ।

ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥ १ ॥

ओंकारनिर्णयद्वारेण आगतः प्रतिज्ञातस्याद्वैतस्य बाह्य-  
विषयभेदवैतध्याञ्च सिद्धस्य पुनरद्वैते शास्त्रयुक्तिभ्यां साक्षा-  
भिर्धारितस्य एतदुत्तमं सत्यमित्युपसंहारः कृतोऽन्ते । तस्यै-  
तस्यागमार्थस्य अद्वैतदर्शनस्य प्रतिपक्षभूता द्वैतिनो वैनाशि-  
काश्च । तेषां चान्योन्यविरोधाद्वागद्वेषादिक्लेशास्पदं दर्शनमिति  
मिथ्यादर्शनत्वं सूचितम्, क्लेशानास्पदत्वात्सम्यग्दर्शनमित्य-  
द्वैतदर्शनस्तुतये । तदिह विस्तरेणान्योन्यविरुद्धतया असम्यग्द-  
र्शनत्वं प्रदर्श्य तत्प्रतिषेधेनाद्वैतदर्शनसिद्धिरुपसंहर्तव्या आवी-  
तन्यायेनेत्यलातशान्तिप्रकरणमारभ्यते । तत्राद्वैतदर्शनसंप्रदा-  
यकर्तुरद्वैतस्वरूपेणैव नमस्कारार्थोऽयमाद्यश्लोकः । आचार्यपूजा  
हि अभिप्रेतार्थसिद्धयर्थेऽप्युच्यते शास्त्रारम्भे । आकाशेन ईषद-  
समाप्तमाकाशकल्पमात्रशतुष्टयमित्येतत् । तेन आकाशकल्पेन  
ज्ञानेन । किम् ? धर्मानात्मनः । किंविशिष्टान् ? गगनोपमान्

गगनमुपमा येषां ते गगनोपमाः, तानात्मनो धर्मान् । ज्ञानस्यैव पुनर्विशेषणम्— ज्ञेयैर्धर्मैरात्मभिरभिन्नम् अग्न्युष्णवत् सवितृप्रकाशवच्च यत् ज्ञानम्, तेन ज्ञेयाभिन्नेन ज्ञानेन आकाशकल्पेन ज्ञेय्यात्मस्वरूपाव्यतिरिक्तेन, गगनोपमान्धर्मान्यः संबुद्धः संबुद्धवान्नित्यमेव ईश्वरो यो नारायणाख्यः, तं वन्दे अभिवादये । द्विपदां वरं द्विपदोपलक्षितानां पुरुषाणां वरं प्रधानम्, पुरुषोत्तममित्यभिप्रायः । उपदेष्टृनमस्कारमुखेन ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वदर्शनमिह प्रकरणे प्रतिपिपादयिषितं प्रतिपक्षप्रतिषेधद्वारेण प्रतिज्ञातं भवति ॥

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः ।

अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

अधुना अद्वैतदर्शनयोगस्य नमस्कारः तत्स्तुतये—स्पर्शनं स्पर्शः संबन्धो न विद्यते यस्य योगस्य केनचित्कदाचिदपि, सः अस्पर्शयोगः ब्रह्मस्वभाव एव वै नामेति ; ब्रह्मविदामस्पर्शयोग इत्येवं प्रसिद्ध इत्यर्थः । स च सर्वसत्त्वसुखो भवति । कश्चिदत्यन्तसुखसाधनविशिष्टोऽपि दुःखस्वरूपः, यथा तपः । अयं तु न तथा । किं तर्हि ? सर्वसत्त्वानां सुखः । तथा इह भवति कश्चिद्विषयोपभोगः सुखो न हितः ; अयं तु सुखो हितश्च, नित्यमप्रचलितस्वभावत्वात् ।

किं च अविवादः, विरुद्धं वदनं विवादः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण यस्मिन्न विद्यते सः अविवादः । कस्मान्? यतः अवि-  
रुद्धश्च ; य ईदृशो योगः देशितः उपदिष्टः शास्त्रेण, तं नमाम्यहं प्रणमामीत्यर्थः ॥

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि ।

अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम् ॥ ३ ॥

कथं द्वैतिनः परस्परं विरुध्यन्त इति, उच्यते— भूतस्य विद्यमानस्य वस्तुनः जातिम् उत्पत्तिम् इच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि सांख्याः ; न सर्व एव द्वैतिनः । यस्मान् अभूतस्य अविद्यमानस्य अपरे वैशेषिका नैयायिकाश्च धीराः धीमन्तः, प्राज्ञाभिमानिन इत्यर्थः । विवदन्तः विरुद्धं वदन्तो हि अन्योन्यमिच्छन्ति जेतुमित्यभिप्रायः ॥

भूतं न जायते किञ्चिदभूतं नैव जायते ।

विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते ॥ ४ ॥

तैरेवं विरुद्धवदनेन अन्योन्यपक्षप्रतिषेधं कुर्वद्भिः किं ख्यापितं भवतीति, उच्यते— भूतं विद्यमानं वस्तु न जायते किञ्चिद्विद्यमानत्वादेव आत्मवत् इत्येवं वदन् असद्वादी सांख्यपक्षं प्रतिषेधति सज्जन्म । तथा अभूतम् अविद्यमा-

नम अविद्यमानत्वाज्ञैव जायते शशविषाणवन् इत्येवं वदन्सां-  
ख्योऽपि असद्वादिपक्षमसज्जन्म प्रतिषेधति । विवदन्तः वि-  
रुद्धं वदन्तः अद्वयाः अद्वैतिनो ह्येते अन्योन्यस्य पक्षौ सद-  
सतोर्जन्मनी प्रतिषेधन्तः अजातिम् अनुत्पत्तिमर्थाख्याप-  
यन्ति प्रकाशयन्ति ते ॥

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।

विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ॥ ५ ॥

तैरेवं ख्यप्यमानामजातिम् एवमस्तु इति अनुमोदामहे  
केवलम्, न तैः सार्धं विवदामः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण ; यथा  
ते अन्योन्यमित्यभिप्रायः । अतः तम् अविवादं विवादर-  
हितं परमार्थदर्शनमनुज्ञातमस्माभिः निबोधत हे शिष्याः ॥

अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।

अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥ ६ ॥

सदसद्वादिनः सर्वे । अयं तु पुरस्तात्कृतभाष्यः श्लोकः ॥

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।

प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥ ७ ॥

स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यतात् ।

कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥ ८ ॥

उक्तार्थानां श्लोकानामिहोपन्यासः परवादिपक्षाणामन्यो-  
न्यविरोधख्यापितानुत्पत्त्यामोदनप्रदर्शनार्थः ॥

सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या ।

प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या ॥ ९ ॥

यस्माद्लौकिक्यपि प्रकृतिर्न विपर्येति, कासावित्याह—  
सम्यक्सिद्धिः सांसिद्धिः, तत्र भवा सांसिद्धिकी; यथा योगिनां  
सिद्धानामणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिः प्रकृतिः, सा भूतभविष्यत्कालयो-  
रपि योगिनां न विपर्येति । तथैव सा । स्वाभाविकी द्रव्य-  
स्वभावत एव सिद्धा, यथा अग्न्यादीनामुष्णप्रकाशादिलक्षणा ।  
सापि न कालान्तरे व्यभिचरति देशान्तरे वा, तथा सहजा  
आत्मना सहैव जाता, यथा पक्ष्यादीनामाकाशगमनादिल-  
क्षणा । अन्यापि या काचित् अकृता केनचिन्न कृता, यथा  
अपां निम्नदेशगमनादिलक्षणा । अन्यापि या काचित्स्वभावं  
न जहाति, सा सर्वा प्रकृतिरिति विज्ञेया लोके । मिथ्या-  
कल्पितेषु लौकिकेष्वपि वस्तुषु प्रकृतिर्नान्यथा भवति; कि-  
मुत अजस्वभावेषु परमार्थवस्तुषु? अमृतत्वलक्षणा प्रकृतिर्ना-  
न्यथा भवेदित्यभिप्रायः ॥

जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः ।

जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषया ॥ १० ॥

किंविषया पुनः सा प्रकृतिः, यस्या अन्यथाभावो वादिभिः कल्प्यते? कल्पनायां वा को दोष इत्याह— जरामरण-निर्मुक्ताः जरामरणादिसर्वविक्रियावर्जिता इत्यर्थः । के? सर्वे धर्माः सर्वे आत्मान इत्येतन् । स्वभावतः प्रकृतित एव । अत एवंस्त्रभावाः सन्तो धर्मा जरामरणमिच्छन्त इवे-च्छन्तः रज्ज्वामिव सर्पमात्मनि कल्पयन्तः च्यवन्ते, स्वभावतश्चलन्तीत्यर्थः । तन्मनीषया जरामरणचिन्तया तद्भावभावितत्वदोषेणेत्यर्थः ॥

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते ।

जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत् ॥

कथं सज्जातिवादिभिः सांख्यैरनुपपन्नमुच्यते इति, आह वैशेषिकः—कारणं मृद्वदुपादानलक्षणं यस्य वादिनः वै कार्यम्, कारणमेव कार्याकारेण परिणमते यस्य वादिन इत्यर्थः । तस्य अजमेव सन् प्रधानादि कारणं महदादिकार्यरूपेण जायत इत्यर्थः । महदाद्याकारेण चेज्जायमानं प्रधानम्, कथमजमुच्यते तैः? विप्रतिषिद्धं चेदम्—जायते अजं चेति ।



नित्यं च तैरुच्यते । प्रधानं भिन्नं विदीर्णम्; स्फुटितमेकदेशेन सत् कथं नित्यं भवेदित्यर्थः । न हि सावयवं घटादि एकदेशेन स्फुटनधर्मि नित्यं दृष्टं लोके इत्यर्थः । विदीर्णं च स्यादेकदेशेनाजं नित्यं चेत्येतत् विप्रतिषिद्धं तैरभिधीयत इत्यभिप्रायः ॥

कारणाद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं तव ।

जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम् ॥ १२ ॥

उक्तस्यैवार्थस्य स्पष्टीकरणार्थमाह— कारणान् अजान् कार्यस्य यदि अनन्यत्वमिष्टं त्वया, ततः कार्यमप्यजमिति प्राप्तम् । इदं चान्यद्विप्रतिषिद्धं कार्यमजं चेति तव । किंचान्यन्, कार्यकारणयोरनन्यत्वे जायमानाद्धि वै कार्यान् कारणम् अनन्यन्नित्यं ध्रुवं च ते कथं भवेत्? न हि कुक्कुट्या एकदेशः पच्यते, एकदेशः प्रसवाय कल्प्यते ॥

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै ।

जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ॥ १३ ॥

किंचान्यन्, यत् अजान् अनुत्पन्नाद्वस्तुनः जायते यस्य वादिनः कार्यम्, दृष्टान्तः तस्य नास्ति वै; दृष्टान्ताभावे अर्थादजान्न किञ्चिज्जायते इति सिद्धं भवतीत्यर्थः । यदा पुनः

जातात् जायमानस्य वस्तुनः अभ्युपगमः, तदपि अन्यस्मा-  
ज्जातात्तदप्यन्यस्मादिति न व्यवस्था प्रसज्यते । अनवस्था  
स्यादित्यर्थः ॥

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।

हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते ॥ १४ ॥

‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्’ इति परमार्थतो द्वैताभावः  
श्रुत्योक्तः ; तमाश्रित्याह— हेतोः धर्मादेः आदिः कारणं  
देहादिसंघातः फलं येषां वादिनाम ; तथा आदिः कारणं हे-  
तुर्धर्मादिः फलस्य च देहादिसंघातस्य ; एवं हेतुफलयोरित-  
रेतरकार्यकारणत्वेन आदिमत्त्वं ब्रुवद्भिः एवं हेतोः फलस्य  
च अनादित्वं कथं तैरुपवर्ण्यते विप्रतिषिद्धमित्यर्थः । न हि  
नित्यस्य कूटस्थस्यात्मनो हेतुफलात्मकता संभवति ॥

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।

तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा ॥ १५ ॥

कथं तैर्विरुद्धमभ्युपगम्यत इति, उच्यते— हेतुजन्यादेव  
फलान् हेतोर्जन्माभ्युपगच्छतां तेषामीदृशो विरोध उक्तो  
भवति, यथा पुत्राज्जन्म पितुः ॥

संभवे हेतुफलयोरेषितव्यः क्रमस्त्वया ।

युगपत्संभवे यस्मादसंबन्धो विषाणवत् ॥ १६ ॥

यथोक्तो विरोधो न युक्तोऽभ्युपगन्तुमिति चेन्मन्यसे,  
संभवे उत्पत्तौ हेतुफलयोः क्रमः एषितव्यः अन्वेष्टव्यः त्वया—  
हेतुः पूर्वं पश्चात्फलं चेति । इतश्च युगपत्संभवे यस्माद्धेतुफल-  
योः कार्यकारणत्वेन असंबन्धः, यथा युगपत्संभवतोः सव्ये-  
तरगोविषाणयोः ॥

फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतुः प्रसिध्यति ।

अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलमुत्पादयिष्यति ॥ १७ ॥

कथमसंबन्ध इत्याह—जन्यात्स्वतोऽलब्धात्मकात् फलात्  
उत्पद्यमानः सन् शशविषाणादेरिवासतो न हेतुः प्रसिध्यति  
जन्म न लभते । अलब्धात्मकः अप्रसिद्धः सन् शशविषा-  
णादिकल्पः तव स कथं फलमुत्पादयिष्यति ? न हि इतरेतरा-  
पेक्षसिद्धयोः शशविषाणकल्पयोः कार्यकारणभावेन संबन्धः  
कचिद्दृष्टः अन्यथा वेत्यभिप्रायः ॥

यदि हेतोः फलात्सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुतः ।

कतरत्पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया ॥ १८ ॥

असंबन्धतादोषेणापाकृतेऽपि हेतुफलयोः कार्यकारणभावे,  
यदि हेतुफलयोरन्योन्यसिद्धिरभ्युपगम्यत एव त्वया, कत-  
रत्पूर्वनिष्पन्नं हेतुफलयोः ? यत्न पश्चाद्भाविनः सिद्धिः स्यात्पू-  
र्वसिद्धापेक्षया, तद्ब्रूहीत्यर्थः ॥

अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथ वा पुनः ।

एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता ॥ १९ ॥

अथ एतन्न शक्यते वक्तुमिति मन्यसे, सेयमशक्तिः  
अपरिज्ञानं तत्त्वाविवेकः, मूढतेत्यर्थः । अथ वा, योऽयं  
त्वयोक्तः क्रमः हेतोः फलस्य सिद्धिः फलाच्च हेतोः सिद्धि-  
रिति इतरेतरानन्तर्यलक्षणः, तस्य कोपः विपर्यासोऽन्यथा-  
भावः स्यादित्यभिप्रायः । एवं हेतुफलयोः कार्यकारणभावा-  
नुपपत्तेः अजातिः सर्वस्यानुत्पत्तिः परिदीपिता प्रकाशिता  
अन्योन्यपक्षदोषं ब्रुवद्भिर्वादिभिः बुद्धैः पण्डितैरित्यर्थः ॥

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि सः ।

न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते ॥

ननु हेतुफलयोः कार्यकारणभाव इत्यस्माभिरुक्तं शब्द-  
मात्रमाश्रित्य च्छलमिदं त्वयोक्तम्— ‘पुत्राज्जन्म पितुर्यथा’

‘विषाणवच्चासंबन्धः’ इत्यादि । न ह्यस्माभिः असिद्धाद्धेतोः फलसिद्धिः, असिद्धाद्वा फलाद्धेतुसिद्धिरभ्युपगता । किं तर्हि ? बीजाङ्कुरवत्कार्यकारणभावोऽभ्युपगम्यत इति । अत्रोच्यते— बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तो यः, स साध्येन समः तुल्यो ममेत्यभिप्रायः । ननु प्रत्यक्षः कार्यकारणभावो बीजाङ्कुरयोरनादिः ; न, पूर्वस्य पूर्वस्य अपरभावादादिमत्त्वाभ्युपगमात् । यथा इदानीमुत्पन्नोऽपरोऽङ्कुरो बीजादादिमान् बीजं चापरमन्यस्मादङ्कुरादिति क्रमेणोत्पन्नत्वादादिमत् । एवं पूर्वः पूर्वोऽङ्कुरो बीजं च पूर्वं पूर्वमादिमदेवेति प्रत्येकं सर्वस्य बीजाङ्कुरजातस्यादिमत्त्वात्कस्यचिदप्यनादित्वानुपपत्तिः । एवं हेतुफलयोः । अथ बीजाङ्कुरसंततेरनादिमत्त्वमिति चेत् ; न, एकत्वानुपपत्तेः ; न हि बीजाङ्कुरव्यतिरेकेण बीजाङ्कुरसंततिर्नामैका अभ्युपगम्यते हेतुफलसंततिर्वा तदनादित्ववादिभिः । तस्मात्सूक्तम् ‘हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते’ इति । तथा च अन्यदप्यनुपपत्तेर्न च्छलमित्यभिप्रायः । न च लोके साध्यसमो हेतुः साध्यस्य सिद्धौ सिद्धिनिमित्तं युज्यते प्रयुज्यते प्रमाणकुशलैरित्यर्थः । हेतुरिति दृष्टान्तोऽत्राभिप्रेतः, गमकत्वात् ; प्रकृतो हि दृष्टान्तः, न हेतुरिति ॥

पूर्वापरापरिज्ञानमजातेः परिदीपकम् ।

जायमानाद्धि वै धर्मात्कथं पूर्वं न गृह्यते ॥ २१ ॥

कथं बुद्धैरजातिः परिदीपितेति, आह— यदेतत् हेतु-  
फलयोः पूर्वापरापरिज्ञानम्, तच्चैतन् अजातेः परिदीपकम्  
अवबोधकमित्यर्थः । जायमानो हि चेद्धर्मो गृह्यते, कथं  
तस्मात्पूर्वं कारणं न गृह्यते? अवश्यं हि जायमानस्य  
ग्रहीत्रा तज्जनकं ग्रहीतव्यम्, जन्यजनकयोः संबन्धस्यान-  
पेतत्वान्; तस्मादजातिपरिदीपकं तदित्यर्थः ॥

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।

सदसत्सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ॥ २२ ॥

इतश्च न जायते किञ्चित् यज्जायमानं वस्तु स्वतः परतः  
उभयतो वा सत् असत् सदसद्वा न जायते, न तस्य केन-  
चिदपि प्रकारेण जन्म संभवति । न तावत्स्वयमेवापरि-  
निष्पन्नात्स्वतः स्वरूपात्स्वयमेव जायते, यथा घटस्तस्मादेव  
घटात् । नापि परतः अन्यस्मादन्यः, यथा घटात्पटः ।  
तथा नोभयतः, विरोधात्, यथा घटपटाभ्यां घटः पटो  
वा न जायते । ननु मृदो घटो जायते पितुश्च पुत्रः ;  
सत्यम्, अस्ति जायत इति प्रत्ययः शब्दश्च मूढानाम् ।  
तावेव तु शब्दप्रत्ययौ विवेकिभिः परीक्ष्येते— किं सत्यमेव

तौ, उत मृषा इति ; यावता परीक्ष्यमाणे शब्दप्रत्ययविषयं वस्तु घटपुत्रादिलक्षणं शब्दमात्रमेव तत्, 'वाचारम्भणम्' इति श्रुतेः । सञ्चेत् न जायते, सत्त्वात्, मृत्पित्रादिवत् । यद्य-  
सत्, तथापि न जायते, असत्त्वादेव, शशविषाणादिवत् ।  
अथ सदसत्, तथापि न जायते विरुद्धस्यैकस्यासंभवात् ।  
अतो न किञ्चिद्वस्तु जायत इति सिद्धम् । येषां पुनर्जनिरेव  
जायत इति क्रियाकारकफलैकत्वमभ्युपगम्यते क्षणिकत्वं च  
वस्तुनः, ते दूरत एव न्यायापेताः । इदमित्थमित्यवधारणक्ष-  
णान्तरानवस्थानात्, अननुभूतस्य स्मृत्यनुपपत्तेश्च ॥

हेतुर्न जायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः ।

आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते ॥ २३ ॥

किञ्च, हेतुफलयोरनादित्वमभ्युपगच्छता त्वया बलाद्धे-  
तुफलयोरजन्मैवाभ्युपगतं स्यात् । कथम्? अनादेः आदि-  
रहितात्फलात् हेतुः न जायते । न ह्यनुत्पन्नादनादेः फलाद्धेतो-  
र्जन्मेष्यते त्वया, फलं चापि आदिरहितादनादेर्हेतोरजात्स्वभा-  
वत एव निर्निमित्तं जायत इति नाभ्युपगम्यते । तस्मादनादि-  
त्वमभ्युपगच्छता त्वया हेतुफलयोरजन्मैवाभ्युपगम्यते । य-  
स्मात् आदिः कारणं न विद्यते यस्य लोके, तस्य ह्यादिः

पूर्वोक्ता जातिर्न विद्यते । कारणवत् एव ह्यादिरभ्युपगम्यते,  
न अकारणवतः ॥

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः ।

संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता ॥ २४ ॥

उक्तस्यैवार्थस्य दृढीकरणचिकीर्षया पुनराक्षिपति— प्र-  
ज्ञानं प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिः, तस्याः सनिमित्तत्वम्, नि-  
मित्तं कारणं विषय इत्येतत्; सनिमित्तत्वं सविषयत्वं  
स्वात्मव्यतिरिक्तविषयतेत्येतत्, प्रतिजानीमहे । न हि निर्विषया  
प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिः स्यात्, तस्याः सनिमित्तत्वात् ।  
अन्यथा निर्विषयत्वे शब्दस्पर्शनीलपीतलोहितादिप्रत्ययवैचि-  
त्र्यस्य द्वयस्य नाशतः नाशोऽभावः प्रसज्येतेत्यर्थः । न च  
प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्याभावोऽस्ति, प्रत्यक्षत्वात् । अतः  
प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य दर्शनात्, परेषां तन्त्रं परतन्त्रमित्य-  
न्यशास्त्रम्, तस्य परतन्त्रस्य परतन्त्राश्रयस्य बाह्यार्थस्य  
प्रज्ञानव्यतिरिक्तस्य अस्तिता मता अभिप्रेता । न हि प्रज्ञप्तेः  
प्रकाशमात्रस्वरूपाया नीलपीतादिबाह्यालम्बनवैचित्र्यमन्तरेण  
स्वभावभेदेनैतद्वैचित्र्यं संभवति । स्फटिकस्येव नीलाद्यु-  
पाध्याश्रयैर्विना वैचित्र्यं न घटत इत्यभिप्रायः । इतश्च  
परतन्त्राश्रयस्य बाह्यार्थस्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता । संक्ले-



शनं संक्षेशः, दुःखमित्यर्थः । उपलभ्यते हि अग्निदाहादि-  
निमित्तं दुःखम् । यद्यग्न्यादिबाह्यं दाहादिनिमित्तं विज्ञानव्य-  
तिरिक्तं न स्यात्, ततो दाहादिदुःखं नोपलभ्येत । उपलभ्य-  
ते तु । अतः तेन मन्यामहे अस्ति बाह्योऽर्थ इति । न हि  
विज्ञानमात्रे संक्षेशो युक्तः, अन्यत्रादर्शनादित्यभिप्रायः ॥

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात् ।

निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात् ॥ २५ ॥

अत्रोच्यते—बाढमेवं प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वं द्वयसंक्षेशो-  
पलब्धियुक्तिदर्शनादिष्यते त्वया । स्थिरीभव तावत्त्वं युक्ति-  
दर्शनं वस्तुनस्तथात्वाभ्युगमे कारणमित्यत्र । ब्रूहि किं तत् इति ।  
उच्यते— निमित्तस्य प्रज्ञप्त्यालम्बनाभिमतस्य तव घटा-  
देरनिमित्तत्वमनालम्बनत्वं वैचित्र्याहेतुत्वमिष्यतेऽस्माभिः ।  
कथम् ? भूतदर्शनात् परमार्थदर्शनादित्येतत् । न हि घटो यथा-  
भूतमृदूपदर्शने सति तद्व्यतिरेकेणास्ति, यथा अश्वान्महिषः,  
पटो वा तन्तुव्यतिरेकेण तन्तवश्चांशुव्यतिरेकेण इत्येवमुत्तरोत्त-  
रभूतदर्शनं आ शब्दप्रत्ययनिरोधान्नैव निमित्तमुपलभामहे इत्य-  
र्थः । अथ वा, अभूतदर्शनाद्वाह्यार्थस्य अनिमित्तत्वमिष्यते र-  
ज्ज्वादाविव सर्पादेरित्यर्थः । भ्रान्तिदर्शनविषयत्वाच्च निमि-

त्स्यानिमित्तत्वं भवेत्; तदभावे अभानात् । न हि सुषुप्त-  
समाहितमुक्तानां भ्रान्तिदर्शनाभावे आत्मव्यतिरिक्तो बाह्यो-  
ऽर्थ उपलभ्यते । न ह्युन्मत्तावगतं वस्त्वनुन्मत्तैरपि तथाभूतं  
गम्यते । एतेन द्वयदर्शनं संक्लेशोपलब्धिश्च प्रत्युक्ता ॥

चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च ।

अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक् ॥ २६ ॥

यस्मान्नास्ति बाह्यं निमित्तम्, अतः चित्तं न स्पृशत्यर्थं  
बाह्यालम्बनविषयम्, नाप्यर्थाभासम्, चित्तत्वात्, स्वप्नचि-  
त्तवत् । अभूतो हि जागरितेऽपि स्वप्नार्थवदेव बाह्यः शब्दा-  
द्यर्थो यतः उक्तहेतुत्वाच्च । नाप्यर्थाभासश्चित्तात्पृथक् । चित्त-  
मेव हि घटाद्यर्थवदवभासते यथा स्वप्ने ॥

निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृशत्यध्वसु त्रिषु ।

अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति ॥ २७ ॥

ननु विपर्यासस्तर्हि असति घटादौ घटाद्याभासता चि-  
त्तस्य; तथा च सति अविपर्यासः कचिद्वक्तव्य इति;  
अत्रोच्यते— निमित्तं विषयम् अतीतानागतवर्तमानाध्वसु  
त्रिष्वपि सदा चित्तं न संस्पृशेदेव हि । यदि हि कचित्सं-  
स्पृशेत्, सः अविपर्यासः परमार्थ इत्यतस्तदपेक्षया असति

घटे घटाभासता विपर्यासः स्यात्; न तु तदस्ति कदाचि-  
दपि चित्तस्यार्थसंस्पर्शनम् । तस्मात् अनिमित्तः विपर्यासः  
कथं तस्य चित्तस्य भविष्यति? न कथंचिद्विपर्यासोऽस्ती-  
त्यभिप्रायः । अयमेव हि स्वभावश्चित्तस्य, यदुत असति  
निमित्ते घटादौ तद्वदवभासनम् ॥

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते ।

तस्य पश्यन्ति ये जार्तिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ॥

‘प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वम्’ इत्यादि एतदन्तं विज्ञानवादिनो  
बौद्धस्य वचनं बाह्यार्थवादपक्षप्रतिषेधपरम् आचार्येणानुमोदि-  
तम् । तदेव हेतुं कृत्वा तत्पक्षप्रतिषेधाय तदिदमुच्यते—  
तस्मादित्यादि । यस्मादसत्येव घटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य  
विज्ञानवादिना अभ्युपगता, तदनुमोदितमस्माभिरपि भूतद-  
र्शनात्; तस्मात्तस्यापि चित्तस्य जायमानावभासता अस-  
त्येव जन्मनि युक्ता भवितुमिति अतो न जायते चित्तम् ।  
यथा चित्तदृश्यं न जायते अतस्तस्य चित्तस्य ये जार्तिं  
पश्यन्ति विज्ञानवादिनः क्षणिकत्वदुःखित्वशून्यत्वानात्म-  
त्वादि च; तेनैव चित्तेन चित्तस्वरूपं द्रष्टुमशक्यं पश्यन्तः  
खे वै पश्यन्ति ते पदं पक्ष्यादीनाम् । अत इतरेभ्योऽपि  
द्वैतिभ्योऽत्यन्तसाहसिका इत्यर्थः । येऽपि शून्यवादिनः

पश्यन्त एव सर्वशून्यतां स्वदर्शनस्यापि शून्यतां प्रतिजानते,  
ते ततोऽपि साहसिकतराः खं मुष्टिनापि जिघृक्षन्ति ॥

अजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्ततः ।

प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥ २९ ॥

उक्तैर्हेतुभिरजमेकं ब्रह्मेति सिद्धम्, यत्पुनरादौ प्रतिज्ञा-  
तम्, तत्फलोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः—अजातं यच्चित्तं ब्रह्मैव  
जायत इति वादिभिः परिकल्प्यते, तत् अजातं जायते य-  
स्मात् अजातिः प्रकृतिः तस्य ; ततः तस्मात् अजातरूपायाः  
प्रकृतेरन्यथाभावो जन्म न कथंचिद्भविष्यति ॥

अनादेरन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति ।

अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति ॥ ३० ॥

अयं चापर आत्मनः संसारमोक्षयोः परमार्थसद्भाववादि-  
नां दोष उच्यते—अनादेः अतीतकोटिरहितस्य संसारस्य  
अन्तवत्त्वं समाप्तिः न सेत्स्यति युक्तितः सिद्धिं नोपयास्यति ।  
न ह्यनादिः सन् अन्तवान्कश्चित्पदार्थो दृष्टो लोके । बीजा-  
ङ्कुरसंबन्धनैरन्तर्यविच्छेदो दृष्ट इति चेत् ; न, एकवस्त्वभा-  
वेनापोदितत्वात् । तथा अनन्ततापि विज्ञानप्राप्तिकालप्रभव-  
स्य मोक्षस्य आदिमतो न भविष्यति, घटादिष्वदर्शनात् ।

घटादिविनाशवदवस्तुत्वाददोष इति चेत् . तथा च मोक्षस्य परमार्थसद्भावप्रतिज्ञाहानिः ; असत्त्वादेव शशविषाणस्येव आदिमत्त्वाभावश्च ॥

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।

वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥ ३१ ॥

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।

तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ ३२ ॥

वैतथ्ये कृतव्याख्यानां श्लोकाविह संसारमोक्षाभावप्रसङ्गेन पठितौ ॥

सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्यान्तर्निर्दर्शनात् ।

संवृतेऽस्मिन्प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः ॥ ३३ ॥

‘निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनान्’ इत्ययमर्थः प्रपञ्च्यते एतैः श्लोकैः ॥

न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाद्गतौ ।

प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥ ३४ ॥

जागरिते गत्यागमनकालौ नियतौ, देशः प्रमाणतो यः, तस्य अनियमात् नियमस्याभावान् स्वप्ने न देशान्तरगमन-

मित्यर्थः ॥

मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य संबुद्धो न प्रपद्यते ।

गृहीतं चापि यत्किञ्चित्प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥ ३५ ॥

मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य तदेव मन्त्रणं प्रतिबुद्धो न प्रपद्यते, गृहीतं च यत्किञ्चिद्विरण्यादि न प्राप्नोति ; ततश्च न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने ॥

स्वप्ने चावस्तुकः कायः पृथगन्यस्य दर्शनात् ।

यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम् ॥ ३६ ॥

स्वप्ने च अटन्द्श्यते यः कायः, सः अवस्तुकः ततोऽन्यस्य स्वापदेशस्थस्य पृथक्कायान्तरस्य दर्शनान् । यथा स्वप्नदृश्यः कायः असन , तथा सर्वं चित्तदृश्यम् अवस्तुकं जागरितेऽपि चित्तदृश्यत्वादित्यर्थः । स्वप्नसमत्वादसज्जागरितमपीति प्रकरणार्थः ॥

ग्रहणाज्जागरितवत्तद्धेतुः स्वप्न इष्यते ।

तद्धेतुत्वाच्च तस्यैव सज्जागरितमिष्यते ॥ ३७ ॥

इतश्च असत्त्वं जाग्रद्वस्तुनः जागरितवन् जागरितस्येव ग्रहणान् ग्राह्यग्राहकरूपेण स्वप्नस्य, तज्जागरितं हेतुः अस्य स्व-

प्रस्य स स्वप्नः तद्धेतुः जागरितकार्यम् इष्यते । तद्धेतुत्वात् जागरितकार्यत्वात् तस्यैव स्वप्नदृश एव सज्जागरितम्, न त्वन्येषाम् ; यथा स्वप्न इत्यभिप्रायः । यथा स्वप्नः स्वप्नदृश एव स न साधारणविद्यमानवस्तुवदवभासते, तथा तत्कारणत्वात्साधारणविद्यमानवस्तुवदवभासनम्, न तु साधारणं विद्यमानवस्तु स्वप्नवदेत्यभिप्रायः ॥

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम् ।

न च भूतादभूतस्य संभवोऽस्ति कथंचन ॥ ३८ ॥

ननु स्वप्नकारणत्वेऽपि जागरितवस्तुनो न स्वप्नवदवस्तुत्वम् । अत्यन्तचलो हि स्वप्नः जागरितं तु स्थिरं लक्ष्यते । सत्यमेवमविवेकिनां स्यात् । विवेकिनां तु न कस्यचिद्वस्तुन उत्पादः प्रसिद्धः । अतः अप्रसिद्धत्वात् उत्पादस्य आत्मैव सर्वमिति अजं सर्वम् उदाहृतं वेदान्तेषु ‘सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः’ इति । यदपि मन्यसे जागरितात्सतः असन्स्वप्नो जायत इति, तदसत् । न भूतात् विद्यमानात् अभूतस्य असतः संभवोऽस्ति लोके । न ह्यसतः शशविषाणादेः संभवो दृष्टः कथंचिदपि ॥

असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मयः ।

असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥

ननु उक्तं त्वयैव स्वप्नो जागरितकार्यमिति ; तत्कथमुत्पा-  
दोऽप्रसिद्ध इति उच्यते ? शृणु तत्र यथा कार्यकारणभावो-  
ऽस्माभिरभिप्रेत इति । असत् अविद्यमानं रज्जुसर्पवद्विकल्पितं  
वस्तु जागरिते दृष्ट्वा तद्भावभावितस्तन्मयः स्वप्नेऽपि जाग-  
रितवत् ग्राह्यग्राहकरूपेण विकल्पयन्पश्यति, तथा असत्स्व-  
प्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति अविकल्पयन्, च-श-  
ब्दात् । तथा जागरितेऽपि दृष्ट्वा स्वप्ने न पश्यति कदाचि-  
दित्यर्थः । तस्माज्जागरितं स्वप्नहेतुरित्युच्यते, न तु परमार्थ-  
सदिति कृत्वा ॥

नास्त्यसद्वेतुकमसत्सदसद्वेतुकं तथा ।

सच्च सद्वेतुकं नास्ति सद्वेतुकमसत्कुतः ॥ ४० ॥

परमार्थतस्तु न कस्यचित्केनचिदपि प्रकारेण कार्यकार-  
णभाव उपपद्यते । कथम् ? नास्ति असद्वेतुकम् असत् शश-  
विषाणादि हेतुः कारणं यस्य असत् एव खपुष्पादेः, तत्  
असद्वेतुकम् असत् न विद्यते । तथा सदपि घटादिवस्तु  
असद्वेतुकम् शशविषाणादिकार्यं नास्ति । तथा सच्च विद्य-  
मानं घटादि वस्त्वन्तरकार्यं नास्ति । सत्कार्यम् असत् कुत



एव संभवति ? न चान्यः कार्यकारणभावः संभवति शक्यो  
वा कल्पयितुम् । अतो विवेकिनामसिद्ध एव कार्यकारणभावः  
कस्यचिदित्यभिप्रायः ॥

विपर्यासाद्यथा जाग्रदचिन्त्यान्भूतवत्स्पृशेत् ।

तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धर्मास्तत्रैव पश्यति ॥ ४१ ॥

पुनरपि जाग्रत्स्वप्नयोरस्तोरपि कार्यकारणभावाशङ्काम-  
पनयन्नाह— विपर्यासान् अविवेकतः यथा जाग्रत् जाग-  
रिते अचिन्त्यान्भावान् अशक्यचिन्तनान् रज्जुसर्पादीन्  
भूतवन् परमार्थवन् स्पृशेत् ; स्पृशन्निव विकल्पयेदित्यर्थः,  
कश्चिद्यथा, तथा स्वप्ने विपर्यासान् हस्त्यादीन्पश्यन्निव विक-  
ल्पयति । तत्रैव पश्यति, न तु जागरितादुत्पद्यमानानि-  
त्यर्थः ॥

उपलम्भात्समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम् ।

जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा ॥ ४२ ॥

यापि बुद्धैः अद्वैतवादिभिः जातिः देशिता उपदिष्टा, उ-  
पलम्भनमुपलम्भः, तस्मात् उपलब्धेरित्यर्थः । समाचारात्  
वर्णाश्रमादिधर्मसमाचरणाच्च ताभ्यां हेतुभ्याम् अस्तिवस्तुत्व-  
वादिनाम् अस्ति वस्तुभाव इत्येवंवदनशीलानां दृढाग्रहवतां

श्रद्धधानां मन्दविवेकिनामर्थोपायत्वेन सा देशिता जातिः  
तां गृह्णन्तु तावत् । वेदान्ताभ्यासिनां तु स्वयमेव अजाद्व-  
यात्मविषयो विवेको भविष्यतीति ; न तु परमार्थबुद्ध्या । ते  
हि श्रोत्रियाः स्थूलबुद्धित्वात् अजातेः अजातिवस्तुनः सदा  
त्वस्यन्ति आत्मनाशं मन्यमाना अविवेकिन इत्यर्थः । ‘उपा-  
यः सोऽवताराय’ इत्युक्तम् ॥

अजातेस्त्रसतां तेषामुपलम्भाद्वियन्ति ये ।

जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति ॥

ये च एवमुपलम्भात्समाचाराच्च अजातेः अजातिवस्तुनः  
त्रसन्तः अस्ति वस्त्विति अद्वयादात्मनः, वियन्ति विरुद्धं  
यन्ति द्वैतं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । तेषाम् अजातेः त्रसतां श्रद्द-  
धानानां सन्मार्गावलम्बिनां जातिदोषाः जात्युपलम्भकृता  
दोषाः न सेत्स्यन्ति सिद्धिं नोपयास्यन्ति, विवेकमार्गप्रवृत्त-  
त्वात् । यद्यपि कश्चिद्दोषः स्यात्, सोऽप्यल्प एव भवि-  
ष्यति, सम्यग्दर्शनाप्रतिपत्तिहेतुक इत्यर्थः ॥

उपलम्भात्समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते ।

उपलम्भात्समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते ॥ ४४ ॥

ननु उपलम्भसमाचारयोः प्रमाणत्वादस्त्येव द्वैतं वस्त्व-

ति ; न, उपलम्भसमाचारयोर्व्यभिचारात् । कथं व्यभि-  
चार इति, उच्यते— उपलभ्यते हि मायाहस्ती हस्तीव,  
हस्तिनमिवात्र समाचरन्ति बन्धनारोहणादिहस्तिसंबन्धि-  
भिर्धर्मैः, हस्तीति चोच्यते असन्नपि यथा, तथैव उपलम्भा-  
त्समाचारात् द्वैतं भेदरूपं अस्ति वस्तु इत्युच्यते । तस्मा-  
न्नोपलम्भसमाचारौ द्वैतवस्तुसद्भावे हेतू भवत इत्यभिप्रायः ॥

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च ।

अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ॥ ४५ ॥

किं पुनः परमार्थसद्वस्तु, यदास्पदा जात्याद्यसदुद्वय  
इत्याह— अजाति सत् जातिवदवभासत इति जात्या-  
भासम्, तद्यथा देवदत्तो जायत इति । चलाभासं चल-  
मिवाभासत इति, यथा स एव देवदत्तो गच्छतीति ।  
वस्त्वाभासं वस्तु द्रव्यं धर्मि, तद्वदवभासत इति वस्त्वाभा-  
सम्, यथा स एव देवदत्तो गौरौ दीर्घ इति । जायते देव-  
दत्तः स्पन्दते दीर्घो गौर इत्येवमवभासते । परमार्थतस्तु  
अजमचलमवस्तुत्वमद्वयं च । किं तदेवंप्रकारम् ? विज्ञानं  
विज्ञप्तिः, जात्यादिरहितत्वाच्छान्तम् अत एव अद्वयं च  
तदित्यर्थः ॥

एवं न जायते चित्तमेवं धर्मा अजाः स्मृताः ।

एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये ॥ ४६ ॥

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुभ्यः न जायते चित्तम् । एवं धर्माः  
आत्मानः अजाः स्मृताः ब्रह्मविद्धिः । धर्मा इति बहुवचनं  
देहभेदानुविधायित्वादद्वयस्यैव उपचारतः । एवमेव यथोक्तं  
विज्ञानं जात्यादिरहितमद्वयमात्मतत्त्वं विजानन्तः त्यक्त-  
बाह्यैषणाः पुनर्न पतन्ति अविद्याध्वान्तसागरे विपर्यये ;  
'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इत्यादिम-  
न्त्रवर्णात् ॥

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा ।

ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा ॥ ४७ ॥

यथोक्तं परमार्थदर्शनं प्रपञ्चयिष्यन्नाह— यथा हि लोके  
ऋजुवक्रादिप्रकाराभासम् अलातस्पन्दितम् उल्काचलनम् ,  
तथा ग्रहणग्राहकाभासं विषयिविषयाभासमित्यर्थः । किं तत् ?  
विज्ञानस्पन्दितं स्पन्दितमिव स्पन्दितमविद्यया । न ह्यचलस्य  
विज्ञानस्य स्पन्दनमस्ति, 'अजाचलम्' इति ह्युक्तम् ॥

अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा ।

अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ॥ ४८ ॥

अस्पन्दमानं स्पन्दनवर्जितं तदेव अलातम् ऋज्वाद्याका-  
रेणाजायमानम् अनाभासम् अजं यथा, तथा अविद्यया  
स्पन्दमानम् अविद्योपरमे अस्पन्दमानं जात्याद्याकारेण अना-  
भासम् अजम् अचलं भविष्यतीत्यर्थः ॥

अलाते स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः ।

न ततोऽन्यत्र निःस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते ॥

किं च, तस्मिन्नेव अलाते स्पन्दमाने ऋजुवक्राद्याभासाः  
अलातादन्यतः कुतश्चिदागत्यालाते नैव भवन्तीति नान्यतो-  
भुवः । न च तस्मान्निःस्पन्दादलातादन्यत्र निर्गताः । न च  
निःस्पन्दमलातमेव प्रविशन्ति ते ॥

न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः ।

विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः ॥ ५० ॥

किं च, न निर्गता अलातात् ते आभासाः गृहादिव, द्रव्य-  
त्वाभावयोगतः, द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम्, तदभावः द्रव्यत्वा-  
भावः, द्रव्यत्वाभावयोगतः द्रव्यत्वाभावयुक्तेः वस्तुत्वाभावा-  
दित्यर्थः । वस्तुनो हि प्रवेशादि संभवति, नावस्तुनः । विज्ञा-  
नेऽपि जात्याद्याभासाः तथैव स्युः, आभासस्य अविशेषतः  
तुल्यत्वात् ॥

विज्ञाने स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः ।

न ततोऽन्यत्र निःस्पन्दान्न विज्ञानं विशन्ति ते ॥

न निर्गतास्ते विज्ञानाद्रव्यत्वाभावयोगतः ।

कार्यकारणताभावाद्यतोऽचिन्त्याः सदैव ते ॥ ५२ ॥

कथं तुल्यत्वमित्याह— अलातेन समानं सर्वं विज्ञानस्य ; सदा अचलत्वं तु विज्ञानस्य विशेषः । जात्याद्याभासा विज्ञाने अचले किंकृता इत्याह— कार्यकारणताभावात् जन्यजनकत्वानुपपत्तेरभावरूपत्वात् अचिन्त्याः ते यतः सदैव । यथा असत्सु ऋज्वाद्याभासेषु ऋज्वादिबुद्धिर्दृष्टा अलातमात्रे, तथा असत्स्वेव जात्यादिषु विज्ञानमात्रे जात्यादिबुद्धिर्मृषैवेति समुदायार्थः ॥

द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्यादन्यदन्यस्य चैव हि ।

द्रव्यत्वमन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते ॥ ५३ ॥

अजमेकमात्मतत्त्वमिति स्थितम् । तत्र यैरपि कार्यकारणभावः कल्प्यते, तेषां द्रव्यं द्रव्यस्यान्यस्यान्यत् हेतुः कारणं स्यात्, न तु तस्यैव तत् । नाप्यद्रव्यं कस्यचित्कारणं स्वतन्त्रं दृष्टं लोके । न च द्रव्यत्वं धर्माणाम् आत्मनाम् उपपद्यते अन्यत्वं वा कुतश्चित्, येन अन्यस्य कारण-

त्वं कार्यत्वं वा प्रतिपद्येत । अतः अद्रव्यत्वादनन्यत्वाच्च न  
कस्यचित्कार्यं कारणं वा आत्मेत्यर्थः ॥

एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वापि न धर्मजम् ।

एवं हेतुफलाजातिं प्रविशन्ति मनीषिणः ॥ ५४ ॥

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुभ्यः आत्मविज्ञानस्वरूपमेव चित्त-  
मिति, न चित्तजाः बाह्यधर्माः, नापि बाह्यधर्मजं चित्तम्,  
विज्ञानस्वरूपाभासमात्रत्वात्सर्वधर्माणाम् । एवं न हेतोः  
फलं जायते, नापि फलाद्धेतुरिति हेतुफलयोरजातिं हेतुफला-  
जातिं प्रविशन्ति अध्यवस्यन्ति । आत्मनि हेतुफलयोरभाव-  
मेव प्रतिपद्यन्ते ब्रह्मविद इत्यर्थः ॥

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भवः ।

क्षीणे हेतुफलावेशे नास्ति हेतुफलोद्भवः ॥ ५५ ॥

ये पुनर्हेतुफलयोरभिनिविष्टाः, तेषां किं स्यादिति, उ-  
च्यते—धर्माधर्माख्यस्य हेतोः अहं कर्ता मम धर्माधर्मौ  
तत्फलं कालान्तरे कचित्प्राणिनिकाये जातो भोक्ष्ये इति  
यावद्धेतुफलयोरावेशः हेतुफलाग्रह आत्मन्यध्यारोपणम्, त-  
श्चित्ततेत्यर्थः ; तावद्धेतुफलयोरुद्भवः धर्माधर्मयोस्तत्फलस्य चा-

नुच्छेदेन प्रवृत्तिरित्यर्थः । यदा पुनर्मन्त्रौषधिवीर्येणैव ग्रहावेशो यथोक्ताद्वैतदर्शनेन अविद्योद्भूतहेतुफलावेशोपनीतो भवति, तदा तस्मिन्क्षीणे नास्ति हेतुफलोद्भवः ॥

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः ।

क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥ ५६ ॥

यदि हेतुफलोद्भवः, तदा को दोष इति, उच्यते—यावत् सम्यग्दर्शनेन हेतुफलावेशः न निवर्तते, अक्षीणः संसारः तावत् आयातः दीर्घो भवतीत्यर्थः । क्षीणे पुनः हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते, कारणाभावात् ॥

संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै ।

सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ॥ ५७ ॥

ननु अजादात्मनोऽन्यन्नास्त्येव; तत्कथं हेतुफलयोः संसारस्य च उत्पत्तिविनाशवुच्येते त्वया? शृणु; संवृत्या संवरणं संवृतिः अविद्याविषयो लौकिकव्यवहारः; तथा संवृत्या जायते सर्वम् । तेन अविद्याविषये शाश्वतं नित्यं नास्ति वै । अतः उत्पत्तिविनाशलक्षणः संसारः आयत इत्युच्यते । परमार्थसद्भावेन तु अजं सर्वम् आत्मैव यस्मात्; अतो जात्यभावात् उच्छेदः तेन नास्ति वै कस्य-



चिद्धेतुफलादेरित्यर्थः ॥

धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः ।

जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ॥ ५८ ॥

येऽप्यात्मानोऽन्ये च धर्मा जायन्त इति कल्प्यन्ते, ते इति एवंप्रकारा यथोक्ता संवृतिर्निर्दिश्यत इति संवृत्यैव धर्मा जायन्ते । न ते तत्त्वतः परमार्थतः जायन्ते । यत्पुनस्तत्संवृत्या जन्म तेषां धर्माणां यथोक्तानां यथा मायया जन्म तथा तत् मायोपमं प्रत्येतव्यम् । माया नाम वस्तु तर्हि; नैवम्, सा च माया न विद्यते । मायेत्यविद्यमानस्याख्येत्यभिप्रायः ॥

यथा मायामयाद्वीजाज्जायते तन्मयोऽङ्कुरः ।

नासौ नित्यो न चोच्छेदी तद्वद्धर्मेषु योजना ॥ ५९ ॥

कथं मायोपमं तेषां धर्माणां जन्मेति, आह— यथा मायामयान् आम्रादिबीजात् जायते तन्मयः मायामयः अङ्कुरः, नासावङ्कुरो नित्यः, न च उच्छेदी विनाशी वा । अभूतत्वादेव धर्मेषु जन्मनाशादियोजना युक्तिः, न तु परमार्थतो धर्माणां जन्म नाशो वा युज्यत इत्यर्थः ॥

नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा ।

यत्र वर्णा न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते ॥ ६० ॥

परमार्थतस्त्वात्मस्वजेषु नित्यैकरसविज्ञप्तिमात्रसत्ताकेषु  
शाश्वतः अशाश्वतः इति वा न अभिधा, नाभिधानं प्रवर्तत  
इत्यर्थः । यत्र येषु वर्ण्यन्ते यैरर्थाः, ते वर्णाः शब्दा न  
वर्तन्ते अभिधातुं प्रकाशयितुं न प्रवर्तन्त इत्यर्थः । इदमेवमिति  
विवेकः विविक्तता तत्र नित्योऽनित्य इति नोच्यते, 'यतो  
वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः ॥

यथा स्वप्ने द्रयाभासं चित्तं चलति मायया ।

तथा जाग्रद्वयाभासं चित्तं चलति मायया ॥ ६१ ॥

अद्वयं च द्रयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशयः ।

अद्वयं च द्रयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥ ६२ ॥

यत्पुनर्वागोचरत्वं परमार्थतः अद्वयस्य विज्ञानमात्रस्य,  
तन्मनसः स्पन्दनमात्रम्, न परमार्थतः इत्युक्तार्थो श्लोकौ ॥

स्वप्नदृक्प्रचरन्स्वप्ने दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।

अण्डजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥

इतश्च वागोचरस्याभावो द्वैतस्य—स्वप्नान्पश्यतीति स्वप्न-  
दृक् प्रचरन् पर्यटन्स्वप्ने स्वप्नस्थाने दिक्षु वै दशसु स्थितान्

वर्तमानान् जीवान्प्राणिनः अण्डजान्स्वेदजान्वा यान् सदा पश्यतीति ॥

स्वप्नदृक्चित्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।

तथा तद्दृश्यमेवेदं स्वप्नदृक्चित्तमिष्यते ॥ ६४ ॥

यद्येवम्, ततः किम् ? उच्यते—स्वप्नदृशश्चित्तं स्वप्नदृक्चित्तम्, तेन दृश्याः ते जीवाः ; ततः तस्मात् स्वप्नदृक्चित्तात् पृथक् न विद्यन्ते न सन्तीत्यर्थः । चित्तमेव ह्यनेकजीवादिभेदाकारेण विकल्प्यते । तथा तदपि स्वप्नदृक्चित्तमिदं तद्दृश्यमेव, तेन स्वप्नदृशा दृश्यं तद्दृश्यम् । अतः स्वप्नदृग्व्यतिरेकेण चित्तं नाम नास्तीत्यर्थः ॥

चरञ्जागरिते जाग्रद्विक्षु वै दशसु स्थितान् ।

अण्डजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥

जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।

तथा तद्दृश्यमेवेदं जाग्रतश्चित्तमिष्यते ॥ ६६ ॥

जाग्रतो दृश्या जीवाः तच्चित्ताव्यतिरिक्ताः, चित्तेक्षणीयत्वात्, स्वप्नदृक्चित्तेक्षणीयजीववत् । तच्च जीवेक्षणात्मकं चित्तं द्रष्टुरव्यतिरिक्तं द्रष्टृदृश्यत्वात् स्वप्नचित्तवत् । उक्तार्थमन्यत् ॥

उभे ह्यन्योन्यदृश्ये ते किं तदस्तीति चोच्यते ।

लक्षणाशून्यमुभयं तन्मते नैव गृह्यते ॥ ६७ ॥

जीवचित्ते उभे चित्तचैत्त्ये ते अन्योन्यदृश्ये इतरेतरग-  
म्ये । जीवादिविषयापेक्षं हि चित्तं नाम भवति । चित्तापेक्षं  
हि जीवादि दृश्यम् । अतस्ते अन्योन्यदृश्ये । तस्मान्न किं-  
चिदस्तीति चोच्यते चित्तं वा चित्तेक्षणीयं वा । किं तदस्ती-  
ति विवेकिनोच्यते । न हि स्वप्ने हस्ती हस्तिचित्तं वा वि-  
द्यते ; तथा इहापि विवेकिनामित्यभिप्रायः । कथम् ? लक्षणा-  
शून्यं लक्ष्यते अनयेति लक्षणा प्रमाणम् ; प्रमाणशून्यमुभयं  
चित्तं चैत्त्यं द्वयं यतः, तन्मतेनैव तच्चित्ततयैव तत् गृह्यते । न  
हि घटमतिं प्रत्याख्याय घटो गृह्यते, नापि घटं प्रत्याख्याय  
घटमतिः । न हि तत्र प्रमाणप्रमेयभेदः शक्यते कल्पयितुमि-  
त्यभिप्रायः ॥

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।

तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥६८॥

यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।

तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥६९॥

यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।

तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥७०॥

मायामयः मायाविना यः कृतो निर्मितकः मन्त्रौषध्या-  
दिभिर्निष्पादितः । स्वप्रमायानिर्मितका अण्डजादयो जीवा  
यथा जायन्ते म्रियन्ते च, तथा मनुष्यादिलक्षणा अविद्य-  
माना एव चित्तविकल्पनामात्रा इत्यर्थः ॥

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।

एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ ७१ ॥

व्यवहारसत्यविषये जीवानां जन्ममरणादिः स्वप्रादि-  
जीववदित्युक्तम् । उत्तमं तु परमार्थसत्यं न कश्चिज्जायते  
जीव इति । उक्तार्थमन्यत् ॥

चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद्वयम् ।

चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥ ७२ ॥

सर्वं ग्राह्यग्राहकवच्चित्तस्पन्दितमेव द्वयम् । चित्तं परमार्थत  
आत्मैवेति निर्विषयम् । तेन निर्विषयत्वेन नित्यम् असङ्गं  
कीर्तितम् । ‘असङ्गो ह्ययं पुरुषः’ इति श्रुतेः । सविषयस्य  
हि विषये सङ्गः । निर्विषयत्वाच्चित्तमसङ्गमित्यर्थः ।

योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ ।

परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ॥ ७३ ॥

ननु निर्विषयत्वेन चेदसङ्गत्वम्, चित्तस्य न निःसङ्गता भवति, यस्मात् शास्ता शास्त्रं शिष्यश्चेत्येवमादेर्विषयस्य विद्यमानत्वात्; नैष दोषः । कस्मात्? यः पदार्थः शास्त्रादिर्विद्यते, स कल्पितसंवृत्या । कल्पिता च सा परमार्थप्रतिपत्त्युपायत्वेन संवृतिश्च सा तथा योऽस्ति परमार्थेन, नास्त्यसौ न विद्यते । 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' इत्युक्तम् । यश्च परतन्त्राभिसंवृत्या परशास्त्रव्यवहारेण स्यात्पदार्थः, स परमार्थतो निरूप्यमाणो नास्त्येव । तेन युक्तमुक्तम् 'असङ्गं तेन कीर्तितम्' इति ॥

अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः ।

परतन्त्राभिनिष्पत्त्या संवृत्या जायते तु सः ॥ ७४ ॥

ननु शास्त्रादीनां संवृतित्वे अज इतीयमपि कल्पना संवृतिः स्यात् । सत्यमेवम्; शास्त्रादिकल्पितसंवृत्यैव अज इत्युच्यते । परमार्थेन नाप्यजः, यस्मात् परतन्त्राभिनिष्पत्त्या परशास्त्रसिद्धिमपेक्ष्य यः अज इत्युक्तः, स संवृत्या जायते । अतः अज इतीयमपि कल्पना परमार्थविषये नैव क्रमत इत्यर्थः ॥

अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते ।

द्रयाभावं स बुद्धैव निर्निमित्तो न जायते ॥ ७५ ॥

यस्मादसद्विषयः, तस्मात् असत्यभूते द्वैते अभिनिवेशोऽस्ति केवलम् । अभिनिवेशः आग्रहमात्रम् । द्वयं तत्र न विद्यते मिथ्याभिनिवेशमात्रं च जन्मनः कारणं यस्मात्, तस्मात् द्वयाभावं बुद्ध्वा निर्निमित्तः निवृत्तमिथ्याद्वयाभिनिवेशः यः, सः न जायते ॥

यदा न लभते हेतूनुत्तमाधममध्यमान् ।

तदा न जायते चित्तं हेत्वभावे फलं कुतः ॥ ७६ ॥

जात्याश्रमविहिता आशीर्वाजितैरनुष्ठीयमाना धर्मा देव-  
त्वादिप्राप्तिहेतव उत्तमाः केवलाश्च । धर्माः अधर्मव्यामिश्रा  
मनुष्यत्वादिप्राप्त्यर्था मध्यमाः । तिर्यगादिप्राप्तिनिमित्ता  
अधर्मलक्षणाः प्रवृत्तिविशेषाश्चाधमाः । तानुत्तममध्यमाधमा-  
नविद्यापरिकल्पितान् यदा एकमेवाद्वितीयमात्मतत्त्वं सर्व-  
कल्पनावर्जितं जानन् न लभते न पश्यति, यथा बालैर्दृ-  
श्यमानं गगने मलं विवेकी न पश्यति, तद्वत्, तदा न  
जायते नोत्पद्यते चित्तं देवाद्याकारैः उत्तमाधममध्यमफल-  
रूपेण । न ह्यसति हेतौ फलमुत्पद्यते बीजाद्यभाव इव  
सस्यादि ॥

अनिमित्तस्य चित्तस्य यानुत्पत्तिः समाद्वया ।

अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद्यतः ॥ ७७ ॥

हेत्वभावे चित्तं नोत्पद्यत इति हि उक्तम् । सा पुनरनु-  
त्पत्तिश्चित्तस्य कीदृशीत्युच्यते— परमार्थदर्शनेन निरस्तध-  
र्माधर्माख्योत्पत्तिनिमित्तस्य अनिमित्तस्य चित्तस्येति या  
मोक्षाख्या अनुत्पत्तिः, सा सर्वदा सर्वावस्थासु समा निर्वि-  
शेषा अद्वया च ; पूर्वमपि अजातस्यैव अनुत्पन्नस्य चित्तस्य  
सर्वस्याद्वयस्येत्यर्थः । यस्मात्प्रागपि विज्ञानात् चित्तं दृश्यं  
तद्व्यं जन्म च, तस्मादजातस्य सर्वस्य सर्वदा चित्तस्य समा  
अद्वयैव अनुत्पत्तिः न पुनः कदाचिद्भवति, कदाचिद्वा न  
भवति । सर्वदा एकरूपैवेत्यर्थः ॥

बुद्धानिमित्तां सत्यां हेतुं पृथगनाप्नुवन् ।

वीतशोकं तथा काममभयं पदमश्नुते ॥ ७८ ॥

यथोक्तेन न्यायेन जन्मानिमित्तस्य द्वयस्य अभावादनि-  
मित्तां च सत्यां परमार्थरूपां बुद्धा हेतुं धर्मादिकारणं  
देवादियोनिप्राप्तये पृथगनाप्नुवन् अनुपाददानः त्यक्तबाह्यै-  
षणः सन् कामशोकादिवर्जितम् अविद्यादिरहितम् अभयं  
पदम् अश्नुते, पुनर्न जायत इत्यर्थः ॥

अभूताभिनिवेशाद्धि सदृशे तत्प्रवर्तते ।

वस्त्वभावं स बुद्धैव निःसङ्गं विनिवर्तते ॥ ७९ ॥



यस्मात् अभूताभिनिवेशात् असति द्वये द्वयास्तित्व-  
निश्चयः अभूताभिनिवेशः, तस्मात् अविद्याव्यामोहरूपाद्धि  
सदृशे तदनुरूपे तत् चित्तं प्रवर्तते । तस्य द्वयस्य वस्तुनः  
अभावं यदा बुद्धवान्, तदा तस्मात् निःसङ्गं निरपेक्षं सत्  
विनिवर्तते अभूताभिनिवेशविषयात् ॥

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ।

विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम् ॥ ८० ॥

निवृत्तस्य द्वैतविषयात्, विषयान्तरे च अप्रवृत्तस्य अभा-  
वदर्शनेन चित्तस्य निश्चला चलनवार्जिता ब्रह्मस्वरूपैव तदा  
स्थितिः, येषां ब्रह्मस्वरूपा स्थितिः चित्तस्य अद्वयविज्ञानैकरस-  
घनलक्षणा । स हि यस्मात् विषयः गोचरः परमार्थद-  
र्शिनां बुद्धानाम्, तस्मात् तत्साम्यं परं निर्विशेषमजमद्वयं  
च ॥

अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम् ।

सकृद्विभातो ह्येष धर्मो धातुस्वभावतः ॥ ८१ ॥

पुनरपि कीदृशश्चासौ बुद्धानां विषय इत्याह—स्वयमेव  
तत् प्रभातं भवति न आदित्याद्यपेक्षम्; स्वयं ज्योतिःस्वभाव-  
मित्यर्थः । सकृद्विभातः सदैव विभात इत्येतत् । एषः एवं-

लक्षणः आत्माख्यो धर्मः धातुस्वभावतः वस्तुस्वभावत  
इत्यर्थः ॥

सुखमात्रियते नित्यं दुःखं वित्रियते सदा ।

यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ ॥ ८२ ॥

एवं बहुश उच्यमानमपि परमार्थतत्त्वं कस्माल्लौकिकैर्न  
गृह्यत इत्युच्यते—यस्मात् यस्य कस्यचित् द्वयवस्तुनो धर्मस्य  
ग्रहेण ग्रहणावेशेन मिथ्याभिनिविष्टतया सुखमात्रियते अना-  
यासेन आच्छाद्यत इत्यर्थः । द्वयोपलब्धिनिमित्तं हि तत्रा-  
वरणं न यन्नान्तरमपेक्षते । दुःखं च वित्रियते प्रकटीक्रियते,  
परमार्थज्ञानस्य दुर्लभत्वात् । भगवानसौ आत्माद्वयो देव  
इत्यर्थः । अतो वेदान्तैराचार्यैश्च बहुश उच्यमानोऽपि नैव  
ज्ञातुं शक्य इत्यर्थः, ‘आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा’  
इति श्रुतेः ॥

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।  
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥ ८३ ॥

अस्ति नास्तीत्यादि सूक्ष्मविषया अपि पण्डितानां ग्रहाः  
भगवतः परमात्मन आवरणा एव ; किमुत मूढजनानां बुद्धि-  
लक्षणा इत्येवमर्थं प्रदर्शयन्नाह—अस्तीति । अस्त्यात्मेति

कश्चिद्वादी प्रतिपद्यते । नास्तीत्यपरो वैनाशिकः । अस्ति नास्तीत्यपरोऽर्धवैनाशिकः सदसद्वादी दिग्वासाः । नास्ति नास्तीत्यत्यन्तशून्यवादी । तत्रास्तिभावश्चलः, घटाद्यनित्यविलक्षणत्वात् । नास्तिभावः स्थिरः, सदाविशेषत्वात् । उभयं चलस्थिरविषयत्वात् सदसद्भावः । अभावोऽत्यन्ताभावः । प्रकारचतुष्टयस्यापि तैरेतैश्चलस्थिरोभयाभावैः सदसदादिवादी सर्वोऽपि भगवन्तमावृणोत्येव बालिशोऽविवेकी । यद्यपि पण्डितो बालिश एव परमार्थतत्त्वानवबोधात्, किमु स्वभावमूढो जन इत्यभिप्रायः ॥

कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।

भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥ ८४ ॥

कीदृक्पुनः परमार्थतत्त्वम्, यदवबोधादबालिशः पण्डितो भवतीत्याह— कोट्यः प्रावादुकशास्त्रनिर्णयान्ताः एताः उक्ता अस्ति नास्तीत्याद्याः चतस्रः, यासां कोटीनां ग्रहैः ग्रहणैः उपलब्धिनिश्चयैः सदा सर्वदा आवृतः आच्छादितः तेषामेव प्रावादुकानां यः, स भगवान् आभिः अस्ति नास्तीत्यादिकोटीभिः चतसृभिरपि अस्पृष्टः अस्त्यादिविकल्पनावर्जित इत्येतत् । येन मुनिना दृष्टो ज्ञातः वेदान्तेष्वौपनिषदः पुरुषः, स सर्वदृक् सर्वज्ञः; परमार्थपण्डित इत्यर्थः ॥

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम् ।

अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते ॥ ८५ ॥

प्राप्य एतां यथोक्तां कृत्स्नां समस्तां सर्वज्ञतां ब्राह्मण्यं पद-  
म् ‘स ब्राह्मणः’ ‘एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य’ इति श्रुतेः ।  
अनापन्नादिमध्यान्तम् आदिमध्यान्ताः उत्पत्तिस्थितिलयाः  
अनापन्ना अप्राप्ता यस्य अद्वयस्य पदस्य न विद्यन्ते, तत्  
अनापन्नादिमध्यान्तं ब्राह्मण्यं पदम् । तदेव प्राप्य लब्ध्वा  
किमतः परमस्मादात्मलाभादूर्ध्वम् ईहते चेष्टते, निष्प्रयोजन-  
मित्यर्थः । ‘नैव तस्य कृतेनार्थः’ इत्यादिस्मृतेः ॥

विप्राणां विनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते ।

दमः प्रकृतिदान्तत्वादेवं विद्वान्शमं व्रजेत् ॥ ८६ ॥

विप्राणां ब्राह्मणानां विनयः विनीतत्वं स्वाभाविकं यदे-  
तदात्मस्वरूपेणावस्थानम् । एष विनयः शमोऽप्येष एव प्रा-  
कृतः स्वाभाविकः अकृतकः उच्यते । दमोऽप्येष एव प्रकृ-  
तिदान्तत्वात् स्वभावत एव चोपशान्तरूपत्वाद्व्रह्मणः । एवं  
यथोक्तं स्वभावोपशान्तं ब्रह्म विद्वान् शमम् उपशान्तिं स्वा-  
भाविकीं ब्रह्मस्वरूपां व्रजेत् ब्रह्मस्वरूपेणावतिष्ठत इत्यर्थः ॥

सर्वस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते ।

अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते ॥ ८७ ॥

एवमन्योन्यविरुद्धत्वात् संसारकारणरागद्वेषदोषास्पदानि प्रावादुकानां दर्शनानि । अतो मिथ्यादर्शनानि तानीति तद्युक्तिभिरेव दर्शयित्वा चतुष्कोटिवर्जितत्वात् रागादिदोषानास्पदं स्वभावशान्तमद्वैतदर्शनमेव सम्यग्दर्शनमित्युपसंहृतम् । अथेदानीं स्वप्रक्रियाप्रदर्शनार्थं आरम्भः— सवस्तु संवृत्तिसता वस्तुना सह वर्तत इति सवस्तु, तथा च उपलब्धिरूपलम्भः, तेन सह वर्तत इति सोपलम्भं च शास्त्रादिसर्वव्यवहारास्पदं ग्राह्यग्रहणलक्षणं द्वयं लोकादनपेतं लौकिकं जागरितमित्येतत् । एवंलक्षणं जागरितमिष्यते वेदान्तेषु । अवस्तु संवृतेरप्यभावात् । सोपलम्भं वस्तुवदुपलम्भनमुपलम्भः असत्यपि वस्तुनि, तेन सह वर्तत इति सोपलम्भं च । शुद्धं केवलं प्रविभक्तं जागरितात्स्थूलालौकिकं सर्वप्राणिसाधारणत्वात् इष्यते स्वप्न इत्यर्थः ॥

अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम् ।

ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम् ॥ ८८ ॥

अवस्त्वनुपलम्भं च ग्राह्यग्रहणवर्जितमित्येतत् ; लोकोत्तरम्, अत एव लोकातीतम् । ग्राह्यग्रहणविषयो हि लोकः, तदभा-

वान् सर्वप्रवृत्तिबीजं सुषुप्तमित्येतत् । एवं स्मृतं सोपायं परमार्थ-  
तत्त्वं लौकिकं शुद्धलौकिकं लोकोत्तरं च क्रमेण येन ज्ञानेन ज्ञा-  
यते, तत् ज्ञानं ज्ञेयम् एतान्येव त्रीणि, एतद्व्यतिरेकेण ज्ञेया-  
नुपपत्तेः । सर्वप्रावादुककल्पितवस्तुनोऽवैवान्तर्भावात् ; विज्ञेयं  
यत्परमार्थसत्यं तुर्याख्यमद्वयमजमात्मतत्त्वमित्यर्थः ; सदा  
सर्वदैव, तल्लौकिकादि विज्ञेयान्तं बुद्धैः परमार्थदर्शिभिर्ब्रह्मवि-  
द्भिः प्रकीर्तितम् ॥

ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम् ।

सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः ॥ ८९ ॥

ज्ञाने च लौकिकादिविषये ज्ञेये च लौकिकादौ त्रिविधे,  
पूर्वं लौकिकं स्थूलम् ; तदभावेन पञ्चाच्छुद्धं लौकिकम्, तद-  
भावेन लोकोत्तरमित्येवं क्रमेण स्थानत्रयाभावेन परमा-  
र्थसत्ये तुर्ये अद्वये अजे अभये विदिते, स्वयमेव आत्मस्वरूप-  
मेव सर्वज्ञता सर्वत्रासौ ज्ञश्च सर्वज्ञः, तद्भावः सर्वज्ञता इह  
अस्मिन् लोके भवति महाधियः महाबुद्धेः । सर्वलोकाति-  
शयवस्तुविषयबुद्धित्वादेवंविदः सर्वत्र सर्वदा भवति । सकृ-  
द्विदिते स्वरूपे व्यभिचाराभावादित्यर्थः । न हि परमा-  
र्थविदो ज्ञानिनः ज्ञानोद्भवाभिभवौ स्तः, यथा अन्येषां प्रावा-  
दुकानाम् ॥

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः ।

तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः ॥ ९० ॥

लौकिकादीनां क्रमेण ज्ञेयत्वेन निर्देशादस्तित्वाशङ्का पर-  
मार्थतो मा भूदित्याह— हेयानि च लौकिकादीनि त्रीणि  
जागरितस्वप्नसुषुप्तानि आत्मन्यसत्त्वेन रज्ज्वां सर्पवद्धात-  
व्यानीत्यर्थः । ज्ञेयमिह चतुष्कोटिवर्जितं परमार्थतत्त्वम् ।  
आप्यानि आप्रव्यानि त्यक्तबाह्यैषणात्रयेण भिक्षुणा पाण्डि-  
त्यबाल्यमौनाख्यानि साधनानि । पाक्यानि रागद्वेषमोहादयो  
दोषाः कषायाख्यानि पक्तव्यानि । सर्वाण्येतानि हेयज्ञेया-  
प्यपाक्यानि विज्ञेयानि भिक्षुणा उपायत्वेनेत्यर्थः । अग्रया-  
णतः प्रथमतः । तेषां हेयादीनामन्यत्र विज्ञेयात्परमार्थसत्यं  
विज्ञेयं ब्रह्मैकं वर्जयित्वा । उपलम्भनमुपलम्भः अविद्याक-  
ल्पनामात्रम् । हेयाप्यपाक्येषु त्रिष्वपि स्मृतो ब्रह्मविद्धिः न  
परमार्थसत्यता त्रयाणामित्यर्थः ॥

प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः ।

विद्यते न हि नानात्वं तेषां कचन किंचन ॥ ९१ ॥

परमार्थतस्तु प्रकृत्या स्वभावतः आकाशवत् आकाश-  
तुल्याः सूक्ष्मनिरञ्जनसर्वगतत्वैः सर्वे धर्मा आत्मानो ज्ञेया

मुमुक्षुभिः अनादयः नित्याः । बहुवचनकृतभेदाशङ्कां निरा-  
राकुर्वन्नाह— कचन कचिदपि किञ्चन किञ्चित् अणुमात्रमपि  
तेषां न विद्यते नानात्वमिति ॥

आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः ।

यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ९२ ॥

ज्ञेयतापि धर्माणां संवृत्यैव, न परमार्थत इत्याह—  
यस्मात् आदौ बुद्धाः आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव स्वभावत एव  
यथा नित्यप्रकाशस्वरूपः सविता, एवं नित्यबोधस्वरूपा  
इत्यर्थः । सर्वे धर्माः सर्व आत्मानः । न च तेषां निश्चयः  
कर्तव्यः नित्यनिश्चितस्वरूपा इत्यर्थः । न संदिह्यमानस्व-  
रूपा एवं नैवं वेति यस्य मुमुक्षोः एवं यथोक्तप्रकारेण  
सर्वदा बोधनिश्चयनिरपेक्षता आत्मार्थ परार्थ वा । यथा  
सविता नित्यं प्रकाशान्तरनिरपेक्षः स्वार्थ परार्थ वेत्येवं  
भवति क्षान्तिः बोधकर्तव्यतानिरपेक्षता सर्वदा स्वात्मनि,  
सः अमृतत्वाय अमृतभावाय कल्पते, मोक्षाय समर्थो भव-  
तीत्यर्थः ॥

आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः ।

सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदम् ॥



तथा नापि शान्तिकर्तव्यता आत्मनीत्याह— यस्मान्  
आदिशान्ताः नित्यमेव शान्ताः अनुत्पन्ना अजाश्च प्रकृत्यैव  
सुनिर्वृताः सुष्ठूपरतस्वभावाः नित्यमुक्तस्वभावा इत्यर्थः । सर्वे  
धर्माः समाश्च अभिन्नाश्च समाभिन्नाः अजं साम्यं विशारदं  
विशुद्धमात्मतत्त्वं यस्मान्, तस्मान् शान्तिर्मोक्षो वा नास्ति  
कर्तव्य इत्यर्थः । न हि नित्यैकस्वभावस्य कृतं किञ्चिदर्थ-  
वत्स्यात् ॥

वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा ।

भेदनिम्नाः पृथग्वादास्तस्मात्ते कृपणाः स्मृताः ॥

ये यथोक्तं परमार्थतत्त्वं प्रतिपन्नाः, ते एव अकृपणा  
लोके ; कृपणात्स्वन्ये इत्याह— यस्मान् भेदनिम्नाः भे-  
दानुयायिनः संसारानुगा इत्यर्थः । के ? पृथग्वादाः पृथक्  
नाना वस्तु इत्येवं वदनं येषां ते पृथग्वादाः द्वैतिन इत्यर्थः ।  
तस्मात्ते कृपणाः क्षुद्राः स्मृताः, यस्मान् वैशारद्यं विशुद्धिः  
तन्नास्ति तेषां भेदे विचरतां द्वैतमार्गं अविद्यापरिकल्पिते  
सर्वदा वर्तमानानामित्यर्थः । अतो युक्तमेव तेषां कार्पण्य-  
मित्यभिप्रायः ॥

अजे साम्ये तु ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिताः ।

ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ॥ ९५ ॥

यदिदं परमार्थतत्त्वम्, अमहात्मभिरपण्डितैर्वेदान्तबहिः-  
 श्रैः क्षुद्रैरल्पप्रज्ञैरनवगाह्यमित्याह—अजे साम्ये परमार्थतत्त्वे  
 एवमेवेति ये केचित् स्यादयोऽपि सुनिश्चिता भविष्यन्ति  
 चेत्, त एव हि लोके महाज्ञानाः निरतिशयतत्त्वविषयज्ञाना  
 इत्यर्थः । तच्च तेषां वर्त्म तेषां विदितं परमार्थतत्त्वं सामान्यबु-  
 द्धिरन्यो लोको न गाहते नावतरति न विषयीकरोतीत्यर्थः ।  
 ‘सर्वभूतात्मभूतस्य समैकार्थं प्रपश्यतः । देवा अपि मार्गे  
 मुख्यन्त्यपदस्य पदैषिणः । शकुनीनामिवाकाशे गतिर्नैवोप-  
 लभ्यते’ इत्यादिस्मरणात् ॥

अजेष्वजमसंक्रान्तं धर्मेषु ज्ञानमिष्यते ।

यतो न क्रमते ज्ञानमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥ ९६ ॥

कथं महाज्ञानत्वमित्याह—अजेषु अनुत्पन्नेषु अचलेषु  
 धर्मेषु आत्मसु अजमचलं च ज्ञानमिष्यते सवितरीव औ-  
 ष्ण्यं प्रकाशश्च यतः, तस्मात् असंक्रान्तम् अर्थान्तरे ज्ञान-  
 मजमिष्यते । यस्मान्न क्रमते अर्थान्तरे ज्ञानम्, तेन कारणेन  
 असङ्गं तन् कीर्तितम् आकाशकल्पमित्युक्तम् ॥

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमानेऽविपश्चितः ।

असङ्गता सदा नास्ति किमुतावरणच्युतिः ॥ ९७ ॥

इतोऽन्येषां वादिनाम् अणुमात्रे अल्पेऽपि वैधर्म्ये वस्तुनि  
बहिरन्तर्वा जायमाने उत्पद्यमाने अविपश्चितः अविवेकिनः  
असङ्गता असङ्गत्वं सदा नास्ति ; किमुत वक्तव्यम् आवरण-  
च्युतिः बन्धनाशो नास्तीति ॥

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः ।

आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुध्यन्त इति नायकाः ॥

तेषामावरणच्युतिर्नास्तीति ब्रुवतां स्वसिद्धान्ते अभ्युप-  
गतं तर्हि धर्माणामावरणम् । नेत्युच्यते— अलब्धावरणाः  
अलब्धमप्राप्तमावरणम् अविद्यादिवन्धनं येषां ते धर्माः अल-  
ब्धावरणाः बन्धनराहिता इत्यर्थः । प्रकृतिनिर्मलाः स्वभावशु-  
द्धाः आदौ बुद्धाः तथा मुक्ताः, यस्मात् नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्व-  
भावाः । यद्येवं कथं तर्हि बुध्यन्त इत्युच्यते— नायकाः  
स्वामिनः समर्थाः बोद्धुं बोधशक्तिमत्स्वभावा इत्यर्थः ।  
यथा नित्यप्रकाशस्वरूपोऽपि सन् सविता प्रकाशत इत्युच्यते,  
यथा वा नित्यनिवृत्तगतयोऽपि नित्यमेव शैलास्तिष्ठन्तीत्यु-  
च्यते, तद्वन् ॥

क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः ।

सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद्बुद्धेन भाषितम् ॥ ९९ ॥

यस्मात् न हि क्रमते बुद्धस्य परमार्थदर्शिनो ज्ञानं विष-  
यान्तरेषु धर्मेषु धर्मसंस्थं सवितरीव प्रभा । तायिनः तायो-  
ऽस्यास्तीति तायी, संतानवतो निरन्तरस्य आकाशकल्पस्ये-  
त्यर्थः ; पूजावतो वा प्रज्ञावतो वा सर्वे धर्मा आत्मानोऽपि  
तथा ज्ञानवदेव आकाशकल्पत्वान्न क्रमन्ते कचिदप्यर्थान्तर  
इत्यर्थः । यदादावुपन्यस्तम् ‘ज्ञानेनाकाशकल्पेन’ इत्यादि,  
तदिदमाकाशकल्पस्य तायिनो बुद्धस्य तदनन्यत्वादाकाशक-  
ल्पं ज्ञानं न क्रमते कचिदप्यर्थान्तरे । तथा धर्मा इति आ-  
काशमिव अचलमविक्रियं निरवयवं नित्यमद्वितीयमसङ्गमदृ-  
श्यमग्राह्यमशनायाद्यतीतं ब्रह्मात्मतत्त्वम्, ‘न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्वि-  
परिलोपो विद्यते’ इति श्रुतेः । ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं पर-  
मार्थतत्त्वमद्वयमेतन्न बुद्धेन भाषितम् । यद्यपि बाह्यार्थनिरा-  
करणं ज्ञानमात्रकल्पना च अद्वयवस्तुसामीप्यमुक्तम् । इदं तु  
परमार्थतत्त्वमद्वैतं वेदान्तेष्वेव विज्ञेयमित्यर्थः ॥

दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम् ।

बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम् ॥ १०० ॥

शास्त्रसमाप्तौ परमार्थतत्त्वस्तुत्यर्थं नमस्कार उच्यते—  
दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शम् । अस्ति नास्तीति च-  
तुष्कोटिवर्जितत्वाद्बुद्धिज्ञेयमित्यर्थः । अत एव अतिगम्भीरं

दुष्प्रवेशं महासमुद्रवदकृतप्रज्ञैः । अजं साम्यं विशारदम् । ई-  
दृक् पदम् अनानात्वं नानात्ववर्जितं बुद्ध्वा अवगम्य तद्भूताः  
सन्तः नमस्कुर्मः तस्मै पदाय । अव्यवहार्यमपि व्यवहार-  
गोचरतामापाद्य यथाबलं यथाशक्तीत्यर्थः ॥

अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगा-

दगतिं च गतिमत्तां प्रापदेकं ह्यनेकम् ।

विविधविषयधर्मग्राहि मुग्धेक्षणानां

प्रणतभयविहन्तृ ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥ १ ॥

प्रज्ञावैशाखवेधक्षुभितजलनिधेर्वेदनाम्नोऽन्तरस्थं

भूतान्यालोक्य मग्नान्यविरतजननग्राहघोरे समुद्रे ।

कारुण्यादुदधाराभृतमिदममरैर्दुर्लभं भूतहेतो-

र्यस्तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुममुं पादपातैर्नतोऽस्मि ॥ २ ॥

यत्प्रज्ञालोकभासा प्रतिहतिमगमत्स्वान्तमोहान्धकारो

मज्जोन्मज्जच्च घोरे ह्यसकृदुपजनोदन्वति त्रासने मे ।

यत्पादावाश्रितानां श्रुतिशमविनयप्राप्तिरग्न्या ह्यमोघा

तत्पादौ पावनीयौ भवभयविनुदौ सर्वभावैर्नमस्ये ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्द-

भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

माण्डूक्योपनिषत्कारिकाभाष्यं संपूर्णम् ॥

ॐ

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम  
देवाः । भद्रं पश्येमाक्षभिर्य-  
जत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ-  
सस्तनूभिः । व्यशेम देव-  
हितं यदायुः ॥ स्वस्ति न  
इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्वस्ति नः  
पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति न-  
स्ताक्षर्योऽरिष्टनेमिः । स्वस्ति  
नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



॥ ॐ ॥

# ऐतरेयोपनिषद्भाष्यम्

श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादैः  
विरचितम् ।





ॐ

वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता  
मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमा-  
विरावीर्म एधि । वेदस्य म  
आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहा-  
सीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रा-  
न्संदधाम्यृतं वदिष्यामि ।  
सत्यं वदिष्यामि । तन्मामव-  
तु । तद्वक्तामवतु अवतु मा-  
मवतु वक्तामवतु वक्ताम ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



# ऐतरेयोपनिषद्भाष्यम्

प्रथमोऽध्यायः





# ॥ ऐतरेयोपनिषत् ॥

श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितेन  
भाष्येण सहिता ।



रिसमाप्तं कर्म सहापरब्रह्म-  
विषयविज्ञानेन । सैषा कर्मणो ज्ञान-  
सहितस्य परा गतिरुक्तविज्ञानद्रा-  
रेणोपसंहृता । एतत्सत्यं ब्रह्म प्राणा-  
ख्यम् । एष एको देवः । एतस्यैव  
प्राणस्य सर्वे देवा विभूतयः । एतस्य

प्राणस्यात्मभावं गच्छन् देवता अप्येति इत्युक्तम् । सोऽयं  
देवताप्ययलक्षणः परः पुरुषार्थः । एष मोक्षः । स चायं यथो-

क्तेन ज्ञानकर्मसमुच्चयेन साधनेन प्राप्तव्यो नातः परमस्तीत्येके प्रतिपन्नाः । तान्निराचिकीर्षुरुत्तरं केवलात्मज्ञानविधानार्थम् 'आत्मा वा इदम्' इत्याद्याह । कथं पुनरकर्मसंबन्धिकेवलात्मविज्ञानविधानार्थं उत्तरो ग्रन्थ इति गम्यते ? अन्यार्थानवगमान् । तथा च पूर्वोक्तानां देवतानामग्न्यादीनां संसारित्वं दर्शयिष्यत्यशनायादिदोषवत्त्वेन 'तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत्' इत्यादिना । अशनायादिमत्सर्वं संसार एव, परस्य तु ब्रह्मणोऽशनायाद्यत्ययश्रुतेः । भवत्वेवं केवलात्मज्ञानं मोक्षसाधनम्, न त्वत्राकर्म्येवाधिक्रियते; विशेषाश्रवणात् । अकर्मिण आश्रम्यन्तरस्येहाश्रवणात् । कर्म च बृहतीसहस्रलक्षणं प्रस्तुत्य अनन्तरमेवात्मज्ञानं प्रारभ्यते । तस्मात्कर्म्येवाधिक्रियते । न च कर्मासंबन्ध्यात्मविज्ञानम्, पूर्ववदन्ते उपसंहारात् । यथा कर्मसंबन्धिनः पुरुषस्य सूर्यात्मनः स्थावरजङ्गमादिसर्वप्राण्यात्मत्वमुक्तं ब्राह्मणेन मन्त्रेण च 'सूर्य आत्मा' इत्यादिना, तथैव 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' इत्याद्युपक्रम्य सर्वप्राण्यात्मत्वम् । 'यच्च स्थावरम्, सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम्' इत्युपसंहरिष्यति । तथा च संहितोपनिषत्—'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते' इत्यादिना कर्मसंबन्धित्वमुक्त्वा 'सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते' इत्युपसंहरति ।

तथा तस्यैव 'योऽयमशरीरः प्रज्ञात्मा' इत्युक्तस्य 'यश्चासा-  
वादित्य एकमेव तदिति विद्यात्' इत्येकत्वमुक्तम् । इहापि  
'कोऽयमात्मा' इत्युपक्रम्य प्रज्ञात्मत्वमेव 'प्रज्ञानं ब्रह्म'  
इति दर्शयिष्यति । तस्मान्नाकर्मसंबन्ध्यात्मज्ञानम् । पुनरु-  
क्त्यानर्थक्यमिति चेत्— 'प्राणो वा अहमस्मृतृषे' इत्यादि-  
ब्राह्मणेन 'सूर्य आत्मा' इति च मन्त्रेण निर्धारितस्यात्मनः  
'आत्मा वा इदम्' इत्यादिब्राह्मणेन 'कोऽयमात्मा' इति  
प्रश्नपूर्वकं पुनर्निर्धारणं पुनरुक्तमनर्थकमिति चेत्, न; तस्यैव  
धर्मान्तरविशेषनिर्धारणार्थत्वान्न पुनरुक्ततादोषः । कथम्?  
तस्यैव कर्मसंबन्धिनो जगत्सृष्टिस्थितिसंहारादिधर्मविशेषनि-  
र्धारणार्थत्वात् केवलोपास्यार्थत्वाद्वा ; अथवा, आत्मेत्यादिः परो  
ग्रन्थसन्दर्भः आत्मनः कर्मिणः कर्मणोऽन्यत्रोपासनाप्राप्तौ  
कर्मप्रस्तावेऽविहितत्वाद्वा केवलोऽप्यात्मोपास्य इत्येवमर्थः ।  
भेदाभेदोपास्यत्वाच्च 'एक एवात्मा' कर्मविषये भेददृष्टिभाक् ।  
स एवाकर्मकाले अभेदेनाप्युपास्य इत्येवमपुनरुक्तता ॥

'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया  
मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' इति 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि  
जिजीविषेच्छतं समाः' इति च वाजिनाम् । न च वर्ष-  
शतात्परमायुर्मर्त्यानाम्, येन कर्मपरित्यागेन आत्मानमुपा-



सीत । दर्शितं च 'तावन्ति पुरुषायुषोऽहां सहस्राणि भवन्ति' इति । वर्षशतं चायुः कर्मणैव व्याप्तम् । दर्शितश्च मन्त्रः 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादिः ; तथा 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्याद्याश्च ; 'तं यज्ञपात्रैर्दहन्ति' इति च । ऋणत्रयश्रुतेश्च । तत्र हि पारिव्राज्यादिशास्त्रम् 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इत्यात्मज्ञानस्तुतिपरोऽर्थवादोऽनधिकृतार्थो वा । न, परमार्थात्मविज्ञाने फलादर्शने क्रियानुपपत्तेः— यदुक्तं कर्मिण एव चात्मज्ञानं कर्मसंबन्धि चेत्यादि, तन्न ; परं ह्याप्तकामं सर्वसंसारदोषवर्जितं ब्रह्माहमस्मीत्यात्मत्वेन विज्ञाने, कृतेन कर्तव्येन वा प्रयोजनमात्मनोऽपश्यतः फलादर्शने क्रिया नोपपद्यते । फलादर्शनेऽपि नियुक्तत्वात्करोतीति चेत्, न ; नियोगाविषयात्मदर्शनात् । इष्टयोगमनिष्टवियोगं वात्मनः प्रयोजनं पश्यंस्तदुपायार्थं यो भवति, स नियोगस्य विषयो दृष्टो लोके, न तु तद्विपरीतनियोगाविषयब्रह्मात्मत्वदर्शी । ब्रह्मात्मत्वदर्श्यपि संश्लेष्मियुज्येत, नियोगाविषयोऽपि सन्न कश्चिन्न नियुक्त इति सर्वं कर्म सर्वेण सर्वदा कर्तव्यं प्राप्नोति । तच्चानिष्टम् । न च स नियोक्तुं शक्यते केनचित् । आन्नायस्यापि तत्प्रभवत्वात् । न हि स्वविज्ञानोत्थेन वचसा स्वयं नियुज्यते ।

नापि बहुविट्स्वामी अविवेकिना भृत्येन । आम्नायस्य नित्यत्वे  
सति स्वातन्त्र्यात्सर्वान्प्रति नियोक्तृत्वसामर्थ्यमिति चेत्,  
न ; उक्तदोषात् । तथापि सर्वेण सर्वदा सर्वमविशिष्टं कर्म  
कर्तव्यमित्युक्तो दोषोऽप्यपरिहार्य एव । तदपि शास्त्रेणैव  
विधीयत इति चेत्— यथा कर्मकर्तव्यता शास्त्रेण कृता,  
तथा तदप्यात्मज्ञानं तस्यैव कर्मिणः शास्त्रेण विधीयत इति  
चेत्, न ; विरुद्धार्थबोधकत्वानुपपत्तेः । न ह्येकस्मिन्कृता-  
कृतसंबन्धित्वं तद्विपरीतत्वं च बोधयितुं शक्यम् । शीतो-  
ष्णत्वमिवाग्नेः । न चेष्टथोगचिकीर्षा आत्मनोऽनिष्टवियोगचि-  
कीर्षा च शास्त्रकृता, सर्वप्राणिनां तद्दर्शनात् । शास्त्रकृतं चेत्,  
तदुभयं गोपालादीनां न दृश्येत, अशास्त्रज्ञत्वात्तेषाम् । यद्वि-  
स्वतोऽप्राप्तम्, तच्छास्त्रेण बोधयितव्यम् । तच्चेत्कृतकर्त-  
व्यताविरोध्यात्मज्ञानं शास्त्रेण कृतम्, कथं तद्विरुद्धां  
कर्तव्यतां पुनरुत्पादयेत् शीततामिवाग्नौ, तम इव च  
भानौ ? न बोधयत्येवेति चेत्, न ; ‘स म आत्मेति  
विद्यात्प्रज्ञानं ब्रह्म’ इति चोपसंहारात् । ‘तदात्मानमे-  
वावेत्तत्त्वमसि’ इत्येवमादिवाक्यानां तत्परत्वात् । उत्प-  
न्नस्य च ब्रह्मात्मविज्ञानस्याबाध्यमानत्वान्नानुत्पन्नं भ्रान्तं वा  
इति शक्यं वक्तुम् । त्यागेऽपि प्रयोजनाभावस्य तुल्य-

त्वमिति चेत् 'नाकृतेनेह कश्चन' इति स्मृतेः— य आहुर्विदित्वा ब्रह्म व्युत्थानमेव कुर्यादिति, तेषामप्येष समानो दोषः प्रयोजनाभाव इति चेत्, न ; अक्रियामात्रत्वाद्व्युत्थानस्य । अविद्यानिमित्तो हि प्रयोजनस्य भावः, न वस्तुधर्मः, सर्वप्राणिनां तद्दर्शनात्, प्रयोजनतृष्णया च प्रेर्यमाणस्य बाङ्मनःकार्यैः प्रवृत्तिदर्शनात्, 'सोऽकामयत जाया मे स्यात्' इत्यादिना पुत्रवित्तादि पाङ्गलक्षणं काम्यमेवेत्युभे ह्येते साध्यसाधनलक्षणे एषणे एवेति वाजसनेयिब्राह्मणेऽवधारणात् । अविद्याकामदोषनिमित्ताया बाङ्मनःकायप्रवृत्तेः पाङ्गलक्षणाया विदुषोऽविद्यादिदोषाभावादनुपपत्तेः क्रियाभावमात्रं व्युत्थानम्, न तु यागादिवदनुष्ठेयरूपं भावात्मकम् । तच्च विद्यावत्पुरुषधर्म इति न प्रयोजनमन्वेष्टव्यम् । न हि तमसि प्रवृत्तस्य उदित आलोके यद्गर्तपङ्ककण्टकाद्यपतनम्, तत्किंप्रयोजनमिति प्रश्नार्हम् । व्युत्थानं तर्ह्यर्थप्राप्तत्वाच्च चोदनार्थ इति । गार्हस्थ्ये चेत्परं ब्रह्मविज्ञानं जातम्, तत्रैवास्त्वकुर्वत आसनं न ततोऽन्यत्र गमनमिति चेत्, न ; कामप्रयुक्तत्वाद्वार्हस्थ्यस्य । 'एतावान्वै कामः' 'उभे ह्येते एषणे एव' इत्यवधारणात् कामनिमित्तपुत्रवित्तादिसंबन्धनियमाभावमात्रम् ; न हि ततोऽन्यत्र गमनं

व्युत्थानमुच्यते । अतो न गार्हस्थ्य एवाकुर्वत आसनमुत्प-  
न्नविद्यस्य । एतेन गुरुशुश्रूषातपसोरप्यप्रतिपत्तिर्विदुषः सिद्धा ।  
अत्र केचिद्गृहस्था भिक्षाटनादिभयात्परिभवाच्च त्रस्यमानाः  
सूक्ष्मदृष्टितां दर्शयन्त उत्तरमाहुः । भिक्षोरपि भिक्षाटनादि-  
नियमदर्शनाद्देहधारणमात्रार्थिनो गृहस्थस्यापि साध्यसाध-  
नैषणोभयविनिर्मुक्तस्य देहमात्रधारणार्थमशनाच्छादनमात्रमु-  
पजीवतो गृह एवास्त्वासनमिति ; न, स्वगृहविशेषपरिग्रहनि-  
यमस्य कामप्रयुक्तत्वादित्युक्तोत्तरमेतत् । स्वगृहविशेषपरि-  
ग्रहाभावे च शरीरधारणमात्रप्रयुक्ताशनाच्छादनार्थिनः स्वप-  
रिग्रहविशेषभावेऽर्थाद्विभुक्तमेव । शरीरधारणार्थायां भि-  
क्षाटनादिप्रवृत्तौ यथा नियमो भिक्षोः शौचादौ च,  
तथा गृहिणोऽपि विदुषोऽकामिनोऽस्तु नित्यकर्मसु नियमेन  
प्रवृत्तिर्यावज्जीवादिश्रुतिनियुक्तत्वात्प्रत्यवायपरिहारायेति । ए-  
तन्नियोगाविषयत्वेन विदुषः प्रत्युक्तमशक्यनियोज्यत्वाच्चेति ।  
यावज्जीवादिनित्यचोदनानर्थक्यमिति चेत्, न ; अवि-  
द्वद्विषयत्वेनार्थवत्त्वात् । यत्तु भिक्षोः शरीरधारणमा-  
त्रप्रवृत्तस्य प्रवृत्तेर्नियतत्वम्, तत्प्रवृत्तेर्न प्रयोजकम् । आ-  
चमनप्रवृत्तस्य पिपासापगमवन्नान्यप्रयोजनार्थत्वमवगम्यते ।  
न चाग्निहोत्रादीनां तद्वदर्थप्राप्तप्रवृत्तिनियतत्वोपपत्तिः । अर्थ-

प्राप्तप्रवृत्तिनियमोऽपि प्रयोजनाभावेऽनुपपन्न एवेति चेत्,  
 न; तन्नियमस्य पूर्वप्रवृत्तिसिद्धत्वात्तदतिक्रमे यत्नगौरवादर्थ-  
 प्राप्तस्य व्युत्थानस्य पुनर्वचनाद्विदुषो मुमुक्षोः कर्तव्यत्वो-  
 पपत्तिः। अविदुषापि मुमुक्षुणा पारिव्राज्यं कर्तव्यमेव; तथा  
 च 'शान्तो दान्तः' इत्यादिवचनं प्रमाणम्। शमदमादीनां  
 चात्मदर्शनसाधनानामन्याश्रमेष्वनुपपत्तेः। 'अत्याश्रमिभ्यः  
 परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्' इति च श्वेताश्वतरे  
 विज्ञायते। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृत-  
 त्वमानशुः' इति च कैवल्यश्रुतिः। 'ज्ञात्वा नैष्कर्म्यमाच-  
 रेत्' इति च स्मृतेः। 'ब्रह्माश्रमपदे वसेत्' इति च ब्रह्मच-  
 र्यादिविद्यासाधनानां च साकल्येनात्याश्रमिपूपपत्तेर्गार्हस्थ्येऽसं-  
 भवात्। न च असंपन्नं साधनं कस्यचिदर्थस्य साधनायालम्।  
 यद्विज्ञानोपयोगीनि च गार्हस्थ्यश्रमकर्माणि, तेषां परम-  
 फलमुपसंहृतं देवताप्ययलक्षणं संसारविषयमेव। यदि कर्मिण  
 एव परमात्मविज्ञानमभविष्यत्, संसारविषयस्यैव फलस्यो-  
 पसंहारो नोपापत्स्यत। अङ्गफलं तदिति चेत्; न, तद्विरोध्या-  
 त्मवस्तुविषयत्वादात्मविद्यायाः। निराकृतसर्वनामरूपकर्म-  
 परमार्थात्मवस्तुविषयमात्मज्ञानममृतत्वसाधनम्। गुणफल-  
 संबन्धे हि निराकृतसर्वविशेषात्मवस्तुविषयत्वं ज्ञानस्य न

प्राप्नोति ; तच्चानिष्टम् , ‘ यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् ’ इत्यधिकृत्य क्रियाकारकफलादिसर्वव्यवहारनिराकरणाद्विदुषः ; तद्विपरी-  
तस्याविदुषः ‘ यत्र हि द्वैतमिव भवति ’ इत्युक्त्वा क्रियाकार-  
कफलरूपस्य संसारस्य दर्शितत्वाच्च वाजसनेयिब्राह्मणे । तथे-  
हापि देवताप्ययं संसारविषयं यत्फलमशनायादिमद्वस्त्वात्मकं  
तदुपसंहृत्य केवलं सर्वात्मकवस्तुविषयं ज्ञानममृतत्वाय व-  
क्ष्यामीति प्रवर्तते । ऋणप्रतिबन्धश्चाविदुष एव मनुष्यपि-  
तृदेवलोकप्राप्तिं प्रति, न विदुषः ; ‘ सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रे-  
णैव ’ इत्यादिलोकत्रयसाधननियमश्रुतेः । विदुषश्च ऋणप्रति-  
बन्धाभावो दर्शित आत्मलोकार्थिनः ‘ किं प्रजया करिष्यामः ’  
इत्यादिना । तथा ‘ एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः का-  
वषेयाः ’ इत्यादि ‘ एतद्ध स्म वै तत्पूर्वं विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुह-  
वांचक्रुः ’ इति च कौषीतकिनाम् । अविदुषस्तर्हि ऋणानपाकरणे  
पारिव्राज्यानुपपत्तिरिति चेत् ; न, प्राग्गार्हस्थ्यप्रतिपत्तेर्ऋणि-  
त्वासंभवादधिकारानारूढोऽपि ऋणी चेत्स्यात्, सर्वस्य ऋणि-  
त्वमित्यनिष्टं प्रसज्येत । प्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्यापि ‘ गृहाद्वनी भूत्वा  
प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा ’ इत्या-  
त्मदर्शनसाधनोपायत्वेनेष्यत एव पारिव्राज्यम् । यावज्जीवादि-  
श्रुतीनामविद्वदमुमुक्षुविषये कृतार्थता । छान्दोग्ये च केषां-

चिह्नादशरात्रमग्निहोत्रं हुत्वा तत ऊर्ध्वं परित्यागः श्रूयते ।  
यत्त्वनधिकृतानां पारिव्राज्यमिति, तन्न ; तेषां पृथगेव 'उत्स-  
न्नाभिरनभिको वा' इत्यादिश्रवणात् ; सर्वस्मृतिषु च अविशेषेण  
आश्रमविकल्पः प्रसिद्धः, समुच्चयश्च । यत्तु विदुषोऽर्थप्राप्तं  
व्युत्थानमित्यशास्त्रार्थत्वे, गृहे वने वा तिष्ठतो न विशेष  
इति, तदसत् । व्युत्थानस्यैवार्थप्राप्तत्वान्नान्यत्रावस्थानं स्यात् ।  
अन्यत्रावस्थानस्य कामकर्मप्रयुक्तत्वं ह्यवोचाम ; तदभावमात्रं  
व्युत्थानमिति च । यथाकामित्वं तु विदुषोऽत्यन्तमप्राप्तम्,  
अत्यन्तमूढविषयत्वेनावगमात् । तथा शास्त्रचोदितमपि  
कर्मात्मविदोऽप्राप्तं गुरुभारतयावगम्यते ; किमुत अत्यन्ता-  
विवेकनिमित्तं यथाकामित्वम् ? न ह्युन्मादतिमिरदृष्ट्युपलब्धं  
वस्तु तदपगमेऽपि तथैव स्यात्, उन्मादतिमिरदृष्टिनिमि-  
त्तत्वादेव तस्य । तस्मादात्मविदो व्युत्थानव्यतिरेकेण न  
यथाकामित्वम्, न चान्यत्कर्तव्यमित्येतत्सिद्धम् । यत्तु 'वि-  
द्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह' इति न विद्यावतो वि-  
द्यया सहाविद्यापि वर्तत इत्ययमर्थः ; कस्तर्हि ? एकस्मिन्पुरुषे  
एते न सह संबध्येयातामित्यर्थः ; यथा शुक्तिकायां रज-  
तशुक्तिकाज्ञाने एकस्य पुरुषस्य । 'दूरमेते विपरीते विषूची  
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता' इति हि काठके । तस्मान्न

विद्यायां सत्यामविद्यायाः संभवोऽस्ति । 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञा-  
सस्व' इत्यादिश्रुतेः । तपआदि विद्योत्पत्तिसाधनं गुरुरास-  
नादि च कर्म अविद्यात्मकत्वादविद्योच्यते । तेन विद्यामु-  
त्पाद्य मृत्युं काममतितरति । ततो निष्कामस्त्यक्तैषणो ब्रह्म-  
विद्यया अमृतत्वमश्नुत इत्येतमर्थं दर्शयन्नाह— 'अवि-  
द्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' इति । यत्तु पुरु-  
षायुः सर्वं कर्मणैव व्याप्तम्, 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीवि-  
षेच्छतः समाः' इति, तद्विद्वद्विषयत्वेन परिहृतम्, इतरथा  
असंभवात् । यत्तु वक्ष्यमाणमपि पूर्वोक्ततुल्यत्वात्कर्मणा  
अविरुद्धमात्मज्ञानमिति, तत्सविशेषनिर्विशेषात्मविषयतया  
प्रत्युक्तम्; उत्तरत्र व्याख्याने च दर्शयिष्यामः । अतः केवल-  
निष्क्रियब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रदर्शनार्थमुत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते ॥

**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।  
नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु  
सृजा इति ॥ १ ॥**

आत्मेति । आत्मा आप्रोतेरत्तेरततेर्वा परः सर्वज्ञः सर्व-  
शक्तिरशनायादिसर्वसंसारधर्मवर्जितो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभा-  
वोऽजोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयोऽद्वयो वै । इदं यदुक्तं नाम-



रूपकर्मभेदभिन्नं जगत् आत्मैव एकः अग्रे जगतः सृष्टेः प्राक् आसीत् । किं नेदानीं स एवैकः ? न । कथं तर्हि आसीदित्युच्यते ? यद्यपीदानीं स एवैकः, तथाप्यस्ति विशेषः । प्रागुत्पत्तेः अव्याकृतनामरूपभेदमात्मभूतमात्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं जगत् इदानीं व्याकृतनामरूपभेदत्वाद्नेकशब्दप्रत्ययगोचरमात्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं चेति विशेषः । यथा सलिलात्पृथक् फेननामरूपव्याकरणात्प्राक्सलिलैकशब्दप्रत्ययगोचरमेव फेनम्, यदा सलिलात्पृथङ् नामरूपभेदेन व्याकृतं भवति, तदा सलिलं फेनं चेति अनेकशब्दप्रत्ययभाक् सलिलमेवेति चैकशब्दप्रत्ययभाक्च फेनं भवति, तद्वत् । न अन्यत्किञ्चन न किञ्चिदपि मिषत् निमिषद्व्यापारवदितरद्वा । यथा सांख्यानामनात्मपक्षपाति स्वतन्त्रं प्रधानम्, यथा च काणादानामणवः, न तद्वदिहान्यदात्मनः किञ्चिदपि वस्तु विद्यते । किं तर्हि ? आत्मैवैक आसीदित्यभिप्रायः । सः सर्वज्ञस्वाभाव्यात् आत्मा एक एव सन् ईक्षत । ननु प्रागुत्पत्तेरकार्यकरणत्वात्कथमीक्षितवान् ? नायं दोषः, सर्वज्ञस्वाभाव्यात् । तथा च मन्त्रवर्णः— ‘अपाणिपादो जवनो ग्रहीता’ इत्यादिः । केनाभिप्रायेणेत्याह—‘लोकान् अम्भःप्रभृतीन्प्राणिकर्मफलोपभोगस्थानभूतान् नु सृजै सृजेऽहम् इति ॥

स इमाँल्लोकानसृजत । अम्भो मरीची-  
र्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रति-  
ष्ठान्तरिक्षं मरीचयः । पृथिवी मरो या  
अधस्तात्ता आपः ॥ २ ॥

एवमीक्षित्वा आलोच्य सः आत्मा इमान् लोकान् असृ-  
जत सृष्टवान् । यथेह बुद्धिमांस्तक्षादिः एवंप्रकारान्प्रासादादी-  
न्सृजे इतीक्षित्वा ईक्षानन्तरं प्रासादादीन्सृजति, तद्वत् ।  
ननु सोपादानस्तक्षादिः प्रासादादीन्सृजतीति युक्तम्; निरु-  
पादानस्त्वात्मा कथं लोकान्सृजतीति ? नैष दोषः । सलिल-  
फेनस्थानीये आत्मभूते नामरूपे अव्याकृते आत्मैकशब्दवा-  
च्ये व्याकृतफेनस्थानीयस्य जगतः उपादानभूते संभवतः ।  
तस्मादात्मभूतनामरूपोपादानभूतः सन् सर्वज्ञो जगन्निर्मिमी-  
ते इत्यविरुद्धम् । अथवा, विज्ञानवान्यथा मायावी निरुपा-  
दानः आत्मानमेव आत्मान्तरत्वेन आकाशेन गच्छन्तमिव  
निर्मिमीते, तथा सर्वज्ञो देवः सर्वशक्तिर्महामायः आत्मा-  
नमेव आत्मान्तरत्वेन जगद्रूपेण निर्मिमीते इति युक्ततरम् ।  
एवं च सति कार्यकारणोभयासद्वाद्यादिपक्षाश्च न प्रसज्यन्ते,  
सुनिराकृताश्च भवन्ति । कान् लोकान्सृजतेत्याह— अम्भो

मरीचीर्मरमापः इति । आकाशादिक्रमेण अण्डमुत्पाद्य  
 अम्भःप्रभृतीन् लोकानसृजत । तत्र अम्भःप्रभृतीन्स्व-  
 यमेव व्याचष्टे श्रुतिः । अदः तत् अम्भःशब्दवाच्यो  
 लोकः, परेण दिवं द्युलोकात्परेण परस्तात्, सोऽम्भःशब्द-  
 वाच्यः, अम्भोभरणात् । द्यौः प्रतिष्ठा आश्रयः तस्याम्भसो  
 लोकस्य । द्युलोकादधस्तात् अन्तरिक्षं यत्, तत् मरीचयः ।  
 एकोऽपि अनेकस्थानभेदत्वाद्वहुवचनभाक्— मरीचय इति ;  
 मरीचिभिर्वा रश्मिभिः संबन्धात् । पृथिवी मरः— म्रियन्ते  
 अस्मिन् भूतानीति । याः अधस्तात् पृथिव्याः, ताः आपः  
 उच्यन्ते, आप्रोतेः, लोकाः । यद्यपि पञ्चभूतात्मकत्वं लोका-  
 नाम्, तथापि अब्बाहुल्यात् अग्न्यामभिरेव अम्भो मरी-  
 चीर्मरमापः इत्युच्यन्ते ॥

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु  
 सृजा इति । सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्भू-  
 त्यामूर्च्छयत् ॥ ३ ॥

सर्वप्राणिकर्मफलोपादानाधिष्ठानभूतांश्चतुरो लोकान्सृष्ट्वा  
 सः ईश्वरः पुनरेव ईक्षत— इमे नु तु अम्भःप्रभृतयः मया  
 सृष्ट्वा लोकाः परिपालयितृवर्जिता विनश्येयुः; तस्मादेषां

रक्षणार्थं लोकपालान् लोकानां पालयितृन् नु सृजै सृजेऽहम्  
इति । एवमीक्षित्वा सः अद्भ्य एव अप्रधानेभ्य एव पञ्च-  
भूतेभ्यः, येभ्योऽम्भःप्रभृतीन्सृष्टवान्, तेभ्य एवेत्यर्थः,  
पुरुषं पुरुषाकारं शिरःपाण्यादिमन्तं समुद्धृत्य अद्भ्यः  
समुपादाय, मृत्पिण्डमिव कुलालः पृथिव्याः, अमूर्च्छयत् मू-  
र्च्छितवान्, संपिण्डितवान्स्वावयवसंयोजनेनेत्यर्थः ॥

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निर-  
भिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्ना-  
सिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः  
प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां  
चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां  
कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निर-  
भिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओष-  
धिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदया-  
न्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत  
नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्रं निर-  
भिद्यत शिश्राद्रेतो रेतस आपः ॥ ४ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

तं पिण्डं पुरुषविधमुद्दिश्य अभ्यतपत्, तदभिध्यानं संकल्पं कृतवानित्यर्थः, 'यस्य ज्ञानमयं तपः' इत्यादिश्रुतेः । तस्य अभितप्तस्य ईश्वरसंकल्पेन तपसाभितप्तस्य पिण्डस्य मुखं निरभिद्यत मुखाकारं सुषिरमजायत; यथा पक्षिणः अण्डं निर्भिद्यते एवम् । तस्माच्च निर्भिण्णात् मुखात् वाक् करणमिन्द्रियं निरवर्तत; तदधिष्ठाता अग्निः, ततो वाचः, लोकपालः । तथा नासिके निरभिद्येताम् । नासिकाभ्यां प्राणः, प्राणाद्वायुः; इति सर्वत्राधिष्ठानं करणं देवता च—त्रयं क्रमेण निर्भिण्णमिति । अक्षिणी, कर्णौ, त्वक्, हृदयमन्तःकरणाधिष्ठानम्, मनः अन्तःकरणम्; नाभिः सर्वप्राणबन्धनस्थानम् । अपानसंयुक्तत्वात् अपान इति पाय्विन्द्रियमुच्यते; तस्मात् तस्याधिष्ठात्री देवता मृत्युः । यथा अन्यत्र, तथा शिश्रं निरभिद्यत प्रजननेन्द्रियस्थानम् । इन्द्रियं रेतः रेतोविसर्गार्थत्वात्सह रेतसोच्यते । रेतस आपः इति ॥

इति प्रथमखण्डभाष्यम् ॥

## द्वितीयः खण्डः ॥

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्त्य-  
र्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्व-  
वार्जत्ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि  
यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १ ॥

ता एता अग्न्यादयो देवताः लोकपालत्वेन संकल्प्य सृ-  
ष्टा ईश्वरेण अस्मिन् संसारार्णवे संसारसमुद्रे महति अवि-  
द्याकामकर्मप्रभवदुःखोदके तीव्ररोगजरामृत्युमहाग्राहे अनादौ  
अनन्ते अपारे निरालम्बे विषयेन्द्रियजनितसुखलवलक्षणधि-  
श्रामे पञ्चेन्द्रियार्थतृणमारुतविक्षोभोत्थितानर्थशतमहोर्मौ महा-  
रौरवाद्यनेकनिरयगतहाहेत्यादिकूजिताक्रोशनोद्भूतमहारवे स-  
त्यार्जवदानदयार्हिसाशमदमधृत्याद्यात्मगुणपाथेयपूर्णज्ञानोद्भुपे  
सत्सङ्गसर्वत्यागमार्गे मोक्षतीरे एतस्मिन् महत्त्यर्णवे प्रापतन्  
पतितवत्यः । तस्मादग्न्यादिदेवताप्ययलक्षणापि या गति-  
व्याख्याता ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानफलभूता, सापि नालं सं-  
सारदुःखोपशमायेत्ययं विवक्षितोऽर्थोऽत्र । यत एवम्, त-

स्मादेवं विदित्वा, परं ब्रह्म, आत्मा आत्मनः सर्वभूतानां च, यो वक्ष्यमाणविशेषणः प्रकृतश्च जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारहेतुत्वेन, स सर्वसंसारदुःखोपशमनाय वेदितव्यः । तस्मात् ‘एष पन्था एतत्कर्मेतद्ब्रह्मैतत्सत्यम्’ यदेतत्परब्रह्मात्मज्ञानम्, ‘नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय’ इति मन्त्रवर्णात् । तं स्थानकरणदेवतोत्पत्तिबीजभूतं पुरुषं प्रथमोत्पादितं पिण्डमात्मानम् अशनायापिपासाभ्याम् अन्ववार्जत् अनुगमितवान् संयोजितवानित्यर्थः । तस्य कारणभूतस्य अशनायादिदोषवत्त्वात् तत्कार्यभूतानामपि देवतानामशनायादिमत्त्वम् । ताः ततः अशनायापिपासाभ्यां पीड्यमानाः एनं पितामहं स्रष्टारम् अब्रुवन् उक्तवत्यः । आयतनम् अधिष्ठानं नः अस्मभ्यं प्रजानीहि विधत्स्व, यस्मिन् आयतने प्रतिष्ठिताः समर्थाः सत्यः अन्नम् अदाम भक्षयाम इति ॥

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नो-  
ऽयमलमिति । ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रु-  
वन्न वै नोऽयमलमिति ॥ २ ॥

एवमुक्त ईश्वरः ताभ्यः देवताभ्यः गां गवाकृतिविशिष्टं पिण्डं ताभ्य एवाद्भ्यः पूर्ववत्पिण्डं समुद्धृत्य मूर्छयित्वा आ-

नयत् दर्शितवान् । ताः पुनः गवाकृतिं दृष्ट्वा अब्रुवन् । न  
वै नः अस्मदर्थम् अधिष्ठाय अन्नमत्तुम् अयं पिण्डः अलं न  
वै । अलं पर्याप्तः । अत्तुं न योग्य इत्यर्थः । गवि प्रत्याख्या-  
ते तथैव ताभ्यः अश्वम् आनयत् । ता अब्रुवन्—न वै नो-  
ऽयमलमिति, पूर्ववत् ॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन्सु कृतं  
बतेति पुरुषो वाव सुकृतम् । ता अब्रवी-  
द्यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥

सर्वप्रत्याख्याने ताभ्यः पुरुषमानयत् स्वयोनिभूतम् ।  
ताः स्वयोनिं पुरुषं दृष्ट्वा अखिन्नाः सत्यः सु कृतं शोभनं  
कृतम् इदमधिष्ठानं बत इति अब्रुवन् । तस्मात्पुरुषो वाव  
पुरुष एव सुकृतम्, सर्वपुण्यकर्महेतुत्वात्; स्वयं वा स्वेनैवा-  
त्मना स्वमायाभिः कृतत्वात्सुकृतमित्युच्यते । ताः देवताः  
ईश्वरः अब्रवीत् इष्टमासामिदमधिष्ठानमिति मत्वा—सर्वे हि  
स्वयोनिषु रमन्ते; अतः यथायतनं यस्य यत् वदनादिक्रिया-  
योग्यमायतनम्, तत् प्रविशत इति ॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्रा-  
णो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भू-



स्वाक्षिणी प्राविशदिशः श्रोत्रं भूत्वा क-  
र्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि  
भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा  
हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं  
प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्रुं प्रावि-  
शन् ॥ ४ ॥

तथास्त्वित्यनुज्ञां प्रतिलभ्येश्वरस्य नगर्यामिव बलाधिकृता-  
दयः अग्निः वागभिमानी वागेव भूत्वा स्वयोनिं मुखं प्रा-  
विशत् तथोक्तार्थमन्यत् । वायुर्नासिके, आदित्योऽक्षिणी, दि-  
शः कर्णौ, ओषधिवनस्पतयस्त्वचम्, चन्द्रमा हृदयम्, मृ-  
त्युर्नाभिम्, आपः शिश्रुम्, प्राविशन् ॥

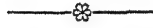
तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्याम-  
भिप्रजानीहीति । ते अब्रवीदेतास्वेव वां  
देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करो-  
मीति । तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै ह-  
विर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापि-  
पासे भवतः ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

एवं लब्धाधिष्ठानासु देवतासु निरधिष्ठाने सत्यौ अशना-  
यापिपासे तम् ईश्वरम् अब्रूताम् उक्तवत्यौ—आवाभ्याम् अ-  
धिष्ठानम् अभिप्रजानीहि चिन्तय विधत्स्वेत्यर्थः । स ईश्व-  
र एवमुक्तः ते अशनायापिपासे अब्रवीत् । न हि युवयो-  
र्भारूपत्वाच्चेतनावद्वस्त्वनाश्रित्य अन्नात्तृत्वं संभवति । तस्मा-  
त् एतास्वेव अग्न्याद्यासु वां युवां देवतासु अध्यात्माधिदेव-  
तासु आभजामि वृत्तिसंविभागेनानुगृह्णामि । एतासु भागि-  
न्यौ यद्देवत्यो यो भागो हविरादिलक्षणः स्यात्, तस्यास्तेनैव  
भागेन भागिन्यौ भागवत्यौ वां करोमीति । सृष्ट्यादावीश्वर  
एवं व्यदधाद्यस्मात्, तस्मात् इदानीमपि यस्यै कस्यै च देव-  
तायै देवताया अर्थाय हविर्गृह्यते चरुपुरोडाशादिलक्षणं भा-  
गिन्यौ एव भागवत्यावेव अस्यां देवतायाम् अशनायापिपासे  
भवतः ॥

इति द्वितीयखण्डभाष्यम् ॥

## तृतीयः खण्डः ॥



स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चा-  
न्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥

सः एवमीश्वरः ईक्षत । कथम्? इमे नु लोकाश्च लोक-  
पालाश्च मया सृष्टाः, अशनायापिपासाभ्यां च संयोजिताः ।  
अतो नैषां स्थितिरन्नमन्तरेण । तस्मात् अन्नम् एभ्यः लोक-  
पालेभ्यः सृजै सृजे इति । एवं हि लोके ईश्वराणामनुग्रहे  
निग्रहे च स्वातन्त्र्यं दृष्टं स्वेषु । तद्वन्महेश्वरस्यापि सर्वेश्वर-  
त्वात्सर्वान्प्रति निग्रहे अनुग्रहे च स्वातन्त्र्यमेव ॥

सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मू-  
र्तिरजायत । या वै सा मूर्तिरजायतान्नं  
वै तत् ॥ २ ॥

सः ईश्वरः अन्नं सिसृक्षुः ता एव पूर्वोक्ता अपः उद्दिश्य  
अभ्यतपत् । ताभ्यः अभितप्ताभ्यः उपादानभूताभ्यः मूर्तिः  
घनरूपं धारणसमर्थं चराचरलक्षणम् अजायत उत्पन्नम् ।  
अन्नं वै तत् मूर्तिरूपं या वै सा मूर्तिरजायत ॥

तदेनदभिसृष्टं पराङ्मयजिघांसत्तद्वा-  
चाजिघृक्षत्तन्नाशकोद्वाचा ग्रहीतुम् । स  
यद्वैनद्वाचाग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नम-  
त्रप्स्यत् ॥ ३ ॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशकोत्प्राणेन ग्र-  
हीतुम् । स यद्वैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभि-  
प्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ४ ॥

तच्चक्षुषाजिघृक्षत्तन्नाशकोच्चक्षुषा ग्र-  
हीतुम् । स यद्वैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद्दृष्ट्वा है-  
वान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशकोच्छ्रोत्रेण  
ग्रहीतुम् । स यद्वैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छु-  
त्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥

तत्त्वचाजिघृक्षत्तन्नाशकोत्त्वचा ग्रही-  
तुम् । स यद्वैनत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवा-  
न्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥

तन्मनसाजिघृक्षत्तन्नाशक्रोन्मनसा ग्र-  
हीतुम् । स यद्वैनन्मनसाग्रहैष्यद्व्या-  
त्वा हैवान्नमन्नप्स्यत् ॥ ८ ॥

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्रोच्छिश्नेन  
ग्रहीतुम् । स यद्वैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विमृ-  
ज्य हैवान्नमन्नप्स्यत् ॥ ९ ॥

तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत् । सैषोऽन्न-  
स्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥

तदेनत् अन्नं लोकलोकपालान्नाथ्यभिमुखे सृष्टं सत्, यथा  
मूषकादिर्मार्जारादिगोचरे सन्, मम मृत्युरन्नाद इति मत्वा  
परागञ्चतीति पराङ् पराक्सत् अतृन् अतीत्य अजिघांसत् अ-  
तिगन्तुमैच्छत्, पलायितुं प्रारभतेत्यर्थः । तमन्नाभिप्रायं मत्वा  
स लोकलोकपालसंघातकार्यकरणलक्षणः पिण्डः प्रथमज-  
त्वादन्वांश्चान्नादानपश्यन्, तत् अन्नं वाचा वदनव्यापारेण  
अजिघृक्षत् ग्रहीतुमैच्छत् । तत् अन्नं नाशक्रोत् न समर्थोऽभ-  
वत् वाचा वदनक्रियया ग्रहीतुम् उपादातुम् । सः प्रथमजः  
शरीरी यत् यदि ह एनत् वाचा अग्रहैष्यत् गृहीतवान्स्यात्

अन्नम् , सर्वोऽपि लोकः तत्कार्यभूतत्वात् अभिव्याहृत्य हैव अ-  
न्नम् अन्नप्यत् तृप्नोऽभविष्यत् । न चैतदस्ति । अतो नाशक्रोद्धा-  
चा ग्रहीतुमित्यवगच्छामः पूर्वजोऽपि । समानमुत्तरम् । तत्प्रा-  
णेन तच्चक्षुषा तच्छ्रोत्रेण तत्त्वचा तन्मनसा तच्छिश्नेन तेन  
तेन करणव्यापारेण अन्नं ग्रहीतुमशक्नुवन्पश्चात् अपानेन  
वायुना मुखच्छिद्रेण तत् अन्नम् अजिघृक्षत् , तदावयत् तदन्न-  
मेवं जग्राह अशितवान् । तेन स एषः अपानवायुः अन्नस्य  
ग्रहः अन्नग्राहक इत्येतत् । यद्वायुः यो वायुरन्नायुः अन्नब-  
न्धनोऽन्नजीवनो वै प्रसिद्धः, स एष यो वायुः ॥

स ईक्षत कथं न्विदं महते स्यादिति  
स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति स ईक्षत  
यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभि-  
प्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण  
श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा  
ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन  
विमृष्टमथ कोऽहमिति ॥ ११ ॥

सः एवं लोकलोकपालसंघातस्थितिम् अन्ननिमित्तां कृत्वा  
पुरपौरतत्पालयितृस्थितिसमां स्वामीव ईक्षत— कथं नु केन

प्रकारेण नु इति वितर्कयन्, इदं मत् ऋते मामन्तरेण पुरस्वामि-  
नम्; यदिदं कार्यकरणसंघातकार्यं वक्ष्यमाणं कथं नु खलु  
मामन्तरेण स्यात् परार्थं सत् । यदि वाचाभिव्याहृतमि-  
त्यादि केवलमेव वाग्व्यवहरणादि, तन्निरर्थकं न कथंचन  
भवेत् बलिस्तुत्यादिवत् । पौरबन्धादिभिः प्रयुज्यमानं स्वा-  
म्यर्थं सत्स्वामिनमन्तरेण असत्येव स्वामिनि, तद्वत् ।  
तस्मान्मया परेण स्वामिना अधिष्ठात्रा कृताकृतफलसाक्षि-  
भूतेन भोक्त्रा भवितव्यं पुरस्येव राज्ञा । यदि नामैतत्संहत-  
कार्यस्य परार्थत्वम्, परार्थिनं मां चेतनं त्रातारमन्तरेण भवेत्,  
पुरपौरकार्यमिव तत्स्वामिनम् । अथ कोऽहं किंस्वरूपः कस्य  
वा स्वामी ? यद्यहं कार्यकरणसंघातमनुप्रविश्य वागाद्यभि-  
व्याहृतादिफलं नोपलभेय राजेव पुरमाविश्याधिकृतपुरुषकृ-  
ताकृतादिलक्षणम्, न कश्चिन्माम् अयं सन् एवरूपश्च इत्यधिग-  
च्छेद्विचारयेत् । विपर्यये तु, योऽयं वागाद्यभिव्याहृतादीदमिति  
वेद, स सन् वेदनरूपश्च इत्यधिगन्तव्योऽहं स्याम्, यदर्थमिदं  
संहतानां वागादीनामभिव्याहृतादि । यथा स्तम्भकुड्यादीनां  
प्रासादादिसंहतानां स्वावयवैरसंहतपरार्थत्वम्, तद्वदिति ।  
एवमीक्षित्वा अतः कतरेण प्रपद्या इति । प्रपदं च मूर्धा  
च अस्य संघातस्य प्रवेशमार्गौ; अनयोः कतरेण मार्गेणैदं

कार्यकरणसंघातलक्षणं पुरं प्रपद्यै प्रपद्ये इति ॥

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा  
प्रापद्यत । सैषा विद्वतिर्नाम द्वास्तदेत-  
न्नानन्दनम् । तस्य त्रय आवसथास्त्रयः  
स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमाव-  
सथ इति ॥ १२ ॥

एवमीक्षित्वा न तावन्मद्भृत्यस्य प्राणस्य मम सर्वार्थाधि-  
कृतस्य प्रवेशमार्गेण प्रपदाभ्यामधः प्रपद्ये । किं तर्हि, पारि-  
शेष्यादस्य मूर्धानं विदार्य प्रपद्ये इति लोक इव ईक्षित-  
कारी य स्तृष्टेश्वरः, स एतमेव मूर्धसीमानं केशविभागावसानं  
विदार्य च्छिद्रं कृत्वा एतया द्वारा मार्गेण इमं कार्यका-  
रणसंघातं प्रापद्यत प्रविवेश । सेयं हि प्रसिद्धा द्वाः, मूर्ध्नि  
तैलादिधारणकाले अन्तस्तद्रसादिसंवेदनात् । सैषा विद्वतिः  
विदारितत्वाद्विद्वतिर्नाम प्रसिद्धा द्वाः । इतराणि तु श्रोत्रा-  
दिद्वाराणि भृत्यादिस्थानीयसाधारणमार्गत्वाच्च समृद्धीनि  
नानन्दहेतूनि । इदं तु द्वारं परमेश्वरस्यैव केवलस्येति ।  
तदेतत् नानन्दनं नन्दनमेव । नानन्दनमिति दैर्घ्यं छान्दसम् ।



नन्दत्यनेन द्वारेण गत्वा परस्मिन्ब्रह्मणीति । तस्यैवं सृष्ट्वा  
 प्रविष्टस्यानेन जीवेनात्मना राज्ञ इव पुरम्, त्रय आवसथाः—  
 जागरितकाले इन्द्रियस्थानं दक्षिणं चक्षुः, स्वप्नकाले अन्त-  
 र्मनः, सुषुप्तिकाले हृदयाकाश इत्येते; वक्ष्यमाणा वा त्रय  
 आवसथाः— पितृशरीरं मातृगर्भाशयः स्वं च शरीरमिति ।  
 त्रयः स्वप्ना जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्याः । ननु जागरितं प्रबोध-  
 रूपत्वान्न स्वप्नः । नैवम्; स्वप्न एवं । कथम्? परमार्थस्वात्म-  
 प्रबोधाभावात् स्वप्नवदसद्वस्तुदर्शनाच्च । अयमेव आवसथश्च-  
 क्षुर्दक्षिणं प्रथमः । मनोऽन्तरं द्वितीयः । हृदयाकाशस्तृतीयः ।  
 अयमावसथः इत्युक्तानुकीर्तनमेव । तेषु ह्ययमावसथेषु पर्या-  
 येणात्मभावेन वर्तमानोऽविद्यया दीर्घकालं गाढं प्रसुप्तः  
 स्वाभाविक्या, न प्रबुध्यतेऽनेकशतसहस्रानर्थसंनिपादजदुः-  
 खमुद्राभिघातानुभवैरपि ॥

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत्किमिहा-  
 न्यं वावदिषदिति । स एतमेव पुरुषं ब्रह्म  
 ततममपश्यदिदमदर्शमिती३ ॥ १३ ॥

स जातः शरीरे प्रविष्टो जीवात्मना भूतानि अभिव्यै-  
 ख्यत् व्याकरोत् । स कदाचित्परमकारुणिकेन आचार्येणा-

त्मज्ञानप्रबोधकृच्छब्दिकायां वेदान्तमहाभेद्यां तत्कर्णमूले  
ताड्यमानायाम्, एतमेव सृष्ट्यादिकर्तृत्वेन प्रकृतं पुरुषं  
पुरि शयानमात्मानं ब्रह्म बृहत् ततमं तकारेणैकेन लुप्तेन  
तततमं व्याप्ततमं परिपूर्णमाकाशवत् प्रत्यबुध्यत अपश्यत् ।  
कथम् ? इदं ब्रह्म मम आत्मनः स्वरूपमदर्शं दृष्टवानस्मि ।  
अहो इति । विचारणार्था प्लुतिः पूर्वम् ॥

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम  
तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परो-  
क्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्ष-  
प्रिया इव हि देवाः ॥ १४ ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

यस्मादिदमित्येव यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म सर्वान्तरमपश्यत्  
न परोक्षेण, तस्मात् इदं पश्यतीति इदन्द्रो नाम परमात्मा ।  
इदन्द्रो ह वै नाम प्रसिद्धो लोके ईश्वरः । तम् एवम् इदन्द्रं  
सन्तम् इन्द्र इति परोक्षेण परोक्षाभिधानेन आचक्षते ब्रह्म-  
विदः संव्यवहारार्थं पूज्यतमत्वात्प्रत्यक्षनामग्रहणभयात् ।

तथा हि परोक्षप्रियाः परोक्षनामग्रहणप्रिया इव एव हि  
 यस्मात् देवाः । किमुत सर्वदेवानामपि देवो महेश्वरः । द्विर्व-  
 चनं प्रकृताध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्द-  
 भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ  
 ऐतरेयोपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥

# ऐतरेयोपनिषद्भाष्यम्

द्वितीयोऽध्यायः



## द्वितीयोऽध्यायः ॥

—\*—



स्मिन्नध्याये एष वाक्यार्थः—

जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकृदसंसारी सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्ववित्सर्वमिदं जगत्स्वतोऽन्यद्वस्त्वन्तरमनुपादायैव आकाशादिक्रमेण सृष्ट्वा स्वात्मप्रबोधनार्थं सर्वाणि च प्राणादिमच्छरी-

राणि स्वयं प्रविवेश; प्रविश्य च स्वमात्मानं यथाभूतमिदं ब्रह्मास्मीति साक्षात्प्रत्यबुध्यत; तस्मात्स एव सर्वशरीरेष्वेक एवात्मा, नान्य इति । अन्योऽपि 'स म आत्मा ब्रह्मास्मीत्येवं विद्यात्' इति 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' 'ब्रह्म तत्तमम्' इति चोक्तम् । अन्यत्र च सर्वगतस्य सर्वात्मनो बालाग्रमात्रमप्यप्रविष्टं नास्तीति कथं सीमानं विदार्य प्रापद्यत पिपीलिकेव सुषिरम्? नन्वत्यल्पमिदं चोद्यम् । बहु चात्र चोदयितव्यम् । अकरणः सन्नीक्षत । अनुपादाय किञ्चिन्नोकानसृजत । अद्भ्यः पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् । तस्या-

भिध्यानान्मुखादि निर्भिन्नं मुखादिभ्यश्चाग्न्यादयो लोक-  
पालाः । तेषां चाशनायादिसंयोजनं तदायतनप्रार्थनं तदर्थं  
गवादिप्रदर्शनं तेषां च यथायतनप्रवेशनं सृष्टस्यान्नस्य पला-  
यनं वागादिभिस्तज्जिघृक्षेति । एतत्सर्वं सीमाविदारणप्रवेश-  
सममेव ॥

अस्तु तर्हि सर्वमेवेदमनुपपन्नम् । न, अत्रात्मावबोधमात्रस्य  
विवक्षितत्वात्सर्वोऽयमर्थवाद इत्यदोषः । मायाविवद्धा ; महा-  
मायावी देवः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वमेतच्चकार सुखावबोधप्र-  
तिपत्त्यर्थं लोकवदाख्यायिकादिप्रपञ्च इति युक्ततरः पक्षः ।  
न हि सृष्ट्याख्यायिकादिपरिज्ञानात्किञ्चित्फलमिष्यते । ऐका-  
त्म्यस्वरूपपरिज्ञानात्तु अमृतत्वं फलं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम् ।  
स्मृतिषु च गीताद्यासु ‘समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्’  
इत्यादिना । ननु त्रय आत्मानो भोक्ता कर्ता संसारी  
जीव एकः सर्वलोकशास्त्रप्रसिद्धः । अनेकप्राणिकेर्मफलोपभो-  
गयोग्यानेकाधिष्ठानवल्लोकदेहनिर्माणेन लिङ्गेन यथाशास्त्र-  
प्रदर्शितेन पुरप्रासादादिनिर्माणलिङ्गेन तद्विषयकौशलज्ञान-  
वांस्तत्कर्ता तक्षादिरिव ईश्वरः सर्वज्ञो जगतः कर्ता  
द्वितीयश्चेतन आत्मा अवगम्यते । ‘यतो वाचो निवर्त-  
न्ते’ ‘नेति नेति’ इत्यादिशास्त्रप्रसिद्ध औपनिषदः पुरुषस्तु-

तीयः । एवमेते त्रय आत्मानोऽन्योन्यविलक्षणाः । तत्र कथ-  
मेक एवात्मा अद्वितीयः असंसारीति ज्ञातुं शक्यते ? तत्र  
जीव एव तावत्कथं ज्ञायते ? नन्वेवं ज्ञायते श्रोता मन्ता द्रष्टा  
आदेष्टाघोष्टा विज्ञाता प्रज्ञातेति । ननु विप्रतिषिद्धं ज्ञायते  
यः श्रवणादिकर्तृत्वेन अमतो मन्ता अविज्ञातो विज्ञाता इति  
च । तथा 'न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं वि-  
जानीयाः' इत्यादि च । सत्यं विप्रतिषिद्धम्, यदि प्रत्यक्षेण  
ज्ञायेत सुखादिवत् । प्रत्यक्षज्ञानं च निवार्यते 'न मतेर्मन्ता-  
रम्' इत्यादिना । ज्ञायते तु श्रवणादिलिङ्गेन; तत्र कुतो वि-  
प्रतिषेधः ? ननु श्रवणादिलिङ्गेनापि कथं ज्ञायते, यावता यदा  
शृणोत्यात्मा श्रोतव्यं शब्दम्, तदा तस्य श्रवणक्रियैव वर्त-  
मानत्वान्मननविज्ञानक्रिये न संभवत आत्मनि परत्र वा । त-  
था अन्यत्रापि मननादिक्रियासु । श्रवणादिक्रियाश्च स्वविषये-  
ष्वेव । न हि मन्तव्यादन्यत्र मन्तुः मननक्रिया संभवति । ननु  
मनसः सर्वमेव मन्तव्यम् । सत्यमेवम्; तथापि सर्वमपि  
मन्तव्यं मन्तारमन्तरेण न मन्तुं शक्यम् । यद्येवं किं स्यात् ?  
इदमत्र स्यात्— सर्वस्य योऽयं मन्ता, स मन्तैवेति न स  
मन्तव्यः स्यात् । न च द्वितीयो मन्तुर्मन्तास्ति । यदा स  
आत्मनैव मन्तव्यः, तदा येन च मन्तव्य आत्मा आत्मना,



यश्च मन्तव्य आत्मा, तौ द्वौ प्रसज्येयाताम् । एक एव आत्मा द्विधा मन्तृमन्तव्यत्वेन द्विशकलीभवेद्वंशादिवत्, उभयथाप्यनुपपत्तिरेव । यथा प्रदीपयोः प्रकाश्यप्रकाशकत्वानुपपत्तिः, समत्वान्, तद्वत् । न च मन्तुर्मन्तव्ये मननव्यापारशून्यः कालेऽस्त्यात्ममननाय । यदापि लिङ्गेनात्मानं मनुते मन्ता, तदापि पूर्ववदेव लिङ्गेन मन्तव्य आत्मा, यश्च तस्य मन्ता, तौ द्वौ प्रसज्येयाताम्; एक एव वा द्विधेति पूर्वोक्तो दोषः । न प्रत्यक्षेण, नाप्यनुमानेन ज्ञायते चेत्, कथमुच्यते 'स म आत्मेति विद्यात्' इति, कथं वा श्रोता मन्तेत्यादि? ननु श्रोतृत्वादिधर्मवानात्मा, अश्रोतृत्वादि च प्रसिद्धमात्मनः; किमत्र विषमं पश्यसि? यद्यपि तव न विषमम्; तथापि मम तु विषमं प्रतिभाति । कथम्? यदासौ श्रोता, तदा न मन्ता; यदा मन्ता, तदा न श्रोता । तत्रैवं सति, पक्षे श्रोता मन्ता, पक्षे न श्रोता नापि मन्ता । तथा अन्यत्रापि च । यदैवम्, तदा श्रोतृत्वादिधर्मवानात्मा अश्रोतृत्वादिधर्मवान्वेति संशयस्थाने कथं तव न वैषम्यम्? यदा देवदत्तो गच्छति, तदा न स्थाता, गन्तैव । यदा तिष्ठति, न गन्ता, स्थातैव; तदास्य पक्ष एव गन्तृत्वं स्थातृत्वं च, न नित्यं गन्तृत्वं स्थातृत्वं वा, तद्वत् । तथैवात्र काणा-

दादयः पश्यन्ति । पक्षप्राप्तेनैव श्रोतृत्वादिना आत्मोच्यते  
 श्रोता मन्तेत्यादिवचनात् । संयोगजत्वमयौगपद्यं च ज्ञानस्य  
 ह्याचक्षते । दर्शयन्ति च अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्  
 इत्यादि युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति च न्याय्य-  
 म् । भवत्वेवं किं तव नष्टं यद्येवं स्यात् ? अस्त्वेवं  
 तवेष्टं चेत् ; श्रुत्यर्थस्तु न संभवति । किं न श्रोता  
 मन्तेत्यादिश्रुत्यर्थः ? न, न श्रोता न मन्तेत्यादिवचना-  
 त् । ननु पाक्षिकत्वेन प्रत्युक्तं त्वया ; न, नित्यमेव  
 श्रोतृत्वाद्यभ्युपगमात्, 'न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो  
 विद्यते' इत्यादिश्रुतेः । एवं तर्हि नित्यमेव श्रोतृत्वाद्य-  
 भ्युपगमे, प्रत्यक्षविरुद्धा युगपज्ज्ञानोत्पत्तिः अज्ञानाभाव-  
 आत्मनः कल्पितः स्यात् । तच्चानिष्टमिति । नोभयदोषोपप-  
 त्तिः, आत्मनः श्रुत्यादिश्रोतृत्वादिधर्मवत्त्वश्रुतेः । अनित्यानां  
 मूर्तानां च चक्षुरादीनां दृष्ट्याद्यनित्यमेव संयोगवियोगधर्मि-  
 णाम् । यथा अग्नेर्ज्वलनं तृणादिसंयोगजत्वात्, तद्वत् । न  
 तु नित्यस्यामूर्तस्यासंयोगविभागधर्मिणः संयोगजदृष्ट्याद्य-  
 नित्यधर्मवत्त्वं संभवति । तथा च श्रुतिः 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्वि-  
 परिलोपो विद्यते' इत्याद्या । एवं तर्हि द्वे दृष्टी चक्षुषोऽनि-  
 त्या दृष्टिः, नित्या चात्मनः । तथा च द्वे श्रुती श्रोत्रस्या-

नित्या, नित्या चात्मस्वरूपस्य । तथा द्वे मती विज्ञाती बा-  
 ह्याबह्ये । एवं ह्येव चेयं श्रुतिरुपपन्ना भवति— ‘दृष्टेर्द्रष्टा  
 श्रुतेः श्रोता’ इत्याद्या । लोकेऽपि प्रसिद्धं चक्षुषस्तिमिराग-  
 मापाययोः नष्टा दृष्टिः जाता दृष्टिः इति चक्षुर्दृष्टेरनित्यत्वम् ।  
 तथा च श्रुतिमत्यादीनामात्मदृष्ट्यादीनां च नित्यत्वं प्रसिद्ध-  
 मेव लोके । वदति ह्युद्धृतचक्षुः स्वप्नेऽद्य मया भ्राता दृष्ट  
 इति । तथा अवगतबाधिर्यः स्वप्ने श्रुतो मन्त्रोऽद्येत्यादि । य-  
 दि चक्षुःसंयोगजैवात्मनो नित्या दृष्टिस्तन्नाशे नश्येत्, तदा  
 उद्धृतचक्षुः स्वप्ने नीलपीतादि न पश्येत् । ‘न हि द्रष्टुर्दृष्टेः’  
 इत्याद्या च श्रुतिः अनुपपन्ना स्यात् । ‘तच्चक्षुः पुरुषे येन स्वप्नं  
 पश्यति’ इत्याद्या च श्रुतिः । नित्या आत्मनो दृष्टिर्बाह्यानि-  
 त्यदृष्टेर्ग्राहिका । बाह्यदृष्टेश्च उपजनापायाद्यनित्यधर्मवत्त्वात्  
 ग्राहिकाया आत्मदृष्टेस्तद्वदवभासत्वमनित्यत्वादि भ्रान्तिनि-  
 मित्तं लोकस्येति युक्तम् । यथा भ्रमणादिधर्मवदलातादिवस्तु-  
 विषयदृष्टिरपि भ्रमतीव, तद्वत् । तथा च श्रुतिः ‘ध्यायती-  
 व लेलायतीव’ इति । तस्मादात्मदृष्टेर्नित्यत्वान्न यौगपद्यम-  
 यौगपद्यं वा अस्ति । बाह्यानित्यदृष्ट्युपाधिवशात्तु लोकस्य  
 तार्किकाणां च आगमसंप्रदायवर्जितत्वात् अनित्या आत्मनो  
 दृष्टिरिति भ्रान्तिरुपपन्नैव । जीवेश्वरपरमात्मभेदकल्पना च

एतन्निमित्तैव । तथा अस्ति, नास्ति, इत्याद्याश्च यावन्तो वा-  
ङ्मनसयोर्भेदा यत्रैकं भवन्ति, तद्विषयाया नित्याया दृष्टेर्नि-  
र्विशेषायाः । अस्ति नास्ति, एकं नाना, गुणवदगुणम्, जा-  
नाति न जानाति, क्रियावदक्रियम्, फलवदफलम्, सबीजं  
निर्बीजम्, सुखं दुःखम्, मध्यममध्यम्, शून्यमशून्यम्, प-  
रोऽहमन्यः, इति वा सर्ववाकप्रत्ययागोचरे स्वरूपे यो विक-  
ल्पयितुमिच्छति, स नूनं खमपि चर्मवद्वेष्टयितुमिच्छति,  
सोपानमिव च पद्भ्यामारोढुम्; जले खे च मीनानां व-  
यसां च पदं दिदृक्षते; 'नेति नेति' 'यतो वाचो निवर्तन्ते'  
इत्यादिश्रुतिभ्यः, 'को अद्धा वेद' इत्यादिमश्रवणात् ।

कथं तर्हि तस्य स म आत्मेति वेदनम्; ब्रूहि केन  
प्रकारेण तमहं स म आत्मेति विद्याम् । अत्राख्यायि-  
कामाचक्षते— कश्चित्किल मनुष्यो मुग्धः कैश्चिदुक्तः क-  
स्मिंश्चिदपराधे सति धिक्त्वां नासि मनुष्य इति । स  
मुग्धतया आत्मनो मनुष्यत्वं प्रत्याययितुं कंचिदुपेत्याह—  
ब्रवीतु भवान्कोऽहमस्मीति । स तस्य मुग्धतां ज्ञात्वा  
आह— क्रमेण बोधयिष्यामीति । स्थावराद्यात्मभावम-  
पोह्य न त्वममनुष्य इत्युक्तवोपरराम । स तं मुग्धः  
प्रत्याह— भवान्मां बोधयितुं प्रवृत्तस्तूष्णीं बभूव, किं न

बोधयतीति । तादृगेव तद्भवतो वचनम् । नास्यमनुष्य इत्यु-  
 क्तेऽपि मनुष्यत्वमात्मनो न प्रतिपद्यते यः, स कथं मनु-  
 ष्योऽसीत्युक्तोऽपि मनुष्यत्वमात्मनः प्रतिपद्येत ? तस्माद्यथा-  
 शास्त्रोपदेश एवास्मावबोधविधिः, नान्यः । न ह्यग्नेर्दाहं  
 नृणादि अन्येन केनचिद्गुणं शक्यम् । अत एव शास्त्रमात्म-  
 स्वरूपं बोधयितुं प्रवृत्तं सत् अमनुष्यत्वप्रतिषेधेनेव 'नेति  
 नेति' इत्युक्त्योपरराम । तथा 'अनन्तरमबाह्यम्' 'अयमात्मा  
 ब्रह्म सर्वानुभूः' इत्यनुशासनम् ; 'तत्त्वमसि' 'यत्र  
 त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्येवमाद्यपि च ।  
 यावदयमेव यथोक्तमिममात्मानं न वेत्ति, तावदयं बाह्या-  
 नित्यदृष्टिलक्षणमुपाधिमात्मत्वेनोपेत्य अविद्यया उपाधिधर्मा-  
 नात्मनो मन्यमानो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु स्थानेषु पुनः पुन-  
 रावर्तमानः अविद्याकामकर्मवशात्संसरति । स एवं संस-  
 रन् उपात्तदेहेन्द्रियसंघातं त्यजति । त्यक्त्वा अन्यमुपादत्ते ।  
 पुनः पुनरेवमेव नदीस्रोतोवज्जन्ममरणप्रबन्धाविच्छेदेन वर्त-  
 मानः काभिरवस्थाभिर्वर्तते इत्येतमर्थं दर्शयन्त्याह श्रुतिः  
 वैराग्यहेतोः—

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति ।

यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभू-

तमात्मन्येवात्मानं विभर्ति तद्यथा स्त्रियां  
सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं  
जन्म ॥ १ ॥

अयमेवाविद्याकामकर्माभिमानवान् यज्ञादिकर्म कृत्वा अस्माल्लोकाद्भूमादिक्रमेण चन्द्रमसं प्राप्य क्षीणकर्मा वृष्ट्यादिक्रमेण इमं लोकं प्राप्य अन्नभूतः पुरुषाम्नौ हुतः । तस्मिन्पुरुषे ह वै अयं संसारी रसादिक्रमेण आदितः प्रथमतः रेतोरूपेण गर्भो भवतीति एतदाह— यदेतत्पुरुषे रेतः, तेन रूपेणेति । तच्च एतत् रेतः अन्नमयस्य पिण्डस्य सर्वेभ्यः अङ्गेभ्यः अवयवेभ्यो रसादिलक्षणेभ्यः तेजः साररूपं शरीरस्य संभूतं परिनिष्पन्नं तत् पुरुषस्य आत्मभूतत्वादात्मा, तमात्मानं रेतोरूपेण गर्भीभूतम् आत्मन्येव स्वशरीर एव आत्मानं विभर्ति धारयति । तत् रेतः स्त्रियां सिञ्चति यदा, यदा यस्मिन्काले भार्या ऋतुमती तस्यां योषाम्नौ स्त्रियां सिञ्चति उपगच्छन्, अथ तदा एनत् एतद्रेतः आत्मनो गर्भरूपं जनयति पिता । तत् अस्य पुरुषस्य स्थानान्निर्गमनं रेतःसेककाले रेतोरूपेण अस्य संसारिणः प्रथमं जन्म प्रथमावस्थाभिव्यक्तिः । तदेतदुक्तं पुरस्तात् ‘असावात्मा अमुमात्मानम्’ इत्यादिना ॥

तस्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा  
स्वमङ्गं तथा । तस्मादेनां न हिनस्ति सा-  
स्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति ॥ २ ॥

तत् रेतः यस्यां स्त्रियां सिक्तं सत्तस्याः स्त्रियाः आत्मभूयम्  
आत्माव्यतिरेकतां यथा पितुः एवं गच्छति प्राप्नोति यथा स्वमङ्गं  
स्तनादि, तथा तद्वदेव । तस्माद्धेतोः एनां मातरं स गर्भो न  
हिनस्ति पिटकादिवत् । यस्मात्स्तनादि स्वाङ्गवदात्मभूयं गत-  
म्, तस्मान्न हिनस्ति न बाधत इत्यर्थः । सा अन्तर्वर्ती  
एतम् अस्य भर्तुरात्मानम् अत्र आत्मन उदरे गतं प्रविष्टं  
बुद्ध्वा भावयति वर्धयति परिपालयति गर्भविरुद्धाशनादि-  
परिहारम् अनुकूलाशनाद्युपयोगं च कुर्वती ॥

सा भावयित्री भावयितव्या भवति  
तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं  
जन्मनोऽग्रेऽधि भावयति । स यत्कुमारं  
जन्मनोऽग्रेऽधि भावयत्यात्मानमेव तद्भा-  
वयत्येषां लोकानां संतत्या एवं संतता  
हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥

सा भावयित्री वर्धयित्री भर्तुरात्मनो गर्भभूतस्य भाव-  
यितव्या वर्धयितव्या च भर्त्रा भवति । न ह्युपकारप्रत्युप-  
कारमन्तरेण लोके कस्यचित्केनचित्संबन्ध उपपद्यते । तं गर्भं  
स्त्री यथोक्तेन गर्भधारणविधानेन विभर्ति धारयति अग्रे प्रा-  
ग्जन्मनः । सः पिता अग्रे एव पूर्वमेव जातमात्रं कुमारं जन्मनः  
अधि ऊर्ध्वं जन्मनः जातं कुमारं जातकर्मादिना पिता भाव-  
यति । सः पिता यत् यस्मात् कुमारं जन्मनः अधि ऊर्ध्वं  
अग्रे जातमात्रमेव जातकर्मादिना यद्भावयति, तत् आत्मान-  
मेव भावयति ; पितुरात्मैव हि पुत्ररूपेण जायते । तथा  
ह्युक्तम् ‘पतिर्जायां प्रविशति’ इत्यादि । तत्किमर्थमात्मानं  
पुत्ररूपेण जनयित्वा भावयतीति ? उच्यते— एषां लोकानां  
संततैः अविच्छेदायेत्यर्थः । विच्छिद्येरन्हीमे लोकाः पुत्रो-  
त्पादनादि यदि न कुर्युः । एवं पुत्रोत्पादनादिकर्मा-  
विच्छेदेनैव संतताः प्रबन्धरूपेण वर्तन्ते हि यस्मात् इमे  
लोकाः, तस्मात्तदविच्छेदाय तत्कर्तव्यम् ; न मोक्षायेत्यर्थः ।  
तत् अस्य संसारिणः कुमाररूपेण मातुरुदराद्यन्निर्गमनम्, तत्  
रेतोरूपापेक्षया द्वितीयं जन्म द्वितीयावस्थाभिव्यक्तिः ॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः  
प्रतिधीयते । अथास्यायमितर आत्मा



**कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रय-  
न्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥ ४ ॥**

अस्य पितुः सोऽयं पुत्रात्मा पुण्येभ्यः शास्त्रोक्तेभ्यः कर्मभ्यः कर्मनिष्पादनार्थं प्रतिधीयते पितुः स्थाने पित्रा यत्कर्तव्यं तत्करणाय प्रतिनिधीयत इत्यर्थः । तथा च संप्रतिविद्यायां वाजसनेयके—‘ पित्रानुशिष्टोऽहं ब्रह्माहं यज्ञ इत्यादि प्रतिपद्यते ’ इति । अथ अनन्तरं पुत्रे निवेश्यात्मनो भारम् अस्य पुत्रस्य इतरः अयं यः पित्रात्मा कृतकृत्यः, कर्तव्यात् ऋणत्रयात् विमुक्तः कृतकर्तव्य इत्यर्थः, वयोगतः गतवयाः जीर्णः सन् प्रैति म्रियते । सः इतः अस्मात् प्रयन्नेव शरीरं परित्यजन्नेव, तृणजल्लूकादिवत्, देहान्तरमुपाददानः कर्मचितम्, पुनर्जायते । तदस्य मृत्वा प्रतिपत्तव्यं यत्, तत् तृतीयं जन्म । ननु संसरतः पितुः सकाशाद्रेतोरूपेण प्रथमं जन्म; तस्यैव कुमाररूपेण मातुर्द्वितीयं जन्मोक्तम्; तस्यैव तृतीये जन्मनि वक्तव्ये, प्रयतस्तस्य पितुर्यज्जन्म, तत्तृतीयमिति कथमुच्यते ? नैष दोषः, पितापुत्रयोरेकात्मत्वस्य विवक्षितत्वात् । सोऽपि पुत्रः स्वपुत्रे भारं निधाय इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते यथा पिता । तदन्यत्रोक्तमितरत्राप्युक्तमेव भवतीति मन्यते श्रुतिः । पितापुत्रयोरेकात्मत्वात् ॥

तदुक्तमृषिणा । गर्भे नु सन्नन्वेषामवे-  
दमहं देवानां जनिमानि विश्वा । शतं मा  
पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निर-  
दीयमिति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव  
एवमुवाच ॥ ५ ॥

एवं संसारन्नवस्थाभिव्यक्तित्वयेण जन्ममरणप्रबन्धारूढः  
सर्वो लोकः संसारसमुद्रे निपतितः कथंचिद्यदा श्रुत्युक्तमा-  
त्मानं विजानाति यस्यां कस्यांचिदवस्थायाम्, तदैव मुक्तस-  
र्वसंसारबन्धनः कृतकृत्यो भवतीत्येतद्वस्तु, तत् ऋषिणा म-  
न्त्रेणापि उक्तमित्याह— गर्भे नु मातुर्गर्भाशय एव सन्, नु  
इति वितर्के । अनेकजन्मान्तरभावनापरिपाकवशात् एषां  
देवानां वागगन्यादीनां जनिमानि जन्मानि विश्वा विश्वानि  
सर्वाणि अन्ववेदम् अहम् अहो अनुबुद्धवानस्मीत्यर्थः । शतम्  
अनेकाः बह्वयः मा मां पुरः आयसीः आयस्यो लोहमय्य इवा-  
भेद्यानि शरीराणीत्यभिप्रायः । अरक्षन् रक्षितवत्यः संसार-  
पाशनिर्गमनात् अधः । अथ श्येन इव जालं भित्त्वा जवसा  
आत्मज्ञानकृतसामर्थ्येन निरदीयं निर्गतोऽस्मि । अहो गर्भ  
एव शयानो वामदेवः ऋषिः एवमुवाच एतत् ॥

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उ-

त्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामाना-  
प्तवामृतः समभवत्समभवत् ॥ ६ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

सः वामदेवः ऋषिः यथोक्तमात्मानम् एवं विद्वान् अ-  
स्मात् शरीरभेदात् शरीरस्य अविद्यापरिकल्पितस्य आयसवद-  
निर्भेद्यस्य जननमरणाद्यनेकानर्थशताविष्टशरीरप्रबन्धस्य पर-  
मात्मज्ञानामृतोपयोगजनितवीर्यकृतभेदात् शरीरोत्पत्तिबीजा-  
विद्यादिनिमित्तोपमर्दहेतोः शरीरविनाशादित्यर्थः । ऊर्ध्वः पर-  
मात्मभूतः सन् अधोभवात्संसारान् उत्क्रम्य ज्ञानावद्योति-  
तामलसर्वात्मभावमापन्नः सन् अमुष्मिन् यथोक्ते अजरेऽमरे-  
ऽमृतेऽभये सर्वज्ञेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेऽबाह्ये प्रज्ञानामृतैकरसे  
स्वर्गे लोके स्वस्मिन्नात्मनि स्वे स्वरूपे अमृतः समभवत् आ-  
त्मज्ञानेन पूर्वमाप्तकामतया जीवन्नेव सर्वान्कामानाप्त्वा इत्य-  
र्थः । द्विर्वचनं सफलस्य सोदाहरणस्य आत्मज्ञानस्य परि-  
समाप्तिप्रदर्शनार्थम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्द-  
भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ  
ऐतरेयोपनिषद्भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥

ऐतरेयोपनिषद्भाष्यम्

तृतीयोऽध्यायः



## तृतीयोऽध्यायः ॥



ब्रह्मविद्यासाधनकृतसर्वात्मभा-

वफलावाप्तिं वामदेवाद्याचार्यपरम्परया  
पारम्पर्यश्रुत्यावद्योत्यमानां ब्रह्मवित्प-  
रिषद्यत्यन्तप्रसिद्धाम् उपलभमाना मु-  
मुक्षवो ब्राह्मणा अधुनातनाः ब्रह्म  
जिज्ञासवः अनित्यात्साध्यसाधनलक्ष-

णात्संसारात् आ जीवभावाद्ब्रह्मविवृत्सवो विचारयन्तः अन्यो-  
न्यं पृच्छन्ति । कथम् ?—

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स  
आत्मा येन वा पश्यति येन वा शृणोति  
येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं  
व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च  
विजानाति ॥ १ ॥

यमात्मानम् अयमात्मा इति साक्षात् वयमुपास्महे  
कः स आत्मेति ; यं चात्मानमयमात्मेति साक्षादुपासीनो

वामदेवः अमृतः समभवत्; तमेव वयमप्युपास्महे को नु खलु स आत्मेति एवं जिज्ञासापूर्वमन्योन्यं पृच्छताम् अतिक्रान्तविशेषविषयश्रुतिसंस्कारजनिता स्मृतिरजायत— तम् ‘प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषम्’ ‘स एतमेव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत’ एतमेव पुरुषं द्वे ब्रह्मणी इतरेतरप्रातिकूल्येन प्रतिपन्ने—इति । ते चास्य पिण्डस्यात्म-भूते । तयोरन्यतर आत्मोपास्यो भवितुमर्हति । योऽत्रोपास्यः, कतरः स आत्मा इति विशेषनिर्धारणार्थं पुनरन्योन्यं पप्रच्छुर्विचारयन्तः । पुनस्तेषां विचारयतां विशेषविचारणास्पदविषया मतिरभूत् । कथम्? द्वे वस्तुनी अस्मिन्पिण्डे उपलभ्येते— अनेकभेदभिन्नेन करणेन येनोपलभते, यश्चैक उपलभते, करणान्तरोपलब्धिविषयस्मृतिप्रति-संधानात् । तत्र न तावत् येनोपलभते, स आत्मा भवितुमर्हति । केन पुनरुपलभत इति, उच्यते— येन वा चक्षुर्भूतेन रूपं पश्यति, येन वा शृणोति श्रोत्रभूतेन शब्दम्, येन वा घ्राणभूतेन गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाक्करणभूतेन वाचं नामात्मिकां व्याकरोति गौरश्च इत्येवमाद्याम्, साध्वसाध्विति च, येन वा जिह्वाभूतेन स्वादु च अस्वादु च विजानातीति ॥

यदेतद्दृढं मनश्चैतत् । संज्ञानमाज्ञानं  
विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा  
जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो  
वश इति । सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नाम-  
धेयानि भवन्ति ॥ २ ॥

किं पुनस्तदेकमनैकधा भिन्नं करणमिति, उच्यते । यदुक्तं  
पुरस्तात् प्रजानां रेतो हृदयं हृदयस्य रेतो मनः मनसा सृष्ट्या  
आपश्च वरुणश्च हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः, तदेवैतद्दृढं  
मनश्च, एकमेव तदनैकधा । एतेनान्तःकरणेनैकेन चक्षुर्भूतेन  
रूपं पश्यति, श्रोत्रभूतेन शृणोति, घ्राणभूतेन जिघ्रति,  
वाग्भूतेन वदति, जिह्वाभूतेन रसयति, स्वेनैव विकल्पना-  
रूपेण मनसा संकल्पयति, हृदयरूपेणाध्यवस्यति । तस्मा-  
त्सर्वकरणविषयव्यापारकमेकमिदं करणं सर्वोपलब्ध्यर्थमुप-  
लब्धुः । तथा च कौषीतकिनाम् ‘प्रज्ञया वाचं समारुह्य  
वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा  
सर्वाणि रूपाण्याप्नोति’ इत्यादि । वाजसनेयके च—  
‘मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति हृदयेन हि रूपाणि  
विजानाति’ इत्यादि । तस्माद्दृढमनोवाच्यस्य सर्वोपलब्धि-  
करणत्वं प्रसिद्धम् । तदात्मकश्च प्राणः ‘यो वै प्राणः, सा



प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः' इति हि ब्राह्मणम् ।  
 करणसंहतिरूपश्च प्राण इत्यवोचाम प्राणसंवादादौ । तस्मा-  
 द्यत्पद्भ्यां प्रापद्यत, तद्ब्रह्म तदुपलब्धुरूपलब्धिकरणत्वेन गुण-  
 भूतत्वाच्चैव तद्वस्तु ब्रह्म उपास्य आत्मा भवितुमर्हति । पा-  
 रिशेष्याद्यस्योपलब्धुरूपलब्ध्यर्था एतस्य हृदयमनोरूपस्य  
 करणस्य वृत्तयो वक्ष्यमाणाः, स उपलब्धा उपास्य आत्मा  
 नोऽस्माकं भवितुमर्हतीति निश्चयं कृतवन्तः । तदन्तःकरणो-  
 पाधिस्थस्योपलब्धुः प्रज्ञानरूपस्य ब्रह्मण उपलब्ध्यर्था या  
 अन्तःकरणवृत्तयो बाह्यान्तर्वर्तिविषयविषयाः, ता इमा उच्य-  
 न्ते— संज्ञानं संज्ञप्तिः चेतनभावः; आज्ञानम् आज्ञप्तिः  
 ईश्वरभावः; विज्ञानं कलादिपरिज्ञानम्; प्रज्ञानं प्रज्ञप्तिः  
 प्रज्ञता; मेधा ग्रन्थधारणसामर्थ्यम्; दृष्टिः इन्द्रियद्वारा  
 सर्वविषयोपलब्धिः; धृतिः धारणम् अवसन्नानां शरीरेन्द्रियाणां  
 ययोत्तम्भनं भवति; 'धृत्या शरीरमुद्वहन्ति' इति हि वदन्ति;  
 मतिः मननम्; मनीषा तत्र स्वातन्त्र्यम्; जूतिः चेतसो  
 रुजादिदुःखित्वभावः; स्मृतिः स्मरणम्; संकल्पः शुक्लकृष्णा-  
 दिभावेन संकल्पनं रूपादीनाम्; क्रतुः अध्यवसायः; असुः  
 प्राणनादिजीवनक्रियानिमित्ता वृत्तिः; कामः असंनिहितवि-  
 षयाकाङ्क्षा तृष्णा; वशः स्त्रीव्यतिकराद्यभिलाषः; इत्येव-

माद्या अन्तःकरणवृत्तयः उपलब्धुरुपलब्धयर्थत्वाच्छुद्धप्रज्ञा-  
नरूपस्य ब्रह्मण उपाधिभूतास्तदुपाधिजनितगुणनामधेयानि  
संज्ञानादीनि सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञप्तिमात्रस्य प्रज्ञानस्य नामधे-  
यानि भवन्ति, न स्वतः साक्षात् । तथा चोक्तम् 'प्राणमेव  
प्राणो नाम भवति' इत्यादि ॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे  
देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी  
वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमा-  
नि च क्षुद्रमिश्राणीव । बीजानीतराणि  
चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च  
स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरु-  
षा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च प-  
तत्रि च यच्च स्थावरम् । सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं  
प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा  
प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥

स एषः प्रज्ञानरूप आत्मा ब्रह्म अपरं सर्वशरीरस्थः प्रा-  
णः प्रज्ञात्मा अन्तःकरणोपाधिष्वनुप्रविष्टो जलभेदगतसू-

यंप्रतिबिम्बवत् हिरण्यगर्भः प्राणः प्रज्ञात्मा । एष एव इन्द्रः  
 शुणात्, देवराजो वा । एष प्रजापतिः यः प्रथमजः शरीरी;  
 यतो मुखादिनिर्भेदद्वारेणाग्न्यादयो लोकपाला जाताः, स  
 प्रजापतिरेष एव । येऽपि एते अग्न्यादयः सर्वे देवा एष एव ।  
 इमानि च सर्वशरीरोपादानभूतानि पञ्च पृथिव्यादीनि म-  
 हाभूतानि अन्नान्नादत्वलक्षणानि एतानि । किञ्च, इमानि च  
 क्षुद्रमिश्राणि क्षुद्रैरल्पकैर्मिश्राणि, इवशब्दः अनर्थकः, सर्पा-  
 दीनि । बीजानि कारणानि इतराणि चेताराणि च द्वैराशयेन  
 निर्दिश्यमानानि । कानि तानि ? उच्यन्ते—अण्डजानि पक्ष्या-  
 दीनि, जारुजानि जरायुजानि मनुष्यादीनि, स्वेदजानि यूका-  
 दीनि, उद्भिज्जानि च वृक्षादीनि । अश्वाः गावः पुरुषाः हस्तिनः  
 अन्यञ्च यत्किञ्चेदं प्राणि । किं तत् ? जङ्गमं यच्चलति पद्भ्यां  
 गच्छति ; यच्च पतन्नि आकाशेन पतनशीलम् ; यच्च स्थाव-  
 रम् अचलम् ; सर्वं तत् अशेषतः प्रज्ञानेत्रम्, प्रज्ञप्तिः प्रज्ञा, तच्च  
 ब्रह्मैव, नीयतेऽनेनेति नेत्रम्, प्रज्ञा नेत्रं यस्य तदिदं प्रज्ञाने-  
 त्रम् ; प्रज्ञाने ब्रह्मण्युत्पत्तिस्थितिलयकालेषु प्रतिष्ठितम्, प्र-  
 ज्ञाश्रयमित्यर्थः । प्रज्ञानेत्रो लोकः पूर्ववत् ; प्रज्ञाचक्षुर्वा सर्व  
 एव लोकः । प्रज्ञा प्रतिष्ठा सर्वस्य जगतः । तस्मात् प्रज्ञानं  
 ब्रह्म । तदेतत्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिविशेषं सत् निरञ्जनं निर्म-

लं निष्क्रियं शान्तम् एकम् अद्वयं नेति नेतीति सर्वविशेषा-  
पोहसंवेद्यं सर्वशब्दप्रत्ययागोचरं तदत्यन्तविशुद्धप्रज्ञोपाधिसं-  
बन्धेन सर्वज्ञमीश्वरं सर्वसाधारणाव्याकृतजगद्वीजप्रवर्तकं नि-  
यन्तृत्वादन्तर्यामिसंज्ञं भवति । तदेव व्याकृतजगद्वीजभूतबु-  
द्ध्यात्माभिमानलक्षणं हिरण्यगर्भसंज्ञं भवति । तदेव अन्तर-  
ण्डोद्भूतप्रथमशरीरोपाधिमात् विराट्प्रजापतिसंज्ञं भवति ।  
तदुद्भूताग्न्याद्युपाधिमात् देवतासंज्ञं भवति । तथा विशेष-  
शरीरोपाधिष्वपि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु तत्तन्नामरूपलाभो  
ब्रह्मणः । तदेवैकं सर्वोपाधिभेदभिन्नं सर्वैः प्राणिभिस्ता-  
र्किकैश्च सर्वप्रकारेण ज्ञायते विकल्प्यते च अनेकधा । 'एत-  
मेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेकेऽपरे प्राणम-  
परे ब्रह्म शाश्वतम्' इत्याद्या स्मृतिः ॥

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्र-  
म्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामाना-  
प्तवामृतः समभवत्समभवत् ॥ ४ ॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥

स वामदेवोऽन्यो वा एवं यथोक्तं ब्रह्म वेद प्रज्ञेनात्मना,  
येनैव प्रज्ञेन आत्मना पूर्वे विद्वांसोऽमृता अभूवन् तथा

अयमपि विद्वान् एतेनैव प्रज्ञेन आत्मना अस्मात् लोकात्  
 उत्क्रम्येत्यादि व्याख्यातम् । अस्माल्लोकादुत्क्रम्य अमुष्मिन्  
 स्वर्गे लोके सर्वान्कामान् आप्त्वा अमृतः समभवत्समभव-  
 दित्योमिति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य

श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य

श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

ऐतरेयोपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥

ॐ

वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता  
मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमा-  
विरावीर्म एधि । वेदस्य म  
आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहा-  
सीः । अनेनार्धद्वेष्टाहोषा-  
न्संदधाम्यृतं वदिष्यामि ।  
सत्यं वदिष्यामि । तन्मामव-  
तु । तद्वक्तामवतु अवतु मा-  
मवतु वक्तामवतु वक्ताम् ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



॥ ॐ ॥

# तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम्

श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादैः  
विरचितम् ।





ॐ

शं नो मित्रः शं वरुणः । शं  
नो भवत्वयमा । शं न इन्द्रो  
बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुक्क-  
मः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वा-  
यो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।  
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ।  
ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदि-  
ष्यामि । तन्मामवतु तद्वक्तार-  
मवतु । अवतु माम् । अवतु  
वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



# तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम्

## श्रीक्षावल्ली





॥ तैत्तिरीयोपनिषत् ॥

श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितेन  
भाष्येण सहिता ।



॥ ॐ नमः परमात्मने ॥

यस्याज्ञातं जगत्सर्वं यस्मिन्नेव प्रलीयते ।

येनेदं धार्यते चैव तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥ १ ॥

यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः ।

व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्यहम् ॥ २ ॥

तैत्तिरीयकसारस्य मयाचार्यप्रसादतः ।

विस्पष्टार्थरुचीनां हि व्याख्येयं संप्रणीयते ॥ ३ ॥

## शीक्षावली ॥



त्यान्यधिगतानि कर्माणि उपा-  
त्तदुरितक्षयार्थानि, काम्यानि च  
फलार्थिनां पूर्वस्मिन्प्रस्थे । इदानीं  
कर्मोपादानहेतुपरिहाराय ब्रह्मविद्या  
प्रस्तूयते । कर्महेतुः कामः स्यात्,  
प्रवर्तकत्वात् । आप्तकामानां हि कामा-

भावे स्वात्मन्यवस्थानात्प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । आत्मकामत्वे चाप्त-  
कामता । आत्मा च ब्रह्म । तद्विदो हि परप्राप्तिं वक्ष्यति ।  
अतः अविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं परप्राप्तिः, ‘अभयं  
प्रतिष्ठां विन्दते’ ‘एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति’ इत्या-  
दिश्रुतेः । काम्यप्रतिषिद्धयोरनारम्भात् आरब्धस्य च उपभो-  
गेन क्षयात् नित्यानुष्ठानेन च प्रत्यवायाभावात् अयत्नत एव  
स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः । अथवा, निरतिशयायाः प्रीतेः स्वर्ग-  
शब्दवाच्याया कर्महेतुत्वात्कर्मभ्य एव मोक्ष इति चेत्, न;  
कर्मानेकत्वात् । अनेकानि हि आरब्धफलानि अनारब्धफलानि  
च अनेकजन्मान्तरकृतानि विरुद्धफलानि कर्माणि संभवन्ति ।

अतः तेष्वनारब्धफलानामेकस्मिञ्जन्मन्युपभोगेन क्षयासं-  
भवात् शेषकर्मनिमित्तशरीरारम्भोपपत्तिः । कर्मशेषसद्भाव-  
सिद्धिश्च 'तद्य इह रमणीयचरणाः' 'ततः शेषेण' इत्यादि-  
श्रुतिस्मृतिशतेभ्यः । इष्टानिष्टफलानामनारब्धानां क्षयार्थानि  
नित्यानि इति चेत्, न; अकरणे प्रत्यवायश्रवणात् । प्रत्यवा-  
यशब्दो हि अनिष्टविषयः । नित्याकरणनिमित्तस्य प्रत्यवाय-  
स्य दुःखरूपस्य आगामिनः परिहारार्थानि नित्यानीत्यभ्युपग-  
मान् न अनारब्धफलकर्मक्षयार्थानि । यदि नाम अनारब्ध-  
फलकर्मक्षयार्थानि नित्यानि कर्माणि, तथाप्यशुद्धमेव क्षप-  
येयुः ; न शुद्धम्, विरोधाभावात् । न हि इष्टफलस्य कर्मणः  
शुद्धरूपत्वान्नित्यैर्विरोध उपपद्यते । शुद्धाशुद्धयोर्हि विरोधो यु-  
क्तः । न च कर्महेतूनां कामानां ज्ञानाभावे निवृत्त्यसंभवाद-  
शेषकर्मक्षयोपपत्तिः । अनात्मविदो हि कामः, अनात्मफल-  
विषयत्वात् । स्वात्मनि च कामानुपपत्तिः, नित्यप्राप्तत्वात् ।  
स्वयं चात्मा परं ब्रह्मेत्युक्तम् । नित्यानां च अकरणमभावः  
ततः प्रत्यवायानुपपत्तिरिति । अतः पूर्वोपचितदुरितेभ्यः प्रा-  
प्यमाणायाः प्रत्यवायक्रियाया नित्याकरणं लक्षणमिति शत्रु-  
प्रत्ययस्य नानुपपत्तिः—'अकुर्वन्विहितं कर्म' इति । अन्य-  
था हि अभावाद्भावोत्पत्तिरिति सर्वप्रमाणव्याकोप इति ।



अतः अयन्नतः स्वात्मन्यवस्थानमित्यनुपपन्नम् । यच्चोक्तं नि-  
रतिशयप्रीतेः स्वर्गशब्दवाच्यायाः कर्मनिमित्तत्वात्कर्मारभ्य  
एव मोक्ष इति, तन्न ; नित्यत्वान्मोक्षस्य । न हि नित्यं  
किञ्चिदारभ्यते, लोके यदारब्धम्, तदनित्यमिति । अतो न  
कर्मारभ्यो मोक्षः । विद्यासहितानां कर्मणां नित्यारम्भसाम-  
र्थ्यमिति चेत्, न ; विरोधात् । नित्यं चारभ्यत इति विरु-  
द्धम् । यद्धि नष्टम्, तदेव नोत्पद्यत इति प्रध्वंसाभाववन्नि-  
त्योऽपि मोक्ष आरभ्य एवेति चेत्, न ; मोक्षस्य भावरूप-  
त्वात् । प्रध्वंसाभावोऽप्यारभ्यत इति न संभवति ; अभा-  
वस्य विशेषाभावाद्विकल्पमात्रमेतत् । भावप्रतियोगी ह्य-  
भावः । यथा ह्यभिन्नोऽपि भावो घटपटादिभिर्विशेष्यते  
भिन्न इव घटभावः पटभाव इति, एवं निर्विशेषोऽप्यभावः  
क्रियागुणयोगाद्द्रव्यादिवद्विकल्प्यते । न ह्यभाव उत्प्लादि-  
वद्विशेषणसहभावी । विशेषणवत्त्वे भाव एव स्यात् । विद्याक-  
र्मकर्तुर्नित्यत्वात् विद्याकर्मसंतानजनितमोक्षनित्यत्वमिति चेत्,  
न ; गङ्गास्रोतोवत्कर्तृत्वस्य दुःस्वरूपत्वात्, कर्तृत्वोपरमे च  
मोक्षविच्छेदात् । तस्मादविद्याकामकर्मोपादानहेतुनिवृत्तौ स्वा-  
त्मन्यवस्थानं मोक्ष इति । स्वयं चात्मा ब्रह्म । तद्विज्ञाना-  
दविद्यानिवृत्तिरिति । अतः ब्रह्मविद्यार्थोपनिषदारभ्यते । उप-

निषदिति विद्योच्यते, तत्सेविनां गर्भजन्मजरादिनिशातनात् ,  
तदवसादनाद्वा ब्रह्मण उपनिगमयितृत्वात्; उपनिषण्णं वा  
अस्यां परं श्रेय इति । तदर्थत्वाद्ग्रन्थोऽप्युपनिषत् ॥

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो  
भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः ।  
शं नो विष्णुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे ।  
नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।  
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं  
वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्माम-  
वतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् ।  
अवतु वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः  
शान्तिः ॥ १ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

शं सुखं प्राणवृत्तेरहश्चाभिमानी देवतात्मा मित्रः नः  
अस्माकं भवतु । तथैव अपानवृत्तेः रात्रेश्चाभिमानी देव-  
तात्मा वरुणः ; चक्षुषि आदित्ये चाभिमानी अर्यमा ; बले  
इन्द्रः ; वाचि बुद्धौ च बृहस्पतिः ; विष्णुः उरुक्रमः विस्तीर्ण-  
क्रमः पादयोरभिमानी ; एवमाद्या अध्यात्मदेवताः शं नः ;

भवतु इति सर्वत्रानुषङ्गः । तासु हि सुखकृत्सु विद्याश्रवण-  
 धारणोपयोगाः अप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति तत्सुखकृत्त्वं  
 प्रार्थ्यते— शं नो भवतु इति । ब्रह्मविद्याविविदिषुणा नम-  
 स्कारब्रह्मवदनक्रिये वायुविषये ब्रह्मविद्योपसर्गशान्त्यर्थे क्रि-  
 येते— सर्वत्र क्रियाफलानां तदधीनत्वात् । ब्रह्म वायुः, तस्मै  
 ब्रह्मणे नमः प्रह्वीभावम्, करोमीति वाक्यशेषः । नमः ते  
 तुभ्यं हे वायो नमस्करोमि इति परोक्षप्रत्यक्षाभ्यां वायुरेवा-  
 भिधीयते । किं च, त्वमेव चक्षुराद्यपेक्ष्य बाह्यं संनिर्कृष्टम-  
 व्यवहितं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि यस्मात्, तस्मात् त्वामेव प्रत्यक्षं  
 ब्रह्म वदिष्यामि; ऋतं यथाशास्त्रं यथाकर्तव्यं बुद्धौ सुप-  
 रिनिश्चितमर्थं त्वदधीनत्वात् त्वामेव वदिष्यामि; सत्यमिति  
 स एव वाक्कायाभ्यां संपाद्यमानः, सोऽपि त्वदधीन एव  
 संपाद्यत इति त्वामेव सत्यं वदिष्यामि । तत् सर्वात्मकं  
 वाय्वाख्यं ब्रह्म मयैवं स्तुतं सत् विद्यार्थिनं माम् अवतु  
 विद्यासंयोजनेन । तदेव ब्रह्म वक्तारम् आचार्यं च वक्तृत्व-  
 सामर्थ्यसंयोजनेन अवतु । अवतु माम् अवतु वक्तारम्  
 इति पुनर्वचनमादरार्थम् । शान्तिः शान्तिः शान्तिः इति  
 त्रिवचनम् आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानां विद्याप्राप्त्यु-  
 पसर्गाणां प्रशमनार्थम् ॥

इति प्रथमानुवाकभाष्यम् ॥

## द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थज्ञानप्रधानत्वादुपनिषदः ग्रन्थपाठे यत्नोपरमो मा भू-  
दिति शीक्षाध्याय आरभ्यते—

शिक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्व-  
रः । मात्रा बलम् । साम संतानः । इत्यु-  
क्तः शीक्षाध्यायः ॥ १ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

शिक्षा शिक्ष्यते अनयेति वर्णाद्युच्चारणलक्षणम् ; शिक्ष्य-  
न्ते अस्मिन् इति वा शिक्षा वर्णादयः । शिक्षैव शिक्षा । दै-  
र्घ्यं छान्दसम् । तां शिक्षां व्याख्यास्यामः विस्पष्टम् आ स-  
मन्तात्प्रकथयिष्यामः । चक्षिङः ख्यात्रादिष्टस्य व्याङ्पूर्वस्य  
व्यक्तवाक्कर्मण एतद्रूपम् । तत्र वर्णः अकारादिः । स्वर उदा-  
त्तादिः । मात्रा ऋस्वाद्याः । बलं प्रयत्नविशेषः । साम वर्णा-  
नां मध्यमवृत्त्योच्चारणं समता । संतानः संततिः, संहितेत्य-  
र्थः । एवं शिक्षितव्योऽर्थः शिक्षा यस्मिन्नध्याये, सोऽयं  
शीक्षाध्यायः इति एवम् उक्तः उदितः । उक्त इत्युपसं-  
हारार्थः ॥

इति द्वितीयानुवाकभाष्यम् ॥

## तृतीयोऽनुवाकः ॥

सह नौ यशः । सह नौ ब्रह्मवर्च-  
सम् । अथातः संहिताया उपनिषदं  
व्याख्यास्यामः । पञ्चस्वधिकरणेषु । अधि-  
लोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्या-  
त्मम् । ता महासंहिता इत्याचक्षते ।  
अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम् । द्यौरु-  
त्तररूपम् । आकाशः संधिः ॥ १ ॥

अधुना संहितोपनिषदुच्यते । तत्र संहिताद्युपनिषत्प-  
रिज्ञाननिमित्तं यत् यशः प्राप्यते, तत् नौ आवयोः शिष्या-  
चार्ययोः सहैव अस्तु । तन्निमित्तं च यत् ब्रह्मवर्चसं तेजः,  
तच्च सहैवास्तु इति शिष्यवचनमाशीः । शिष्यस्य हि अकृता-  
र्थत्वात्प्रार्थनोपपद्यते ; नाचार्यस्य, कृतार्थत्वात् । कृतार्थो ह्या-  
चार्यो नाम भवति । अथ अनन्तरम् अध्ययनलक्षणवि-  
धानस्य पूर्ववृत्तस्य, अतः यतोऽत्यर्थं ग्रन्थभाविता बुद्धिर्न  
शक्यते सहसार्थज्ञानविषयेऽवतारयितुमित्यतः, संहितायाः  
उपनिषदं संहिताविषयं दर्शनमित्येतत् ग्रन्थसंनिकृष्टामेव

व्याख्यास्यामः, पञ्चसु अधिकरणेषु आश्रयेषु, ज्ञानविष-  
येष्वित्यर्थः । कानि तानीत्याह— अधिलोकं लोकेष्वधि-  
यदर्शनम्, तदधिलोकम्; तथा अधिज्यौतिषम् अधि-  
विद्यम् अधिप्रजम् अध्यात्ममिति । ताः एताः पञ्च-  
विषया उपनिषदः लोकादिमहावस्तुविषयत्वात्संहिताविषय-  
त्वाच्च महत्यश्च ताः संहिताश्च महासंहिताः इति आचक्षते  
कथयन्ति वेदविदः । अथ तासां यथोपन्यस्तानां मध्ये अधि-  
लोकं दर्शनमुच्यते । दर्शनक्रमविवक्षार्थः अथशब्दः सर्वत्र ।  
पृथिवी पूर्वरूपम्, पूर्वं वर्णः पूर्वरूपम्, संहितायाः पूर्वं  
वर्णं पृथिवीदृष्टिः कर्तव्येत्युक्तं भवति । तथा द्यौः उत्तररू-  
पम् । आकाशः अन्तरिक्षलोकः संधिः मध्यं पूर्वोत्तररूपयोः  
संधीयते अस्मिन्पूर्वोत्तररूपे इति ॥

वायुः संधानम् । इत्यधिलोकम् । अ-  
थाधिज्यौतिषम् । अग्निः पूर्वरूपम् । आ-  
दित्य उत्तररूपम् । आपः संधिः । वैद्युतः  
संधानम् । इत्यधिज्यौतिषम् । अथाधि-  
विद्यम् । आचार्यः पूर्वरूपम् ॥ २ ॥

अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या संधिः

प्रवचनं संधानम् । इत्याधिविद्यम् । अ-  
थाधिप्रजम् । माता पूर्वरूपम् । पितोत्तर-  
रूपम् । प्रजा संधिः । प्रजननं संधानम् ।  
इत्याधिप्रजम् ॥ ३ ॥

अथाध्यात्मम् । अधरा हनुः पूर्वरू-  
पम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक्संधिः ।  
जिह्वा संधानम् । इत्याध्यात्मम् । इतीमा  
महासंहिताः । य एवमेता महासंहि-  
ता व्याख्याता वेद । संधीयते प्रजया  
पशुभिः । ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण  
लोकेन ॥ ४ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

वायुः संधानम् । संधीयते अनेनेति संधानम् । इति  
अधिलोकं दर्शनमुक्तम् । अथाधिज्यौतिषम् इत्यादि समा-  
नम् । इतीमा इति उक्ता उपप्रदर्श्यन्ते । यः कश्चित् एवम्  
एताः महासंहिताः व्याख्याताः वेद उपास्ते; वेदेत्युपासनं  
स्यात्, विज्ञानाधिकारात्, 'इति प्राचीनयोग्योपास्त्व' इति

च वचनात् । उपासनं च यथाशास्त्रं तुल्यप्रत्ययसंततिरसं-  
कीर्णा च अतत्प्रत्ययैः शास्त्रोक्तालम्बनविषया च । प्रसिद्ध-  
श्रोपासनशब्दार्थो लोके— ‘गुरुमुपास्ते’ ‘राजानमुपास्ते’  
इति । यो हि गुर्वादीन्संततमुपचरति, स उपास्त इत्यु-  
च्यते । स च फलमाप्नोत्युपासनस्य । अतः अत्रापि य  
एवं वेद, संधीयते प्रजादिभिः स्वर्गान्तैः । प्रजादिफलं प्राप्नो-  
तीत्यर्थः ॥

इति तृतीयानुवाकभाष्यम् ॥



## चतुर्थोऽनुवाकः ॥

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दो-  
भ्योऽध्यमृतात्संबभूव । स मेन्द्रो मेधया  
स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूया-  
सम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे  
मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् ।  
ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं  
मे गोपाय । आवहन्ती वितन्वाना ॥ १ ॥

कुर्वाणाचीरमात्मनः । वासाँसि मम  
गावश्च । अन्नपाने च सर्वदा । ततो मे  
श्रियमावह । लोमशां पशुभिः सह  
स्वाहा । आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ।  
विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । प्रमाय-  
न्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । दमायन्तु ब्रह्म-  
चारिणः स्वाहा । शमायन्तु ब्रह्मचारिणः  
स्वाहा ॥ २ ॥

यशो जनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्य-  
सोऽसानि स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशा-  
नि स्वाहा । स मा भग प्रविश स्वाहा ।  
तस्मिन्सहस्रशाखे । निभगाहं त्वयि मृजे  
स्वाहा । यथापः प्रवता यन्ति । यथा मासा  
अहर्जरम् । एवं मां ब्रह्मचारिणः । धात-  
रायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्र  
मा पाहि प्र मा पयस्व ॥ ३ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

यश्छन्दसामिति मेधाकामस्य श्रीकामस्य च तत्प्राप्ति-  
साधनं जपहोमावुच्येते, 'स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु' 'ततो  
मे श्रियमावह' इति च लिङ्गदर्शनात् । यः छन्दसां वेदा-  
नाम् ऋषभ इव ऋषभः, प्राधान्यात् । विश्वरूपः सर्वरूपः,  
सर्वत्रागव्याप्तेः 'तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्ये-  
वमोंकारेण सर्वा वाक्संतृण्णोंकार एवेदं सर्वम्' इत्यादि-  
श्रुत्यन्तरात् । अत एव ऋषभत्वमोंकारस्य । ओंकारो ह्यत्रोपास्य  
इति ऋषभादिशब्दैः स्तुतिर्न्याय्यैव ओंकारस्य । छन्दोभ्यः

वेदेभ्यः, वेदा ह्यमृतम्, तस्मात् अमृतात् अधि संब-  
भूव लोकदेववेदव्याहृतिभ्यः सारिष्टं जिघृक्षोः प्रजापते-  
स्तपस्यतः ओंकारः सारिष्टत्वेन प्रत्यभादित्यर्थः । न हि  
नित्यस्य ओंकारस्य अञ्जसैवोत्पत्तिरवकल्पते । सः एवंभूत  
ओंकारः इन्द्रः सर्वकामेशः परमेश्वरः मा मां मेधया प्रज्ञया  
स्पृणोतु प्रीणयतु, बलयतु वा, प्रज्ञाबलं हि प्रार्थ्यते । अमृ-  
तस्य अमृतत्वहेतुभूतस्य ब्रह्मज्ञानस्य, तदधिकारात्; हे देव  
धारणः धारयिता भूयासं भवेयम् । किं च, शरीरं मे मम  
विचर्षणं विचक्षणं योग्यमित्येतत्, भूयादिति प्रथमपुरुष-  
विपरिणामः । जिह्वा मे मम मधुमत्तमा मधुमती, अति-  
शयेन मधुरभाषिणीत्यर्थः । कर्णाभ्यां श्रोत्राभ्यां भूरि बहु  
विश्रुवं व्यश्रवम्, श्रोता भूयासमित्यर्थः । आत्मज्ञानयोग्यः  
कार्यकरणसंघातोऽस्त्विति वाक्यार्थः । मेधा च तदर्थमेव हि  
प्रार्थ्यते—ब्रह्मणः परमात्मनः कोशः असि असेरिव; उप-  
लब्ध्यधिष्ठानत्वात्; त्वं हि ब्रह्मणः प्रतीकम्; त्वयि ब्रह्मो-  
पलभ्यते । मेधया लौकिकप्रज्ञया पिहितः आच्छादितः स  
त्वं सामान्यप्रज्ञैरविदिततत्त्व इत्यर्थः । श्रुतं श्रवणपूर्वकमा-  
त्मज्ञानादिकं विज्ञानं मे गोपाय रक्ष; तत्प्राप्त्यविस्मरणा-  
दिकं कुर्वित्यर्थः । जपार्था एते मन्त्रा मेधाकामस्य । श्रीका-

मस्य होमार्थास्त्वधुनोच्यन्ते मन्त्राः— आवहन्ती आनय-  
न्ती; वितन्वाना विस्तारयन्ती, तनोतेस्तत्कर्मकत्वात्; कु-  
र्वाणा निर्वर्तयन्ती अचीरम् अचिरं क्षिप्रमेव; छान्दसो  
दीर्घः; चिरं वा; कुर्वाणा, आत्मनः मम; किमित्याह—  
वासांसि वस्त्राणि, मम, गावश्च गाश्चेति यावत्; अन्नपाने  
च सर्वदा; एवमादीनि कुर्वाणा श्रीर्या, तां ततः मेधानिर्व-  
र्तनात्परम् आवह आनय; अमेधसो हि श्रीरनर्थार्यैवेति ।  
किंविशिष्टाम्? लोमशाम् अजाव्यादियुक्ताम् अन्यैश्च पशुभिः  
सह युक्ताम् आवहेति । अधिकारादौकार एवाभिसंबध्यते ।  
स्वाहा, स्वाहाकारो होमार्थमन्त्रान्तज्ञापनार्थः । आमाय-  
न्त्विति । आयन्तु, मामिति व्यवहितेन संबन्धः, ब्रह्मचा-  
रिणः । विमायन्तु प्रमायन्तु दमायन्तु शमायन्तु इत्यादि ।  
यशोजने यशस्विजनेषु असानि भवानि । श्रेयान् प्रशस्यतरः,  
वस्यसः वसीयसः वसुतराद्वसुमत्तराद्वा धनवज्जातीयपुरुषा-  
द्विशेषवानहमसानीत्यर्थः । किं च, तं ब्रह्मणः कोशभूतं  
त्वा त्वां हे भग भगवन् पूजार्हं, प्रविशानि । प्रविश्य चान-  
न्यस्त्वदात्मैव भवानीत्यर्थः । सः त्वमपि मा मां भग  
भगवन्, प्रविश; आवयोरेकात्मत्वमेवास्तु । तस्मिन् त्वयि  
सहस्रशाखे बहुशाखाभेदे हे भगवन्, निमृजे शोधयामि

अहं पापकृत्याम् । यथा लोके आपः प्रवता प्रवणवता निम्न-  
 वता देशेन यन्ति गच्छन्ति, यथा च मासाः अहर्जरम् ,  
 संवत्सरोऽहर्जरः अहोभिः परिवर्तमानो लोकाञ्जरयतीति;  
 अहानि वा अस्मिन् जीर्यन्ति अन्तर्भवन्तीत्यहर्जरः; तं  
 च यथा मासाः यन्ति, एवं मां ब्रह्मचारिणः हे धातः  
 सर्वस्य विधातः, माम् आयन्तु आगच्छन्तु सर्वतः सर्वदि-  
 ग्भ्यः । प्रतिवेशः श्रमापनयनस्थानम् आसन्नं गृहमित्यर्थः ।  
 एवं त्वं प्रतिवेश इव प्रतिवेशः त्वच्छिलिनां सर्वपापदुःखापन-  
 यनस्थानमसि । अतः मा मां प्रति प्रभाहि प्रकाशयात्मानम् ,  
 प्र मा पद्यस्व प्रपद्यस्व च माम् । रसविद्धमिव लोहं त्वन्मयं  
 त्वदात्मानं कुर्वित्यर्थः । श्रीकामोऽस्मिन्विद्याप्रकरणे अभिधी-  
 यमानो धनार्थः; धनं च कर्मार्थम्; कर्म च उपात्तदुरित-  
 क्षयार्थम्; तत्क्षये हि विद्या प्रकाशते । तथा च स्मृतिः—  
 ‘ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । यथादर्शतले  
 प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि’ इति ॥

इति चतुर्थानुवाकभाष्यम् ॥

## पञ्चमोऽनुवाकः ॥

भूर्भूवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्या-  
हृतयः । तासामुहस्मैतां चतुर्थीम् । माहा-  
चमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्वह्म ।  
स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः । भूरिति  
वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् ।  
सुवरित्यसौ लोकः ॥ १ ॥

मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे  
लोका महीयन्ते । भूरिति वा अग्निः ।  
भुव इति वायुः । सुवरित्यादित्यः । मह  
इति चन्द्रमाः । चन्द्रमसा वाव सर्वाणि  
ज्योतींषि महीयन्ते । भूरिति वा ऋचः ।  
भुव इति सामानि । सुवरिति यजूं-  
षि ॥ २ ॥

मह इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे  
वेदा महीयन्ते । भूरिति वै प्राणः । भुव

इत्यपानः । सुवरिति व्यानः । मह इत्यन्न-  
म् । अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते । ता  
वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा । चतस्रश्चतस्रो व्या-  
हृतयः । ता यो वेद । स वेद ब्रह्म । सर्वे-  
ऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥ ३ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

संहिताविषयमुपासनमुक्तम् । तदनु मेधाकामस्य श्रीका-  
मस्य चानुक्रान्ता मन्त्राः । ते च पारम्पर्येण विद्योपयोगार्था  
एव । अनन्तरं व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मणः अन्तरूपामनं स्वारा-  
ज्यफलं प्रस्तूयते— भूर्भुवः सुवरिति । इतीत्युक्तोपप्रदर्श-  
नार्थः । एतास्तिस्र इति च प्रदर्शितानां परामर्शार्थः परामृ-  
ष्टाः स्मर्यन्ते वै इत्यनेन । तिस्र एताः प्रसिद्धा व्याहृतयः  
स्मर्यन्त इति यावत् । तासाम् इयं चतुर्थी व्याहृतिर्मह इति ;  
तामेतां चतुर्थीं माहाचमसस्यापत्यं माहाचमस्यः प्रवेदयते,  
उ ह स्म इत्येतेषां वृत्तानुकथनार्थत्वात् विदितवान् ददर्शे-  
त्यर्थः । माहाचमस्यग्रहणमार्षानुस्मरणार्थम् । ऋष्यनुस्मरण-  
मप्युपासनाङ्गमिति गम्यते, इहोपदेशात् । येयं माहाचमस्येन  
दृष्टा व्याहृतिः मह इति, तत् ब्रह्म । महद्धि ब्रह्म ; महश्च

व्याहृतिः । किं पुनस्तत् ? स आत्मा, आप्रोतेर्व्याप्तिकर्मणः  
 आत्मा ; इतराश्च व्याहृतयो लोका देवा वेदाः प्राणाश्च मह  
 इत्यनेन व्याहृत्यात्मना आदित्यचन्द्रब्रह्मान्नभूतेन व्याप्यन्ते  
 यतः, अत अङ्गानि अवयवाः अन्याः देवताः । देवताग्रहण-  
 मुपलक्षणार्थं लोकादीनाम् । मह इत्यस्य व्याहृत्यात्मनो देवा  
 लोकादयश्च सर्वे अवयवभूता यतः, अत आह— आदि-  
 त्यादिभिर्लोकादयो महीयन्त इति । आत्मना ह्यङ्गानि मही-  
 यन्ते । महनं वृद्धिः उपचयः । महीयन्ते वर्धन्त इत्यर्थः ।  
 अयं लोकः अग्निः ऋग्वेदः प्राण इति प्रथमा व्याहृतिः  
 भूः ; अन्तरिक्षं वायुः सामानि अपानः इति द्वितीया व्या-  
 हृतिः भुवः ; असौ लोकः आदित्यः यजूंषि व्यानः इति  
 तृतीया व्याहृतिः सुवः ; आदित्यः चन्द्रमाः ब्रह्म अन्नम्  
 इति चतुर्थी व्याहृतिः महः इत्येवम् एकैकाश्चतुर्धा भवन्ति ।  
 मह इति ब्रह्म ब्रह्मेत्योकारः, शब्दाधिकारे अन्यस्यासंभवात् ।  
 उक्तार्थमन्यत् । ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्थेति । ता वै एताः  
 भूर्भुवःसुवर्मह इति चतस्रः एकैकशः चतुर्धा चतुःप्रकाराः ।  
 धा-शब्दः प्रकारवचनः । चतस्रश्चतस्रः सत्यः चतुर्धा भव-  
 न्तीत्यर्थः । तासां यथाकल्पानां पुनरुपदेशस्तथैवोपासननि-  
 यमार्थः । ताः यथोक्ता व्याहृतीः यः वेद, स वेद विजा-



नाति । किं तत् ? ब्रह्म । ननु, 'तद्ब्रह्म स आत्मा' इति ज्ञाते ब्रह्मणि, न वक्तव्यमविज्ञातवत् 'स वेद ब्रह्म' इति ; न ; तद्विशेषविवक्षुत्वाददोषः । सत्यं विज्ञातं चतुर्थव्याहृत्या आत्मा ब्रह्मेति ; न तु तद्विशेषः— हृदयान्तरूपलभ्यत्वं मनोमयत्वादिश्च । 'शान्तिसमृद्धम्' इत्येवमन्तो विशेषण-विशेषरूपो धर्मपूगो न विज्ञायत इति ; तद्विवक्षु हि शास्त्र-मविज्ञातमिव ब्रह्म मत्वा 'स वेद ब्रह्म' इत्याह । अतो न दोषः । यो वा वक्ष्यमाणेन धर्मपूगेण विशिष्टं ब्रह्म वेद, स वेद ब्रह्म इत्यभिप्रायः । अतो वक्ष्यमाणानुवाकेनैकवाक्यता अस्य, उभयोर्ह्यनुवाकयोरेकमुपासनम् । लिङ्गाच्च । 'भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति' इत्यादिकं लिङ्गमुपासनैकत्वे । विधायकाभावाच्च । न हि वेद उपासीत वेति विधायकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति । व्याहृत्यनुवाके 'ता यो वेद' इति तु वक्ष्यमाणार्थत्वान्नोपसनाभेदकः । वक्ष्यमाणार्थत्वं च तद्विशेषविवक्षुत्वादित्यादिनोक्तम् । सर्वे देवाः अस्मै एवंविदुषे अङ्गभूताः आवहन्ति आनयन्ति बलिम्, स्वाराज्यप्राप्तौ सत्यामित्यर्थः ॥

इति पञ्चमानुवाकभाष्यम् ॥

## षष्ठोऽनुवाकः ॥

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मि-  
न्नयं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः ।  
अन्तरेण तालुके । य एष स्तन इवाव-  
लम्बते । सेन्द्रयोनिः । यत्रासौ केशान्तो  
विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले । भूरित्यग्नौ  
प्रतितिष्ठति । भुव इति वायौ ॥ १ ॥

सुवरित्यादित्ये । मह इति ब्रह्मणि ।  
आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्प-  
तिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपति-  
र्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति । आका-  
शशरीरं ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मन  
आनन्दम् । शान्तिसमृद्धममृतम् । इति  
प्राचीनयोग्योपास्व ॥ २ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

भूर्भुवः सुवः स्वरूपा मह इत्येतस्य हिरण्यगर्भस्य व्या-  
हृत्यात्मनो ब्रह्मणोऽङ्गान्यन्या देवता इत्युक्तम् । यस्य ता  
अङ्गभूताः, तस्यैतस्य ब्रह्मणः साक्षादुपलब्ध्यर्थमुपासनार्थं  
च हृदयाकाशः स्थानमुच्यते, सालग्राम इव विष्णोः ।  
तस्मिन् हि तद्ब्रह्म उपास्यमानं मनोमयत्वादिधर्मविशिष्टं सा-  
क्षादुपलभ्यते, पाणाविवामलकम् । मार्गश्च सर्वात्मभाव-  
प्रतिपत्तये वक्तव्य इत्यनुवाक आरभ्यते—स इति व्युत्क्रम्य  
अयं पुरुष इत्यनेन संबध्यते । य एष अन्तर्हृदये हृदय-  
स्यान्तः । हृदयमिति पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डः प्राणाय-  
तनोऽनेकनाडीसुषिर ऊर्ध्वनालोऽधोमुखो विशस्यमानं पशौ  
प्रसिद्ध उपलभ्यते । तस्यान्तः य एष आकाशः प्रसिद्ध  
एव करकाकाशवत्, तस्मिन् सोऽयं पुरुषः, पुरि शयनात्;  
पूर्णा वा भूरादयो लोका येनेति पुरुषः मनोमयः, मनः  
विज्ञानं मनुतेर्ज्ञानकर्मणः, तन्मयः तत्प्रायः, तदुपलभ्य-  
त्वात् । मनुते अनेनेति वा मनः अन्तःकरणम्; तदभि-  
मानी तन्मयः, तल्लिङ्गो वा । अमृतः अमरणधर्मा । हिर-  
ण्मयः ज्योतिर्मयः । तस्यैवलक्षणस्य हृदयाकाशे साक्षात्कृ-  
तस्य विदुष आत्मभूतस्य ईश्वररूपस्य प्रतिपत्तये मार्गोऽभि-  
धीयते—हृदयादूर्ध्वं प्रवृत्ता सुषुम्ना नाम नाडी योगशास्त्रेषु

प्रसिद्धा । सा च अन्तरेण तालुके मध्ये तालुकयोर्गता ।  
यश्च एष तालुकयोर्मध्ये स्तन इव अवलम्बते मांसखण्डः,  
तस्य च अन्तरेण इत्येतन् । यत्र च असौ केशान्तः केशा-  
नामन्तो मूलं केशान्तः विवर्तते विभागेन वर्तते, मूर्धप्रदेश  
इत्यर्थः; तं देशं प्राप्य तेनान्तरेण व्यपोह्य विभज्य विदार्य  
शीर्षकपाले शिरःकपाले, विनिर्गता या. सा इन्द्रयोनिः  
इन्द्रस्य ब्रह्मणः योनिः मार्गः, स्वरूपप्रतिपत्तिद्वारमित्यर्थः ।  
तथा एवं विद्वान्मनोमयात्मदर्शी मूर्ध्नी विनिष्क्रम्य अस्य  
लोकस्याधिष्ठाता भूरिति व्याहृतिरूपो योऽग्निः महतो ब्रह्म-  
णोऽङ्गभूतः, तस्मिन् अग्नौ प्रतितिष्ठति, अग्न्यात्मना इमं  
लोकं व्याप्नोतीत्यर्थः । तथा भुव इति द्वितीयव्याहृत्यात्मनि  
वायौ, प्रतितिष्ठतीत्यनुवर्तते । सुवरिति तृतीयव्याहृत्यात्मनि  
आदित्ये । मह इत्यङ्गिनि चतुर्थव्याहृत्यात्मनि ब्रह्मणि प्रति-  
तिष्ठतीति । तेष्व्वात्मभावेन स्थित्वा आप्नोति ब्रह्मभूतं स्वा-  
राज्यं स्वराड्भावं स्वयमेव राजा अधिपतिर्भवति अङ्गभू-  
तानां देवतानां यथा ब्रह्म ; देवाश्च सर्वे अस्मै अङ्गिने बलि-  
मावहन्ति अङ्गभूताः यथा ब्रह्मणे । आप्नोति मनसस्पतिम्,  
सर्वेषां हि मनसां पतिः, सर्वात्मकत्वाद्ब्रह्मणः सर्वैर्हि मनोभि-  
स्तन्मनुते । तदाप्नोत्येवं विद्वान् । किं च, वाक्पतिः सर्वासां

वाचां पतिर्भवति । तथैव चक्षुष्पतिः चक्षुषां पतिः । श्रोत्र-  
 पतिः श्रोत्राणां च पतिः । विज्ञानपतिः विज्ञानानां च पतिः ।  
 सर्वात्मकत्वात्सर्वप्राणिनां करणैस्तद्वान्भवतीत्यर्थः । किं च,  
 ततोऽपि अधिकतरम् एतन् भवति । किं तत् ? उच्यते—  
 आकाशशरीरम् आकाशः शरीरमस्य, आकाशवद्वा सूक्ष्म  
 शरीरमस्येत्याकाशशरीरम् । किं तत् ? प्रकृतं ब्रह्म । सत्यात्म,  
 सत्यं मूर्तामूर्तम् अवितथं स्वरूपं वा आत्मा स्वभावोऽस्य,  
 तदिदं सत्यात्म । प्राणारामम्, प्राणेष्वारमणमाक्रीडा यस्य  
 तत्प्राणारामम्; प्राणानां वा आरामो यस्मिन्, तत्प्राणारा-  
 मम् । मन आनन्दम्, आनन्दभूतं सुखकृदेव यस्य मनः,  
 तन्मन आनन्दम् । शान्तिसमृद्धम्, शान्तिरूपशमः, शा-  
 न्तिश्च तत्समृद्धं च शान्तिसमृद्धम्; शान्त्या वा समृद्धवत्त-  
 दुपलभ्यत इति शान्तिसमृद्धम् । अमृतम् अमरणधर्मि;  
 एतच्चाधिकरणविशेषणं तत्रैव मनोमय इत्यादौ द्रष्टव्यमिति ।  
 एवं मनोमयत्वादिधर्मैर्विशिष्टं यथोक्तं ब्रह्म हे प्राचीनयोग्य,  
 उपास्व इत्याचार्यवचनोक्तिरादरार्था । उक्तस्तूपासनाश-  
 ब्दार्थः ॥

इति षष्ठानुवाकभाष्यम् ॥

## सप्तमोऽनुवाकः ॥

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः ।  
अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आ-  
प ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा ।  
इत्यधिभूतम् । अथाध्यात्मम् । प्राणो  
व्यानोऽपान उदानः समानः । चक्षुः श्रोत्रं  
मनो वाक् त्वक् । चर्म मांसं स्नावा-  
स्थि मज्जा । एतदधिविधाय ऋषिरवो-  
चत् । पाङ्क्तं वा इदं सर्वम् । पाङ्क्तेनैव  
पाङ्क्तं स्पृणोतीति ॥ १ ॥

## इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

यदेतद्व्याख्यात्मकं ब्रह्मोपाख्यमुक्तम्, तस्यैवेदानीं पृथि-  
व्यादिपाङ्क्तस्वरूपेणोपासनमुच्यते— पञ्चसंख्यायोगात्पङ्क्ति-  
च्छन्दः संपत्तिः; ततः पाङ्क्तत्वं सर्वस्य । पाङ्क्तश्च यज्ञः,  
'पञ्चपदा पङ्क्तिः पाङ्क्तो यज्ञः' इति श्रुतेः । तेन यत्सर्वं  
लोकाद्यात्मान्तं च पाङ्क्तं परिकल्पयति, यज्ञमेव तत्परिकल्प-

यति । तेन यज्ञेन परिकल्पितेन पाङ्कात्मकं प्रजापतिमभिसंपद्यते । तत्कथं पाङ्कं वा इदं सर्वमित्यत आह— पृथिवी अन्तरिक्षं द्यौः दिशः अवान्तरदिशः इति लोकपाङ्कम् । अग्निः वायुः आदित्यः चन्द्रमाः नक्षत्राणि इति देवतापाङ्कम् । आपः ओषधयः वनस्पतयः आकाशः आत्मा इति भूतपाङ्कम् । आत्मेति विराट्, भूताधिकारात् । इत्यधिभूतमिति अधिलोकाधिदैवतपाङ्कद्वयोपलक्षणार्थम्, लोकदेवतापाङ्कयोर्द्वयोश्चाभिहितत्वात् । अथ अनन्तरम् अध्यात्मं पाङ्कत्रयमुच्यते—प्राणादि वायुपाङ्कम् । चक्षुरादि इन्द्रियपाङ्कम् । चर्मादि धातुपाङ्कम् । एतावद्धीदं सर्वमध्यात्मं बाह्यं च पाङ्कमेव इति एतत् एवम् अधिविधाय परिकल्प्य ऋषिः वेदः एतद्दर्शनसंपन्नो वा कश्चिदृषिः, अवोचत् उक्तवान् । किमित्याह—पाङ्कं वा इदं सर्वं पाङ्केनैव आध्यात्मिकेन, संख्यासामान्यात्, पाङ्कं बाह्यं स्पृणोति बलयति पूरयति एकात्मतयोपलभ्यत इत्येतत् । एवं पाङ्कमिदं सर्वमिति यो वेद, स प्रजापत्यात्मैव भवतीत्यर्थः ॥

इति सप्तमानुवाकभाष्यम् ॥

## अष्टमोऽनुवाकः ॥

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं सर्वम् ।  
ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्राव-  
येत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गा-  
यन्ति । ओं शोमिति शस्त्राणि शं स-  
न्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणा-  
ति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्य-  
ग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः  
प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवो-  
पाप्नोति ॥ १ ॥

## इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मण उपासनमुक्तम् । अनन्तरं च  
पाङ्क्तस्वरूपेण तस्यैवोपासनमुक्तम् । इदानीं सर्वोपास-  
नाङ्गभूतस्य ओंकारस्योपासनं विधित्स्यते । परापरब्रह्मदृ-  
ष्ट्या हि उपास्यमान ओंकारः शब्दमात्रोऽपि परापरब्रह्म-  
प्राप्तिसाधनं भवति ; स ह्यालम्बनं ब्रह्मणः परस्यापरस्य च,



प्रतिमेव विष्णोः, 'एतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' इति श्रुतेः । ओमिति, इतिशब्दः स्वरूपपरिच्छेदार्थः; ॐ इत्येतच्छब्द-  
 रूपं ब्रह्म इति मनसा धारयेत् उपासीत; यतः ॐ इति  
 इदं सर्वं हि शब्दस्वरूपमोकारेण व्याप्तम्, 'तद्यथा शङ्कुना'  
 इति श्रुत्यन्तरात् । 'अभिधानतन्त्रं ह्यभिधेयम्' इत्यतः इदं  
 सर्वमोकार इत्युच्यते । ओंकारस्तुत्यर्थ उत्तरो ग्रन्थः, उपा-  
 स्यत्वात्तस्य । ॐ इत्येतत् अनुकृतिः अनुकरणम् । करोमि  
 यास्यामि चेति कृतमुक्त ओमित्यनुकरोत्यन्यः, अतः ओंका-  
 रोऽनुकृतिः । ह स्म वै इति प्रसिद्धार्थद्योतकाः । प्रसिद्धं  
 ह्योकारस्यानुकृतित्वम् । अपि च ओश्रावय इति प्रैषपूर्वमा-  
 श्रावयन्ति प्रतिश्रावयन्ति । तथा ॐ इति सामानि गायन्ति  
 सामगाः । ॐ शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति शस्त्रशंसितारोऽपि ।  
 तथा ॐ इति अध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ॐ इति ब्रह्मा  
 प्रसौति अनुजानाति । ॐ इति अग्निहोत्रम् अनुजानाति जुहो-  
 मीत्युक्ते ॐ इत्येव अनुज्ञां प्रयच्छति । ॐ इत्येव ब्राह्मणः  
 प्रवक्ष्यन् प्रवचनं करिष्यन् अध्येष्यमाणः ओमित्याह ओ-  
 मित्येव प्रतिपद्यते अध्येतुमित्यर्थः; ब्रह्म वेदम् उपाप्रवानि  
 इति प्राप्नुयां ग्रहीष्यामीति उपाप्रोत्येव ब्रह्म । अथवा, ब्रह्म  
 परमात्मानम् उपाप्रवानीत्यात्मानं प्रवक्ष्यन् प्रापयिष्यन् ओ-

मित्येवाह । स च तेनोङ्कारेण ब्रह्म प्राप्नोत्येव । ओङ्कार-  
पूर्वं प्रवृत्तानां क्रियाणां फलवत्त्वं यस्मात्, तस्मादोङ्कारं  
ब्रह्मेत्युपासीतेति वाक्यार्थः ॥

इत्यष्टमानुवाकभाष्यम् ॥

## नवमोऽनुवाकः ॥

---

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च  
स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रव-  
चने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । श-  
मश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्नयश्च स्वा-  
ध्यायप्रवचने च । अग्निहोत्रं च स्वाध्याय-  
प्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने  
च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा  
च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्या-  
यप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने  
च । सत्यमिति सत्यवचा रार्थीतरः । तप  
इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्र-  
वचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तप-  
स्तद्धि तपः ॥ २ ॥

इति नवमोऽनुवाकः ॥

विज्ञानादेवाप्नोति स्वाराज्यमित्युक्तत्वात् श्रौतस्मार्तानां  
कर्मणामानर्थक्यं प्राप्तमित्येतन्मा प्रापदिति कर्मणां पुरुषार्थं  
प्रति साधनत्वप्रदर्शनार्थं इहोपन्यासः—ऋतमिति व्याख्या-  
तम् । स्वाध्यायः अध्ययनम् । प्रवचनमध्यापनं ब्रह्मयज्ञो  
वा । एतानि ऋतादीनि, अनुष्ठेयानि इति वाक्यशेषः ।  
सत्यं सत्यवचनं यथाव्याख्यातार्थं वा । तपः कृच्छ्रादि ।  
दमः बाह्यकरणोपशमः । शमः अन्तःकरणोपशमः ।  
अग्नयश्च आधातव्याः । अग्निहोत्रं च होतव्यम् । अति-  
थयश्च पूज्याः । मानुषमिति लौकिकः संव्यवहारः ।  
तच्च यथाप्राप्तमनुष्ठेयम् । प्रजा च उत्पाद्या । प्रजनश्च प्रज-  
ननम् ; ऋतौ भार्यागमनमित्यर्थः । प्रजातिः पौत्रो-  
त्पत्तिः ; पुत्रो निवेशयितव्य इत्येतत् । सर्वैरेतैः कर्म-  
भिर्युक्तस्यापि स्वाध्यायप्रवचने यत्नतोऽनुष्ठेये इत्येवमर्थं  
सर्वेण सह स्वाध्यायप्रवचनग्रहणम् । स्वाध्यायाधीनं ह्यर्थ-  
ज्ञानम् । अर्थज्ञानाधीनं च परं श्रेयः । प्रवचनं च तदवि-  
स्मरणार्थं धर्मवृद्धयर्थं च । ततः स्वाध्यायप्रवचनयोरादरः  
कार्यः । सत्यमिति सत्यमेवानुष्ठेयमिति सत्यवचाः सत्यमेव  
वचो यस्य सोऽयं सत्यवचाः, नाम वा तस्य ; राथीतरः  
रथीतरसगोत्रः राथीतर आचार्यो मन्यते । तप इति तप

एव कर्तव्यमिति तपोनित्यः तपसि नित्यः तपःपरः, तपो-  
 नित्य इति वा नाम; पौरुशिष्टिः पुरुशिष्टस्यापत्यं पौरुशि-  
 ष्टिराचार्यो मन्यते । स्वाध्यायप्रवचने एव अनुष्ठेये इति  
 नाको नामतः मुद्रलस्यापत्यं मौद्रल्य आचार्यो मन्यते ।  
 तद्धि तपस्तद्धि तपः । यस्मात्स्वाध्यायप्रवचने एव तपः,  
 तस्मात्ते एवानुष्ठेये इति । उक्तानामपि सत्यतपःस्वाध्यायप्र-  
 वचनानां पुनर्ग्रहणमादरार्थम् ॥

इति नवमानुवाकभाष्यम् ॥

## दशमोऽनुवाकः ॥

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं  
गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृ-  
तमस्मि । द्रविणः सवर्चसम् । सुमेधा  
अमृतोक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवच-  
नम् ॥ १ ॥

इति दशमोऽनुवाकः ॥

अहं वृक्षस्य रेरिवेति स्वाध्यायार्थो मन्त्राम्नायः । स्वा-  
ध्यायश्च विद्योत्पत्तये, प्रकरणात् । विद्यार्थं हीदं प्रकरणम्;  
न च अन्यार्थत्वमवगम्यते । स्वाध्यायेन च विशुद्धसत्त्वस्य  
विद्योत्पत्तिरवकल्पते । अहं वृक्षस्य उच्छेद्यात्मकस्य संसा-  
रवृक्षस्य रेरिवा प्रेरयिता अन्तर्याम्यात्मना । कीर्तिः  
ख्यातिः गिरेः पृष्ठमिव उच्छिष्टा मम । ऊर्ध्वपवित्रः ऊर्ध्व  
कारणं पवित्रं पावनं ज्ञानप्रकाश्यं परं ब्रह्म यस्य सर्वात्मनो  
मम, सोऽहमूर्ध्वपवित्रः ; वाजिनि इव वाजवतीव, वाजम-  
न्नम्, तद्वति सवितरीवेत्यर्थः ; यथा सवितरि अमृतमात्म-  
तत्त्वं विशुद्धं प्रसिद्धं श्रुतिस्मृतिशतेभ्यः, एवं सु अमृतं

शोभनं विशुद्धमात्मतत्त्वम् अस्मि भवामि । द्रविणं धनं  
 सवर्चसं दीप्तिमत् तदेव आत्मतत्त्वम्, अस्मीत्यनुवर्तते ।  
 ब्रह्मज्ञानं वा आत्मतत्त्वप्रकाशकत्वात्सवर्चसम्, द्रविणमिव  
 द्रविणम्, मोक्षसुखहेतुत्वात् । अस्मिन्पक्षे प्राप्तं मयेत्यध्या-  
 हारः कर्तव्यः । सुमेधाः शोभना मेधा सर्वज्ञत्वलक्षणा यस्य  
 मम, सोऽहं सुमेधाः ; संसारस्थित्युत्पत्तिसंहारकौशलयोगा-  
 त्सुमेधस्त्वम् ; अत एव अमृतः अमरणधर्मा, अक्षितः  
 अक्षीणः अव्ययः अक्षतो वा ; अमृतेन वा उक्षितः सिक्तः  
 ‘अमृतोक्षितोऽहम्’ इत्यादि ब्राह्मणम् । इति एवं त्रिशङ्कोः  
 ऋषेः ब्रह्मभूतस्य ब्रह्मविदः वेदानुवचनम्, वेदः वेदनम्  
 आत्मैकत्वविज्ञानम्, तस्य प्राप्तिमनु वचनं वेदानुवचनम् ;  
 आत्मनः कृतकृत्यताप्रख्यापनार्थं वामदेववत्रिशङ्कुना आर्षेण  
 दर्शनेन दृष्टो मन्त्रान्नाय आत्मविद्याप्रकाशक इत्यर्थः ।  
 अस्य च जपो विद्योत्पत्त्यर्थोऽधिगम्यते । ‘ऋतं च’ इति  
 धर्मोपन्यासादनन्तरं च वेदानुवचनपाठादेतदवगम्यते । एवं  
 श्रौतस्मार्तेषु नित्येषु कर्मसु युक्तस्य निष्कामस्य परं ब्रह्म  
 विविदिषोराषाणि दर्शनानि प्रादुर्भवन्त्यात्मादिविषयाणीति ॥

इति दशमानुवाकभाष्यम् ॥

## एकादशोऽनुवाकः ॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशा-  
स्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्याया-  
न्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य  
प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न  
प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् ।  
कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रम-  
दितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न  
प्रमदितव्यम् ॥ १ ॥

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ।  
मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आ-  
चार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । या-  
न्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्या-  
नि । नो इतराणि । यान्यस्माकं सुच-  
रितानि । तानि त्वयोपास्यानि ॥ २ ॥

नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयांसो



ब्राह्मणाः । तेषां त्वयासनेन प्रश्वसित-  
व्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयादेयम् ।  
श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया  
देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते  
कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा  
स्यात् ॥ ३ ॥

ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता  
अयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा  
ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः ।  
अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः  
संमर्शिनः । युक्ता अयुक्ताः । अलूक्षा  
धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् ।  
तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष  
उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशा-  
सनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदु-  
पास्यम् ॥ ४ ॥

इति एकादशोऽनुवाकः ॥

वेदमनूच्येत्येवमादिकर्तव्यतोपदेशारम्भः प्राग्ब्रह्मात्मवि-  
ज्ञानान्नियमेन कर्तव्यानि श्रौतस्मार्तानि कर्माणीत्येवमर्थः,  
अनुशासनश्रुतेः पुरुषसंस्कारार्थत्वात् । संस्कृतस्य हि विशु-  
द्धसत्त्वस्य आत्मज्ञानमञ्जसैवोपजायते । ‘तपसा कल्मषं  
हन्ति विद्ययामृतमश्नुते’ इति हि स्मृतिः । वक्ष्यति च—  
‘तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व’ इति । अतो विद्योत्पत्त्यर्थमनुष्ठे-  
यानि कर्माणि । अनुशास्तीत्यनुशासनशब्दादनुशासनातिक्रमे  
हि दोषोत्पत्तिः । प्रागुपन्यासाच्च कर्मणाम्, केवलब्रह्मविद्या-  
रम्भाच्च पूर्वं कर्माण्युपन्यस्तानि । उदितायां च ब्रह्मविद्या-  
याम् ‘अभयं प्रतिष्ठां विन्दते’ ‘न बिभेति कुतश्चन’  
‘किमहं साधु नाकरवम्’ इत्यादिना कर्मनैष्ठिकचन्यं दर्श-  
यिष्यति । अतः अवगम्यते— पूर्वोपचितदुरितक्षयद्वारेण  
विद्योत्पत्त्यर्थानि कर्माणीति । मन्त्रवर्णाच्च— ‘अविद्यया मृत्युं  
तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते’ इति ऋतादीनां पूर्वत्रोपदेशः  
आनर्थक्यपरिहारार्थः; इह तु ज्ञानोत्पत्त्यर्थत्वात्कर्तव्य-  
तानियमार्थः । वेदम् अनूच्य अध्याप्य आचार्यः अन्ते-  
वासिनं शिष्यम् अनुशास्ति ग्रन्थग्रहणात् अनु पश्चात् शास्ति  
तदर्थं ग्राहयतीत्यर्थः । अतोऽवगम्यते अधीतवेदस्य धर्मजि-  
ज्ञासामकृत्वा गुरुकुलान्न समावर्तितव्यमिति । ‘बुद्धा क-

र्माणि कुर्वीत' इति स्मृतेश्च । कथमनुशास्तीत्यत आह—  
 सत्यं वद यथाप्रमाणावगतं वक्तव्यं च वद । तद्वन् धर्म  
 चर; धर्म इत्यनुष्ठेयानां सामान्यवचनम्, सत्यादिविशेष-  
 निर्देशात् । स्वाध्यायात् अध्ययनात् मा प्रमदः प्रमादं मा  
 कार्षीः । आचार्याय आचार्यार्थं प्रियम् इष्टं धनम् आहृत्य  
 आनीय दत्त्वा विद्यानिष्क्रयार्थम् आचार्येण च अनुज्ञातः  
 अनुरूपान्दारानाहृत्य प्रजातन्तुं प्रजासंतानं मा व्यवच्छेत्सीः;  
 प्रजासंततेर्विच्छित्तिर्न कर्तव्या; अनुत्पद्यमानेऽपि पुत्रे पुत्र-  
 काम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः,  
 प्रजाप्रजनप्रजातित्रयनिर्देशसामर्थ्यात्; अन्यथा प्रजनश्चे-  
 त्येतदेकमेवावक्ष्यत् । सत्यात् न प्रमदितव्यं प्रमादो न कर्त-  
 व्यः; सत्याच्च प्रमदनमनृतप्रसङ्गः; प्रमादशब्दसामर्थ्याद्वि-  
 स्मृत्याप्यनृतं न वक्तव्यमित्यर्थः; अन्यथा असत्यवदनप्र-  
 तिषेध एव स्यात् । धर्मात् न प्रमदितव्यम्, धर्मशब्द-  
 स्यानुष्ठेयविशेषविषयत्वादननुष्ठानं प्रमादः, स न कर्तव्यः,  
 अनुष्ठानव्य एव धर्म इति यावत् । एवं कुशलात् आत्मर-  
 क्षार्थात्कर्मणः न प्रमदितव्यम् । भूतिः विभूतिः, तस्यै भूत्यै  
 भूत्यर्थान्मङ्गलयुक्तात्कर्मणः न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्र-  
 वचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्, ते हि नियमेन कर्तव्ये इत्यर्थः ।

तथा देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्, दैवपित्र्ये कर्मणी कर्तव्ये । मातृदेवः माता देवो यस्य सः, त्वं मातृदेवः भव स्याः । एवं पितृदेवो भव ; आचार्यदेवो भव ; अतिथिदेवो भव ; देवतावदुपास्या एते इत्यर्थः । यान्यपि च अन्यानि अनवद्यानि अनिन्दितानि शिष्टाचारलक्षणानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि कर्तव्यानि त्वया । नो न कर्तव्यानि इतराणि सावद्यानि शिष्टकृतान्यपि । यानि अस्माकम् आचार्याणां सुचरितानि शोभनचरितानि आम्रायाद्यविरुद्धानि, तान्येव त्वया उपास्यानि अदृष्टार्थान्यनुष्ठेयानि ; नियमेन कर्तव्यानीत्येतत् । नो इतराणि विपरीतान्याचार्यकृतान्यपि । ये के च विशेषिता आचार्यत्वादिधर्मैः अस्मत् अस्मत्तः श्रेयांसः प्रशस्ततराः, ते च ब्राह्मणाः, न क्षत्रियादयः, तेषाम् आसनेन आसनदानादिना त्वया प्रश्वसितव्यम्, प्रश्वसनं प्रश्वासः श्रमापनयः ; तेषां श्रमस्त्वया अपनेतव्य इत्यर्थः । तेषां वा आसने गोष्ठीनिमित्ते समुदिते, तेषु न प्रश्वसितव्यं प्रश्वासोऽपि न कर्तव्यः ; केवलं तदुक्तसारग्राहिणा भवितव्यम् । किं च, यत्किञ्चिद्देयम्, तत् श्रद्धयैव दातव्यम् । अश्रद्धया अदेयं न दातव्यम् । श्रिया विभूत्या देयं दातव्यम् । ह्रिया लज्जया च देयम् । भिया भीत्या च

देयम् । संविदा च मैत्र्यादिकार्येण देयम् । अथ एवं वर्तमानस्य यदि कदाचित् ते तव श्रौते स्मार्ते वा कर्मणि वृत्ते वा आचारलक्षणे विचिकित्सा संशयः स्यात् भवेत्, ये तत्र तस्मिन्देशे काले वा ब्राह्मणाः तत्र कर्मादौ युक्ता इति व्यवहितेन संबन्धः कर्तव्यः; संमर्शिनः विचारक्षमाः, युक्ताः अभियुक्ताः, कर्मणि वृत्ते वा आयुक्ताः अपरप्रयुक्ताः, अलूक्षाः अरूक्षाः अक्रूरमतयः, धर्मकामाः अदृष्टार्थिनः अकामहता इत्येतत्; स्युः भवेयुः, ते ब्राह्मणाः यथा येन प्रकारेण तत्र तस्मिन्कर्मणि वृत्ते वा वर्तन्, तथा त्वमपि वर्तेथाः । अथ अभ्याख्यातेषु, अभ्याख्याता अभ्युक्ताः दोषेण संद्विह्यमानेन संयोजिताः केनचित्, तेषु च; यथोक्तं सर्वमुपनयेत्— ये तत्वेत्यादि । एषः आदेशः विधिः । एषः उपदेशः पुत्रादिभ्यः पित्रादीनामपि । एषा वेदोपनिषत् वेदरहस्यम्, वेदार्थ इत्येतत् । एतदेव अनुशासनम् ईश्वरवचनम्; आदेशवाच्यस्य विधेरुक्तत्वात् । सर्वेषां वा प्रमाणभूतानामनुशासनमेतत् । यस्मादेवम्, तस्मात् एवं यथोक्तं सर्वम् उपासितव्यं कर्तव्यम् । एवमु च एतत् उपास्यम् उपास्यमेव चैतन्नानुपास्यम् इत्यादरार्थं पुनर्वचनम् ॥

अत्रैतच्चिन्त्यते विद्याकर्मणोर्विवेकार्थम्— किं कर्मभ्य

एव केवलेभ्यः परं श्रेयः, उत विद्यासंव्यपेक्षेभ्यः, आहोस्वि-  
द्विद्याकर्मभ्यां संहताभ्याम्, विद्याया वा कर्मापेक्षायाः, उत  
केवलाया एव विद्याया इति । तत्र केवलेभ्य एव कर्मभ्यः  
स्यात्, समस्तवेदार्थज्ञानवतः कर्माधिकारात् 'वेदः कृत्स्नो-  
ऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना' इति स्मरणात् । अधि-  
गमश्च सहोपनिषदर्थेनात्मज्ञानादिना । 'विद्वान्यजते' 'वि-  
द्वान्याजयति' इति च विदुष एव कर्मण्यधिकारः प्रद-  
श्यते सर्वत्र ज्ञात्वानुष्ठानमिति च । कृत्स्नश्च वेदः कर्मार्थ  
इति हि मन्यन्ते केचित् । कर्मभ्यश्चेत्परं श्रेयो नावाप्यते,  
वेदोऽनर्थकः स्यात् । न ; नित्यत्वान्मोक्षस्य । नित्यो हि  
मोक्ष इष्यते । कर्मकार्यस्य चानित्यत्वं प्रसिद्धं लोके ।  
कर्मभ्यश्चेच्छ्रेयः, अनित्यं स्यात् ; तच्चानिष्टम् । ननु  
काम्यप्रतिषिद्धयोरनारम्भात् आरब्धस्य च कर्मण उपभो-  
गेनैव क्षयात् नित्यानुष्ठानाच्च प्रत्यवायानुपपत्तेः ज्ञाननिरपेक्ष  
एव मोक्ष इति चेत्, तच्च न ; कर्मशेषसंभवात्तन्निमित्ता  
शरीरान्तरोत्पत्तिः प्राप्नोतीति प्रत्युक्तम् ; कर्मशेषस्य च  
नित्यानुष्ठानेनाविरोधात्क्षयानुपपत्तिरिति च । यदुक्तं स-  
मस्तवेदार्थज्ञानवतः कर्माधिकारादित्यादि, तच्च न ; श्रुत-  
ज्ञानव्यतिरेकादुपासनस्य । श्रुतज्ञानमात्रेण हि कर्मण्यधि-

क्रियते, नोपासनज्ञानमपेक्षते । उपासनं च श्रुतज्ञानादर्थान्तरं विधीयते मोक्षफलम्; अर्थान्तरप्रसिद्धेश्च स्यात्; 'श्रोतव्यः' इत्युक्त्वा तद्व्यतिरेकेण 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति यन्नान्तरविधानात् मनननिदिध्यासनयोश्च प्रसिद्धं श्रवणज्ञानादर्थान्तरत्वम् । एवं तर्हि विद्यासंव्यपेक्षेभ्यः कर्मभ्यः स्यान्मोक्षः; विद्यासहितानां च कर्मणां भवेत्कार्यान्तरारम्भसामर्थ्यम्; यथा स्वतो मरणञ्चरादिकार्यारम्भसमर्थानामपि विषदध्यादीनां मन्त्रशर्करादिसंयुक्तानां कार्यान्तरारम्भसामर्थ्यम्, एवं विद्यासहितैः कर्मभिः मोक्ष आरभ्यत इति चेत्, न; आरभ्यस्यानित्यत्वादित्युक्तो दोषः । वचनादारभ्योऽपि नित्य एवेति चेत्, न; ज्ञापकत्वाद्वचनस्य । वचनं नाम यथाभूतस्यार्थस्य ज्ञापकम्, नाविद्यमानस्य कर्तृ । न हि वचनशतेनापि नित्यमारभ्यते, आरब्धं वा अविनाशि भवेत् । एतेन विद्याकर्मणोः संहतयोर्मोक्षारम्भकत्वं प्रत्युक्तम् ॥

विद्याकर्मणी मोक्षप्रतिबन्धहेतुनिवर्तके इति चेत्, न; कर्मणः फलान्तरदर्शनात् । उत्पत्तिविकारसंस्काराप्तयो हि फलं कर्मणो दृश्यन्ते । उत्पत्त्यादिफलविपरीतश्च मोक्षः । गतिश्रुतेराप्य इति चेत्— 'सूर्यद्वारेण' 'तयोर्ध्वमायन्' इत्येवमादिगतिश्रुतिभ्यः प्राप्यो मोक्ष इति चेत्, न; सर्वग-

तत्वात् गन्तृभ्यश्चानन्यत्वात् । आकाशादिकारणत्वात्सर्वगतं  
 ब्रह्म, ब्रह्माव्यतिरिक्ताश्च सर्वे विज्ञानात्मानः; अतो नाप्यो  
 मोक्षः । गन्तुरन्यद्विभिन्नदेशं च भवति गन्तव्यम् । न हि,  
 येनैवाव्यतिरिक्तं यत्, तत्तेनैव गम्यते । तदनन्यत्वसिद्धिश्च  
 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व-  
 क्षेत्रेषु' इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः । गत्यैश्वर्यादिश्रुतिवि-  
 रोध इति चेत्—अथापि स्यात् यद्यप्राप्यो मोक्षः, तदा  
 गतिश्रुतीनाम् 'स एकधा' 'स यदि पितृलोककामः'  
 'स्त्रीभिर्वा यानैर्वा' इत्यादिश्रुतीनां च कोपः स्यात् इति  
 चेत्, न; कार्यब्रह्मविषयत्वात्तासाम् । कार्ये हि ब्रह्मणि  
 स्रज्यादयः स्युः, न कारणे; 'एकमेवाद्वितीयम्' 'यत्र ना-  
 न्यत्पश्यति' 'तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिश्रुतिभ्यः । विरो-  
 धाच्च विद्याकर्मणोः समुच्चयानुपपत्तिः । प्रलीनकर्त्रादिका-  
 रकविशेषतत्त्वविषया हि विद्या तद्विपरीतकारकसाध्येन क-  
 र्मणा विरुध्यते । न ह्येकं वस्तु परमार्थतः कर्त्रादिविशेषवत्  
 तच्छून्यं चेति उभयथा द्रष्टुं शक्यते । अवश्यं ह्यन्यतर-  
 न्मिथ्या स्यात् । अन्यतरस्य च मिथ्यात्वप्रसङ्गे युक्तं यत्स्वा-  
 भाविकाज्ञानविषयस्य द्वैतस्य मिथ्यात्वम्; 'यत्र हि द्वैत-  
 मिव भवति' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' 'अथ यत्रान्यत्प-



श्यति तदल्पम्' 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मि' 'उदरमन्तरं कुरुते' 'अथ तस्य भयं भवति' इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः । सत्यत्वं च एकत्वस्य 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'ब्रह्मैवेदः सर्वम्' 'आत्मैवेदः सर्वम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः । न च संप्रदानादिकारकभेदादर्शने कर्मोपपद्यते । अन्यत्वदर्शनापवादाश्च विद्याविषये सहस्रशः श्रूयन्ते । अतो विरोधो विद्याकर्मणोः । अतश्च समुच्चयानुपपत्तिः ॥

तत्र यदुक्तं संहताभ्यां विद्याकर्मभ्यां मोक्ष इत्येतदनुपपन्नमिति, तदयुक्तम्, तद्विहितत्वात्कर्मणां श्रुतिविरोध इति चेत्—यद्युपमृद्य कर्त्रादिकारकविशेषमात्मैकत्वविज्ञानं विधीयते सर्पादिभ्रान्तिज्ञानोपमर्दकरज्ज्वादिविषयविज्ञानवत्, प्राप्तः कर्मविधिश्रुतीनां निर्विषयत्वाद्विरोधः । विहितानि च कर्माणि । स च विरोधो न युक्तः, प्रमाणत्वाच्छ्रुतीनामिति चेत्, न; पुरुषार्थोपदेशपरत्वाच्छ्रुतीनाम् । विद्योपदेशपरा तावच्छ्रुतिः संसारात्पुरुषो मोक्षयितव्य इति संसारहेतोर्विद्यायाः विद्यया निवृत्तिः कर्तव्येति विद्याप्रकाशकत्वेन प्रवृत्तेति न विरोधः । एवमपि कर्त्रादिकारकसद्भावप्रतिपादनपरं शास्त्रं विरुध्यत एवेति चेत्, न; यथाप्राप्तमेव कारकास्तित्वमुपादाय उपात्तदुरितक्षयार्थं कर्माणि

विदधच्छास्त्रं मुमुक्षूणां फलार्थिनां च फलसाधनं न कारकास्तित्वे व्याप्रियते । उपचितदुरितप्रतिबन्धस्य हि विद्योत्पत्तिर्नावकल्पते । तत्क्षये च विद्योत्पत्तिः स्यात्, ततश्चाविद्यानिवृत्तिः, तत आत्यन्तिकः संसारोपरमः । अपि च, अनात्मदर्शिनो ह्यनात्मविषयः कामः; कामयमानश्च करोति कर्माणि; ततस्तत्फलोपभोगाय शरीराद्युपादानलक्षणः संसारः । तद्व्यतिरेकेणात्मैकत्वदर्शिनो विषयाभावात्कामानुपपत्तिः, आत्मनि चानन्यत्वात्कामानुपपत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं मोक्ष इत्यतोऽपि विद्याकर्मणोर्विरोधः । विरोधादेव च विद्या मोक्षं प्रति न कर्माण्यपेक्षते । स्वात्मलाभे तु पूर्वोपचितदुरितप्रतिबन्धापनयनद्वारेण विद्याहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते कर्माणि नित्यानीति । अत एवास्मिन्प्रकरणे उपन्यस्तानि कर्माणीत्यवोचाम । एवं च अविरोधः कर्मविधिश्रुतीनाम् । अतः केवलाया एव विद्यायाः परं श्रेय इति सिद्धम् ॥

एवं तर्हि आश्रमान्तरानुपपत्तिः, कर्मनिमित्तत्वाद्विद्योत्पत्तेः । गृहस्थस्यैव विहितानि कर्माणीत्यैकाश्रम्यमेव । अतश्च यावज्जीवादिश्रुतयः अनुकूलतराः स्युः । न; कर्मनेकत्वात् । न ह्यग्निहोत्रादीन्येव कर्माणि; ब्रह्मचर्यं तपः सत्यवचनं शमः दमः अहिंसा इत्येवमादीन्यपि कर्माणि इतराश्रमप्रसि-

द्धानि विद्योत्पत्तौ साधकतमान्यसंकीर्णा विद्यन्ते ध्यानधारणादिलक्षणानि च । वक्ष्यति च—‘तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व’ इति । जन्मान्तरकृतकर्मभ्यश्च प्रागपि गार्हस्थ्यविद्योत्पत्तिसंभवात्, कर्मार्थत्वाच्च गार्हस्थ्यप्रतिपत्तेः, कर्मसाध्यायां च विद्यायां सत्यां गार्हस्थ्यप्रतिपत्तिरनर्थिकैव । लोकार्थत्वाच्च पुत्रादीनाम् । पुत्रादिसाध्येभ्यश्च अयं लोकः पितृलोको देवलोक इत्येतेभ्यो व्यावृत्तकामस्य, नित्यसिद्धात्मदर्शिनः, कर्मणि प्रयोजनमपश्यतः, कथं प्रवृत्तिरुपपद्यते ? प्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्यापि विद्योत्पत्तौ विद्यापरिपाकाद्विरक्तस्य कर्मसु प्रयोजनमपश्यतः कर्मभ्यो निवृत्तिरेव स्यात्, ‘प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि’ इत्येवमादिश्रुतिलिङ्गदर्शनात् । कर्म प्रति श्रुतेर्यत्नाधिक्यदर्शनादयुक्तमिति चेत्,—अग्निहोत्रादिकर्म प्रति श्रुतेरधिको यत्नः; महांश्च कर्मण्यायासः, अनेकसाधनसाध्यत्वादग्निहोत्रादीनाम्; तपोब्रह्मचर्यादीनां च इतराश्रमकर्मणां गार्हस्थ्येऽपि समानत्वादल्पसाधनापेक्षत्वाच्चेतरेषां न युक्तस्तुल्यवद्विकल्प आश्रमभिस्तस्य इति चेत्, न; जन्मान्तरकृतानुग्रहात् । यदुक्तं कर्मणि श्रुतेरधिको यत्न इत्यादि, नासौ दोषः, यतो जन्मान्तरकृतमप्यग्निहोत्रादिलक्षणं कर्म ब्रह्मचर्यादिलक्षणं चानु-

प्राहकं भवति विद्योत्पत्तिं प्रति; येन च जन्मनैव विरक्ता  
दृश्यन्ते केचित्; केचित्तु कर्मसु प्रवृत्ता अविरक्ता विद्या-  
विद्वेषिणः । तस्माज्जन्मान्तरकृतसंस्कारेभ्यो विरक्तानामा-  
श्रमान्तरप्रतिपत्तिरेवेष्ट्यते । कर्मफलबाहुल्याच्च । पुत्रस्वर्ग-  
ब्रह्मवर्चसादिलक्षणस्य कर्मफलस्यासंख्येयत्वात् तत्प्रति च  
पुरुषाणां कामबाहुल्यात्तदर्थः श्रुतेरधिको यत्नः कर्मसूपप-  
द्यते, आशिषां बाहुल्यदर्शनात्—इदं मे स्यादिदं मे स्या-  
दिति । उपायत्वाच्च । उपायभूतानि हि कर्माणि विद्यां प्रति  
इत्यबोचाम । उपाये च अधिको यत्नः कर्तव्यः, न उपेये ।  
कर्मनिमित्तत्वाद्विद्याया यत्नान्तरानर्थक्यमिति चेत्—कर्म-  
भ्य एव पूर्वोपचितदुरितप्रतिबन्धक्षयाद्विद्योत्पद्यते चेत् क-  
र्मभ्यः पृथगुपनिषच्छ्रवणादियत्नोऽनर्थक इति चेत्, न;  
नियमाभावात् । न हि, ‘प्रतिबन्धक्षयादेव विद्योत्पद्यते,  
न त्वीश्वरप्रसादतपोध्यानाद्यनुष्ठानात्’ इति नियमोऽस्ति;  
अहिंसाब्रह्मचर्यादीनां च विद्यां प्रत्युपकारकत्वात्, साक्षा-  
देव च कारणत्वाच्छ्रवणमनननिदिध्यासनादीनाम् । अतः  
सिद्धान्याश्रमान्तराणि । सर्वेषां चाधिकारो विद्यायाम्, परं  
च श्रेयः केवलाया विद्याया एवेति सिद्धम् ॥

इत्येकादशानुवाकभाष्यम् ॥

## द्वादशोऽनुवाकः ॥

शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भव-  
त्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो  
विष्णुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते  
वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव  
प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् ।  
सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् । तद्वक्ता-  
रमावीत् । आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः ॥

इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

अतीतविद्याप्राप्त्युपसर्गशमनार्थं शान्तिं पठति—शं नो  
मित्र इत्यादि । व्याख्यातमेतत्पूर्वम् ॥

इति द्वादशानुवाकभाष्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्द-  
भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ  
तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये शीक्षावह्नीभाष्यम्  
संपूर्णम् ॥

# तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम्

ब्रह्मानन्दवल्ली



ॐ

## ब्रह्मानन्दवल्ली ॥



तीतविद्याप्राप्त्युपसर्गप्रशमनार्थ

शान्तिः पठिता । इदानीं तु वक्ष्यमाण-  
ब्रह्मविद्याप्राप्त्युपसर्गोपशमनार्था शान्तिः प-  
ठ्यते—

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु ।  
सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतम-  
स्तु मा विद्विषावहै ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः  
शान्तिः ॥

सह नाववत्विति । सह नाववतु, नौ शिष्याचार्यौ  
सहैव अवतु रक्षतु । सह नौ भुनक्तु ब्रह्म भोजयतु । सह  
वीर्यं विद्यःनिमित्तं सामर्थ्यं करवावहै निर्वर्तयावहै । तेजस्वि  
नौ तेजस्विनोरावयोः अधीतं स्वधीतम् अस्तु अर्थज्ञानयो-  
ग्यमस्त्वित्यर्थः । मा विद्विषावहै, विद्याग्रहणनिमित्तं शिष्यस्य  
आचार्यस्य वा प्रमादकृतादन्यायाद्विद्वेषः प्राप्तः; तच्छम-



नायेयमाशीः—मा विद्विषावहै इति । मैव नावितरेतरं विद्वे-  
षमापद्यावहै । शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिवचनमु-  
क्तार्थम् । वक्ष्यमाणविद्याविघ्नप्रशमानार्था चेयं शान्तिः ।  
अविघ्नेनात्मविद्याप्राप्तिराशास्यते, तन्मूलं हि परं श्रेय इति ॥

ब्रह्मविदामोति परम् । तदेषाभ्युक्ता ।  
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद नि-  
हितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते  
सर्वान् कामान् सह । ब्रह्मणा विपश्चिते-  
ति । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः  
संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः ।  
अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओ-  
षधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः ।  
स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव  
शिरः । अयं दक्षिणः पक्षः । अयमुत्तरः  
पक्षः । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा ।  
तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

संहितादिविषयाणि कर्मभिरविरुद्धान्युपासनान्युक्तानि ।  
 अनन्तरं च अन्तःसोपाधिकमात्मदर्शनमुक्तं व्याहृतिद्वारेण  
 स्वाराज्यफलम् । न चैतावता अशेषतः संसारबीजस्य उपम-  
 र्दनमस्ति । अतः अशेषोपद्रवबीजस्य अज्ञानस्य निवृत्त्यर्थं  
 विधूतसर्वोपाधिविशेषात्मदर्शनार्थमिदमारभ्यते— ब्रह्मविदा-  
 प्रोति परमित्यादि । प्रयोजनं चास्या ब्रह्मविद्याया अविद्या-  
 निवृत्तिः, ततश्च आत्यन्तिकः संसाराभावः । वक्ष्यति च—  
 ‘विद्वान्न विभेति कुतश्चन’ इति । संसारनिमित्ते च सति  
 अभयं प्रतिष्ठां विन्दत इत्यनुपपन्नम्, कृताकृते पुण्यपापे न  
 तपत इति च । अतोऽवगम्यते—अस्माद्विज्ञानात्सर्वात्मब्रह्म-  
 विषयादात्यन्तिकः संसाराभाव इति । स्वयमेवाह प्रयोजनम्  
 ‘ब्रह्मविदाप्रोति परम्’ इत्यादावेव संबन्धप्रयोजनज्ञापना-  
 र्थम् । निर्ज्ञातयोर्हि संबन्धप्रयोजनयोः विद्याश्रवणग्रहणधा-  
 रणाभ्यासार्थं प्रवर्तते । श्रवणादिपूर्वकं हि विद्याफलम्,  
 ‘श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः’ इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः ।  
 ब्रह्मवित्, ब्रह्मेति वक्ष्यमाणलक्षणम्, बृहत्तमत्वात् ब्रह्म,  
 तद्वेत्ति विजानातीति ब्रह्मवित्, आप्रोति प्राप्नोति परं निर-  
 तिशयम्; तदेव ब्रह्म परम्; न ह्यन्यस्य विज्ञानादन्यस्य  
 प्राप्तिः । स्पष्टं च श्रुत्यन्तरं ब्रह्मप्राप्तिमेव ब्रह्मविदो दर्श-

यति— ‘स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति’  
इत्यादि ॥

ननु, सर्वगतं सर्वस्य चात्मभूतं ब्रह्म वक्ष्यति । अतो  
नाप्यम् । आप्तिश्च अन्यस्यान्येन परिच्छिन्नस्य च परिच्छि-  
न्नेन दृष्टा । अपरिच्छिन्नं सर्वात्मकं च ब्रह्मेत्यतः परिच्छि-  
न्नवत् अनात्मवच्च तस्याप्तिरनुपपन्ना । नायं दोषः । कथम् ?  
दर्शनादर्शनापेक्षत्वाद्वह्मण आध्यनास्योः, परमार्थतो ब्रह्मस्व-  
रूपस्यापि सतः अस्य जीवस्य भूतमात्राकृतबाह्यपरिच्छि-  
न्नान्नमयाद्यात्मदर्शिनः तदासक्तचेतसः । प्रकृतसंख्यापूरण-  
स्यात्मनः अव्यवहितस्यापि बाह्यसंख्येयविषयासक्तचित्ततया  
स्वरूपाभावदर्शनवत् परमार्थब्रह्मस्वरूपाभावदर्शनलक्षणया  
अविद्यया अन्नमयादीन्बाह्यान्नात्मन आत्मत्वेन प्रतिपन्न-  
त्वात् अन्नमयाद्यानात्मभ्यो नान्योऽहमस्मीत्यभिमन्यते । एव-  
मविद्यया आत्मभूतमपि ब्रह्म अनाप्तं स्यात् । तस्यैवमवि-  
द्यया अनाप्तब्रह्मस्वरूपस्य प्रकृतसंख्यापूरणस्यात्मनः अवि-  
द्ययानाप्तस्य सतः केनचित्स्मारितस्य पुनस्तस्यैव विद्यया  
आप्तिर्यथा, तथा श्रुत्युपदिष्टस्य सर्वात्मब्रह्मण आत्मत्वदर्श-  
नेन विद्यया तदाप्तिरुपपद्यत एव । ब्रह्मविदाप्रोति परमिति  
वाक्यं सूत्रभूतं सर्वस्य वल्ल्यर्थस्य । ब्रह्मविदाप्रोति पर-

मित्यनेन वाक्येन वेद्यतया सूत्रितस्य ब्रह्मणोऽनिर्धारित-  
स्वरूपविशेषस्य सर्वतो व्यावृत्तस्वरूपविशेषसम्पर्णसमर्थस्य  
लक्षणस्याभिधानेन स्वरूपनिर्धारणाय अविशेषेण च उक्त-  
वेदनस्य ब्रह्मणो वक्ष्यमाणलक्षणस्य विशेषेण प्रत्यगात्मतया  
अनन्यरूपेण विज्ञेयत्वाय, ब्रह्मविद्याफलं च ब्रह्मविदो यत्प-  
रप्राप्तिलक्षणमुक्तम्, स सर्वात्मभावः सर्वसंसारधर्मातीत-  
ब्रह्मस्वरूपत्वमेव, नान्यदित्येतत्प्रदर्शनाय च एषा ऋगुदा-  
ह्रियते—तदेषाभ्युक्तेति । तत् तस्मिन्नेव ब्राह्मणवाक्योक्तार्थे  
एषा ऋक् अभ्युक्ता आम्नाता । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इति  
ब्रह्मणो लक्षणार्थं वाक्यम् । सत्यादीनि हि त्रीणि विशेष-  
णार्थानि पदानि विशेष्यस्य ब्रह्मणः । विशेष्यं ब्रह्म, विव-  
क्षितत्वाद्देद्यतया । वेद्यत्वेन यतो ब्रह्म प्राधान्येन विवक्षि-  
तम्, तस्माद्विशेष्यं विज्ञेयम् । अतः अस्माद्विशेषणविशे-  
ष्यत्वादेव सत्यादीनि एकविभक्त्यन्तानि पदानि समानाधि-  
करणानि । सत्यादिभिस्त्रिभिर्विशेषणैर्विशेष्यमाणं ब्रह्म विशे-  
ष्यान्तरेभ्यो निर्धार्यते । एवं हि तज्ज्ञातं भवति, यदन्येभ्यो  
निर्धारितम्; यथा लोके नीलं महत्सुगन्ध्युत्पलमिति । ननु,  
विशेष्यं विशेषणान्तरं व्यभिचरद्विशेष्यते, यथा नीलं रक्तं  
चोत्पलमिति; यदा ह्यनेकानि द्रव्याणि एकजातीयान्येक-

विशेषणयोगीनि च, तदा विशेषणस्यार्थवत्त्वम्; न ह्येकस्मिन्नेव वस्तुनि, विशेषणान्तरायोगात्; यथा असावेक आदित्य इति, तथा एकमेव ब्रह्म, न ब्रह्मान्तराणि, येभ्यो विशेष्येत नीलोत्पलवत् । न; लक्षणार्थत्वाद्विशेषणानाम् । नायं दोषः । कस्मात्? लक्षणार्थप्रधानानि विशेषणानि, न विशेषणप्रधानान्येव । कः पुनर्लक्षणलक्ष्ययोर्विशेषणविशेष्ययोर्वा विशेषः? उच्यते । सजातीयेभ्य एव निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य; लक्षणं तु सर्वत एव, यथा अवकाशप्रदात्राकाशमिति । लक्षणार्थं च वाक्यमित्यवोचाम ॥

सत्यादिशब्दा न परस्परं संबध्यन्ते, परार्थत्वात्; विशेष्यार्था हि ते । अत एव एकैको विशेषणशब्दः परस्परं निरपेक्षो ब्रह्मशब्देन संबध्यते— सत्यं ब्रह्म ज्ञानं ब्रह्म अनन्तं ब्रह्मेति । सत्यमिति यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति, तत्सत्यम् । यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं व्यभिचरति, तदनृतमित्युच्यते । अतो विकारोऽनृतम्, 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्', एवं सदेव सत्यमित्यवधारणात् । अतः 'सत्यं ब्रह्म' इति ब्रह्म विकारान्निवर्तयति । अतः कारणत्वं प्राप्तं ब्रह्मणः । कारणस्य च कारकत्वम्, वस्तुत्वात् मृद्वत् अचिद्रूपता च प्राप्ता; अत इदमुच्यते—

ज्ञानं ब्रह्मेति । ज्ञानं ज्ञप्तिः अवबोधः,— भावसाधनो ज्ञान-  
शब्दः— न तु ज्ञानकर्तृ, ब्रह्मविशेषणत्वात्सत्यानन्ताभ्यां  
सह । न हि सत्यता अनन्तता च ज्ञानकर्तृत्वे सत्युपपद्येते ।  
ज्ञानकर्तृत्वेन हि विक्रियमाणं कथं सत्यं भवेत्, अनन्तं च ?  
यद्धि न कुतश्चित्प्रविभज्यते, तदनन्तम् । ज्ञानकर्तृत्वे च  
ज्ञेयज्ञानाभ्यां प्रविभक्तमित्यनन्तता न स्यात्, ‘यत्र नान्य-  
द्विजानाति स भूमा, अथ यत्रान्यद्विजानाति तदल्पम्’ इति  
श्रुत्यन्तरात् । ‘नान्यद्विजानाति’ इति विशेषप्रतिषेधात् आ-  
त्मानं विजानातीति चेत्, न ; भूमलक्षणविधिपरत्वाद्वाक्य-  
स्य । ‘यत्र नान्यत्पश्यति’ इत्यादि भूमौ लक्षणविधिपरं  
वाक्यम् । यथाप्रसिद्धमेव अन्योऽन्यत्पश्यतीत्येतदुपादाय  
यत्र तन्नास्ति, स भूमा इति भूमस्वरूपं तत्र ज्ञाप्यते ।  
अन्यग्रहणस्य प्राप्तप्रतिषेधार्थत्वात् न स्वात्मनि क्रियास्तित्व-  
परं वाक्यम् । स्वात्मनि च भेदाभावाद्विज्ञानानुपपत्तिः ।  
आत्मनश्च विज्ञेयत्वे ज्ञातृभावप्रसङ्गः, ज्ञेयत्वेनैव विनियुक्त-  
त्वात् ॥

एक एवात्मा ज्ञेयत्वेन ज्ञातृत्वेन च उभयथा भवतीति  
चेत्, न ; युगपदनंशत्वात् । न हि निरवयवस्य युगपज्ज्ञेय-  
ज्ञातृत्वोपपत्तिः । आत्मनश्च घटादिवद्विज्ञेयत्वे ज्ञानोपदेशा-

नर्थक्यम् । न हि घटादिवत्प्रसिद्धस्य ज्ञानोपदेशः अर्थवान् । तस्मात् ज्ञातृत्वे सति आनन्त्यानुपपत्तिः । सन्मात्रत्वं चानुपपन्नं ज्ञानकर्तृत्वादिविशेषवत्त्वे सति ; सन्मात्रत्वं च सत्यम्, 'तत्सत्यम्' इति श्रुत्यन्तरात् । तस्मात्सत्यानन्तशब्दाभ्यां सह विशेषणत्वेन ज्ञानशब्दस्य प्रयोगाद्भावसाधनो ज्ञानशब्दः । 'ज्ञानं ब्रह्म' इति कर्तृत्वादिकारकनिवृत्त्यर्थं मृदादिवदचिद्रूपतानिवृत्त्यर्थं च प्रयुज्यते । 'ज्ञानं ब्रह्म' इति वचनात्प्राप्तमन्तवत्त्वम्, लौकिकस्य ज्ञानस्य अन्तवत्त्वदर्शनात् । अतः तन्निवृत्त्यर्थमाह—अनन्तमिति । सत्यादीनामनृतादिधर्मनिवृत्तिपरत्वाद्विशेष्यस्य च ब्रह्मणः उत्पलादिवदप्रसिद्धत्वात् 'मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः । एष वन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धरः' इतिवन् शून्यार्थतैव प्राप्ता सत्यादिवाक्यस्येति चेत्, न ; लक्षणार्थत्वात् । विशेषणत्वेऽपि सत्यादीनां लक्षणार्थप्राधान्यमित्यवोचाम । शून्ये हि लक्ष्ये अनर्थकं लक्षणवचनम् । अतः लक्षणार्थत्वान्मन्यामहे न शून्यार्थतेति । विशेषणार्थत्वेऽपि च सत्यादीनां स्वार्थापरित्याग एव । शून्यार्थत्वे हि सत्यादिशब्दानां विशेष्यनियन्तृत्वानुपपत्तिः । सत्याद्यर्थैरर्थवत्त्वे तु तद्विपरीतधर्मवद्भयो विशेष्येभ्यो ब्रह्मणो विशेष्यस्य

नियन्तृत्वमुपपद्यते । ब्रह्मशब्दोऽपि स्वार्थेनार्थवानेव । तत्र  
अनन्तशब्दः अन्तवत्त्वप्रतिषेधद्वारेण विशेषणम् । सत्य-  
ज्ञानशब्दौ तु स्वार्थसमर्पणेनैव विशेषणे भवतः ॥

‘तस्माद्वा एतस्मादात्मनः’ इति ब्रह्मण्येव आत्मशब्द-  
प्रयोगान् वेदितुरात्मैव ब्रह्म । ‘एतमानन्दमयमात्मानमुप-  
संक्रामति’ इति च आत्मतां दर्शयति । तत्प्रवेशाच्च ;  
‘तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्’ इति च तस्यैव जीवरूपेण  
शरीरप्रवेशं दर्शयति । अतो वेदितुः स्वरूपं ब्रह्म । एवं तर्हि,  
आत्मत्वाज्ज्ञानकर्तृत्वम् ; ‘आत्मा ज्ञाता’ इति हि प्रसिद्धम् ,  
‘सोऽकामयत’ इति च कामिनो ज्ञानकर्तृत्वप्रसिद्धिः ; अतो  
ज्ञानकर्तृत्वात् ज्ञप्तिर्ब्रह्मेत्युक्तम् ; अनित्यत्वप्रसङ्गाच्च ; यदि  
नाम ज्ञप्तिर्ज्ञानमिति भावरूपता ब्रह्मणः, तदाप्यनित्यत्वं  
प्रसज्येत ; पारतन्त्र्यं च, धात्वर्थानां कारकापेक्षत्वात्, ज्ञानं  
च धात्वर्थः ; अतोऽस्य अनित्यत्वं परतन्त्रता च । न ; स्व-  
रूपाव्यतिरेकेण कार्यत्वोपचारात् । आत्मनः स्वरूपं ज्ञप्तिः  
न ततो व्यतिरिच्यते । अतो नित्यैव । तथापि बुद्धेरुपाधि-  
लक्षणायाश्चक्षुरादिद्वारैर्विषयाकारपरिणामिन्याः ये शब्दा-  
द्याकारावभासाः, ते आत्मविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना  
एव आत्मविज्ञानेन व्याप्ता उत्पद्यन्ते । तस्मादात्मविज्ञाना-



वभास्याश्च ते विज्ञानशब्दवाच्याश्च धात्वर्थभूता आत्मन  
 एव धर्मा विक्रियारूपा इत्यविवेकिभिः परिकल्प्यन्ते । यत्तु  
 ब्रह्मणो विज्ञानम्, तत् सवितृप्रकाशवत् अग्न्युष्णत्ववच्च  
 ब्रह्मस्वरूपाव्यतिरिक्तं स्वरूपमेव तत् । न तत्कारणान्तरसव्य-  
 पेक्षम्, नित्यस्वरूपत्वात्, सर्वभावानां च तेनाविभक्तदेश-  
 कालत्वात् कालाकाशादिकारणत्वात् निरतिशयसूक्ष्मत्वाच्च ।  
 न तस्यान्यदविज्ञेयं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं भूतं भवद्भ-  
 विष्यद्वा अस्ति । तस्मात्सर्वज्ञं तद्ब्रह्म । मन्त्रवर्णाञ्च ‘अपाणि-  
 पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति  
 वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्’  
 इति । ‘न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽवि-  
 नाशित्वान्न तु तद्वितीयमस्ति’ इत्यादिश्रुतेश्च । विज्ञातृस्व-  
 रूपाव्यतिरेकात्करणादिनिमित्तानपेक्षत्वाच्च ब्रह्मणो ज्ञानस्व-  
 रूपत्वेऽपि नित्यत्वप्रसिद्धिः । अतो नैव धात्वर्थस्तत्, अक्रि-  
 यारूपत्वात् । अत एव च न ज्ञानकर्तृ; तस्मादेव च न  
 ज्ञानशब्दवाच्यमपि तद्ब्रह्म । तथापि तदाभासवाचकेन  
 बुद्धिधर्मविशेषेण ज्ञानशब्देन तल्लक्ष्यते; न तु उच्यते,  
 शब्दप्रवृत्तिहेतुजात्यादिधर्मरहितत्वात् । तथा सत्यशब्देनापि ।  
 सर्वविशेषप्रत्यस्तमितस्वरूपत्वाद्वह्मणः बाह्यसत्तासामान्यविष-

येण सत्यशब्देन लक्ष्यते 'सत्यं ब्रह्म' इति ; न तु सत्यश-  
ब्दवाच्यं ब्रह्म । एवं सत्यादिशब्दा इतरेतरसंनिधानादन्यो-  
न्यनियम्यनियामकाः सन्तः सत्यादिशब्दवाच्यात् निवर्तका  
ब्रह्मणः, लक्षणार्थाश्च भवन्तीति । अतः सिद्धम् 'यतो  
वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' 'अनिरुक्तेऽनिलयने'  
इति च अवाच्यत्वम्, नीलोत्पलवदवाक्यार्थत्वं च  
ब्रह्मणः ॥

तद्यथाव्याख्यातं ब्रह्म यः वेद विजानाति निहितं स्थितं  
गुहायाम्, गूहतेः संवरणार्थस्य निगूढा अस्यां ज्ञानज्ञेय-  
ज्ञातृपदार्था इति गुहा बुद्धिः, गूढावस्यां भोगापवर्गौ पुरु-  
षार्थाविति वा, तस्यां परमे प्रकृष्टे व्योमन् व्योम्नि आकाशे  
अव्याकृताख्ये ; तद्धि परमं व्योम, 'एतस्मिन्स्वत्वक्षरे  
गार्ग्याकाशः' इत्यक्षरसंनिकर्षात् ; 'गुहायां व्योमन्' इति  
वा सामानाधिकरण्यादव्याकृताकाशमेव गुहा ; तत्रापि नि-  
गूढाः सर्वे पदार्थास्त्रिषु कालेषु, कारणत्वात्सूक्ष्मतरत्वाच्च ;  
तस्मिन्नन्तर्निहितं ब्रह्म । हार्दमेव तु परमं व्योमेति न्याय्यम्,  
विज्ञानाङ्गत्वेन व्योम्नो विवक्षितत्वात् । 'यो वै स बहिर्धा  
पुरुषादाकाशो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशो योऽयम-  
न्तर्हृदय आकाशः' इति श्रुत्यन्तरात्प्रसिद्धं हार्दस्य व्योम्नः पर-

मत्वम् । तस्मिन्हादे व्योम्नि या बुद्धिर्गुहा, तस्यां निहितं ब्रह्म  
 तद्व्यावृत्त्या विविक्ततयोपलभ्यत इति । न ह्यन्यथा विशिष्ट-  
 देशकालसंबन्धोऽस्ति ब्रह्मणः, सर्वगतत्वान्निर्विशेषत्वाच्च । सः  
 एवं ब्रह्म विजानन् ; किमित्याह—अश्नुते भुङ्क्ते सर्वान् निर-  
 वशेषान् कामान् काम्यभोगानित्यर्थः । किमस्मदादिवत्पुत्रस्व-  
 र्गादीन्पर्यायेण ? नेत्याह— सह युगपत् एकक्षणोपारूढानेव  
 एकयोपलब्ध्या सवितृप्रकाशवन्नित्यया ब्रह्मस्वरूपाव्यतिरिक्त-  
 या, यामवोचाम 'सत्यं ज्ञानम्' इति । एतत्तदुच्यते—ब्रह्मणा  
 सहेति । ब्रह्मभूतो विद्वान् ब्रह्मस्वरूपेणैव सर्वान्कामान् सह  
 अश्नुते । न तथा यथोपाधिकृतेन स्वरूपेणात्मनो जलसूर्य-  
 कादिवत्प्रतिबिम्बभूतेन सांसारिकेण धर्मादिनिमित्तापेक्षांश्च-  
 क्षुरादिकरणपेक्षांश्च सर्वान्कामान्पर्यायेणाश्नुते लोकः । कथं  
 तर्हि ? यथोक्तेन प्रकारेण सर्वज्ञेन सर्वगतेन सर्वात्मना नित्य-  
 ब्रह्मात्मस्वरूपेण धर्मादिनिमित्तानपेक्षान् चक्षुरादिकरणानपे-  
 क्षांश्च सर्वान्कामान्सहाश्नुत इत्यर्थः । विपश्चिता मेधावि-  
 ना सर्वज्ञेन । तद्धि वैपश्चित्यम्, यत्सर्वज्ञत्वम् । तेन सर्व-  
 ज्ञस्वरूपेण ब्रह्मणा अश्नुत इति । इतिशब्दो मन्त्रपरिसमा-  
 प्त्यर्थः ॥

सर्व एव वल्ल्यर्थः 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति ब्राह्मण-

वाक्येन सूत्रितः । स च सूत्रितोऽर्थः संक्षेपतो मन्त्रेण व्याख्यातः । पुनस्तस्यैव विस्तरेणार्थनिर्णयः कर्तव्य इत्युत्तरस्तद्वृत्तिस्थानीयो ग्रन्थ आरभ्यते—तस्माद्वा एतस्मादित्यादिः । तत्र च ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इत्युक्तं मन्त्रादौ ; तत्कथं सत्यमनन्तं चेत्यत आह । त्रिविधं ज्ञानान्त्यम्—देशतः कालतो वस्तुतश्चेति । तद्यथा— देशतोऽनन्त आकाशः ; न हि देशतस्तस्य परिच्छेदोऽस्ति । न तु कालतश्चानन्त्यं वस्तुतश्च आकाशस्य । कस्मात् ? कार्यत्वात् । नैवं ब्रह्मण आकाशवत्कालतोऽप्यन्तवत्त्वम्, अकार्यत्वात् । कार्यं हि वस्तु कालेन परिच्छिद्यते । अकार्यं च ब्रह्म । तस्मात्कालतोऽब्रह्मानन्त्यम् । तथा वस्तुतः । कथं पुनर्वस्तुत आनन्त्यम् ? सर्वानन्त्यत्वात् । भिन्नं हि वस्तु वस्त्वन्तरस्य अन्तो भवति ; वस्त्वन्तरबुद्धिर्हि प्रसक्ताद्वस्त्वन्तरान्निवर्तते । यतो यस्य बुद्धेर्निवृत्तिः, स तस्यान्तः । तद्यथा गोत्वबुद्धिरश्वत्वान्निवर्तते इत्यश्वत्वान्तं गोत्वमित्यन्तवदेव भवति । स चान्तो भिन्नेषु वस्तुषु दृष्टः । नैवं ब्रह्मणो भेदः । अतो वस्तुतोऽप्यनन्त्यम् । कथं पुनः सर्वानन्त्यत्वं ब्रह्मण इति, उच्यते— सर्ववस्तुकारणत्वात् । सर्वेषां हि वस्तूनां कालाकाशादीनां कारणं ब्रह्म । कार्यापेक्षया वस्तुतोऽन्तवत्त्वमिति चेत्, न ; अनृ-

तत्त्वात्कार्यस्य वस्तुनः । न हि कारणव्यतिरेकेण कार्यं नाम वस्तुतोऽस्ति, यतः कारणबुद्धिर्विनिवर्तेत ; 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' एवं सदेव सत्यमिति श्रुत्यन्तरात् । तस्मादाकाशादिकारणत्वाद्देशतस्तावदनन्तं ब्रह्म । आकाशो ह्यनन्त इति प्रसिद्धं देशतः ; तस्येदं कारणम् ; तस्मात्प्रसिद्धं देशत आत्मन आनन्त्यम् । न ह्यसर्वगतात्सर्वगतमुत्पद्यमानं लोके किञ्चिद्दृश्यते । अतो निरतिशयमात्मन आनन्त्यं देशतः । तथा अकार्यत्वात्कालतः ; तद्विन्नवस्त्वन्तराभावाच्च वस्तुतः । अत एव निरतिशयसत्यत्वम् ॥

तस्मात् इति मूलवाक्यसूत्रितं ब्रह्म परामृश्यते ; एतस्मात् इति मन्त्रवाक्येन अनन्तरं यथालक्षितम् । यद्ब्रह्म आदौ ब्राह्मणवाक्येन सूत्रितम्, यच्च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यनन्तरमेव लक्षितम्, तस्मादेतस्माद्ब्रह्मण आत्मनः आत्मशब्दवाच्यात् ; आत्मा हि तत् सर्वस्य, 'तत्सत्यं स आत्मा' इति श्रुत्यन्तरात् ; अतो ब्रह्म आत्मा ; तस्मादेतस्माद्ब्रह्मण आत्मस्वरूपात् आकाशः संभूतः समुत्पन्नः । आकाशो नाम शब्दगुणः अवकाशकरो मूर्तद्रव्याणाम् । तस्मात् आकाशात् स्वेन स्पर्शगुणेन पूर्वेण च आकाशगुणेन शब्देन द्विगुणः वायुः, संभूत इत्यनुवर्तते । वायोश्च स्वेन रूपगुणेन पूर्वाभ्यां च त्रि-

गुणः अग्निः संभूतः । अग्नेश्च स्वेन रसगुणेन पूर्वैश्च त्रिभिः  
चतुर्गुणा आपः संभूताः । अद्भ्यः स्वेन गन्धगुणेन पूर्वैश्च  
चतुर्भिः पञ्चगुणा पृथिवी संभूता । पृथिव्याः ओषधयः । ओ-  
षधीभ्यः अन्नम् । अन्नात् रेतोरूपेण परिणतात् पुरुषः शिरः-  
पाण्याद्याकृतिमान् । स वै एष पुरुषः अन्नरसमयः अन्नर-  
सविकारः पुरुषाकृतिभावितं हि सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजःसंभूतं  
रेतो बीजम् । तस्माद्यो जायते, सोऽपि तथा पुरुषाकृतिरेव  
स्यात् ; सर्वजातिषु जायमानानां जनकाकृतिनियमदर्शनात् ।  
सर्वेषामप्यन्नरसविकारत्वे ब्रह्मवंश्यत्वे च अविशिष्टे, कस्मात्पु-  
रुष एव गृह्यते ? प्राधान्यात् । किं पुनः प्राधान्यम् ? कर्म-  
ज्ञानाधिकारः । पुरुष एव हि शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वाच्च  
कर्मज्ञानयोरधिक्रियते, ‘पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा स हि  
प्रज्ञानेन संपन्नतमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद  
श्चस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीक्षतीत्येवं संपन्नः ;  
अथेतरेषां पशूनामशनायापिपासे एवाभिविज्ञानम्’ इत्यादि  
श्रुत्यन्तरदर्शनात् ॥

स हि पुरुषः इह विद्यया आन्तरतमं ब्रह्म संक्रामयितु-  
मिष्टः । तस्य च बाह्याकारविशेषेष्वनात्मसु आत्मभावितानु-  
द्धिः विना आलम्बनविशेषं कंचिन् सहसा आन्तरतमप्रत्य-

गात्मविषया निरालम्बना च कर्तुमशक्येति दृष्टशरीरात्मसा-  
मान्यकल्पनया शाखाचन्द्रनिदर्शनवदन्तः प्रवेशयन्नाह—त-  
स्येदमेव शिरः । तस्य अस्य पुरुषस्यान्नरसमयस्य इदमेव  
शिरः प्रसिद्धम् । प्राणमयादिष्वशिरसां शिरस्त्वदर्शनादिहा-  
पि तत्प्रसङ्गो मा भूदिति इदमेव शिर इत्युच्यते । एवं प-  
क्षादिषु योजना । अयं दक्षिणो बाहुः पूर्वाभिमुखस्य दक्षि-  
णः पक्षः । अयं सव्यो बाहुः उत्तरः पक्षः । अयं मध्यमो  
देहभागः आत्मा अङ्गानाम्, ‘मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा’ इति  
श्रुतेः । इदमिति नाभेरधस्ताद्यदङ्गम्, तत् पुच्छं प्रतिष्ठा ।  
प्रतितिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा । पुच्छमिव पुच्छम्, अधोलम्बन-  
सामान्यात्, यथा गोः पुच्छम् । एतत्प्रकृत्य उत्तरेषां प्राण-  
मयादीनां रूपकत्वसिद्धिः, मूषानिषिक्तद्रुतताम्रप्रतिमावत् ।  
तदप्येष श्लोको भवति । तत् तस्मिन्नेवार्थे ब्राह्मणोक्ते अन्न-  
मयात्मप्रकाशके एष श्लोकः मन्त्रः भवति ॥

इति प्रथमानुवाकभाष्यम् ॥

## द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च  
पृथिवीः श्रिताः । अथो अन्नेनैव जीवन्ति ।  
अथैनदपि यन्त्यन्ततः । अन्नं हि भूतानां  
ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । सर्वं वै  
तेऽन्नमाप्नुवन्ति । येऽन्नं ब्रह्मोपासते ।  
अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौष-  
धमुच्यते । अन्नाद्भूतानि जायन्ते । जाता-  
न्यन्नेन वर्धन्ते । अद्यतेऽस्ति च भूतानि ।  
तस्मादन्नं तदुच्यते इति । तस्माद्वा एत-  
स्मादन्नरसमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा  
प्राणमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुष-  
विध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं  
पुरुषविधः । तस्य प्राण एव शिरः । व्या-  
नो दक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः ।



आकाश आत्मा । पृथिवी पुच्छं प्रति-  
ष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अन्नात् रसादिभावपरिणतात्, वै इति स्मरणार्थः, प्रजाः  
स्थावरजङ्गमात्मकाः, प्रजायन्ते । याः काश्च अविशिष्टाः पृथिवीं  
श्रिताः पृथिवीमाश्रिताः, ताः सर्वा अन्नादेव प्रजायन्ते । अथो  
अपि, जाताः अन्नेनैव जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति, वर्धन्त  
इत्यर्थः । अथ अपि, एनत् अन्नम्, अपियन्ति अपिगच्छन्ति,  
अपि शब्दः प्रतिशब्दार्थे, अन्नं प्रति लीयन्त इत्यर्थः; अन्ततः  
अन्ते जीवनलक्षणाया वृत्तेः परिसमाप्तौ । कस्मात्? अन्नं  
हि यस्मात् भूतानां प्राणिनां ज्येष्ठं प्रथमजम् । अन्नमयादीनां  
हि इतरेषां भूतानां कारणमन्नम्; अतः अन्नप्रभवा अन्न-  
जीवना अन्नप्रलयाश्च सर्वाः प्रजाः । यस्माच्चैवम्, तस्मात्  
सर्वौषधं सर्वप्राणिनां देहदाहप्रशमनमन्नमुच्यते ॥

अन्नब्रह्मविदः फलमुच्यते— सर्वं वै ते समस्तमन्नजा-  
तम् आप्नुवन्ति । के? ये अन्नं ब्रह्म यथोक्तम् उपासते ।  
कथम्? अन्नजोऽन्नात्मान्नप्रलयोऽहम्, तस्मादन्नं ब्रह्म इति ।  
कुतः पुनः सर्वान्नप्राप्तिफलमन्नात्मोपासनमिति, उच्यते—

अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठं भूतेभ्यः पूर्वमुत्पन्नत्वाज्ज्येष्ठं हि य-  
स्मात्, तस्मात्सर्वौषधमुच्यते; तस्मादुपपन्ना सर्वान्नात्मोपा-  
सकस्य सर्वान्नप्राप्तिः । अन्नाद्भूतानि जायन्ते, जातान्यन्नेन  
वर्धन्ते इति उपसंहारार्थं पुनर्वचनम् । इदानीमन्नशब्दनिर्वच-  
नमुच्यते—अद्यते भुज्यते चैव यद्भूतैः अस्ति च भूतानि  
स्वयम्, तस्मात् भूतैर्भुज्यमानत्वाद्भूतभोक्तृत्वाच्च अन्नं तत्  
उच्यते । इतिशब्दः प्रथमकोशपरिसमाप्त्यर्थः । अन्नमया-  
दिभ्य आनन्दमयान्तेभ्य आत्मभ्यः अभ्यन्तरतमं ब्रह्म वि-  
द्यया प्रत्यगात्मत्वेन दिदर्शयिषु शास्त्रम् अविद्याकृतपञ्चको-  
शापनयनेन अनेकतुषकोद्रववितुषीकरणेनेव तण्डुलान् प्रस्तौ-  
ति—तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादित्यादि । तस्माद्वै एतस्मा-  
त् यथोक्तात् अन्नरसमयात्पिण्डात् अन्यः व्यतिरिक्तः अ-  
न्तरः अभ्यन्तरः आत्मा पिण्डवदेव मिथ्यापरिकल्पित आ-  
त्मत्वेन प्राणमयः, प्राणः वायुः, तन्मयः तत्प्रायः ।  
तेन प्राणमयेन एषः अन्नरसमय आत्मा पूर्णः वायु-  
नेव दृतिः । स वै एष प्राणमय आत्मा पुरुषविध  
एव पुरुषाकार एव शिरःपश्चादिभिः । किं स्वत एव? ने-  
त्याह— प्रसिद्धं तावदन्नरसमयस्यात्मनः पुरुषविधत्वम्;  
तस्य अन्नरसमयस्य पुरुषविधतां पुरुषाकारताम् अनु अर्थं

प्राणमयः पुरुषविधः मूषानिषिक्तप्रतिमावत् , न स्वत एव ।  
 एवं पूर्वस्य पूर्वस्य पुरुषविधता ; तामनु उत्तरोत्तरः पुरुष-  
 विधो भवति, पूर्वः पूर्वश्चोत्तरोत्तरेण पूर्णः । कथं पुनः पुरु-  
 षविधता अस्येति, उच्यते— तस्य प्राणमयस्य प्राण एव  
 शिरः प्राणमयस्य वायुविकारस्य प्राणः मुखनासिकानिः-  
 सरणो वृत्तिविशेषः शिर इति कल्प्यते, वचनात् । सर्वत्र  
 वचनादेव पक्षादिकल्पना । व्यानः व्यानवृत्तिः दक्षिणः  
 पक्षः । अपानः उत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा, य आका-  
 शस्थो वृत्तिविशेषः समानाख्यः, स आत्मेव आत्मा प्राणवृ-  
 त्त्यधिकारात् । मध्यस्थत्वादितराः पर्यन्ता वृत्तीरपेक्ष्य आ-  
 त्मा ; ‘मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा’ इति प्रसिद्धं मध्यस्थ-  
 स्यात्मत्वम् । पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । पृथिवीति पृथिवीदे-  
 वता आध्यात्मिकस्य प्राणस्य धारयित्री स्थितिहेतुत्वात् ।  
 ‘सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य’ इति हि श्रुत्यन्तरम् । अन्यथा  
 उदानवृत्त्या ऊर्ध्वगमनं गुरुत्वात्पतनं वा स्याच्छरीरस्य ।  
 तस्मात्पृथिवी देवता पुच्छं प्रतिष्ठा प्राणमयस्य आत्मनः ।  
 तत् तस्मिन्नेवार्थे प्राणमयात्मविषये एष श्लोको भवति ॥

इति द्वितीयानुवाकभाष्यम् ॥

## तृतीयोऽनुवाकः ॥

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति । मनुष्याः  
पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः ।  
तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । सर्वमेव त आयु-  
र्यन्ति । ये प्राणं ब्रह्मोपासते । प्राणो हि  
भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यत  
इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः  
पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात् ।  
अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैष  
पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य  
पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुषविधः । तस्य  
यजुरेव शिरः । ऋग्दक्षिणः पक्षः । सामो-  
त्तरः पक्षः । आदेश आत्मा । अथर्वाङ्गि-  
रसः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको  
भवति ॥ १ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति । अग्न्यादयः देवाः प्राणं वा-  
 य्वात्मानं प्राणनशक्तिमन्तम् अनु तदात्मभूताः सन्तः प्रा-  
 णन्ति प्राणनकर्म कुर्वन्ति, प्राणनक्रियया क्रियावन्तो भव-  
 न्ति । अध्यात्माधिकारात् देवाः इन्द्रियाणि प्राणमनु प्राण-  
 न्ति मुख्यप्राणमनु चेष्टन्त इति वा । तथा मनुष्याः पशवश्च  
 ये, ते प्राणनकर्मणैव चेष्टावन्तो भवन्ति । अतश्च नान्नमये-  
 नैव परिच्छिन्नात्मना आत्मवन्तः प्राणिनः । किं तर्हि ? तद-  
 न्तर्गतप्राणमयेनापि साधारणेनैव सर्वपिण्डव्यापिना आत्म-  
 वन्तो मनुष्यादयः । एवं मनोमयादिभिः पूर्वपूर्वव्यापिभिः  
 उत्तरोत्तरैः सूक्ष्मैः आनन्दमयान्तैराकाशादिभूतारब्धैरवि-  
 द्याकृतैः आत्मवन्तः सर्वे प्राणिनः ; तथा, स्वाभाविकेना-  
 प्याकाशादिकारणेन नित्येनाविकृतेन सर्वगतेन सत्यज्ञाना-  
 न्तलक्षणेन पञ्चकोशातिगेन सर्वात्मना आत्मवन्तः ; स हि  
 परमार्थत आत्मा सर्वेषामित्येतदप्यर्थादुक्तं भवति । प्राणं देवा  
 अनु प्राणन्तीत्याद्युक्तम् ; तत्कस्मादित्याह—प्राणः हि यस्मात्  
 भूतानां प्राणिनाम् आयुः जीवनम्, 'यावद्धयस्मिञ्शरीरे  
 प्राणो वसति तावदेवायुः' इति श्रुत्यन्तरात् । तस्मात्  
 सर्वायुषम्, सर्वेषामायुः सर्वायुः, सर्वायुरेव सर्वायुषम्  
 इत्युच्यते ; प्राणापगमे मरणप्रसिद्धेः । प्रसिद्धं हि लोके

सर्वायुधं प्राणस्य । अतः अस्माद्वाह्यादसाधारणादन्नमयादात्मनोऽपक्रम्य अन्तः साधारणं प्राणमयमात्मानं ब्रह्म उपासते ये ‘अहमस्मि प्राणः सर्वभूतानामात्मा आयुः, जीव-नहेतुत्वात्’ इति, ते सर्वमेव आयुः अस्मिँल्लोके यन्ति; नापमृत्युना म्रियन्ते प्राक्प्राप्तादायुष इत्यर्थः । शतं वर्षाणीति तु युक्तम्, ‘सर्वमायुरेति’ इति श्रुतिप्रसिद्धेः । किं कारणम्?—प्राणो हि भूतानामायुः तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति । यो यद्गुणकं ब्रह्मोपास्ते, स तद्गुणभागभवतीति विद्याफलप्राप्तेर्हेत्वर्थं पुनर्वचनम्— प्राणो हीत्यादि । तस्य पूर्वस्य अन्नमयस्य एष एव शरीरे अन्नमये भवः शरीरः आत्मा । कः? य एष प्राणमयः । तस्माद्वा एतस्मादित्याद्युक्तार्थमन्यत् । अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । मन इति संकल्पविकल्पात्मकमन्तःकरणम्, तन्मयो मनोमयः; सोऽयं प्राणमयस्याभ्यन्तर आत्मा । तस्य यजुरेव शिरः । यजुरिति अनियताक्षरपादावसानो मन्त्रविशेषः; तज्जातीयवचनो यजुःशब्दः; तस्य शिरस्त्वम्, प्राधान्यात् । प्राधान्यं च यागादौ संनिपत्योपकारकत्वात् यजुषा हि हविर्दीयते स्वाहाकारादिना ॥

वाचनिकी वा शिरआदिकल्पना सर्वत्र । मनसो हि

स्थानप्रयत्ननादस्वरवर्णपदवाक्यविषया तत्संकल्पात्मिका तद्भाविता वृत्तिः श्रोत्रकरणद्वारा यजुःसंकेतेन विशिष्टा यजुरित्युच्यते । एवम् ऋक्; एवं साम च । एवं च मनोवृत्तित्वे मन्त्राणाम्, वृत्तिरेव आवर्त्यत इति मानसो जप उपपद्यते । अन्यथा अविषयत्वान्मन्त्रो नावर्तयितुं शक्यः घटादिवत् इति मानसो जपो नोपपद्यते । मन्त्रावृत्तिश्चोद्यते बहुशः कर्मसु । अक्षरविषयस्मृत्यावृत्त्या मन्त्रावृत्तिः स्यात् इति चेत्, न; मुख्यार्थासंभवात् । ‘त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुक्तमाम्’ इति ऋगावृत्तिः श्रूयते । तत्र ऋचः अविषयत्वे तद्विषयस्मृत्यावृत्त्या मन्त्रावृत्तौ च क्रियमाणायाम् ‘त्रिः प्रथमामन्वाह’ इति ऋगावृत्तिर्मुख्योऽर्थश्चोदितः परित्यक्तः स्यात् । तस्मान्मनोवृत्त्युपाधिपरिच्छिन्नं मनोवृत्तिनिष्ठमात्मचैतन्यमनादिनिधनं यजुःशब्दवाच्यम् आत्मविज्ञानं मन्त्रा इति । एवं च नित्यत्वोपपत्तिर्वेदानाम् । अन्यथाविषयत्वे रूपादिवदनित्यत्वं च स्यात्; नैतद्युक्तम् । ‘सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति स मानसीन आत्मा’ इति च श्रुतिः नित्यात्मनैकत्वं ब्रुवन्ती ऋगादीनां नित्यत्वे समञ्जसा स्यात् । ‘ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः’ इति च मन्त्रवर्णः । आदेशः अत्र ब्राह्मणम्, आदेष्टव्यवि-

शेषानादिशतीति । अथर्वणाङ्गिरसा च दृष्ट्वा मन्त्रा ब्राह्मणं च  
शान्तिकपौष्टिकादिप्रतिष्ठाहेतुकर्मप्रधानत्वात् पुच्छं प्रतिष्ठा ।  
तदप्येष श्लोको भवति मनोमयात्मप्रकाशकः पूर्ववत् ॥

इति तृतीयानुवाकभाष्यम् ॥



## चतुर्थोऽनुवाकः ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा  
सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न वि-  
भेति कदाचनेति । तखैष एव शारीर  
आत्मा । यः पूर्वख । तस्माद्वा एतस्मान्म-  
नोमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञान-  
मयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध  
एव । तख पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुष-  
विधः । तस्य श्रद्धैव शिरः । ऋतं दक्षिणः  
पक्षः । सत्यमुत्तरः पक्षः । योग आत्मा ।  
महः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको  
भवति ॥ १ ॥

## इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेत्यादि । तस्य  
पूर्वस्य प्राणमयस्य एष एव आत्मा शारीरः शरीरे प्राणमये  
भवः शारीरः । कः ? य एष मनोमयः । तस्माद्वा एतस्मा-

दिति पूर्ववत् । अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः मनोमय-  
स्याभ्यन्तरो विज्ञानमयः । मनोमयो वेदात्मा उक्तः । वे-  
दार्थविषया बुद्धिर्निश्चयात्मिका विज्ञानम्, तच्चाध्यवसायल-  
क्षणमन्तःकरणस्य धर्मः, तन्मयः निश्चयविज्ञानैः प्रमाणस्व-  
रूपैर्निर्वर्तितः आत्मा विज्ञानमयः प्रमाणविज्ञानपूर्वको हि  
यज्ञादिः तायते । यज्ञादिहेतुत्वं च वक्ष्यति श्लोकेन । निश्च-  
यविज्ञानवतो हि कर्तव्येष्वर्थेषु पूर्वं श्रद्धा उपपद्यते । सा  
सर्वकर्तव्यानां प्राथम्यात् शिर इव शिरः । ऋतसत्ये यथा-  
व्याख्याते एव । योगः युक्तिः समाधानम् आत्मैव आत्मा ।  
आत्मवतो हि युक्तस्य समाधानवतः अङ्गानीव श्रद्धादीनि  
यथार्थप्रतिपत्तिक्षमाणि भवन्ति । तस्मात्समाधानं योग आ-  
त्मा विज्ञानमयस्य । महः पुच्छं प्रतिष्ठा । मह इति महत्त-  
त्त्वं प्रथमजम्, 'महद्यक्षं प्रथमजं वेद' इति श्रुत्यन्तरात्,  
पुच्छं प्रतिष्ठा कारणत्वात् । कारणं हि कार्याणां प्रतिष्ठा,  
यथा वृक्षवीरुधां पृथिवी । सर्वविज्ञानानां च महत्तत्त्वं का-  
रणम् । तेन तद्विज्ञानमयस्यात्मनः प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लो-  
को भवति पूर्ववत् । यथा अन्नमयादीनां ब्राह्मणोक्तानां प्र-  
काशकाः श्लोकाः, एवं विज्ञानमयस्यापि ॥

इति चतुर्थानुवाकभाष्यम् ॥

## पञ्चमोऽनुवाकः ॥

विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्माणि तनुते-  
ऽपि च । विज्ञानं देवाः सर्वे । ब्रह्म ज्येष्ठ-  
मुपासते । विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद । तस्माच्चेन्न  
प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा । सर्वा-  
न्कामान्समश्नुत इति । तस्यैष एव शा-  
रीर आत्मा । यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एत-  
स्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा-  
नन्दमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुष-  
विध एव । तस्य पुरुष विधताम् । अन्वयं  
पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो  
दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आ-  
नन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । तद-  
प्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

विज्ञानं यज्ञं तनुते, विज्ञानवान्हि यज्ञं तनोति श्रद्धापूर्वकम्; अतो विज्ञानस्य कर्तृत्वं तनुत इति । कर्माणि च तनुते । यस्माद्विज्ञानकर्तृकं सर्वम्, तस्माद्युक्तं विज्ञानमय आत्मा ब्रह्मेति । किंच, विज्ञानं ब्रह्म सर्वे देवाः इन्द्रादयः ज्येष्ठम्, प्रथमजत्वान्; सर्ववृत्तीनां वा तत्पूर्वकत्वात्प्रथमजं विज्ञानं ब्रह्म उपासते ध्यायन्ति, तस्मिन्विज्ञानमये ब्रह्मण्यभिमानं कृत्वा उपासत इत्यर्थः । तस्मात्ते महतो ब्रह्मण उपासनात् ज्ञानैश्वर्यवन्तो भवन्ति । तच्च विज्ञानं ब्रह्म चेत् यदि वेद विजानाति; न केवलं वेदैव, तस्मात् ब्रह्मणः चेत् न प्रमाद्यति; बाह्येष्वनात्मस्वात्मा भावितः; तस्मात्प्राप्तं विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्मभावनायाः प्रमदनम्; तन्निवृत्त्यर्थमुच्यते— तस्माच्चेन्न प्रमाद्यतीति । अन्नमयादिष्वात्मभावं हित्वा केवले विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्मत्वं भावयन्नास्ते चेदित्यर्थः । ततः किं स्यादिति, उच्यते— शरीरे पाप्मनो हित्वा; शरीराभिमाननिमित्ता हि सर्वे पाप्मानः; तेषां च विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्माभिमानान् निमित्तापाये हानमुपपद्यते, छत्रापाय इव च्छायायाः । तस्मात् शरीराभिमाननिमित्तान्सर्वान् पाप्मनः शरीरप्रभवान् शरीरे एव हित्वा विज्ञानमय-ब्रह्मस्वरूपापन्नः तत्स्थान् सर्वान् कामान् विज्ञानमयेनैवा-

त्मना समश्नुते सम्यग्भुङ्क्ते इत्यर्थः । तस्य पूर्वस्य मनो-  
मयस्य आत्मा एष एव शरीरे मनोमये भवः शारीरः ।  
कः? य एष विज्ञानमयः । तस्माद्वा एतस्मादित्युक्ता-  
र्थम् । आनन्दमय इति कार्यात्मप्रतीतिः, अधिकारान्  
मयदशब्दाच्च । अन्नादिमया हि कार्यात्मानो भौतिका इहा-  
धिकृताः । तदधिकारपतितश्चायमानन्दमयः । मयद् चात्र  
विकारार्थे दृष्टः, यथा अन्नमय इत्यत्र । तस्मात्कार्यात्मा  
आनन्दमयः प्रत्येतव्यः । संक्रमणाच्च । ‘आनन्दमयमा-  
त्मानमुपसंक्रामति’ इति वक्ष्यति । कार्यात्मनां च संक्र-  
मणमन्नात्मनां दृष्टम् । संक्रमणकर्मत्वेन च आनन्दमय आत्मा  
श्रूयते, यथा ‘अन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति’ इति । न च  
आत्मन एवोपसंक्रमणम्, अधिकारविरोधात् । असंभवाच्च ।  
न ह्यात्मनैव आत्मन उपसंक्रमणं संभवति, स्वात्मनि भेदा-  
भावात्; आत्मभूतं च ब्रह्म संक्रमितुः । शिरआदि-  
कल्पनानुपपत्तेश्च । न हि यथोक्तलक्षणे आकाशादि-  
कारणे अकार्यपतिते शिरआद्यवयवरूपकल्पना उपपद्यते ।  
‘अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने’ ‘अस्थूलमनणु’ ‘नेति  
नेत्यात्मा’ इत्यादिविशेषापोहश्रुतिभ्यश्च । मन्त्रोदाहरणानुपप-  
त्तेश्च । न हि, प्रियशिरआद्यवयवविशिष्टे प्रत्यक्षतोऽनुभूय-

माने आनन्दमये आत्मनि ब्रह्मणि नास्ति ब्रह्मेत्याशङ्काभा-  
वात् ‘असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्’  
इति मन्त्रोदाहरणमुपपद्यते । ‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ इत्यपि  
चानुपपन्नं पृथग्ब्रह्मणः प्रतिष्ठात्वेन ग्रहणम् । तस्मात्कार्यप-  
तित एवानन्दमयः, न पर एवात्मा । आनन्द इति वि-  
द्याकर्मणोः फलम्, तद्विकार आनन्दमयः । स च विज्ञा-  
नमयादान्तरः, यज्ञादिहेतोर्विज्ञानमयादस्यान्तरत्वश्रुतेः ।  
ज्ञानकर्मणोर्हि फलं भोक्तृत्वत्वादान्तरतमं स्यात्; आन्तरत-  
मश्च आनन्दमय आत्मा पूर्वेभ्यः । विद्याकर्मणोः प्रियाद्यर्थ-  
त्वाच्च । प्रियादिप्रयुक्ते हि विद्याकर्मणी; तस्मात्प्रियादीनां फ-  
लरूपाणामात्मसंनिकर्षात् विज्ञानमयादस्याभ्यन्तरत्वमुपपद्य-  
ते; प्रियादिवासनानिर्वर्तितो ह्यात्मा आनन्दमयो विज्ञानम-  
याश्रितः स्वप्ने उपलभ्यते । तस्य आनन्दमयस्यात्मनः इष्टपु-  
त्रादिदर्शनजं प्रियं शिर इव शिरः, प्राधान्यात् । मोद इति  
प्रियलाभनिमित्तो हर्षः । स एव च प्रकृष्टो हर्षः प्रमोदः ।  
आनन्द इति सुखसामान्यम् आत्मा प्रियादीनां सुखावयवा-  
नाम्, तेष्वनुस्यूतत्वात् । आनन्द इति परं ब्रह्म; तद्वि-  
शुभकर्मणा प्रत्युपस्थाप्यमाने पुत्रमित्रादिविषयविशेषो-  
पाधौ अन्तःकरणवृत्तिविशेषे तमसा अप्रच्छाद्यमाने प्रसन्ने

अभिव्यज्यते । तद्विषयसुखमिति प्रसिद्धं लोके । तद्वृ-  
 त्तिविशेषप्रत्युपस्थापकस्य कर्मणोऽनवस्थितत्वात् सुखस्य क्ष-  
 णिकत्वम् । तद्यदन्तःकरणं तपसा तमोग्नेन विद्यया  
 ब्रह्मचर्येण श्रद्धया च निर्मलत्वमापद्यते यावत्, तावत्  
 विविक्ते प्रसन्ने अन्तःकरणे आनन्दविशेष उत्कृष्यते विपुली-  
 भवति । वक्ष्यति च—‘रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा-  
 नन्दी भवति, एष ह्येवानन्दयाति, एतस्यैवानन्दस्यान्यानि  
 भूतानि मात्रामुपजीवन्ति’ इति श्रुत्यन्तरात् । एवं च का-  
 मोपशमोत्कर्षापेक्षया शतगुणोत्तरोत्तरोत्कर्षः आनन्दस्य व-  
 क्ष्यते । एवं च उत्कृष्यमाणस्य आनन्दमयस्यात्मनः पर-  
 मार्थब्रह्मविज्ञानापेक्षया ब्रह्म परमेव यत्प्रकृतं सत्यज्ञानानन्त-  
 लक्षणम्, यस्य च प्रतिपत्त्यर्थं पञ्च अन्नादिमयाः कोशा उप-  
 न्यस्ताः, यच्च तेभ्य आभ्यन्तरम्, येन च ते सर्वे आत्मवन्तः,  
 तत् ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । तदेव च सर्वस्याविद्यापरिकल्पितस्य  
 द्वैतस्य अवसानभूतम् अद्वैतं ब्रह्म प्रतिष्ठा, आनन्दमयस्य  
 एकत्वावसानत्वात् । अस्ति तदेकमविद्याकल्पितस्य द्वैतस्या-  
 वसानभूतमद्वैतं ब्रह्म प्रतिष्ठा पुच्छम् । तदेतस्मिन्नप्यर्थे एष  
 श्लोको भवति ॥

इति पञ्चमानुवाकभाष्यम् ॥

## षष्ठोऽनुवाकः ॥

असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद  
चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं  
ततो विदुरिति । तस्यैष एव शारीर  
आत्मा । यः पूर्वस्य । अथातोऽनुप्रश्नाः ।  
उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य । कश्चन ग-  
च्छती ३ । आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य ।  
कश्चित्समश्नुता ३ उ । सोऽकामयत ।  
बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स  
तपस्तप्त्वा । इदं सर्वमसृजत । यदिदं  
किंच । तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत् ।  
तदनुप्रविश्य । सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं  
चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च  
विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च  
सत्यमभवत् । यदिदं किंच । तत्सत्यमि-



त्याचक्षते । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

असन्नेव असत्सम एव, यथा असन् अपुरुषार्थसंबन्धी, एवं सः भवति अपुरुषार्थसंबन्धी । कोऽसौ? यः असत् अविद्यमानं ब्रह्म इति वेद विजानाति चेत् यदि । तद्विपर्ययेण यत्सर्वविकल्पास्पदं सर्वप्रवृत्तिबीजं सर्वविशेषप्रत्यस्तमितमपि, अस्ति तत् ब्रह्म इति वेद चेत्, कुतः पुनराशङ्का तन्नास्तित्वे? व्यवहारातीतत्वं ब्रह्मण इति ब्रूमः । व्यवहारविषये हि वाचारम्भणमात्रे अस्तित्वभावितबुद्धिः तद्विपरीते व्यवहारातीते नास्तित्वमपि प्रतिपद्यते । यथा ‘घटादिव्यवहारविषयतयोपपन्नः सन्, तद्विपरीतः असन्’ इति प्रसिद्धम्, एवं तत्सामान्यादिहापि स्याद्ब्रह्मणो नास्तित्वं प्रत्याशङ्का । तस्मादुच्यते— अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेदेति । किं पुनः स्यात्तदस्तीति विजानतः? तदाह— सन्तं विद्यमानं ब्रह्मस्वरूपेण परमार्थसदात्मापन्नम् एनम् एवंविदं विदुः ब्रह्मविदः । ततः तस्मात् अस्तित्ववेदनात् सः अन्येषां ब्रह्मवद्विज्ञेयो भवतीत्यर्थः । अथवा यो नास्ति ब्रह्मेति मन्यते, स सर्वस्यैव सन्मार्गस्य वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणस्य नास्तित्वं प्रतिपद्यते; ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वात्तस्य । अतः नास्तिकः सः असन्

असाधुरुच्यते लोके । तद्विपरीतः सन् यः अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेदः, स तद्ब्रह्मप्रतिपत्तिहेतुं सन्मार्गं वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणं श्रद्धाधानतया यथावत्प्रतिपद्यते यस्मात्, ततः तस्मात् सन्तं साधुमार्गस्थम् एनं विदुः साधवः । तस्मादस्तीत्येव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमिति वाक्यार्थः । तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्य एष एव शरीरे विज्ञानमये भवः शारीरः आत्मा । कोऽसौ? य एष आनन्दमयः । तं प्रति नास्त्याशङ्का नास्तित्वे । अपोढसर्वविशेषत्वात्तु ब्रह्मणो नास्तित्वं प्रत्याशङ्का युक्ता; सर्वसाम्याच्च ब्रह्मणः । यस्मादेवम्, अतः तस्मात् अथ अनन्तरं श्रोतुः शिष्यस्य अनुप्रश्नाः आचार्योक्तिमनु एते प्रश्नाः । सामान्यं हि ब्रह्म आकाशादिकारणत्वात् विदुषः अविदुषश्च; अतः अविदुषोऽपि ब्रह्मप्राप्तिराशङ्क्यते — उत अपि अविद्वान् अमुं लोकं परमात्मानम् इतः प्रेत्य कश्चन, चनशब्दः अप्यर्थे, अविद्वानपि गच्छति प्राप्नोति? 'किं वा न गच्छति?' इति द्वितीयोऽपि प्रश्नो द्रष्टव्यः, अनुप्रश्ना इति बहुवचनात् । विद्वांसं प्रत्यन्यौ प्रश्नौ—यद्यविद्वान्सामान्यं कारणमपि ब्रह्म न गच्छति, अतो विदुषोऽपि ब्रह्मागमनमाशङ्क्यते; अतस्तं प्रति प्रश्नः— आहो विद्वानिति । उकारं च वक्ष्यमाणमधस्तादपकृष्य तकारं च पूर्वस्मादुतशब्दाद्व्या-

सज्य आहो इत्येतस्मात्पूर्वमुतशब्दं संयोज्य पृच्छति—उताहो विद्वानिति । विद्वान् ब्रह्मविदपि कश्चिन् इतः प्रेत्य अमुं लोकं समश्नुते प्राप्नोति । समश्नुते उ इत्येवं स्थिते, अयादेशे य-लोपे च कृते, अकारस्य प्लुतिः— समश्नुता ३ उ इति । विद्वान्समश्नुते अमुं लोकम्; किं वा, यथा अविद्वान्, एवं विद्वानपि न समश्नुते इत्यपरः प्रश्नः । द्वावेव वा प्रश्नौ विद्वदविद्वद्विषयौ; बहुवचनं तु सामर्थ्यप्राप्तप्रश्नान्तरापेक्षया घटते । ‘असद्ब्रह्मेति वेद चेत्’ ‘अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद’ इति श्रवणादस्ति नास्तीति संशयः । ततः अर्थप्राप्तः किमस्ति नास्तीति प्रथमोऽनुप्रश्नः । ब्रह्मणः अपक्षपातित्वात् अविद्वान्गच्छति न गच्छतीति द्वितीयः । ब्रह्मणः समत्वेऽपि अविदुष इव विदुषोऽप्यगमनमाशङ्क्य किं विद्वान्समश्नुते न समश्नुते इति तृतीयोऽनुप्रश्नः ॥

एतेषां प्रतिवचनार्थं उत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते । तत्र अस्तित्वमेव तावदुच्यते । यच्चोक्तम् ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इति, तत्र च कथं सत्यत्वमित्येतद्वक्तव्यमिति इदमुच्यते । सत्त्वोक्त्यैव सत्यत्वमुच्यते । उक्तं हि सदेव सत्यमिति; तस्मात्सत्त्वोक्त्यैव सत्यत्वमुच्यते । कथमेवमर्थता अवगम्यते अस्य ग्रन्थस्य? शब्दानुगमात् । अनेनैव ह्यर्थेनान्वितानि उ-

त्तरवाक्यानि—‘तत्सत्यमित्याचक्षते’ ‘यदेष आकाश आ-  
नन्दो न स्यात्’ इत्यादीनि । तत्र असदेव ब्रह्मेत्याशङ्क्यते ।  
कस्मात्? यदस्ति, तद्विशेषतो गृह्यते; यथा घटादि ।  
यन्नास्ति, तन्नोपलभ्यते; यथा शशविषाणादि । तथा नो-  
पलभ्यते ब्रह्म; तस्माद्विशेषतः अग्रहणान्नास्तीति । तन्न,  
आकाशादिकारणत्वाद्वह्मणः । न नास्ति ब्रह्म । कस्मात्?  
आकाशादि हि सर्वं कार्यं ब्रह्मणो जातं गृह्यते; य-  
स्माच्च जायते किञ्चित्, तदस्तीति दृष्टं लोके, यथा घटाङ्कु-  
रादिकारणं मृद्धीजादि; तस्मादाकाशादिकारणत्वादस्ति ब्रह्म ।  
न चासतो जातं किञ्चिद्गृह्यते लोके कार्यम् । असतश्चे-  
न्नारूपपादि कार्यम्, निरात्मकत्वान्नोपलभ्येत; उपलभ्यते  
तु; तस्मादस्ति ब्रह्म । असतश्चेत्कार्यं गृह्यमाणमपि असद-  
न्वितमेव स्यात्; न चैवम्; तस्मादस्ति ब्रह्म । तत्र  
‘कथमसतः सज्जायेत’ इति श्रुत्यन्तरमसतः सज्जन्मासं-  
भवमन्वाचष्टे न्यायतः । तस्मात्सदेव ब्रह्मेति युक्तम् । तद्यदि  
मृद्धीजादिवत् कारणं स्यात्, अचेतनं तर्हि । न; कामयि-  
तृत्वात् । न हि कामयित्रचेतनमस्ति लोके । सर्वज्ञं हि  
ब्रह्मेत्यवोचाम; अतः कामयितृत्वोपपत्तिः । कामयितृत्वाद-  
स्मदादिवदनाप्तकाममिति चेत्, न; स्वातन्त्र्यात् । यथा

अन्यान्परवशीकृत्य कामादिदोषाः प्रवर्तयन्ति, न तथा ब्रह्म-  
णः प्रवर्तकाः कामाः । कथं तर्हि ? सत्यज्ञानलक्षणाः स्वात्म-  
भूतत्वाद्विशुद्धाः । न तैर्ब्रह्म प्रवर्त्यते ; तेषां तु तत्प्रवर्तकं ब्रह्म  
प्राणिकर्मापेक्षया । तस्मात्स्वातन्त्र्यं कामेषु ब्रह्मणः ; अतो न  
अनाप्तकामं ब्रह्म । साधनान्तरानपेक्षत्वाच्च । यथा अन्येषाम-  
नात्मभूता धर्मादिनिमित्तापेक्षाः कामाः स्वात्मव्यतिरिक्तका-  
र्यकरणसाधनान्तरापेक्षाश्च, न तथा ब्रह्मणः । किं तर्हि ?  
स्वात्मनोऽनन्याः । तदेतदाह—सोऽकामयत । सः आत्मा  
यस्मादाकाशः संभूतः, अकामयत कामितवान् । कथम् ? बहु  
प्रभूतं स्यां भवेयम् । कथमेकस्यार्थान्तराननुप्रवेशे बहुत्वं स्या-  
दिति, उच्यते—प्रजायेय उत्पद्येय । न हि पुत्रोत्पत्तेरिवार्थान्तर-  
विषयं बहुभवनम् । कथं तर्हि ? आत्मस्थानभिव्यक्तनामरू-  
पाभिव्यक्त्या । यदा आत्मस्थे अनभिव्यक्ते नामरूपे व्या-  
क्रियेते, तदा आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ब्रह्मणः अप्रविभ-  
क्तदेशकाले सर्वावस्थासु व्याक्रियेते । तदेतन्नामरूपव्याक-  
रणं ब्रह्मणो बहुभवनम् । नान्यथा निरवयवस्य ब्रह्मणो  
बहुत्वापत्तिरुपपद्यते अल्पत्वं वा, यथा आकाशस्याल्पत्वं  
बहुत्वं च वस्त्वन्तरकृतमेव । अतः तद्वारेणैवात्मा  
बहु भवति । न ह्यात्मनोऽन्यदनात्मभूतं तत्प्रविभक्त-

देशकालं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं भूतं भवद्भविष्यद्वा वस्तु विद्यते । अतः नामरूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणैवासवती । न ब्रह्म तदात्मकम् । ते तत्प्रत्याख्याने न स्त एवेति तदात्मके उच्येते । ताभ्यां च उपाधिभ्यां ज्ञातृज्ञेयज्ञानशब्दार्थादिसर्वसं-  
व्यवहारभागब्रह्म । सः आत्मा एवकामः सन् तपः अतप्य-  
त । तप इति ज्ञानमुच्यते, 'यस्य ज्ञानमयं तपः' इति श्रु-  
त्यन्तरात् । आप्तकामत्वाच्च इतरस्य असंभव एव तपसः ।  
तत्तपः अतप्यत तप्तवान्, सृज्यमानजगद्रचनादिविषयामालो-  
चनामकरोदात्मेत्यर्थः । सः एवमालोच्य तपः तप्त्वा प्राणि-  
कर्मादिनिमित्तानुरूपम् इदं सर्वं जगत् देशतः कालतः ना-  
म्ना रूपेण च यथानुभवं सर्वैः प्राणिभिः सर्वावस्थैरनुभूय-  
मानम् असृजत सृष्टवान् । यदिदं किञ्च यत्किञ्चेदमविशिष्ट-  
म्, तत् इदं जगत् सृष्ट्वा, किमकरोदिति, उच्यते— तदेव  
सृष्टं जगत् अनुप्राविशदिति ॥

तत्रैतच्चिन्त्यम्—कथमनुप्राविशदिति । किम्, यः स्रष्टा,  
स तेनैवात्मनानुप्राविशत्, उत अन्येनेति ? किं तावद्युक्तम् ?  
क्त्वाप्रत्ययश्रवणात्, यः स्रष्टा, स एवानुप्राविशदिति । ननु  
न युक्तं सृष्ट्वेत्कारणं ब्रह्म, तदात्मकत्वात्कार्यस्य, कारण-  
मेव हि कार्यात्मना परिणमते; अतः अप्रविष्टस्यैव कार्योत्प-

त्तेरूर्ध्वं पृथक्कारणस्य पुनः प्रवेशोऽनुपपन्नः । न हि घटपरि-  
 णामव्यतिरेकेण मृदो घटे प्रवेशोऽस्ति । यथा घटे चूर्णात्मना  
 मृदोऽनुप्रवेशः, एवमनेन आत्मना नामरूपकार्ये अनुप्रवेश  
 आत्मनः इति चेत्, श्रुत्यन्तराच्च ‘अनेन जीवेनात्मनानुप्रवि-  
 श्य’ इति; नैवं युक्तम्, एकत्वाद्वह्मणः । मृदात्मनस्त्वेकत्वात्  
 सावयवत्वाच्च युक्तो घटे मृदश्चूर्णात्मनानुप्रवेशः, मृदश्चूर्ण-  
 स्य अप्रविष्टदेशत्वाच्च । न त्वात्मन एकत्वे सति निरवयव-  
 त्वादप्रविष्टदेशाभावाच्च प्रवेश उपपद्यते; कथं तर्हि प्रवेशः  
 स्यात्? युक्तश्च प्रवेशः, श्रुतत्वात्— ‘तदेवानुप्राविशत्’  
 इति । सावयवमेवास्तु; तर्हि सावयवत्वात् मुखे हस्तप्रवेशवत्  
 नामरूपकार्ये जीवात्मनानुप्रवेशो युक्त एवेति चेत्, न;  
 अशून्यदेशत्वात् । न हि कार्यात्मना परिणतस्य नामरूपका-  
 र्यदेशव्यतिरेकेण आत्मशून्यः प्रदेशोऽस्ति, यं प्रविशेज्जीवा-  
 त्मना । कारणमेव चेत्प्रविशेत्, जीवात्मत्वं जह्यात्, यथा  
 घटो मृत्प्रवेशे घटत्वं जहाति । ‘तदेवानुप्राविशत्’ इति च  
 श्रुतेर्न कारणानुप्रवेशो युक्तः । कार्यान्तरमेव स्यादिति चेत्  
 — तदेवानुप्राविशदिति जीवात्मरूपं कार्यं नामरूपपरिणतं  
 कार्यान्तरमेव आपद्यत इति चेत्, न; विरोधात् । न हि  
 घटो घटान्तरमापद्यते, व्यतिरेकश्रुतिविरोधाच्च । जीवस्य

नामरूपकार्यव्यतिरेकानुवादिन्यः श्रुतयो विरुध्येरन्; तदा-  
पत्तौ मोक्षासंभवाच्च । न हि यतो मुच्यमानः, तदेव आप-  
द्यते । न हि शृङ्खलापत्तिः बद्धस्य तस्करादेः । बाह्यान्तर्भेदेन  
परिणतमिति चेत्—तदेव कारणं ब्रह्म शरीराद्याधारत्वेन  
तदन्तर्जीवात्मना आधेयत्वेन च परिणतमिति चेत्, न; ब-  
हिष्ठस्य प्रवेशोपपत्तेः । न हि यो यस्यान्तःस्थः स एव त-  
त्प्रविष्ट उच्यते । बहिष्ठस्यानुप्रवेशः स्यात्, प्रवेशशब्दार्थस्यै-  
वं दृष्टत्वात्—यथा गृहं कृत्वा प्राविशदिति । जलसूर्यका-  
दिप्रतिबिम्बवत् प्रवेशः स्यादिति चेत्, न; अपरिच्छिन्नत्वा-  
दमूर्तत्वाच्च । परिच्छिन्नस्य मूर्तस्यान्यस्य अन्यत्र प्रसादस्व-  
भावके जलादौ सूर्यकादिप्रतिबिम्बोदयः स्यात्, न त्वात्म-  
नः; अमूर्तत्वात्, आकाशादिकारणस्य आत्मनः व्यापकत्वा-  
त् । तद्विप्रकृष्टदेशप्रतिबिम्बाधारवस्त्वन्तराभावाच्च प्रतिबि-  
म्बवत्प्रवेशो न युक्तः । एवं तर्हि नैवास्ति प्रवेशः; न च ग-  
त्यन्तरमुपलभामहे, ‘तदेवानुप्राविशत्’ इति श्रुतेः । श्रु-  
तिश्च नोऽतीन्द्रियविषये विज्ञानोत्पत्तौ निमित्तम् । न  
चास्माद्वाक्यान् यन्नवतामपि विज्ञानमुत्पद्यते । हन्त तर्ह्य-  
नर्थकत्वादपोह्यमेतद्वाक्यम् ‘तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्’ इति;  
न, अन्यार्थत्वात् । किमर्थमस्थाने चर्चा? प्रकृतो ह्यन्यो



विवक्षितोऽस्य वाक्यार्थः अस्ति; स स्मर्तव्यः— ‘ब्रह्मवि-  
 दाप्नोति परम्’ ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ ‘यो वेद निहितं  
 गुहायाम्’ इति । तद्विज्ञानं च विवक्षितम्; प्रकृतं च तन् ।  
 ब्रह्मस्वरूपावगमाय च आकाशाद्यन्नमयान्तं कार्यं प्रदर्शि-  
 तम्; ब्रह्मावगमश्च आरब्धः । तत्र अन्नमयादात्मनोऽन्यो-  
 ऽन्तर आत्मा प्राणमयः, तदन्तर्मनोमयो विज्ञानमय इति  
 विज्ञानगुहायां प्रवेशितः; तत्र च आनन्दमयो विशिष्ट  
 आत्मा प्रदर्शितः । अतः परमानन्दमयलिङ्गाधिगमद्वारेण  
 आनन्दविवृद्धयवसान आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा सर्ववि-  
 कल्पास्पदो निर्विकल्पोऽस्यामेव गुहायामधिगन्तव्य इति  
 तत्प्रवेशः प्रकल्प्यते । न ह्यन्यत्रोपलभ्यते ब्रह्म, निर्विशेष-  
 त्वात्; विशेषसंबन्धो ह्युपलब्धिहेतुर्दृष्टः— यथा राहोश्चन्द्रा-  
 र्कविशेषसंबन्धः । एवमन्तःकरणगुहात्मसंबन्धो ब्रह्मण उप-  
 लब्धिहेतुः, संनिकर्षात्, अवभासात्मकत्वाच्च अन्तःकर-  
 णस्य । यथा च आलोकविशिष्टघटाद्युपलब्धिः, एवं बुद्धि-  
 प्रत्ययालोकविशिष्टात्मोपलब्धिः स्यात्; तस्मात् उपलब्धि-  
 हेतौ गुहायां निहितमिति प्रकृतमेव । तद्वृत्तिस्थानीये त्विह  
 पुनस्तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदित्युच्यते ॥

तदेवेदमाकाशादिकारणं कार्यं सृष्ट्वा तदनुप्रविष्टमिवान्त-

गुहायां बुद्धौ द्रष्टुं श्रोतुं मन्तुं विज्ञात्रित्येवं विशेषवदुपल-  
भ्यते । स एव तस्य प्रवेशः; तस्मादस्ति तत्कारणं ब्रह्म ।  
अतः अस्तित्वादस्तीत्येवोपलब्धव्यं तत् । तत् कार्यमनुप्र-  
विश्य; किम्? सच्च मूर्तं त्यच्च अमूर्तम् अभवत् । मूर्तामूर्ते  
ह्यव्याकृतनामरूपे आत्मस्थे अन्तर्गतेन आत्मना व्याक्रियेते  
मूर्तामूर्तशब्दवाच्ये । ते आत्मना त्वप्रविभक्तदेशकाले इति  
कृत्वा आत्मा ते अभवदित्युच्यते । किं च, निरुक्तं चानि-  
रुक्तं च, निरुक्तं नाम निष्कृष्य समानासमानजातीयेभ्यः  
देशकालविशिष्टतया इदं तदित्युक्तम्; अनिरुक्तं तद्विपरीतम्;  
निरुक्तानिरुक्ते अपि मूर्तामूर्तयोरेव विशेषणे । यथा सच्च  
त्यच्च प्रत्यक्षपरोक्षे, तथा निलयनं चानिलयनं च । निल-  
यनं नीडम् आश्रयः मूर्तस्यैव धर्मः; अनिलयनं तद्विपरीतम्  
अमूर्तस्यैव धर्मः । त्यदनिरुक्तानिलयनानि अमूर्तधर्मत्वेऽपि  
व्याकृतविषयाण्येव, सर्गोत्तरकालभावश्रवणात् । त्यदिति  
प्राणाद्यनिरुक्तं तदेवानिलयनं च । अतो विशेषणानि अमू-  
र्तस्य व्याकृतविषयाण्येवैतानि । विज्ञानं चेतनम्; अविज्ञानं  
तद्रहितमचेतनं पाषाणादि । सत्यं च व्यवहारविषयम्, अ-  
धिकारात्; न परमार्थसत्यम्; एकमेव हि परमार्थसत्यं  
ब्रह्म । इह पुनः व्यवहारविषयमापेक्षिकं सत्यम्, मृगतृष्णि-

काद्यनृतापेक्षया उदकादि सत्यमुच्यते । अनृतं च तद्विपरी-  
 तम् । किं पुनः ? एतत्सर्वमभवत्, सत्यं परमार्थसत्यम् ;  
 किं पुनस्तत् ? ब्रह्म, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति प्रकृत-  
 त्वात् । यस्मात् सत्त्यदादिकं मूर्तामूर्तधर्मजातं यत्किंचेदं  
 सर्वमविशिष्टं विकारजातमेकमेव सच्छब्दवाच्यं ब्रह्माभवत्,  
 तद्व्यतिरेकेणाभावान्नामरूपविकारस्य, तस्मात् तत् ब्रह्म स-  
 त्यमित्याचक्षते ब्रह्मविदः । अस्ति नास्तीत्यनुप्रश्नः प्रकृतः ;  
 तस्य प्रतिवचनविषये एतदुक्तम्—'आत्माकामयत बहु स्याम्'  
 इति । स यथाकामं च आकाशादिकार्यं सत्त्यदादिलक्षणं  
 सृष्ट्वा तदनुप्रविश्य पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन् बह्वभवत् ;  
 तस्मात् तदेवेदमाकाशादिकारणं कार्यस्थं परमे व्योमन् हृद-  
 यगुहायां निहितं तत्प्रत्ययावभासविशेषेणोपलभ्यमानमस्ती-  
 त्येवं विजानीयादित्युक्तं भवति । तत् एतस्मिन्नर्थे ब्राह्मणोक्ते  
 एषः श्लोकः मन्त्रः भवति । यथा पूर्वेष्वन्नमयाद्यात्मप्रकाश-  
 काः पञ्चस्वपि, एवं सर्वान्तरतमात्मास्तित्वप्रकाशकोऽपि म-  
 न्त्रः कार्यद्वारेण भवति ॥

इति षष्ठानुवाकभाष्यम् ॥

## सप्तमोऽनुवाकः ॥

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै  
सदजायत । तदात्मानं स्वयमकुरुत ।  
तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति । यद्वै तत्सुकृ-  
तम् । रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वा-  
नन्दी भवति । को ह्येवान्यात्कः प्राण्या-  
त् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।  
एष ह्येवानन्दयाति । यदा ह्येवैष एत-  
स्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं  
प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो  
भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं  
कुरुते । अथ तस्य भयं भवति । तत्त्वेव  
भयं विदुषो मन्वानस्य । तदप्येष श्लोको  
भवति ॥ १ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

असद्वा इदमग्र आसीत् । असदिति व्याकृतनामरूप-  
विशेषविपरीतरूपम् अव्याकृतं ब्रह्म उच्यते; न पुनरत्यन्त-  
मेवासत् । न ह्यसतः सज्जन्मास्ति । इदम् इति नामरूपविशे-  
षवद्व्याकृतं जगत्; अग्रे पूर्वं प्रागुत्पत्तेः ब्रह्मैव असच्छब्दवा-  
च्यमासीत् । ततः असतः वै सत् प्रविभक्तनामरूपविशेषम्  
अजायत उत्पन्नम् । किं ततः प्रविभक्तं कार्यमिति—पितुरिव  
पुत्रः ? नेत्याह । तत् असच्छब्दवाच्यं स्वयमेव आत्मानमेव  
अकुरुत कृतवत् । यस्मादेवम्, तस्मात् तत् ब्रह्मैव सुकृतं स्वयं  
कर्तुं उच्यते । स्वयं कर्तुं ब्रह्मेति प्रसिद्धं लोके सर्वकारणत्वात् ।  
यस्माद्वा स्वयमकरोत्सर्वं सर्वात्मना, तस्मात्पुण्यरूपेणापि  
तदेव ब्रह्म कारणं सुकृतम् उच्यते । सर्वथापि तु फलसंब-  
न्धादिकारणं सुकृतशब्दवाच्यं प्रसिद्धं लोके । यदि पुण्यं यदि  
वा अन्यत् सा प्रसिद्धिः नित्ये चेतनकारणे सति उपपद्यते,  
तस्मादस्ति ब्रह्म, सुकृतप्रसिद्धेरिति । इतश्चास्ति ; कुतः ? रस-  
त्वात् । कुतो रसत्वप्रसिद्धिर्ब्रह्मण इत्यत आह— यद्वै तत्सुकृतं  
रसो वै सः । रसो नाम तृप्तिहेतुः आनन्दकरो मधुराम्ला-  
दिः प्रसिद्धो लोके । रसमेव हि अयं लब्ध्वा प्राप्य आन-  
न्दी सुखी भवति । नासत आनन्दहेतुत्वं दृष्टं लोके । बाह्या-  
नन्दसाधनरहिता अपि अनीहा निरेषणा ब्राह्मणा बाह्यरस-

लाभादिव सानन्दा दृश्यन्ते विद्वांसः ; नूनं ब्रह्मैव रसस्तेषाम् । तस्मादस्ति तत्तेषामानन्दकारणं रसवद्ब्रह्म । इतश्चास्ति ; कुतः ? प्राणनादिक्रियादर्शनात् । अयमपि हि पिण्डो जीवितः प्राणेन प्राणिति अपानेन अपानिति । एवं वायवीया ऐन्द्रियकाश्च चेष्टाः संहतैः कार्यकरणैर्निर्वर्त्यमाना दृश्यन्ते । तच्चैकार्थवृत्तित्वेन संहननं नान्तरेण चेतनमसंहतं संभवति, अन्यत्रादर्शनात् । तदाह—यत् यदि एषः आकाशे परमे व्योम्नि गुहायां निहित आनन्दो न स्यात् न भवेत्, को ह्येव लोके अन्यान् अपानचेष्टां कुर्यादित्यर्थः । कः प्राण्यान् प्राणनं वा कुर्यात् ; तस्मादस्ति तद्ब्रह्म, यदर्थाः कार्यकरणप्राणनादिचेष्टाः ; तत्कृत एव च आनन्दो लोकस्य । कुतः ? एष ह्येव पर आत्मा आनन्दयाति आनन्दयति सुखयति लोकं धर्मानुरूपम् । स एवात्मा आनन्दरूपोऽविद्यया परिच्छिन्नो विभाव्यते प्राणिभिरित्यर्थः । भयाभयहेतुत्वाद्विद्वद्विदुषोरस्ति तद्ब्रह्म । सद्रस्त्वाश्रयणेन हि अभयं भवति ; नासद्रस्त्वाश्रयणेन भयनिवृत्तिरुपपद्यते । कथमभयहेतुत्वमिति, उच्यते— यदा ह्येव यस्मात् एषः साधकः एतस्मिन् ब्रह्मणि— किंविशिष्टे ? अदृश्ये दृश्यं नाम द्रष्टव्यं विकारः, दर्शनार्थत्वाद्विकारस्य ; न दृश्यम् अदृश्यम्, अविकार

इत्यर्थः । एतस्मिन्नदृश्ये अविकारेऽविषयभूते, अनात्म्ये अशरीरे, यस्माददृश्यं तस्मादनात्म्यम्, यस्मादनात्म्यं तस्मादनिरुक्तम्; विशेषो हि निरुच्यते; विशेषश्च विकारः; अविकारं च ब्रह्म, सर्वविकारहेतुत्वात्; तस्मात् अनिरुक्तम् । यत एवम्, तस्मादनिलयनं निलयनं नीड आश्रयः न निलयनम् अनिलयनम् अनाधारं तस्मिन् एतस्मिन् अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने सर्वकार्यधर्मविलक्षणे ब्रह्मणीति वाक्यार्थः । अभयमिति क्रियाविशेषणम् । अभयामिति वा लिङ्गान्तरं परिणम्यते । प्रतिष्ठां स्थितिमात्मभावं विन्दते लभते । अथ तदा सः तस्मिन्नानात्वस्य भयहेतोरविद्याकृतस्यादर्शनादभयं गतो भवति । स्वरूपप्रतिष्ठो ह्यसौ यदा भवति, तदा नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति । अन्यस्य ह्यन्यतो भयं भवति, न आत्मन एव आत्मनो भयं युक्तम्; तस्मात् आत्मैव आत्मनः अभयकारणम् । सर्वतो हि निर्भया ब्राह्मणा दृश्यन्ते सत्सु भयहेतुषु; तच्चायुक्तमसति भयत्राणे ब्रह्मणि । तस्मात्तेषामभयदर्शनादस्ति तदभयकारणं ब्रह्मेति । कदा असौ अभयं गतो भवति साधकः ? यदा नान्यत्पश्यति आत्मनि च अन्तरं भेदं न कुरुते, तदा अभयं गतो भवतीत्यभिप्रायः । यदा पुनरविद्यावस्थायां हि यस्मात् एषः अविद्या-

वान् अविद्यया प्रत्युपस्थापितं वस्तु तैमिरिकद्वितीयचन्द्रव-  
त्पश्यत्यात्मनि च एतस्मिन् ब्रह्मणि, उत अपि, अरम् अल्प-  
मपि, अन्तरं छिद्रं भेददर्शनं कुरुते ; भेददर्शनमेव हि भयका-  
रणम् ; अल्पमपि भेदं पश्यतीत्यर्थः । अथ तस्माद्भेददर्शनाद्धेतोः  
तस्य भेददर्शिनः आत्मनो भयं भवति । तस्मादात्मैवात्मनो  
भयकारणमविदुषः ; तदेतदाह—तत् ब्रह्म त्वेव भयं भेददर्शि-  
नो विदुषः ईश्वरोऽन्यो मत्तः अहमन्यः संसारीत्येवंविदुषः  
भेददृष्टमीश्वराख्यं तदेव ब्रह्म अल्पमप्यन्तरं कुर्वतः भयं भवति  
एकत्वेन अमन्वानस्य । तस्मात् विद्वानप्यविद्वानेवासौ, योऽय-  
मेकमभिन्नमात्मतत्त्वं न पश्यति । उच्छेदहेतुदर्शनाद्ध्युच्छे-  
द्याभिमतस्य भयं भवति ; अनुच्छेद्यो ह्युच्छेदहेतुः ; तत्र अ-  
सत्युच्छेदहेतौ उच्छेद्ये न तद्दर्शनकार्यं भयं युक्तम् । सर्वं च  
जगद्भयवद्दृश्यते । तस्माज्जगतो भयदर्शनाद्भयस्यते—नूनं तद-  
स्ति भयकारणमुच्छेदहेतुरनुच्छेद्यात्मकम्, यतो जगद्विभेती-  
ति । तत् एतस्मिन्नप्यर्थे एषः श्लोकः भवति ॥

इति सप्तमानुवाकभाष्यम् ॥



## अष्टमोऽनुवाकः ॥

भीषास्माद्वातः पवते । भीषोदेति  
सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धा-  
वति पञ्चम इति । सैषानन्दस्य मीमां-  
सा भवति । युवा स्यात्साधुयुवाध्या-  
यकः । आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः । तस्मैयं  
पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स  
एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा  
आनन्दाः ॥ १ ॥

स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः ।  
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं  
मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः । स एको  
देवगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चा-  
कामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणामा-  
नन्दाः । स एकः पितॄणां चिरलोकलोका-

नामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।  
ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामा-  
नन्दाः । स एक आजानजानां देवानामा-  
नन्दः ॥ २ ॥

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये  
शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स  
एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः । ये  
कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चा-  
कामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवा-  
नामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः ।  
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं  
देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्या-  
नन्दः ॥ ३ ॥

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत-  
मिन्द्रस्यानन्दाः । स एको बृहस्पतेरान-  
न्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये  
शतं बृहस्पतेरानन्दाः । स एकः प्रजाप-

तेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।  
 ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्र-  
 ह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामह-  
 तस्य ॥ ४ ॥

भीषा भयेन अस्मात् वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः ।  
 भीषा अस्मात् अग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चम इति ।  
 वातादयो हि महार्हाः स्वयमीश्वराः सन्तः पवनादिकार्येष्व-  
 यासबहुलेषु नियताः प्रवर्तन्ते; तद्युक्तं प्रशास्तरि सति;  
 यस्मात् नियमेन तेषां प्रवर्तनम्, तस्मादस्ति भयकारणं तेषां  
 प्रशास्तु ब्रह्म । यतस्ते भृत्या इव राज्ञः अस्मात् ब्रह्मणः  
 भयेन प्रवर्तन्ते तच्च भयकारणमानन्दं ब्रह्म । तस्य अस्य  
 ब्रह्मणः आनन्दस्य एषा मीमांसा विचारणा भवति । कि-  
 मानन्दस्य मीमांस्यमिति, उच्यते— किमानन्दो विषयवि-  
 षयिसंबन्धजनितः लौकिकानन्दवत्, आहोस्वित् स्वाभा-  
 विकः, इत्येवमेषा आनन्दस्य मीमांसा ॥

तत्र लौकिक आनन्दो बाह्याध्यात्मिकसाधनसंपत्तिनि-  
 मित्त उत्कृष्टः । सः य एष निर्दिश्यते ब्रह्मानन्दानुगमार्थम् ।  
 अनेन हि प्रसिद्धेन आनन्देन व्यावृत्तविषयबुद्धिगम्य

आनन्दोऽनुगन्तुं शक्यते । लौकिकोऽप्यानन्दः ब्रह्मानन्द-  
स्यैव मात्रा ; अविद्याया तिरस्क्रियमाणे विज्ञाने उत्कृष्यमा-  
णायां च अविद्यायां ब्रह्मादिभिः कर्मवशात् यथाविज्ञानं  
विषयादिसाधनसंबन्धवशाच्च विभाव्यमानश्च लोकेऽनव-  
स्थितो लौकिकः संपद्यते ; स एव अविद्याकामकर्मापकर्षेण  
मनुष्यगन्धर्वाद्युत्तरोत्तरभूमिषु अकामहतविद्वच्छ्रोत्रियप्रत्यक्षो  
विभाव्यते शतगुणोत्तरोत्तरोत्कर्षेण यावद्विरण्यगर्भस्य ब्र-  
ह्मण आनन्द इति ॥

निरस्ते त्वविद्याकृते विषयविषयिविभागे, विद्यया स्वाभा-  
विकः परिपूर्णः एकः आनन्दः अद्वैतः भवतीत्येतमर्थं  
विभावयिष्यन्नाह—युवा प्रथमवयाः ; साधुयुवेति साधु-  
श्चासौ युवा चेति यूनो विशेषणम् ; युवाप्यसाधुर्भवति सा-  
धुरप्ययुवा, अतो विशेषणं युवा स्यात्साधुयुवेति ; अध्या-  
यकः अधीतवेदः । आशिष्ठः आशास्तृतमः ; दृढिष्ठः दृढ-  
तमः ; बलिष्ठः बलवत्तमः ; एवमाध्यात्मिकसाधनसंपन्नः ।  
तस्येयं पृथिवी उर्वी सर्वा वित्तस्य वित्तेनोपभोगसाधनेन  
दृष्टार्थेनादृष्टार्थेन च कर्मसाधनेन संपन्ना पूर्णा राजा पृथि-  
वीपतिरित्यर्थः । तस्य च य आनन्दः, सः एकः मानुषः मनु-  
ष्याणां प्रकृष्टः एक आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः,

स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः ; मानुषानन्दात् शतगुणे-  
 नोत्कृष्टः मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः भवति । मनुष्याः सन्तः  
 कर्मविद्याविशेषात् गन्धर्वत्वं प्राप्ता मनुष्यगन्धर्वाः । ते ह्यन्त-  
 र्धानादिशक्तिसंपन्नाः सूक्ष्मकार्यकरणाः ; तस्मात्प्रतिघाता-  
 त्पत्वं तेषां द्वन्द्वप्रतिघातशक्तिसाधनसंपत्तिश्च । ततः अप्र-  
 तिहन्यमानस्य प्रतीकारवतः मनुष्यगन्धर्वस्य स्याच्चित्तप्रसा-  
 दः । तत्प्रसादविशेषात्सुखविशेषाभिव्यक्तिः । एवं पूर्वस्याः  
 पूर्वस्या भूमेरुत्तरस्यामुत्तरस्यां भूमौ प्रसादविशेषतः शतगु-  
 णेन आनन्दोत्कर्ष उपपद्यते । प्रथमं तु अकामहताग्रहणं म-  
 नुष्यविषयभोगकामानभिहतस्य श्रोत्रियस्य मनुष्यानन्दात्  
 शतगुणेन आनन्दोत्कर्षः मनुष्यगन्धर्वेण तुल्यो वक्तव्य  
 इत्येवमर्थम् । साधुयुवा अध्यायक इति श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे  
 गृह्येते । ते ह्यविशिष्टे सर्वत्र । अकामहतत्वं तु विषयोत्कर्षाप-  
 कर्षतः सुखोत्कर्षापकर्षाय विशेष्यते । अतः अकामहतग्रह-  
 णम्, तद्विशेषतः शतगुणसुखोत्कर्षोपलब्धेः अकामहतत्वस्य  
 परमानन्दप्राप्तिसाधनत्वविधानार्थम् । व्याख्यातमन्यत् ।  
 देवगन्धर्वा जातित एव । चिरलोकलोकानामिति पितृणां  
 विशेषणम् । चिरकालस्थायी लोको येषां पितृणाम्, ते चि-  
 रलोकलोका इति । आजान इति देवलोकः तस्मिन्नाजाने

जाता आजानजा देवाः, स्मार्तकर्मविशेषतो देवस्थानेषु  
जाताः । कर्मदेवा ये वैदिकेन कर्मणा अग्निहोत्रादिना केव-  
लेन देवानपियन्ति । देवा इति त्रयस्त्रिंशद्विर्भुजः; इन्द्र-  
स्तेषां स्वामी; तस्य आचार्यो बृहस्पतिः । प्रजापतिः विराट्  
त्रैलोक्यशरीरो ब्रह्मा समष्टिव्यष्टिरूपः संसारमण्डलव्यापी ।  
यत्नैते आनन्दभेदा एकतां गच्छन्ति, धर्मश्च तन्निमित्तः  
ज्ञानं च तद्विषयम् अकामहतत्वं च निरतिशयं यत्र, स  
एष हिरण्यगर्भो ब्रह्मा, तस्यैष आनन्दः श्रोत्रियेण अवृ-  
जिनेन अकामहतेन च सर्वतः प्रत्यक्षमुपलभ्यते । तस्मादे-  
तानि त्रीणि साधनानीत्यवगम्यते । तत्र श्रोत्रियत्वावृजि-  
नत्वे नियते, अकामहतत्वं तु उत्कृष्यत इति प्रकृष्टसाधनता  
अवगम्यते । तस्य अकामहतत्वप्रकर्षतश्चोपलभ्यमानः श्रोत्रि-  
यप्रत्यक्षो ब्रह्मण आनन्दः यस्य परमानन्दस्य मात्रा एक-  
देशः, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'  
इति श्रुत्यन्तरात् । स एष आनन्दः—यस्य मात्रा समुद्राम्भस  
इव विप्रुषः प्रविभक्ताः यत्नैकतां गताः—स एष परमानन्दः  
स्वाभाविकः, अद्वैतात्; आनन्दानन्दिनोश्च अविभागोऽत्र ॥

स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये ।

स एकः । स य एवंवित् । अस्माल्लोका-

तप्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति ।  
 एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं  
 मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं वि-  
 ज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतमान-  
 न्दमयमात्मानमुपसंक्रामति । तदप्येष  
 श्लोको भवति ॥ ५ ॥

इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

तदेतन्मीमांसाफलमुपसंद्ध्यते—स यश्चायं पुरुष इति ।  
 यः गुहायां निहितः परमे व्योम्नि आकाशादिकार्यं सृष्ट्वा  
 अन्नमयान्तम्, तदेवानुप्रविष्टः, सः य इति निश्चीयते । को-  
 ऽसौ? अयं पुरुषे । यश्चासावादित्ये यः परमानन्दः  
 श्रोत्रियप्रत्यक्षो निर्दिष्टः, यस्यैकदेशं ब्रह्मादीनि भूतानि  
 सुखार्हाण्युपजीवन्ति, सः यश्चासावादित्ये इति निर्दिश्यते ।  
 स एकः भिन्नप्रदेशघटाकाशाकाशैकत्ववत् । ननु तन्निर्देशे  
 स यश्चायं पुरुष इत्यविशेषतोऽध्यात्मं न युक्तो निर्देशः ;  
 यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्निति तु युक्तः, प्रसिद्धत्वात् । न, परा-  
 धिकारात् । परो ह्यात्मा अत्र अधिकृतः ‘अदृश्येऽनात्म्ये’  
 ‘भीषास्माद्वातः पवते’ ‘सैषानन्दस्य मीमांसा’ इति । न

हि अकस्मादप्रकृतो युक्तो निर्देष्टुम् ; परमात्मविज्ञानं च विवक्षितम् । तस्मात् पर एव निर्दिश्यते—स एक इति । नन्वानन्दस्य मीमांसा प्रकृता ; तस्या अपि फलमुपसंहर्तव्यम् । अभिन्नः स्वाभाविकः आनन्दः परमात्मैव, न विषयविषयि-संबन्धजनित इति । ननु तदनुरूप एव अयं निर्देशः—  
‘स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः’ इति भिन्नाधिकरणस्थविशेषोपमर्देन । नन्वेवमध्यादित्यविशेषग्रहणमनर्थकम् ; न अनर्थकम्, उत्कर्षापकर्षापोहार्थत्वात् । द्वैतस्य हि यो मूर्तामूर्तलक्षणस्य पर उत्कर्षः सवित्रभ्यन्तर्गतः स चेत्पुरुषगतविशेषोपमर्देन परमानन्दमपेक्ष्य समो भवति, न कश्चिदुत्कर्षोऽपकर्षो वा तां गतिं गतस्येत्यभयं प्रतिष्ठां विन्दत इत्युपपन्नम् ॥

अस्ति नास्तीत्यनुप्रश्नो व्याख्यातः । कार्यरसलाभप्राणनाभयप्रतिष्ठाभयदर्शनोपपत्तिभ्योऽस्त्येव तदाकाशादिकारणं ब्रह्मेत्यपाकृतः अनुप्रश्न एकः ; द्वावन्यानुप्रश्नौ विद्वद्विदुषोर्ब्रह्मप्राप्त्यप्राप्तिविषयौ ; तत्र विद्वान्समश्नुते न समश्नुत इत्यनुप्रश्नोऽन्त्यः ; तदपाकरणायोच्यते । मध्यनोऽनुप्रश्नः अन्त्यापाकरणादेव अपाकृत इति तदपाकरणाय न यत्यते । स यः कश्चित् एवं यथोक्तं ब्रह्म उत्सृज्योत्कर्षापकर्षमद्वैतं सत्यं ज्ञा-



नमनन्तमस्मीत्येवं वेत्तीति एवंवित् ; एवंशब्दस्य प्रकृतपरा-  
 मर्शार्थत्वात् । स किम् ? अस्माल्लोकात्प्रेत्य दृष्टादृष्टेष्टविषय-  
 समुदायो हि अयं लोकः, तस्मादस्माल्लोकात्प्रेत्य प्रत्यावृत्य निर-  
 पेक्षो भूत्वा एतं यथाव्याख्यातम् अन्नमयमात्मानमुपसंक्रा-  
 मति विषयजातमन्नमयात्पिण्डात्मनो व्यतिरिक्तं न पश्यति,  
 सर्वं स्थूलभूतमन्नमयमात्मानं पश्यतीत्यर्थः । ततः अभ्यन्तर-  
 मेतं प्राणमयं सर्वान्नमयात्मस्थमविभक्तम् । अथैतं मनोमयं  
 विज्ञानमयमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति । अथादृश्येऽना-  
 त्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते ॥

तत्रैतच्चिन्त्यम्— कोऽयमेवंवित्, कथं वा संक्रामतीति ;  
 किं परस्मादात्मनोऽन्यः संक्रमणकर्ता प्रविभक्तः, उत स  
 एवेति । किं ततः ? यद्यन्यः स्यात्, श्रुतिविरोधः— ‘त-  
 त्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्’ ‘अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति । न  
 स वेद’ ‘एकमेवाद्वितीयम्’ ‘तत्त्वमसि’ इति । अथ स  
 एव आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीति, कर्मकर्तृत्वानुपपत्तिः ।  
 परस्यैव च संसारित्वं पराभावो वा । यद्युभयथा प्राप्नो  
 दोषो न परिहर्तुं शक्यत इति, व्यर्था चिन्ता । अथ अन्यत-  
 रस्मिन्पक्षे दोषाप्राप्तिः तृतीये वा पक्षे अदुष्टे, स एव शा-  
 स्त्रार्थ इति व्यर्थैव चिन्ता ; न, तन्निर्धारणार्थत्वात् । सत्यं

प्राप्तो दोषो न शक्यः परिहर्तुमन्यतरस्मिन् तृतीये वा पक्षे  
अदुष्टे अवधृते व्यर्था चिन्ता स्यात्; न तु सोऽवधृत इति  
तदवधारणार्थत्वादर्थवत्येवैषा चिन्ता । सत्यमर्थवती चिन्ता,  
शास्त्रार्थवधारणार्थत्वात् । चिन्तयसि च त्वम्, न तु निर्णे-  
ष्यसि; किं न निर्णेतव्यमिति वेदवचनम्? न; कथं तर्हि? बहु-  
प्रतिपक्षत्वात्; एकत्ववादी त्वम्, वेदार्थपरत्वात्; बहवो हि  
नानात्ववादिनो वेदबाह्याः त्वत्प्रतिपक्षाः; अतो ममाशङ्का-  
न निर्णेष्यसीति । एतदेव मे स्वस्त्ययनम्— यन्मामेकयो-  
गिनमनेकयोगिवहुप्रतिपक्षमात्थ । अतो जेष्यामि सर्वान्;  
आरभे च चिन्ताम् ॥

स एव तु स्यात्, तद्भावस्य विवक्षितत्वात् । तद्विज्ञानेन  
परमात्मभावो हि अत्र विवक्षितः— ‘ब्रह्मविदाप्नोति परम्’  
इति । न हि अन्यस्य अन्यभावापत्तिरुपपद्यते । ननु तस्या-  
पि तद्भावापत्तिरनुपपन्नैव । न, अविद्याकृतानात्मापोहार्थ-  
त्वात् । या हि ब्रह्मविद्यया स्वात्मप्राप्तिरुपदिश्यते, सा अ-  
विद्याकृतस्य अन्नादिविशेषात्मनः आत्मत्वेनाध्यारोपितस्य  
अनात्मनः अपोहार्था । कथमेवमर्थता अवगम्यते? विद्यामा-  
त्रोपदेशात् । विद्यायाश्च दृष्टं कार्यमविद्यानिवृत्तिः; तच्चेह  
विद्यामात्रमात्मप्राप्तौ साधनमुपदिश्यते । मार्गविज्ञानोपदेशव-

दिति चेत्, तदात्मत्वे विद्यामात्रसाधनोपदेशोऽहेतुः । क-  
स्मात् ? देशान्तरप्राप्तौ मार्गविज्ञानोपदेशदर्शनात् । न हि  
ग्राम एव गन्तेति चेत्, न ; वैधर्म्यात् । तत्र हि ग्रामविषयं  
नोपदिश्यते, तत्प्राप्तिमार्गविषयमेवोपदिश्यते विज्ञानम् ; न  
तथेह ब्रह्मविज्ञानव्यतिरेकेण साधनान्तरविषयं विज्ञान-  
मुपदिश्यते । उक्तकर्मादिसाधनापेक्षं ब्रह्मविज्ञानं परप्राप्तौ  
साधनमुपदिश्यत इति चेत्, न ; नित्यत्वान्मोक्षस्येत्यादि-  
ना प्रत्युक्तत्वात् । श्रुतिश्च 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'  
इति कार्यस्य तदात्मत्वं दर्शयति । अभयप्रतिष्ठोपपत्तेश्च ।  
यदि हि विद्यावान् स्वात्मनोऽन्यन्न पश्यति, ततः अभयं  
प्रतिष्ठां विन्दत इति स्यात्, भयहेतोः परस्य अन्यस्य अभा-  
वात् । अन्यस्य च अविद्याकृतत्वे विद्यया अवस्तुत्वदर्शनो-  
पपत्तिः ; तद्धि द्वितीयस्य चन्द्रस्य असत्त्वम्, यदतैमिरिकेण  
चक्षुष्मता न गृह्यते ; नैवं न गृह्यत इति चेत्, न ; सुषुप्तस-  
माहितयोरग्रहणात् । सुषुप्तेऽग्रहणमन्यासक्तवदिति चेत्, न ;  
सर्वाग्रहणात् । जाग्रत्स्वप्रयोरन्यस्य ग्रहणात्सत्त्वमेवेति चेत्,  
न ; अविद्याकृतत्वात् जाग्रत्स्वप्रयोः ; यदन्यग्रहणं जाग्रत्स्व-  
प्रयोः, तदविद्याकृतम्, विद्याभावे अभावात् । सुषुप्ते अग्रह-  
णमपि अविद्याकृतमिति चेत्, न ; स्वाभाविकत्वात् । द्रव्यस्य

हि तत्त्वमविक्रिया, परानपेक्षत्वात्; विक्रिया न तत्त्वम्, परापेक्षत्वात् । न हि कारकापेक्षं वस्तुनस्तत्त्वम्; सतो विशेषः कारकापेक्षः; विशेषश्च विक्रिया; जाग्रत्स्वप्रयोश्च ग्रहणं विशेषः । यद्धि यस्य नान्यापेक्षं स्वरूपम्, तत्तस्य तत्त्वम्; यदन्यापेक्षम्, न तत्तत्त्वम्; अन्याभावे अभावात् । तस्मात् स्वाभाविकत्वात् जाग्रत्स्वप्रवत् न सुषुप्ते विशेषः । येषां पुनरीश्वरो अन्य आत्मनः, कार्यं च अन्यत्, तेषां भयानिवृत्तिः, भयस्य अन्यनिमित्तत्वात्; सतश्च अन्यस्य आत्महानानुपपत्तिः । न च असत आत्मलाभः । सापेक्षस्य अन्यस्य भयहेतुत्वमिति चेत्, न; तस्यापि तुल्यत्वात् । यद्धर्माद्यनुसहायीभूतं नित्यमनित्यं वा निमित्तमपेक्ष्य अन्यद्वयकारणं स्यात्, तस्यापि तथाभूतस्य आत्महानाभावात् भयानिवृत्तिः; आत्महाने वा सदसतोरितरेतरापत्तौ सर्वत्र अनाश्वास एव । एकत्वपक्षे पुनः सनिमित्तस्य संसारस्य अविद्याकल्पितत्वाददोषः । तैमिरिकदृष्टस्य हि द्वितीयचन्द्रस्य न आत्मलाभो नाशो वा अस्ति । विद्याविद्ययोः तद्धर्मत्वमिति चेत्, न; प्रत्यक्षत्वात् । विवेकाविवेकौ रूपादिवत् प्रत्यक्षावुपलभ्येते अन्तःकरणस्थौ । न हि रूपस्य प्रत्यक्षस्य सतो द्रष्टृधर्मत्वम् । अविद्या च स्वानुभवेन रूप्यते— मूढो-

ऽहम् अविविक्तं मम विज्ञानम् इति । तथा विद्याविवेको अनुभूयते । उपदिशन्ति च अन्येभ्य आत्मनो विद्यां बुधाः । तथा च अन्ये अवधारयन्ति । तस्मात् नामरूपपक्षस्यैव विद्याविद्ये नामरूपे च ; न आत्मधर्मौ, ' नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म ' इति श्रुत्यन्तरात् । ते च पुनर्नामरूपे सवितर्यहोरात्रे इव कल्पिते ; न परमार्थतो विद्यमाने । अभेदे ' एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति ' इति कर्मकर्तृत्वानुपपत्तिरिति चेत्, न ; विज्ञानमात्रत्वात् संक्रमणस्य । न जलूकादिवत् संक्रमणमिहोपदिश्यते ; किं तर्हि, विज्ञानमात्रं संक्रमणश्रुतेरर्थः । ननु मुख्यमेव संक्रमणं श्रूयते—उपसंक्रामतीति इति चेत्, न ; अन्नमये अदर्शनात् । न हि अन्नमयमुपसंक्रामतः बाह्यादस्माल्लोकात् जलूकावत् संक्रमणं दृश्यते, अन्यथा वा । मनोमयस्य बहिर्निर्गतस्य विज्ञानमयस्य वा पुनः प्रत्यावृत्त्या आत्मसंक्रमणमिति चेत्, न ; स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । अन्योऽन्नमयमन्यमुपसंक्रामतीति प्रकृत्य मनोमयो विज्ञानमयो वा स्वात्मानमेवोपसंक्रामतीति विरोधः स्यात् । तथा न आनन्दमयस्य आत्मसंक्रमणमुपपद्यते । तस्मात् न प्राप्तिः संक्रमणम् ; नापि अन्नमयादीनामन्यतमकर्तृकं पारिशेष्यादन्नमयाद्यानन्दमयान्तात्मव्यतिरिक्तकर्तृकं

ज्ञानमात्रं च संक्रमणमुपपद्यते । ज्ञानमात्रत्वे च आनन्दम-  
यान्तःस्थस्यैव सर्वान्तरस्य आकाशाद्यन्नमयान्तं कार्यं सृष्ट्वा  
अनुप्रविष्टस्य हृदयगुहाभिसंबन्धादन्नमयादिषु अनात्मसु  
आत्मविभ्रमः संक्रमणात्मकविवेकविज्ञानोत्पत्त्या विनश्यति ।  
तदेतस्मिन्नविद्याविभ्रमनाशे संक्रमणशब्द उपचर्यते; न हि  
अन्यथा सर्वगतस्य आत्मनः संक्रमणमुपपद्यते । वस्त्व-  
न्तराभावाच्च । न च स्वात्मन एव संक्रमणम् । न हि जल-  
का आत्मानमेव संक्रामति । तस्मात् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति  
यथोक्तलक्षणात्मप्रतिपत्त्यर्थमेव बहुभवनसर्गप्रवेशरसलाभा-  
भयसंक्रमणादि परिकल्प्यते ब्रह्माणि सर्वव्यवहारविषये; न  
तु परमार्थतो निर्विकल्पे ब्रह्माणि कश्चिदपि विकल्प  
उपपद्यते । तमेतं निर्विकल्पमात्मानम् एवं क्रमेणोपसंक्र-  
म्य विदित्वा न विभेति कुतश्चन अभयं प्रतिष्ठां विन्दत  
इत्येतस्मिन्नर्थेऽपि एषः श्लोकः भवति । सर्वस्यैव अस्य  
प्रकरणस्य आनन्दवत्त्वर्थस्य संक्षेपतः प्रकाशनाय एष मन्त्रो  
भवति ॥

इति अष्टमानुवाकभाष्यम् ॥

## नवमोऽनुवाकः ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मन-  
सा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न  
बिभेति कुतश्चनेति । एत५ ह वाव न त-  
पति । किमह५ साधु नाकरवम् । किमहं  
पापमकरवमिति । स य एवं विद्वानेते  
आत्मान५ स्पृणुते । उभे ह्येवैष एते आ-  
त्मान५ स्पृणुते । य एवं वेद । इत्युपनि-  
षत् ॥ १ ॥

### इति नवमोऽनुवाकः ॥

यतः यस्मात् निर्विकल्पात् यथोक्तलक्षणात् अद्वयान-  
न्दात् आत्मनः, वाचः अभिधानानि द्रव्यादिसविकल्पवस्तु-  
विषयाणि वस्तुसामान्यान्निर्विकल्पे अद्वयेऽपि ब्रह्मणि प्रयो-  
क्तृभिः प्रकाशनाय प्रयुज्यमानानि, अप्राप्य अप्रकाश्यैव  
निवर्तन्ते स्वसामर्थ्याद्धीयन्ते । मन इति प्रत्ययो विज्ञानम् ।  
तच्च, यत्राभिधानं प्रवृत्तमतीन्द्रियेऽप्यर्थे, तदर्थे च प्रवर्तते प्र-  
काशनाय । यत्र च विज्ञानम्, तत्र वाचः प्रवृत्तिः । तस्मात्  
सहैव वाङ्मनसयोः अभिधानप्रत्ययोः प्रवृत्तिः सर्वत्र । त-

स्मात् ब्रह्मप्रकाशनाय सर्वथा प्रयोक्तृभिः प्रयुज्यमाना  
 अपि वाचः यस्मादप्रत्ययविषयादनभिधेयाददृश्यादिविशे-  
 षणात् सहेव मनसा विज्ञानेन सर्वप्रकाशनसमर्थेन निव-  
 र्तन्ते, तं ब्रह्मण आनन्दं श्रोत्रियस्य अवृजिनस्य अका-  
 महतस्य सर्वैषणाविनिर्मुक्तस्य आत्मभूतं विषयविषयिसं-  
 बन्धविनिर्मुक्तं स्वाभाविकं नित्यमविभक्तं परमानन्दं ब्र-  
 ह्मणो विद्वान् यथोक्तेन विधिना न बिभेति कुतश्चन,  
 निमित्ताभावात् । न हि तस्माद्विदुषः अन्यद्वस्त्वन्तरमस्ति  
 भिन्नं यतो बिभेति । अविद्यया यदा उदरमन्तरं कुरुते,  
 अथ तस्य भयं भवतीति हि युक्तम् । विदुषश्च अविद्या-  
 कार्यस्य तैमिरिकदृष्टद्वितीयचन्द्रवत् नाशाद्भयनिमित्तस्य न  
 बिभेति कुतश्चनेति युज्यते । मनोमये च उदाहृतः मन्त्रः, मन-  
 सो ब्रह्मविज्ञानसाधनत्वात् । तत्र ब्रह्मत्वमध्यारोप्य तत्स्तुत्यर्थं  
 न बिभेति कदाचनेति भयमात्रं प्रतिषिद्धम्; इह अद्वैत-  
 विषये न बिभेति कुतश्चनेति भयनिमित्तमेव प्रतिषिध्यते ।  
 नन्वस्ति भयनिमित्तं साध्वकरणं पापक्रिया च । नैवम् ।  
 कथमिति, उच्यते— एतं यथोक्तमेवंविदम्, ह वाव इत्य-  
 वधारणार्थं, न तपति नोद्वेजयति न संतापयति । कथं  
 पुनः साध्वकरणं पापक्रिया च न तपतीति, उच्यते— किं



कस्मात् साधु शोभनं कर्म नाकरवं न कृतवानस्मि इति पश्चात्संतापो भवति आसन्ने मरणकाले; तथा किं कस्मान् पापं प्रतिषिद्धं कर्म अकरवं कृतवानस्मि इति च नरकपतनादिदुःखभयात् तापो भवति । ते एते साध्वकरणपापक्रिये एवमेनं न तपतः, यथा अविद्वांसं तपतः । कस्मात्पुनर्विद्वांसं न तपत इति, उच्यते—स य एवंविद्वान् एते साध्वसाधुनी तापहेतू इति आत्मानं स्पृणुते प्रीणाति बलयति वा, परमात्मभावेन उभे पश्यतीत्यर्थः । उभे पुण्यपापे हि यस्मात् एवम् एष विद्वान् एते आत्मानात्मरूपेणैव पुण्यपापे स्वेन विशेषरूपेण शून्ये कृत्वा आत्मानं स्पृणुत एव । कः ? य एवं वेद यथोक्तमद्वैतमानन्दं ब्रह्म वेद, तस्य आत्मभावेन दृष्टे पुण्यपापे निर्वीर्ये अतापके जन्मान्तरारम्भके न भवतः । इतीयम् एवं यथोक्ता अस्यां वत्स्यां ब्रह्मविद्योपनिषत्, सर्वाभ्यः विद्याभ्यः परमरहस्यं दर्शितमित्यर्थः—परं श्रेयः अस्यां निषण्णमिति ॥

इति नवमानुवाकभाष्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगव-

त्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये ब्रह्मानन्दवल्लीभाष्यं

संपूर्णम् ॥

# तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम्

## भृगुवल्ली



ॐ

## भृगुवल्ली ॥



त्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म आकाशादिकार्यमन्न-  
मयान्तं सृष्ट्वा तदेवानुप्रविष्टं विशेषवदिवो-  
पलभ्यमानं यस्मात्, तस्मात् सर्वकार्यवि-  
लक्षणम् अदृश्यादिधर्मकमेव आनन्दं तदे-  
वाहमिति विजानीयात्, अनुप्रवेशस्य तदर्थत्वात्; तस्यैवं  
विजानतः शुभाशुभे कर्मणी जन्मान्तरारम्भके न भवतः  
इत्येवमानन्दवल्यां विवक्षितोऽर्थः । परिसमाप्ता च ब्रह्म-  
विद्या । अतः परं ब्रह्मविद्यासाधनं तपो वक्तव्यम्; अन्नादि-  
विषयाणि च उपासनान्यनुक्तानीत्यतः इदमारभ्यते—

भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससा-  
र । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एत-  
त्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो  
वाचमिति । त० होवाच । यतो वा इमा-

नि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जी-  
वन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्वि-  
जिज्ञासस्व । तद्वद्वेति । स तपोऽतप्य-  
त । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

आख्यायिका विद्यास्तुतये, प्रियाय पुत्राय पित्रोक्तेति—  
भृगुर्वै वारुणिः । वै-शब्दः प्रसिद्धानुस्मारकः, भृगुरित्येवं  
नामा प्रसिद्धो अनुस्मार्यते, वारुणिः वरुणस्यापत्यं वारुणिः  
वरुणं पितरं ब्रह्म विजिज्ञासुः उपससार उपगतवान्—  
अधीहि भगवो ब्रह्म इत्यनेन मन्त्रेण । अधीहि अध्यापय  
कथय । स च पिता विधिवदुपसन्नाय तस्मै पुत्राय एतत्  
वचनं प्रोवाच— अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रम् मनो वाचम्  
इति । अन्नं शरीरं तदभ्यन्तरं च प्राणम् अक्षारम् अन-  
न्तरमुपलब्धिसाधनानि चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचम् इत्येतानि  
ब्रह्मोपलब्धौ द्वाराण्युक्तवान् । उक्त्वा च द्वारभूतान्येतान्य-  
न्नादीनि तं भृगुं होवाच ब्रह्मणो लक्षणम् । किं तत्?  
यतः यस्मात् वा इमानि ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि भूतानि  
जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति वर्धन्ते,

विनाशकाले च यत्प्रयन्ति यद्ब्रह्म प्रतिगच्छन्ति, अभिसंवि-  
 शन्ति तादात्म्यमेव प्रतिपद्यन्ते, उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु य-  
 दात्मतां न जहति भूतानि, तदेतद्ब्रह्मणो लक्षणम्, तद्ब्रह्म  
 विजिज्ञासस्व विशेषेण ज्ञातुमिच्छस्व ; यदेवलक्षणं ब्रह्म तद-  
 न्नादिद्वारेण प्रतिपद्यस्वेत्यर्थः । श्रुत्यन्तरं च—‘प्राणस्य प्रा-  
 णमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये  
 मनो विदुस्ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्’ इति ब्रह्मोपलब्धौ  
 द्वाराण्येतानीति दर्शयति । स भृगुः ब्रह्मोपलब्धिद्वाराणि  
 ब्रह्मलक्षणं च श्रुत्वा पितुः, तपो ब्रह्मोपलब्धिसाधनत्वेन अ-  
 तप्यत तप्तवान् । कुतः पुनरनुपदिष्टस्यैव तपसः साधनत्वप्र-  
 तिपत्तिर्भृगोः ? सावशेषोक्तेः । अन्नादिब्रह्मणः प्रतिपत्तौ द्वारं  
 लक्षणं च यतो वा इमानि इत्याद्युक्तवान् । सावशेषं हि तन्,  
 साक्षाद्ब्रह्मणोऽनिर्देशात् । अन्यथा हि स्वरूपेणैव ब्रह्म निर्दे-  
 ष्टव्यं जिज्ञासवे पुत्राय इदमित्थंरूपं ब्रह्म इति ; न चैवं नि-  
 रदिशन् ; किं तर्हि, सावशेषमेवोक्तवान् । अतोऽवगम्यते नू-  
 नं साधनान्तरमप्यपेक्षते पिता ब्रह्मविज्ञानं प्रतीति । तपोवि-  
 शेषप्रतिपत्तिस्तु सर्वसाधकतमत्वात् ; सर्वेषां हि नियतसा-  
 ध्यविषयाणां साधनानां तप एव साधकतमं साधनमिति हि  
 प्रसिद्धं लोके । तस्मात् पित्रा अनुपदिष्टमपि ब्रह्मविज्ञानसा-

धनत्वेन तपः प्रतिपेदे भृगुः । तच्च तपो बाह्यान्तःकरणस-  
माधानम्, तद्वारकत्वाद्ब्रह्मप्रतिपत्तेः, 'मनसश्चेन्द्रियाणां च  
ह्यैकाग्र्यं परमं तपः । तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर  
उच्यते' इति स्मृतेः । स च तपस्तप्त्वा ॥

इति प्रथमानुवाकभाष्यम् ॥

## द्वितीयोऽनुवाकः ॥



अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्धयेव  
खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन  
जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंवि-  
शन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पि-  
तरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति ।  
त० होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व ।  
तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तप-  
स्तप्त्वा ॥ १ ॥

## इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञातवान् । तद्वि यथोक्तल-  
क्षणोपेतम् । कथम् ? अन्नाद्धयेव खलु इमानि भूतानि जा-  
यन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविश-  
न्तीति । तस्मान्नुक्तमन्नस्य ब्रह्मत्वमित्यभिप्रायः । स एवं  
तपस्तप्त्वा, अन्नं ब्रह्मेति विज्ञाय लक्षणेन उपपत्त्या च पुन-



रेव संशयमापन्नः वरुणं पितरमुपससार—अधीहि भगवो ब्रह्मेति । कः पुनः संशयहेतुरस्येति, उच्यते—अन्नस्योत्पत्तिदर्शनात् । तपसः पुनः पुनरुपदेशः साधनातिशयत्वावधारणार्थः । यावद्ब्रह्मणो लक्षणं निरतिशयं न भवति, यावच्च जिज्ञासा न निवर्तते, तावत्तप एव ते साधनम्; तपसैव ब्रह्म विजिज्ञासस्वेत्यर्थः । ऋज्वन्यत् ॥

इति द्वितीयानुवाकभाष्यम् ॥

## तृतीयोऽनुवाकः ॥

---

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाद्ध्येव  
खल्विमानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन  
जातानि जीवन्ति । प्राणं प्रयन्त्यभिसंवि-  
शन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पि-  
तरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति ।  
त० होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व ।  
तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तप-  
स्तप्त्वा ॥ १ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

## चतुर्थोऽनुवाकः ॥

---

मनो ब्रह्मेति व्यजानात् । मनसो ह्येव  
खल्विमानि भूतानि जायन्ते । मनसा  
जातानि जीवन्ति । मनः प्रयन्त्यभिसंवि-  
शन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पि-  
तरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति ।  
त० होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व ।  
तपो ब्रह्मेति । स तपोऽनप्यत । स तप-  
स्तप्त्वा ॥ १ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

## पञ्चमोऽनुवाकः ॥

---

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञाना-  
द्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । वि-  
ज्ञानेन जातानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रय-  
न्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव  
वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो  
ब्रह्मेति । त५ होवाच । तपसा ब्रह्म वि-  
जिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्य-  
त । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

## षष्ठोऽनुवाकः ॥

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दा-  
द्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आ-  
नन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रय-  
न्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा भार्गवी वा-  
रुणी विद्या । परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता ।  
स य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो  
भवति । महान् भवति । प्रजया पशुभि-  
र्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

## इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

एवं तपसा विशुद्धात्मा प्राणादिषु साकल्येन ब्रह्मलक्ष-  
णमपश्यन् शनैः शनैः अन्तरनुप्रविश्य अन्तरतममानन्दं  
ब्रह्म विज्ञातवान् तपसैव साधनेन भृगुः ; तस्मात् ब्रह्म  
विजिज्ञासुना ब्राह्मन्तःकरणसमाधानलक्षणं परमं तपः  
साधनमनुष्ठेयमिति प्रकरणार्थः । अधुना आख्यायिकां च

उपसंहृत्य श्रुतिः स्वेन वचनेन आख्यायिकानिर्वर्त्यमर्थमा-  
चष्टे । सैषा भार्गवी भृगुणा विदिता वरुणेन प्रोक्ता वारुणी  
विद्या परमे व्योमन् हृदयाकाशगुहायां परमे आनन्दे  
अद्वैते प्रतिष्ठिता परिसमाप्ता अन्नमयादात्मनोऽधिप्रवृत्ता ।  
य एवमन्योऽपि तपसैव साधनेन अनेनैव क्रमेण अनुप्रवि-  
श्य आनन्दं ब्रह्म वेद, स एवं विद्याप्रतिष्ठानात् प्रतितिष्ठति  
आनन्दे परमे ब्रह्मणि, ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । दृष्टं च फलं  
तस्योच्यते—अन्नवान् प्रभूतमन्नमस्य विद्यत इत्यन्नवान् ; स-  
त्तामात्रेण तु सर्वो हि अन्नवानिति विद्याया विशेषो न स्यात् ।  
एवमन्नमत्तीत्यन्नादः, दीप्ताग्निर्भवतीत्यर्थः । महान्भवति ।  
केन महत्त्वमित्यत आह— प्रजया पुत्रादिना पशुभिः गवा-  
श्रादिभिः ब्रह्मवर्चसेन शमदमज्ञानादिनिमित्तेन तेजसा ।  
महान्भवति कीर्त्या ख्यात्या शुभाचारनिमित्तया ॥

इति षष्ठानुवाकभाष्यम् ॥

## सप्तमोऽनुवाकः ॥

---

अन्नं न निन्द्यात् । तद्व्रतम् । प्राणो वा  
अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्र-  
तिष्ठितम् । शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः । त-  
देतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने  
प्रतिष्ठितं वेद् प्रतिष्ठिति । अन्नवानन्ना-  
दो भवति । महान् भवति । प्रजया पशु-  
भिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

### इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

किं च, अन्नेन द्वारभूतेन ब्रह्म विज्ञातं यस्मात्, तस्मात्  
गुरुमिव अन्नं न निन्द्यात्; तत् अस्य एवं ब्रह्मविदो व्रतम्  
उपदिश्यते । व्रतोपदेशो अन्नस्तुतये, स्तुतिभाक्त्वं च अन्नस्य  
ब्रह्मोपलब्ध्युपायत्वात् । प्राणो वा अन्नम्, शरीरान्तर्भावा-  
त्प्राणस्य । यत् यस्यान्तः प्रतिष्ठितं भवति, तत्तस्यान्नं भवती-  
ति । शरीरे च प्राणः प्रतिष्ठितः, तस्मात् प्राणोऽन्नं शरीर-

मन्नादम् । तथा शरीरमप्यन्नं प्राणोऽन्नादः । कस्मात् प्राणे  
 शरीरं प्रतिष्ठितम् ? तन्निमित्तत्वाच्छरीरस्थितेः । तस्मात्  
 तदेतत् उभयं शरीरं प्राणश्च अन्नमन्नादश्च । येनान्योन्य-  
 स्मिन्प्रतिष्ठितं तेनान्नम् ; येनान्योन्यस्य प्रतिष्ठा तेनान्नादः ।  
 तस्मात् प्राणः शरीरं च उभयमन्नमन्नादं च । स य एवम्  
 एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति अन्नान्नादात्मनैव । किं  
 च, अन्नवानन्नादो भवतीत्यादि पूर्ववत् ॥

इति सप्तमानुवाकभाष्यम् ॥



## अष्टमोऽनुवाकः ॥

---

अन्नं न परिचक्षीत । तद्व्रतम् । आपो  
वा अन्नम् । ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्यो-  
तिः प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठी-  
ताः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य  
एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति ।  
अन्नवानन्नादो भवति । महान्भवति । प्र-  
जया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ॥

इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

अन्नं न परिचक्षीत न परिहरेत् । तद्व्रतं पूर्ववत्स्तुत्यर्थम् ।  
तदेवं शुभाशुभकल्पनया अपरिह्रीयमाणं स्तुतं महीकृतमन्नं  
स्यात् । एवं यथोक्तमुत्तरेष्वपि आपो वा अन्नम् इत्यादिषु  
योजयेत् ॥

इति अष्टमानुवाकभाष्यम् ॥

## नवमोऽनुवाकः ॥

---

अन्नं बहु कुर्वीत । तद्व्रतम् । पृथिवी  
वा अन्नम् । आकाशोऽन्नादः । पृथिव्या-  
माकाशः प्रतिष्ठितः । आकाशे पृथिवी  
प्रतिष्ठिता । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स  
य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति ।  
अन्नवानन्नादो भवति । महान्भवति । प्र-  
जया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ॥

इति नवमोऽनुवाकः ॥

अप्सु ज्योतिः इत्यब्ज्योतिषोरन्नान्नादगुणत्वेनोपासकस्य  
अन्नस्य बहुकरणं व्रतम् ॥

इति नवमानुवाकभाष्यम् ॥

## दशमोऽनुवाकः ॥

---

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद्व-  
तम् । तस्माद्यया कया च विधया बहन्नं  
प्राप्नुयात् । अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्ष-  
ते । एतद्वै मुखतोऽन्नं राद्धम् । मुखतो-  
ऽस्मा अन्नं राध्यते । एतद्वै मध्यतोऽन्नं  
राद्धम् । मध्यतोऽस्मा अन्नं राध्यते । एतं-  
द्वा अन्ततोऽन्नं राद्धम् । अन्ततोऽस्मा  
अन्नं राध्यते ॥ १ ॥

तथा पृथिव्याकाशोपासकस्य वसतौ वसतिनिमित्तं कंचन  
कंचिदपि न प्रत्याचक्षीत, वसत्यर्थमागतं न निवारयेदित्यर्थः ।  
वासे च दत्ते अवश्यं हि अशनं दातव्यम् । तस्माद्यया कया  
च विधया येन केन च प्रकारेण बहन्नं प्राप्नुयात् बहन्नसंग्रहं  
कुर्यादित्यर्थः । यस्मादन्नवन्तो विद्वांसः अभ्यागताय अन्ना-  
र्थिने अराधि संसिद्धम् अस्मै अन्नम् इत्याचक्षते, न नास्ती-

ति प्रत्याख्यानं कुर्वन्ति, तस्माच्च हेतोः बह्वन्नं प्राप्नुयादिति  
पूर्वेण संबन्धः । अपि च अन्नदानस्य माहात्म्यमुच्यते—  
यथा यत्कालं प्रयच्छत्यन्नम्, तथा तत्कालमेव प्रत्युपनमते ।  
कथमिति तदेतदाह— एतद्वै अन्नं मुखतः मुख्ये प्रथमे  
वयसि मुख्यया वा वृत्त्या पूजापुरःसरमभ्यागतायान्नार्थिने  
राद्धं संसिद्धं प्रयच्छतीति वाक्यशेषः । तस्य किं फलं स्या-  
दिति, उच्यते— मुखतः पूर्वे वयसि मुख्यया वा वृत्त्या  
अस्मै अन्नदाय अन्नं राध्यते; यथादत्तमुपतिष्ठत इत्यर्थः ।  
एवं मध्यतो मध्यमे वयसि मध्यमेन च उपचारेण; तथा  
अन्ततः अन्ते वयसि जघन्येन च उपचारेण परिभवेन  
तथैवास्मै राध्यते संसिध्यत्यन्नम् ॥

य एवं वेद । क्षेम इति वाचि । योगक्षेम  
इति प्राणापानयोः । कर्मेति हस्तयोः ।  
गतिरिति पादयोः । विमुक्तिरिति पायौ ।  
इति मानुषीः समाज्ञाः । अथ दैवीः ।  
तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्युति ॥२॥

य एवं वेद य एवमन्नस्य यथोक्तं माहात्म्यं वेद तद्दानस्य  
च फलम्, तस्य यथोक्तं फलमुपनमते । इदानीं ब्रह्मण

उपासनप्रकारः उच्यते— क्षेम इति वाचि । क्षेमो नाम उपात्तपरिरक्षणम् । ब्रह्म वाचि क्षेमरूपेण प्रतिष्ठितमित्युपास्यम् । योगक्षेम इति, योगः अनुपात्तस्योपादानम् । तौ हि योगक्षेमौ प्राणापानयोः बलवतोः सतोर्भवतः यद्यपि, तथापि न प्राणापाननिमित्तावेव; किं तर्हि, ब्रह्मनिमित्तौ । तस्माद्ब्रह्म योगक्षेमात्मना प्राणापानयोः प्रतिष्ठितमित्युपास्यम् । एवमुत्तरेष्वन्येषु तेन तेन आत्मना ब्रह्मैवोपास्यम् । कर्मणो ब्रह्मनिर्वर्त्यत्वात् हस्तयोः कर्मात्मना ब्रह्म प्रतिष्ठितमित्युपास्यम् । गतिरिति पादयोः । विमुक्तिरिति पायौ । इत्येता मानुषीः मनुष्येषु भवा मानुष्याः समाज्ञाः, आध्यात्मिक्यः समाज्ञा ज्ञानानि विज्ञानान्युपासनानीत्यर्थः । अथ अनन्तरं दैवीः दैव्यः देवेषु भवाः समाज्ञा उच्यन्ते । तृप्तिरिति वृष्टौ । वृष्टेरन्नादिद्वारेण तृप्तिहेतुत्वाद्ब्रह्मैव तृप्त्यात्मना वृष्टौ व्यवस्थितमित्युपास्यम्; तथा अन्येषु तेन तेनात्मना ब्रह्मैवोपास्यम् । तथा बलरूपेण विद्युति ॥

यश इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे । तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रति-

ष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत ।

महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत ।

मानवान् भवति ॥ ३ ॥

यशोरूपेण पशुषु । ज्योतीरूपेण नक्षत्रेषु । प्रजातिः अमृतम्  
अमृतत्वप्राप्तिः पुत्रेण ऋणविमोक्षद्वारेण आनन्दः सुखमित्ये-  
तत्सर्वमुपस्थानिमित्तं ब्रह्मैव अनेनात्मना उपस्थे प्रतिष्ठितमि-  
त्युपास्यम् । सर्वं हि आकाशे प्रतिष्ठितम् ; अतो यत्सर्वमाकाशे  
तद्ब्रह्मैवेत्युपास्यम् ; तच्चाकाशं ब्रह्मैव । तस्मात् तत् सर्वस्य प्रति-  
ष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठागुणोपासनात् प्रतिष्ठावान् भवति । एवं  
सर्वेष्वपि । यद्यत्राधिगतं फलम् , तत् ब्रह्मैव ; तदुपासनात्तद्वा-  
न्भवतीति द्रष्टव्यम् ; श्रुत्यन्तराच्च—‘तं यथा यथोपासते  
तदेव भवति’ इति । तन्मह इत्युपासीत । महः महत्त्वगुण-  
वत् तदुपासीत । महान्भवति । तन्मन इत्युपासीत । मननं  
मनः । मानवान्भवति मननसमर्थो भवति ॥

तन्नम इत्युपासीत । नम्यन्तेऽस्मै का-  
माः । तद्ब्रह्मैत्युपासीत । ब्रह्मवान् भव-  
ति । तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत । पर्ये-  
णं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः । परि ये-

ऽप्रिया भ्रातृव्याः । स यश्चायं पुरुषे । य-  
श्चासावादित्ये । स एकः ॥ ४ ॥

तन्नम इत्युपासीत नमनं नमः नमनगुणवत् तदुपासी-  
त । नम्यन्ते प्रह्वीभवन्ति अस्मै उपासित्वे कामाः काम्यन्त  
इति भोग्या विषया इत्यर्थः । तद्ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्म परि-  
वृढतममित्युपासीत । ब्रह्मवान् तद्गुणो भवति । तद्ब्रह्मणः प-  
रिमर इत्युपासीत ब्रह्मणः परिमरः परिम्रियन्तेऽस्मिन्पञ्च दे-  
वता विद्युद्वृष्टिश्चन्द्रमा आदित्योऽग्निरित्येताः । अतः वायुः  
परिमरः, श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः । स एवायं वायुराकाशेनानन्य  
इत्याकाशो ब्रह्मणः परिमरः ; तस्मादाकाशं वाय्वात्मानं ब्रह्म-  
णः परिमर इत्युपासीत । एनम् एवविदं प्रतिस्पर्धिनो द्विष-  
न्तः; अद्विषन्तोऽपि सपत्ना यतो भवन्ति, अतो विशेष्यन्ते द्वि-  
षन्तः सपत्ना इति । एनं द्विषन्तः सपत्नाः ते परिम्रियन्ते  
प्राणान् जहति । किं च, ये च अप्रिया अस्य भ्रातृव्या अद्वि-  
षन्तोऽपि ते च परिम्रियन्ते ॥

‘प्राणो वा अन्नं शरीरमन्नादम्’ इत्यारभ्य आकाशान्तस्य  
कार्यस्यैव अन्नान्नादत्वमुक्तम् । उक्तं नाम—किं तेन ? तेनै-  
तत्सिद्धं भवति— कार्यविषय एव भोज्यभोक्तृत्वकृतः

संसारः, न त्वात्मनीति । आत्मनि तु भ्रान्त्या उपचर्यते ।  
नन्वात्मापि परमात्मनः कार्यम्, ततो युक्तः तस्य संसार  
इति ; न, असंसारिण एव प्रवेशश्रुतेः । ‘ तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रावि-  
शत् ’ इत्याकाशादिकारणस्य हि असंसारिण एव परमात्मनः  
कार्येष्वनुप्रवेशः श्रूयते । तस्मात्कार्यानुप्रविष्टो जीव आत्मा  
पर एव असंसारी ; सृष्ट्वा अनुप्राविशदिति समानकर्तृत्वोपप-  
त्तेश्च । सर्गप्रवेशक्रिययोश्चैकश्चेत्कर्ता, ततः क्त्वाप्रत्ययो युक्तः ।  
प्रविष्टस्य तु भावान्तरापत्तिरिति चेत्, न ; प्रवेशस्यान्यार्थ-  
त्वेन प्रत्याख्यातत्वात् । ‘ अनेन जीवेन ’ इति विशेषश्रुतेः ध-  
र्मान्तरेणानुप्रवेश इति चेत्, न ; ‘ तत्सत्यम् ’ ‘ स आत्मा ’  
‘ तत्त्वमसि ’ इति सामानाधिकरण्यात् । दृष्टं जीवस्य संसारि-  
त्वमिति चेत्, न ; उपलब्धुरनुपलभ्यत्वात् । संसारधर्मवि-  
शिष्ट आत्मोपलभ्यत इति चेत्, न ; धर्माणां धर्मिणोऽव्यति-  
रेकात् कर्मत्वानुपपत्तेः । उष्णप्रकाशयोर्दाह्यप्रकाश्यत्वानुपप-  
त्तिवत् त्रासादिदर्शनाद्दुःखित्वाद्यनुमीयत इति चेत्, न ; त्रा-  
सादेर्दुःखस्य च उपलभ्यमानत्वात् नोपलब्धधर्मत्वम् । का-  
पिलकाणादादितर्कशास्त्रविरोध इति चेत्, न ; तेषां मूला-  
भावे वेदविरोधे च भ्रान्तत्वोपपत्तेः । श्रुत्युपपत्तिभ्यां च सि-  
द्धम् आत्मनोऽसंसारित्वम्, एकत्वाच्च । कथमेकत्वमिति, उ-



च्यते—स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः इत्येवमादि  
पूर्ववत्सर्वम् ॥

स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य ।  
एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं प्रा-  
णमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं मनोम-  
यमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं विज्ञानम-  
यमात्मानमुपसंक्रम्य । एतमानन्दमयमा-  
त्मानमुपसंक्रम्य । इमाँल्लोकान्कामान्नी  
कामरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम गाय-  
त्रास्ते । हा३वु हा३वु हा३वु ॥ ५ ॥

अन्नमयादिक्रमेण आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतत्साम  
गायत्रास्ते । ‘सत्यं ज्ञानम्’ इत्यस्या ऋचः अर्थः व्या-  
ख्यातः विस्तरेण तद्विवरणभूतया आनन्दवल्ल्या । ‘सो-  
ऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता’ इति तस्य  
फलवचनस्य अर्थविस्तारो नोक्तः । के ते ? किंविषया वा  
सर्वे कामाः ? कथं वा ब्रह्मणा सह समश्नुते ?— इत्येतद्वक्त-  
व्यमितीदमिदानीमारभ्यते । तत्र पितापुत्राख्यायिकायां  
पूर्वविद्याशेषभूतायां तपः ब्रह्मविद्यासाधनमुक्तम् । प्राणादे-

राकाशान्तस्य च कार्यं अन्नान्नादत्वेन विनियोगश्च उक्तः ;  
 ब्रह्मविषयोपासनानि च । ये च सर्वे कामाः प्रतिनियताने-  
 कसाधनसाध्या आकाशादिकार्यभेदविषयाः, एते दर्शिताः ।  
 एकत्वे पुनः कामकामित्वानुपपत्तिः, भेदजातस्य सर्वस्य आ-  
 लम्भतत्वात् । तत्र कथं युगपद्ब्रह्मस्वरूपेण सर्वान्कामान् एवं-  
 वित्समश्नुत इति, उच्यते— सर्वात्मत्वोपपत्तेः । कथं सर्वा-  
 त्मत्वोपपत्तिरिति, आह— पुरुषादित्यस्थात्मैकत्वविज्ञानेनापो-  
 ह्योत्कर्षापकर्षावन्नमयादीन् आत्मनोऽविद्याकल्पितान् क्रमेण  
 संक्रम्य आनन्दमयान्तान् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म अदृश्यादि-  
 धर्मकं स्वाभाविकमानन्दमजममृतमभयमद्वैतं फलभूतमापन्नः  
 इमाँल्लोकान्भूरादीननुसंचरन्निति व्यवहितेन संबन्धः । कथं-  
 मनुसंचरन् ? कामात्री कामतोऽन्नमख्येति कामात्री ; तथा  
 कामतो रूपाण्यस्येति कामरूपी ; अनुसंचरन् सर्वात्मना इमान्  
 लोकानात्मत्वेन अनुभवन् । किम् ? एतत्साम गायन्नास्ते । स-  
 मत्वाद्ब्रह्मैव साम सर्वानन्यरूपं गायन् शब्दयन् आत्मैकत्वं  
 प्रख्यापयन् लोकानुग्रहार्थं तद्विज्ञानफलं च अतीव कृतार्थत्वं  
 गायन् आस्ते तिष्ठति । कथम् ? हा३वु हा३वु हा३वु । अ-  
 हो इत्येतस्मिन्नर्थेऽत्यन्तविस्मयख्यापनार्थम् ॥

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्ना-

दोऽहमन्नादोऽहमन्नादः । अहं श्लोक-  
 कृदहं श्लोककृदहं श्लोककृत् । अह-  
 मस्मि प्रथमजा ऋताऽस्य । पूर्वं देवेभ्यो-  
 ऽमृतस्य नाभिः । यो मा ददाति  
 स इदेव मावाः । अहमन्नमन्नमदन्त-  
 माभिः । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवाऽम् ।  
 सुवर्नं ज्योतीः । य एवं वेद । इत्युपनि-  
 षत् ॥ ६ ॥

इति दशमोऽनुवाकः ॥

कः पुनरसौ विस्मय इति, उच्यते— अद्वैत आत्मा  
 निरञ्जनोऽपि सन् अहमेवान्नमन्नादश्च । किञ्च, अहमेव  
 श्लोककृत् । श्लोको नाम अन्नान्नादयोः संघातः, तस्य  
 कर्ता चेतनावान् । अन्नस्यैव वा परार्थस्य अन्नादार्थस्य सतो-  
 ऽनेकात्मकस्य पाराध्यैः हेतुना संघातकृत् । त्रिरुक्तिः  
 विस्मयत्वख्यापनार्था । अहमस्मि भवामि । प्रथमजाः प्रथ-  
 मजः प्रथमोत्पन्नः । ऋतस्य सत्यस्य मूर्तामूर्तस्यास्य जगतो  
 देवेभ्यश्च पूर्वममृतस्य नाभिः अमृतत्वस्य नाभिः, मध्यं  
 मत्संस्थम् अमृतत्वं प्राणिनामित्यर्थः । यः कश्चित् मा

माम् अन्नमन्नार्थिभ्यो ददाति प्रयच्छति—अन्नात्मना ब्रवीति,  
 सः इत् इत्थमेवेत्यर्थः, एवमविनष्टं यथाभूतं माम् आवा  
 अवतीत्यर्थः । यः पुनरन्यो मामदत्वा अर्थिभ्यः काले  
 प्राप्तेऽन्नमत्ति तमन्नमदन्तं भक्षयन्तं पुरुषमहमन्नमेव संप्रत्यादि  
 भक्षयामि । अत्राह— एवं तर्हि विभेमि सर्वात्मत्वप्राप्ते-  
 र्मोक्षात्; अस्तु संसार एव, यतो मुक्तोऽप्यहम् अन्नभूतः  
 अद्यः स्याम् अन्यस्य । एवं मा भैषीः; संव्यवहारविषय-  
 त्वान् सर्वकामाशनस्य; अतीत्यायं संव्यवहारविषयमन्नान्ना-  
 दादिलक्षणमविद्याकृतं विद्यया ब्रह्मत्वमापन्नः विद्वान्; तस्य  
 नैव द्वितीयं वस्त्वन्तरमस्ति, यतो विभेति; अतो न भेतव्यं  
 मोक्षात् । एवं तर्हि किमिदमाह— अहमन्नमहमन्नाद इति?  
 उच्यते । योऽयमन्नान्नादादिलक्षणः संव्यवहारः कार्यभूतः,  
 स संव्यवहारमात्रमेव; न परमार्थवस्तु । स एवंभूतोऽपि  
 ब्रह्मनिमित्तो ब्रह्मव्यतिरेकेणासन्निति कृत्वा ब्रह्मविद्याकार्यस्य  
 ब्रह्मभावस्य स्तुत्यर्थमुच्यते—‘अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अ-  
 हमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः’ इत्यादि । अतः भयादिदोषग-  
 न्धोऽपि अविद्यानिमित्तः अविद्योच्छेदाद्ब्रह्मभूतस्य नास्तीति ।  
 अहं विश्वं समस्तं भुवनं भूतैः संभजनीयं ब्रह्मादिभिर्भव-  
 न्तीति वा अस्मिन् भूतानीति भुवनम् अभ्यभवाम् अभि-

भवामि परेणेश्वरेण स्वरूपेण । सुवर्नं ज्योतीः सुवः आदित्यः ;  
 नकार उपमार्थे ; आदित्य इव सकृद्विभातमस्मदीयं ज्योतीः  
 ज्योतिः, प्रकाश इत्यर्थः । इति वल्लीद्वयविहिता उपनिषन् पर-  
 मात्मज्ञानम् ; तामेतां यथोक्तमुपनिषदं शान्तो दान्त उपरत-  
 स्तितिष्ठुः समाहितो भूत्वा भृगुवन् तपो महदास्थाय य  
 एवं वेद, तस्येदं फलं यथोक्तमोक्ष इति ॥

इति दशमानुवाकभाष्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगव-

त्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतां

तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥

ॐ

शं नो मित्रः शं वरुणः । शं  
नो भवत्वयमा । शं न इन्द्रो  
बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुक्क-  
मः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वा-  
यो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।  
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् ।  
ऋतमवादिषम् । सत्यमवादि-  
षम् । तन्मामावीत् । तद्वक्तार-  
मावीत् । आवीन्माम् । आवी-  
द्वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



॥ ॐ ॥

# नृसिंहपूर्वतापनीयो निषद्भाष्यम्

श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादैः  
विरचितम् ।







# ॥ नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषत् ॥

श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितेन  
भाष्येण सहिता ।

यन्नाम्नोपनिषत्ख्याता तपनं तं विष्णुं गुरुम् ।

प्रणम्योपासनागर्भां तद्व्याख्यां श्रद्धयारभे ॥ १ ॥

आनुष्टुभास्सामराजाचारसिंहादिदं जगत् ।

ज्ञातं यस्मिन्स्थितं कीनं नमस्तस्मै शिक्षकवे ॥ २ ॥



द्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' इति मन्त्रान्त-  
र्गतभद्रपदव्याख्यानपराम् ऋचम् उदितां  
शान्तौ पठन् अन्याभ्यः श्रौतस्मार्तपौराणिक-  
कल्पप्रतिपादिताभ्यः साकारब्रह्मविद्याभ्य

इयं सुभद्रेति दर्शयति—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्ये-  
माक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनू-  
भिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ १ ॥

भद्रं कल्याणम्, कर्णेभिरिति च्छान्दसम्, कर्णैः शृणु-  
याम शृणुम देवः सन्तो वयम्; भद्रं कल्याणं पश्येम  
अक्षभिः चक्षुर्भिः यजत्राः यजनशीलाः; स्थिरैरङ्गैः हृद-  
याद्यैः सामाङ्गश्रणवसावित्रीयजुर्लक्ष्मीनृसिंहगावत्रीरूपैः मू-  
लमन्ताङ्गव्याख्यानपरैः तनूभिः तनूमन्त्रैः 'यो वै नृसिंहो  
देवो भगवान्यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः' इत्याद्यैः; तुष्टु-  
वांसः इति स्तुतिसाधनत्वेनोक्तत्वात् तनूशब्देन मन्त्रा गृह्य-  
न्ते, तथा अङ्गशब्देन च; तुष्टुवांसः स्तुतवानाः स्तुतिं कुर्वाणाः  
व्यशेम विगतरोगं विविधैर्हिकामुष्मिकसुखभोगक्षमम् अशेम  
प्राप्नुयाम; आयुरिति प्रत्येकं संव्यजते; यदेवहितं देवः  
तापनीये उक्तविद्ययोपास्यः तत्तदवससेचित्तकरणबुद्ध्या  
शिश्नं हितमाचरति यस्मिन्नायुषि तत तथोक्तमायुर्व्यशेमेति  
संबन्धः ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः  
पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरि-

ष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ २ ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

स्वस्ति नः इत्यत्र स्वस्तिपदानां चतुर्णामपौनरुक्त्यं यास्क-  
बचनात् यथासंख्यम् । स्वस्तीत्यविनाशमायुः नः अस्मभ्यम्  
इन्द्रः दधातुः कीदृक्? वृद्धश्रवाः वृद्धात् बृहस्पतेः सद्विद्या-  
श्रवणं यस्य सः तथोक्तः दधातु । स्वस्तीत्याभिमुख्यमुपासनायां  
नः अस्मभ्यम् पूषा विश्ववेदाः विश्वानि वेदांसि यस्य सः  
तथोक्तः, अथवा सर्वे वेदा उपासनायामाभिमुख्यं दधतु  
स्वस्ति नः अस्मभ्यं पूजार्हतां ताक्ष्यः देवभक्तो गरुत्मान्  
अरिष्टनेमिः अहिंसितवज्रः दधातु । स्वस्ति सुशोभनं नः  
अस्मभ्यं दधातु बृहस्पतिरित्यर्थः । अस्मिन्मन्त्रे अस्मच्छब्दवी-  
प्सया वक्ष्यमाणायां विद्यायामादरं दर्शयति । शान्तिः  
शान्तिः शान्तिः त्रिधा तु विघ्नोपशान्तिः वक्ष्यमाणविद्या-  
नुष्ठाने ॥

इति शान्तिः ॥



नृसिंहपूर्वतापनीयो-  
पनिषद्भाष्यम्  

---

प्रथमोपनिषत्



## प्रथमोपनिषत् ॥



‘आपो वा इदमासन्’ इत्याद्या ‘तदे-  
तन्निष्कामस्य भवति’ इत्यन्ता ताप-  
नीयोपनिषत् श्रीनृसिंहाकारब्रह्मविष-  
या सती निराकारब्रह्मप्रतिपत्त्युपायभू-  
ता ; अत एव पृथक्संबन्धाभिधेयप्रयो-

जनानि न वक्तव्यानि ; यान्येव तु उपनिषत्संबन्धाभिधेयप्र-  
योजनानि तान्येवोपनिषद्वाचिख्यासुना संक्षेपतो वक्तव्या-  
नि । तत्र प्रयोजनसाधनाभिध्यञ्जकत्वेनाभिधेयसंबन्धशास्त्रं  
पारम्पर्येण प्रयोजनवत् । किं पुनः प्रयोजनमिति, उच्यते—  
रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता, दुःखात्मकस्य आत्मनो  
द्वैतप्रपञ्चस्योपशमे स्वस्थता द्वैताभावः प्रयोजनम्, द्वैतप्रप-  
ञ्चस्य च अविद्याकृतत्वाद्विद्यया तदुपशमः स्यादिति ब्रह्म-  
विद्याप्रकाशनाय अस्या आरम्भः । ‘यत्र हि द्वैतमिव’ ‘यत्र  
च अन्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्...विजानीयात्’ ‘यत्र  
त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्...विजानीयात्’ इत्या-



दिश्रुतिभ्योऽस्यार्थस्य सिद्धिः । तत्र तावदस्यामुपनिषदि  
 इदं परामृश्यते किं तावद्वेद्यं विद्याभेदः, आहोस्वित्  
 अन्योन्यविशेषणविशेष्यभावाद्विशिष्टस्य च वेद्यस्यैक्यात् वि-  
 शैक्यम् इति । तत्र किं नः प्रतिभाति ? विद्याभेद इति ।  
 तथा हि—प्रथमोपनिषदि लोकसाङ्गसामशुद्धसामग्र्यादि-  
 सामान्तर्गतस्वरविशेषक्षीरोदार्षणवशायिनृकेसरिशंकरसच्चिदा-  
 नन्दमयानामन्योन्यविशेषणविशेष्यभावरहितानां वेद्यानां श्र-  
 वणात् तथा प्रणवानुष्टुप्पदपदार्थशक्तिसामबीजसामाङ्गमन्त्र-  
 चतुष्टयानां वेद्यानां द्वितीयतृतीयचतुर्थोपनिषत्सु यथासंख्यं  
 श्रवणात् । अन्योपनिषदि महाचक्रविद्या श्रूयते । नन्वन्यो-  
 न्यविशेषणविशेष्यभावरहितानामप्यङ्गाङ्गिभावो भवतु । नेति  
 ब्रूमः, ‘फलवत्संनिधावफलं तदङ्गम्’ इति न्यायवैषम्यात् ।  
 तथा हि—लोकादितत्तद्वेद्यानां फलसंबन्धेन ‘यो जानीते  
 सोऽमृतत्वं च गच्छति’ इत्यसकृच्छ्रवणात् । ननु लोका-  
 दीनामन्योन्यविशेषणविशेष्यभावरहितानामपि श्रीनृसिंहाका-  
 रब्रह्मणा सह विशेषणविशेष्यभावसंभवात् । तथाहि—  
 ‘सर्वाल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतान्युद्बृहा-  
 त्युद्बृहते’ इत्यादिपदव्याख्याने सर्वेषां वेद्यानां तत्संबन्ध-  
 श्रवणात् । अतो विशिष्टस्य वेद्यस्यैक्यात् विशैक्यमिति । अ-

सोच्यते—सत्यं श्रूयते संबन्धः । तथापि अर्थवादत्वाच्च विवक्ष्यते । अर्थवादश्च विध्यश्रवणात्, ‘उद्गृह्णाति’ ‘विरमति’ ‘व्याप्नोति’ ‘ज्वलति’ ‘पश्यति’ ‘पलायन्ते’ ‘ददाति’ ‘मारयति’ ‘नमन्ति’ इत्येवं वर्तमानोपदेशाच्च । न च वाच्यम् अधस्तात्पदोद्धारे ‘तस्य ह वा उग्रं प्रथमं स्थानं जानीयात्’ इति विधिः श्रूयते इति । यतः ततः प्रागपि ‘प्रत्यक्षरमुभयत ओंकारो भवति’ इति विधिबलात् प्रणवाक्षरमिश्रणेन मूलमन्त्राक्षरव्यत्ययात् तत्पदाज्ञाने प्राप्ते तत्तत्पदपरिमाणज्ञापनार्थं विधिरूपक्षीणः सन्न न तत्पदार्थानां श्रीनृसिंहब्रह्मणा सह संबन्धं विधातुं शक्नोति । अतः यावद्वेद्यं विद्याभेद इत्येवं प्राप्तम् । एवं प्राप्ते, ब्रूमः—सत्यं पृथिव्यादिलोकानां परस्परं विशेषणविशेष्यभावो नावगम्यते, प्रत्येकं च वेद्यता श्रूयते ‘जानीयात्’ इति । तथापि श्रीनृसिंहब्रह्मणा सह संबन्धः तत्र तत्र श्रूयमाणः केन वारयितुं शक्यते? तथा हि—‘य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रायच्छत्’ ‘य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रतिगृह्णीयात्’ इत्यादिमध्ये पुनश्च ‘आनुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्याङ्गमन्त्राओ ब्रूहि’ इति ‘मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति’ इत्येवं मध्ये श्रावयित्वा अन्ते ‘य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं

नित्यमधीते' इत्यसकृदभ्यस्य आदिमध्यावसानेषु नृसिंहब्रह्म-  
 संबन्धित्वेन संकीर्तनात् विद्याया ऐक्यमिति विनिश्चिते तत्सं-  
 बन्धित्वेन यथायोग्यतया तदन्तर्गतं पदजातं सामसंबन्धि  
 समस्तं यथायोग्यतया वर्णनीयम् । अपि च अन्त्योपनिषदि  
 फलकथनावसरे कृत्स्नां श्रीनृसिंहब्रह्मविद्यामभिधाय 'य एतं  
 मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते' इत्येतन्नारसिंहानुष्टु-  
 भशब्दानां कृत्स्ननृसिंहब्रह्मविद्याभिधायकत्वेन निश्चितानाम्  
 असकृच्छ्रुतानामेव आदौ 'एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभ-  
 मपश्यत्' इति श्रवणात् तदन्तरालवर्तिपदजातं नृसिंहब्रह्म-  
 विद्यासंबन्धमिति निश्चियते । तत्संबन्धश्च तत्तत्पदव्याख्या-  
 नावसरे स्पष्टमेव प्रदर्शयिष्यते । अपि च 'वाक्यान्वयात्'  
 इति न्यायेन सर्वमेवेदं प्रकरणं नृसिंहब्रह्मविद्याप्रकरणमिति  
 गम्यते । अथ यदुक्तं पदव्याख्यानवाक्यानां नृसिंहब्रह्मवि-  
 द्यासंबन्धसमर्पकाणां विध्यश्रवणात् वर्तमानापदेशाच्च अर्थवा-  
 दत्वमिति, तदयुक्तम् । अधस्तात्पदोद्दारे 'तस्य ह वा उग्रं  
 प्रथमं स्थानं जानीयात्' इति विधिः स्पष्ट एव श्रूयते । तत्र  
 च विधौ तच्छब्देन साङ्गस्य मूलमन्त्रस्य परामर्शात् अङ्गा-  
 नां च द्वैविध्यात् मूलमन्त्राङ्गमन्त्राणां सामाङ्गमन्त्राणां च  
 यथायोग्यतया व्याख्यानव्याख्येयभावेनावस्थितत्वात् कृत्स्नैव

नृसिंहब्रह्मविद्या अवगम्यते । स च विधिः अनुपपन्न्यायेन सर्वपदसंबन्धः स्पष्ट इति । ननु तत्राप्युक्तं पदज्ञानार्थं तदिति, तत्र । प्राक् ‘प्रत्यक्षरमुभयत ओंकारो भवति’ इति वाक्यादर्थाज्ञानेन पदाज्ञाने प्राप्ते, तत्पुरःसरमेव पदज्ञानमिति । नन्वेवं तच्छेषत्वेनोपरिष्ठादर्थकथनमनुपपन्नम् । नानुपपन्नम्— उपरिष्ठाद्धि ‘कस्मादुच्यते’ ‘कस्मादुच्यते’ इत्यर्थपुरःसरमेव पदं स्पष्टार्थमुपसंहरति— ‘तस्मादिदमुच्यते’ इति ; अतः अवगम्यते प्रागप्यर्थज्ञानपुरःसरमेव पदज्ञानमिति । अतः सर्वसंबन्धविधिश्रवणं स्पष्टमिति । किं च सर्वेषां पदानामर्थमाश्राव्य अन्ते ‘य एवं वेद’ इति विधिश्रवणात् । ‘वेद’ इति वर्तमानत्वात्कथं विधिरिति चेत्, न, ‘बचना-नि त्वपूर्वत्वात्’ इति न्यायान् । ‘य एवं वेद’ इति य एवं प्राक्तनमर्थजातं श्रीनृसिंहब्रह्मसंबद्धं वेद उपास्ते । उपनिषदि साकारब्रह्मविद्याप्रकरणे पठितानां वेदोपासनाज्ञानध्यानपदानाम् उपासनार्थत्वेन निर्णीतत्वात् । अतो नायमर्थवाद इत्यतः पञ्चसूपनिषत्सु न यावद्वेशं विद्याभेद इति सिद्धम् । ‘आपो वा इदमासन्’ इत्यादिना श्रीनृसिंहब्रह्मविद्याप्रकरणमाख्यायिकापूर्वमवतारयति इयमुपनिषत् । तत्र तावत् प्रथमोपनिषदि सामसंबन्धित्वेन पृथिव्यन्तरिक्षद्यु-

ब्रह्मवेदसाङ्गसामाग्निसूर्यचन्द्रब्रह्मादिदेवानां सामोद्धारपूर्वकं  
 क्षीरोदार्षवशायिन्युपविष्टे वा शेषाभोगमस्तकपरिवृते नृ-  
 केसरिणि योगारूढे वरदाभयहस्ते त्रिनेत्रे शंकरे पिनाकहस्ते  
 सच्चिदानन्दमये ब्रह्मविवर्त उपासनम् । तस्मिन्नेव द्वितीयो-  
 पनिषदि प्रणवोपासनापूर्वकसामरहितानुष्टुब्मन्त्रपञ्चाङ्गपदो-  
 द्धारपूर्वकपदव्याख्याकथनगुणविशिष्टोपासनम् । तस्मिन्नेव  
 तृतीयोपनिषदि सामान्वितत्वेन मूलमन्त्रसंबन्धित्वेन शक्ति-  
 बीजकथनं तन्निर्णयश्च । तस्मिन्नेव चतुर्थोपनिषदि मूलम-  
 न्त्राङ्गमन्त्रसामाङ्गमन्त्रैः प्रणवेन हृदयं सावित्रेण शिरो  
 महालक्ष्मीशिखां व्याख्याय नृसिंहगायत्र्या कवचं व्याचष्टे ;  
 महाचक्रद्वात्रिंशद्व्यूहदेवतोद्देशपूर्वकं पुरश्चरणमन्त्राश्च । प-  
 ञ्चमोपनिषदि मन्त्रवर्णे द्वात्रिंशद्व्यूहान्महाचक्रे विन्यस्य  
 तत्स्वरूपप्रकथनेन अक्षमन्त्रान्व्याख्याय श्रीनृसिंहब्रह्मविद्या-  
 नुष्ठातुः फलं व्याचष्टे ॥

आपो वा इदमासन्सलिलमेव स प्र-  
 जापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्तस्यान्त-  
 र्मनसि कामः समवर्ततेदं सृजेयमिति  
 तस्माद्यत्पुरुषो मनसाभिगच्छति तद्वाचा

वदति तत्कर्मणा करोति तदेषाभ्युक्ता-  
 कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः  
 प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति नि-  
 रविन्दन्हृदि प्रतीष्य कवयो मनीषेत्यु-  
 पैनं तदुपनमति यत्कामो भवति स त-  
 पोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स एतं मन्त्रराजं  
 नारासिंहमानुष्टुभमपश्यत्तेन वै सर्वमिद-  
 मसृजत यदिदं किञ्च तस्मात्सर्वमिदमा-  
 नुष्टुभमित्याचक्षते यदिदं किञ्चानुष्टुभो  
 वा इमानि भूतानि जायन्तेऽनुष्टुभा जा-  
 तानि जीवन्त्यनुष्टुभं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति  
 तस्यैषा भवत्यनुष्टुप्प्रथमा भवत्यनुष्टुबुत्त-  
 मा भवति वाग्वा अनुष्टुब्वाचैव प्रयन्ति  
 वाचैवोद्यन्ति परमा वा एषा छन्दसां  
 यदनुष्टुबिति ॥ १ ॥

आपः आसन् इति संबन्धः । वै प्रसिद्धम् । इदं प्रत्य-  
 भादिदृष्टं सलिलम् अम्बवेव स प्रजापतिः । स इति पूर्व-

परामर्शिना तच्छब्देन पुंलिङ्गेन प्रकृतं परामृशति 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्रुतेः । ब्रह्मा प्रजापतिः एकः सन् पुष्करपर्णे समभवत् आसीत् । तस्य प्रजापतेः मनसि अन्तःकरणे अन्तर्वर्ती कामः इच्छा समवर्तत, इदं सृजेयमिति सृष्टिविषय इत्यर्थः । तस्मात् यत्पुरुषो मनसाभिगच्छति अन्तःकरणेनेच्छति तद्वाचा वदति । वाग्वदनपूर्वकं कर्मकरणं लोकप्रसिद्धं दर्शयति— तत्कर्मणा करोतीति । उक्तमेवार्थं द्रढयितुम् ऋक् साक्षित्वेनोद्धावयति— तदेषाभ्युक्तेति । अर्थदाढ्यं ऋक् निर्णीतेव ; सामयजुषोरर्थशैथिल्यमपि संभाव्यते— 'यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्यदृचा तददृढम्' इति श्रुतेः । तस्मिन्नेवार्थे एषा ऋक् वक्ष्यमाणा अभ्युक्ता । मनसः कामः तदग्रे समवर्तत रेतः उदकं प्रथमम् आदौ सृष्टयवसरे यदासीत् यस्मात्कारणादासीत् । अथवा कालनिर्देशः यदा इति, यस्मिन्काले प्रथमम् उदकमासीत्, तदैव मनसः कामः अधीत्युपरि विषये सृष्टिविषये समवर्तत इत्यर्थः । सतः ब्रह्मणो बन्धुं बन्धनं विवर्तं कवयः विपश्चितो हृदि निरविन्दन्, असति ब्रह्मणि, असच्छब्दस्य नामरूपाव्याकृतत्वेन ब्रह्मणि प्रयुक्तत्वात् 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादौ ।

हृदि अन्तःकरणे प्रतीक्ष्य प्रत्यगात्मानमवेक्ष्य मनीषा मनी-  
षया विपश्चिद्बुद्ध्या । ब्रह्मणो बन्धुं बन्धुमिव बन्धुं परं ब्रह्म  
व्याकर्तारं क्षीरोदार्णवादिविशेषणविशिष्टं भाविसृष्टेः स्रष्टारं  
मूलमन्त्रसामाद्युपास्यं हृदि निरविन्दन् इत्युत्तरार्धस्य गूढो-  
ऽभिप्रायः । इति-शब्दः ऋक्समाप्तिं द्योतयति । उपैनं का-  
मिनं तत्काम्यम् उपनमति यस्मिन् कामो भवति । सः  
प्रजापतिः, तपः ‘मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं परमं तपः’  
इति स्मरणात् अतप्यत मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यमकरोत् ।  
सः प्रजापतिः, तपस्तप्त्वा पूर्वं व्याख्यातम्, स प्रजापतिः  
एतं प्रकृतं सर्वनाम्नोपात्तं सतो बन्धुमित्यनेन गूढाभिप्रायेण  
सूचितम्, ‘ज्योतिश्चरणाभिधानात्’ इति न्यायेन, मन्त्रराजं  
प्राकरणिकमन्त्राणां राजानं प्रधानभूतं सामराजं वा । मन्त्र-  
शब्दस्य ‘अहेबुध्निय मन्त्रं मे गोपाय । यमृषयस्त्रयिविदा  
विदुः । ऋचः सामानि यजूंषि’ इत्यादौ साम्न्यपि प्रयु-  
क्त्वात् । नारसिंहं नृसिंहसंबन्धि सामादि तद्धितात्;  
नृसिंहगायत्र्यादिप्राप्तौ तद्वावृत्त्यर्थम् आनुष्टुभमिति अनुष्टु-  
प्लृन्दउपाधिकम् ऋग्विशेषमाह, ‘गायत्रमेतदहर्भवति’ इति  
न्यायात् । अपश्यत् दृष्टवानित्यभिप्रायः । एतदुक्तं भव-  
ति— द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमोपनिषत्सु मन्त्रराजादित्रयः



शब्दाः प्रयुक्ताः तत्पुरुषबहुव्रीहितद्धितसामर्थ्यात् पूर्वपूर्वो-  
पनिषदर्थमाचक्षाणाः सन्त एव आदौ प्रयुक्ताः कृत्स्नामेव  
ब्रह्मविद्यां संगृहीतवन्तः ; अतश्च वक्ष्यमाणां कृत्स्नामेव ब्रह्म-  
विद्यामपश्यदित्यर्थः । तेन वै प्रागुक्तेन, वै प्रसिद्धम्, सर्वमि-  
दमसृजत प्रत्यक्षादिसिद्धमसृजत । यदिदं किंच स्पष्टम् ।  
तस्मात्सर्वमिदमानुष्टुभमित्याचक्षते यदिदं किंच मन्त्रराजना-  
रसिंहशब्दौ । इह आनुष्टुभमिति तद्धितप्रयोगात् द्वात्रिंश-  
दक्षराणामेव तत्साम्नाश्च सामर्थ्यं दर्शयत्येव । अत्राप्युपाख्या-  
यिकायां किल प्रजापतिः तपसा लोकत्रयसृष्ट्यर्थमेव कार-  
णजिज्ञासुः अत्यन्तशुद्धान्तःकरणत्वात् शक्तिव्यययुक्तां ब्रह्म-  
स्वरूपिणीं भूतसृष्टिपुरःसरसर्वसृष्टिकारणिकामनुष्टुबृचम् अ-  
पश्यदित्याह । अनुष्टुभो वा इमानि भूतानि जायन्ते अनु-  
ष्टुभा जातानि जीवन्ति अनुष्टुभं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति इति  
'जन्माद्यस्य यतः' इत्यस्या ब्रह्मलक्षणलक्षितत्वं दर्शयति ।  
उक्तमेवार्थं द्रढयितुम् ऋचं साक्षित्वेनोद्भावयति— तस्य  
ब्रह्मस्वरूपस्य साक्षिणी एषा वक्ष्यमाणा ऋक् भवति ।  
अनुष्टुप् प्रथमा भवति सर्वसृष्टेः प्रथमा आद्या भवति ।  
अनुष्टुप् उत्तमा श्रेष्ठा भवति । वाग्वा अनुष्टुप् सर्वो वा-  
क्प्रपञ्चः अनुष्टुभि लीन इति दर्शयति । नामसृष्टिपूर्व-

कत्वादूपसृष्टेः वाधूपत्वादनुष्टुभः अनुष्टुबेव मूलकारणम् ।  
वाचैव प्रयन्ति अनुष्टुभैव प्रलयं गच्छन्ति भूतानि । वाचैव  
अनुष्टुभैव उद्यन्ति उत्पत्तिं गच्छन्ति । परमा वा एषा  
छन्दसां गायत्र्यादीनाम् , छन्दसां वेदानां वा, परमा उत्कृष्टा ।  
परमत्वं च सामाधारत्वादनुष्टुभः । साम्नश्च परमत्वम् ‘देवा  
वै नर्चि न यजुष्यश्रयन्त ते सामन्येवाश्रयन्त’ इति  
श्रुतेः, ‘वेदानां सामवेदोऽस्मि’ इति स्मृतेश्च । यदनुष्टुबिति  
इति-शब्दः ऋक्समाप्तिं द्योतयति ॥

एवं तावदाख्यायिकायामन्ते सकलनृसिंहोपासनसंग्राह-  
कान् मन्त्रराजनारसिंहानुष्टुभशब्दान् विज्ञाय तैरेव शब्दैः  
सकलोपासनां सृष्ट्यर्थं प्रजापत्यनुष्ठितां संगृह्य इदानीमविशे-  
षेणानुष्ठाने प्राप्ते, तत्र तावत्साम्नः ऋगक्षराभिव्यञ्जकत्वात्  
अभिव्यञ्जकाभिव्यङ्गयोरभिव्यञ्जकपूर्वकत्वात् साम्नश्च सर्व-  
वेदश्रेष्ठत्वात्—‘देवा वै नर्चि न यजुष्यश्रयन्त ते सामन्येवा-  
श्रयन्त’ इति श्रुतेः ‘वेदानां सामवेदोऽस्मि’ इति स्मृतेश्च,  
अस्य च सामराजत्वात् तदुपासनायां प्राप्तायां क्रमसूचनपूर्वि-  
कामाह—

ससागरां सपर्वतां ससद्वीपां वसुं-  
धरां तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयाद्यक्ष-

गन्धर्वाप्सरोगणसेवितमन्तरिक्षं तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयाद्वसुरुद्रादित्यैः सवैर्देवैः सेवितं दिवं तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयाद्वह्मस्वरूपं निरञ्जनं परमव्योम्निकं तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छत्यृग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति किं ध्यानं किं दैवतं कान्यङ्गानि कानि दैवतानि किं छन्दः क ऋषिरिति ॥ २ ॥

यथाकथंचिदुपासनारूपे प्राप्ते ससागरामिति प्रथमत एव सागरसंकीर्तनेन सागरपूर्विकामुपासनां द्योतयति । अत एव न पृथ्वीविशेषणं सागर इति केचिद्व्याचक्षते ; ततश्च प्रथमतः सागरं क्षीरोदार्णवं ध्यात्वा तच्छायिन्युपविष्टे वा तस्मिन्पञ्चाङ्गन्यासम् ऋक्सामयोः कृत्वा तस्मिन्नेव सपर्वतामित्याद्युपासनां सह सागरेण वर्तनं यस्या उपासनायाः तां ससागरां जानीयादित्यनुषङ्गः— यथा ‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ इत्यादेरानन्दमयाद्विच्छेदमिवेति, तद-

युक्तम् । न तावद्विशिष्टामुपासनां ससागरशब्दस्तावदाह,  
किंतु बद्धक्रमके पदार्थजाते तदादिन्यायेन सूचयति । तदन्य-  
विशेषणत्वेनैकवाक्यत्वेऽपि समानम् । तस्माद्बद्धक्रमकमुपासनं  
प्रथमत एव सागरशब्दोपादानात्क्षीरोदार्यवपूर्वकं विज्ञेयम् ।  
ततश्चायमर्थः । तत्साम्नः तस्या न्यस्ताया अनुष्टुभो न्यस्त-  
स्य च साम्नः प्रथमं पादं क्षीरोदार्यवशायिनः उपाविष्टस्य  
वा नृकेसरिणः उक्तविशेषणविशिष्टां वसुंधरां हृदयमङ्गं  
हृदयान्तर्वर्तित्वेन जानीयादित्यर्थः । एवमुत्तरेष्वपि त्रिषु  
पादेषु यक्षगन्धर्ववसुरुद्रब्रह्मस्वरूपं लोकसाहचर्याद्ब्रह्मलोकं  
तत्साम्नः तस्या न्यस्ताया अनुष्टुभो न्यस्तस्य च साम्नो  
द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं पादं तस्य नृकेसरिणः शिरः-  
शिखाकवचान्तर्वर्तित्वेन जानीयादिति योज्यम् । एवं नृ-  
केसरिणं यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छतीति गमनोपादा-  
नात्कार्यममृतत्वम्, न कैवल्यम्, 'कार्यं बादरिरस्य गत्युप-  
पत्तेः' इति न्यायात् । अथवा देहान्ते देवः परं ब्रह्म निर्गुणं  
ब्रह्म तारकं तारकमात्राभिः प्रत्यग्ब्रह्मणोरेकत्वं व्याचष्टे इत्य-  
न्ते श्रवणात् अमृतत्वं कैवल्यम् । एवमुपरिष्ठात् उभयथा अ-  
स्य अमृतत्वं श्रूयमाणं व्याख्येयम् । ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्च-  
त्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्तीति

महाचक्रं व्याख्यातम् । तस्य नाभ्यां क्षीरोदार्णवशायिनः  
 उपविष्टस्य वा नृकेसरिणः क्रमप्राप्तं पञ्चममङ्गम् अस्त्रा-  
 ख्यं वक्ष्यामः । नन्वेवं साङ्गोपासनामपरिसमाप्य कोऽयं  
 मध्ये ध्येयप्रश्नोपक्रमः पिशाचजल्पितमिव— किं ध्यानं  
 किं दैवतं कान्यङ्गानि कानि दैवतानि किं छन्दः क ऋषि-  
 रिति ध्यानदेवताङ्गाङ्गदेवताछन्दर्षीणां प्रश्नः ? अत्रोच्यते—  
 अत्र किल आख्यायिकायां प्रजापतिः विरतेभ्यो देवेभ्यः  
 सामद्वारिकामेकामुपासनां परिसमाप्य तूष्णीं बभूव श्रो-  
 तॄणां बोधं परीक्षितुम्— किं प्रागुक्त एवार्थे अवान्तरविशेषं  
 पृच्छन्ति अन्यदप्यर्थजातं तदुपयोगि, न वेति । अनेना-  
 भिप्रायेण मध्य एव प्रश्नोपक्रमः । तत्र षट्प्रश्नाः । प्रथमप्रश्ने  
 जानीयादिति प्रागुक्तविधौ उपरिष्ठाच्चोपनिषत्स्वा समाप्तेर्ज्ञान-  
 मात्रं ध्यानं वेति प्रश्नः । जानीयादिति विधावभ्यासस्य  
 ध्यानस्याश्रवणात्तत्रोत्तराप्रदानात् ‘अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति’  
 इति न्यायाज्जानीयादित्यत्र ध्यायेदित्यर्थः । ध्यायतिः ज्ञाना-  
 भ्यासे वर्तते । किं दैवतं किं छन्दः क ऋषिरिति प्रश्नत्रये  
 नारसिंहानुष्टुभतद्धितश्रवणात्स्वस्य च ब्रह्मणः प्रजापतेः कथ-  
 कत्वेन दैवतछन्दर्षित्वेनोत्तरम्, ‘यस्य वाक्यं स ऋषिर्या  
 तेनोच्यते सा देवता’ इत्याश्र्वलायनस्मरणात् । इति-शब्दः

प्रश्नसमाप्तिं द्योतयति ॥

स होवाच प्रजापतिः स यो ह वै  
तत्सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाभिषिक्तं  
तत्साम्नोऽङ्गं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते  
सर्वे वेदाः प्रणवादिकास्तं प्रणवं तत्सा-  
मोऽङ्गं वेद स त्रीँल्लोकाञ्जयति चतुर्विंश-  
त्यक्षरा महालक्ष्मीर्यजुस्तत्साम्नोऽङ्गं वेद  
स आयुर्यशःकीर्तिज्ञानैश्वर्यवान्भवति त-  
स्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते  
सोऽमृतत्वं च गच्छति सावित्रीं प्रणवं  
यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति द्वात्रिंश-  
दक्षरं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृ-  
तत्वं च गच्छति सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः  
प्रणवं यदि जानीयात्स्त्रीशूद्रः स मृतो-  
ऽधो गच्छति तस्मात्सर्वदा नाचष्टे यद्या-  
चष्टे स आचार्यस्तेनैव मृतोऽधो गच्छति ॥

अत्र किल षट्प्रश्नाः प्रश्नचतुष्टयं नैरपेक्षयेण अङ्गपूर्वत्वा-

दङ्गिज्ञानस्य पारिशेष्याच्च साम्नोऽङ्गं तद्देवतं प्रभद्वयेन, स प्रजापतिः श्रोतॄणां बोधमर्थितां च अवेक्ष्य हर्षितः, निपातानामनेकार्थत्वात्, उत्तरमुवाच—स यो ह वा इति । वीप्सया हर्षनिर्भरतां दर्शयति । सावित्रस्य अष्टाक्षरं पदं श्रिया अभिषिक्तं श्रीबीजेनाभिषिक्तमुपरिष्ठाच्छ्रीबीजमित्यर्थः । तत्साम्नोऽङ्गं वेद इत्यभिषिक्तमिति वदन् शिरःपूर्वकत्वादभिषेकस्य तस्मिन्नभिषिक्ते शिरोऽङ्गस्थाने साम्नोऽङ्गं वेद इत्यङ्गतां विधत्ते । श्रिया हैव अभिषिच्यत इत्यङ्गेषु सर्वत्र फलश्रवणम् ‘द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्’ इत्यर्थवादः ; ‘अनतिदृश्रं स्तृणाति प्रजयैवैनं पशुभिरनतिदृश्रं करोति’ इति न्यायेन गुणफलाधिकारो वा । सर्वे वेदाः प्रणवादिकाः तं प्रणवमिति सर्वे वेदा उपवेदाश्च अष्टौ इत्यष्टसंख्यानन्तरं तत्स्थाने हृदयाङ्गस्थाने प्रणवं विदधत् सर्ववेदादिभूतात्प्रणवात् सामाक्षराण्यधिकतराणीति दर्शयति । तत्साम्नोऽङ्गं वेद स त्रीँल्लोकाञ्जयतीत्युक्तार्थम् । चतुर्विंशत्यक्षरा महालक्ष्मीर्यजुः तस्मिंश्चतुर्विंशत्यक्षरस्थाने सामतृतीयपादादुपरिष्ठात् साम्नोऽङ्गं वेद शिखाङ्गस्थान इत्यर्थः । स आयुः यशः ज्ञानप्रशंसा कीर्तिः जनप्रशंसा ज्ञानैश्वर्यवान्भवतीत्युक्तार्थम् । यस्मादेवं सामा-

ङ्गफलम् , तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छतीत्युक्तार्थम् । सावित्रादिमन्त्राणां हृद-  
याद्यङ्गस्थाने प्राप्नानाम् अत्र आदावेव अङ्गत्वविधानार्थ-  
मपकर्षस्तु उपक्रमोपसंहाराभ्यां विधैक्ये तात्पर्यं दर्शयति ।  
सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय स्त्री च शूद्रश्च स्त्री-  
शूद्रम् तस्मै स्त्रीशूद्राय नेच्छन्तीति निषेधं कुर्वन् प्रधानो-  
पासनायां स्त्रीशूद्रस्याप्यधिकारं दर्शयति । द्वात्रिंशदक्षरं  
साम जानीयादिति द्वात्रिंशदक्षराणां सामसंबन्धं विधत्ते ।  
यो जानीते इत्याद्युक्तार्थम् । सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं  
यदि जानीयात् स्त्रीशूद्रः, स मृतः अधः नरकं गच्छतीति  
प्रत्यवायदर्शनेन निषेधमेव द्रढयति । तस्मात्सर्वदा न आचष्टे  
इति कदाचिदपि न आचष्टे इत्याचार्यस्य निषेधं दर्शयति ।  
यद्याचष्टे स आचार्यः, तेनैव कथनेन मृतः अधः गच्छ-  
तीति प्रत्यवायदर्शनेन निषेधमेव द्रढयतीति ॥

स होवाच प्रजापतिरग्निर्वै वेदा इदं  
सर्वं विश्वानि भूतानि प्राणा वा इन्द्रि-  
याणि पशवोऽन्नममृतं सम्राट्स्वराड्विरा-  
दत्तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयादृग्यजुःसा-  
माथर्वरूपः सूर्योऽन्तरादित्यो हिरण्यमयः



पुरुषस्तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयाद्य  
 ओषधीनां प्रभवति तारापतिः सोमस्त-  
 त्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात्स ब्रह्मा स  
 शिवः स हरिः स इन्द्रः सोऽग्निः सो-  
 ऽक्षरः परमः स्वराट् तत्साम्नश्चतुर्थं पादं  
 जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च ग-  
 च्छति । ॐ उग्रं प्रथमस्याद्यं ज्वलं द्वि-  
 तीयस्याद्यं नृसिं तृतीयस्याद्यं मृत्युं चतु-  
 र्थस्याद्यं साम जानीयाद्यो जानीते सो-  
 ऽमृतत्वं च गच्छति तस्मादिदं साम यत्र  
 कुत्रचिन्नाचष्टे यदि दातुमपेक्षते पुत्राय  
 शुश्रूषवे दास्यत्यन्यस्मै शिष्याय चेति ॥

एवं सामाङ्गान्युक्त्वा तदुपासनायां च स्त्रीशूद्रव्यति-  
 रिक्तमधिकारिणमुक्त्वा अन्यप्रश्नाङ्गदैवतानि वक्तुं साम-  
 देवतैव तत्तत्स्थाने निपतितस्याङ्गस्य सैव देवतेति स प्रजा-  
 पतिर्ह हर्षितः अन्यप्रश्न उत्तरमुवाच—अग्निर्वै वेदा इदं  
 सर्वम् इत्यादि यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति इत्यन्तं

च ससागराम् इत्यादिना योजनीयम् । एतदुक्तं भवति ।  
 श्रीरोदार्णवशायिनि उपविष्टे वा न्यस्तस्य साङ्गस्य साम्नः  
 पादशः उक्तगुणां पृथ्वीं हृदयान्तर्वर्तित्वेन अग्निर्वै वेदा इदं  
 सर्वं विश्वानि भूतानि प्राणा इन्द्रियाणि पशवोऽन्नममृतं  
 सम्राट्स्वराड्विराट् तत्साम्नः प्रथमपादस्य तदङ्गस्य प्रणव-  
 स्य हृदयमन्त्रस्य च दैवतं जानीयात् इति पारमेश्वरं हृदयं  
 व्याख्यातम् । तथा यक्षगन्धर्वादिगुणविशिष्टमन्तरिक्षं शि-  
 रोऽन्तर्वर्तित्वेन सर्ववेदमयः सूर्यो हिरण्यमयः पुरुषस्तत्सा-  
 म्नो द्वितीयपादस्य शिरोमन्त्रस्य च तदङ्गस्य सावित्रमन्त्रस्य  
 च दैवतमिति पारमेश्वरं शिरो व्याख्यातम् । तथा च  
 वसुरुद्रादित्यैः मेवितं ब्रुलोकं शिखान्तर्वर्तित्वेन य ओषधी-  
 नां प्रभवति तारापतिश्चन्द्रमाः तत्साम्नस्तृतीयपादस्य शिखा-  
 मन्त्रस्य च लक्ष्मीयजुषश्च दैवतम् इति पारमेश्वरं शिखाङ्गं  
 व्याख्यातम् । तथा च ब्रह्मलोककवचान्तर्वर्तित्वेन स ब्रह्मे-  
 त्यादिमन्त्रवर्णात् तत्साम्नश्चतुर्थपादस्य च तदङ्गभूताया नृ-  
 सिंहायत्र्याश्च कवचमन्त्रस्य च दैवतम् इति पारमेश्वरं कवचं  
 व्याख्यातम् । तथा, ओमिति प्रणवबहुलेन सामद्वारकेण  
 महाचक्रेण पारमेश्वरमख्यं व्याख्यातम् । लोकानामङ्गेष्वन्त-  
 र्भावात् सामाङ्गदेवतासाहचर्यात् 'व्यतिषक्ता वा इमे लोकाः

तस्माद्व्यतिषक्तान्यङ्गानि भवन्ति' इति विधायकवचनाच्च इत्येष उपासनाक्रमः । एवं तावन्न्यस्तसामद्वारिकां पारमेश्वरीमुपासनां परिसमाप्य अथेदानीं न्यस्तं साम उद्धरति— उग्रमिति । ननु नायं सामोद्धारः, किंतु मन्त्रोद्धार एव ; सामशब्दस्तु यौगिकवृत्त्या तेन सामर्थ्येन सह वर्तत इति साम मूलमन्त्रः । तन्न, 'गीतिषु सामाख्या' इति गीत्यां सामशब्दस्य रूढत्वात्, 'रूढिर्योगमपहरति' इति न्यायात् सामोद्धार एव । ननु वेदेन सामशब्दो यौगिकः कृतः 'सैव नाम त्वमासीरमो नामाहं सोम' इत्युपक्रम्य 'सा चामश्चाभवतां तत्सामाभवत्तत्साम्नः सामत्वम्' इति श्रुतेः । सत्यं भवतु यौगिकः, तथाप्युभयोद्दारे सामोद्धारस्तु सिद्ध एव । एवं रूढेर्वैदिकप्रयोगाच्च सामोद्दारे स्थिते द्वात्रिंशदक्षरं साम जानीयादिति सामान्याकारेण सामसंबन्धे सिद्धे विशेषाकारेण मूलमन्त्राक्षराणां सामसंबन्धं विधातुमाह— उग्रं प्रथमस्याद्यमित्यादिना । अत्र हि सामगानां हस्ते मुखस्वरनिर्णयो द्रष्टव्यः । सप्तधा हि स्वरः षड्जादिभेदेन । तत्र हस्तगतस्वरानुसारेण मुखेन गीत्युच्चारणम् ; तत्र हस्ताङ्गुष्ठोत्तमपर्वणः क्रौष्टिकसंज्ञ उच्चैर्भावे कृते सर्वोदात्तां त्रिमात्रां चतुर्मात्रां पञ्च-

मात्रां वा कृत्वा विहिताक्षरेषु गीतिं गायेत् ; तामाद्यं निर-  
पेक्षं स्वरमित्याचक्षते ; ततोऽङ्गुष्ठोत्तमपर्वणः वक्त्रीभावे कृते  
पूर्वोदात्तापेक्षया अनुदात्ताम् उत्तरापेक्षया उदात्ताम् एवमेवा-  
ङ्गुष्ठेन तर्जनीमध्यमपर्वस्पर्शे कृते तत्संनिहिताङ्गुलिस्पर्श उप-  
कनिष्ठिकास्पर्शे कनिष्ठिकामध्यमपर्वस्पर्शे कृते पूर्वपूर्वापेक्षया  
उत्तरोत्तरापेक्षया उदात्तानुदात्तात्मिकां विहिताक्षरेषु गीति-  
मुच्चार्य अङ्गुष्ठेन कनिष्ठिकामूलपर्वस्पर्शे कृते सर्वानुदात्तां गी-  
तिमुच्चारयेत् ; तं त्वन्त्यं स्वरमित्याचक्षते । एवं मुखहस्ताभ्यां  
षड्जादयो यथाक्रमं सप्त स्वरा निष्पाद्यन्ते । स एष सा-  
मगानां सर्वसामसाधारणः स्वरनिर्णयः । ततश्च, उग्रं  
प्रथमस्य आद्यं सर्वोदात्तं सामपदानुषङ्गात् उक्ते अक्षर-  
द्वये आद्यम् आद्यस्वरात्मकं साम जानीयादिति विधी-  
यते, अन्यथा प्रथमपादस्य आद्यम् अक्षरद्वयं जानीयात्  
इत्येतस्य द्वितीयोपनिषदुक्तपदोद्धारादेव ज्ञातत्वात् ‘अप्राप्ते  
शास्त्रमर्थवत्’ इति न्यायो बाधितः स्यात्, सामपदस्य  
व्यर्थता स्यात्, उभयविधाने च वाक्यभेदः स्यात् । वेदि-  
तव्यसामसंबन्धस्वरविशेषे विहिते अनिर्धारितस्वरविशेषकं  
साम कथं विधातुं शक्येत ? तस्मात् मूलमत्रोक्तप्रथमपा-  
दाक्षरद्वयस्य आद्यशब्दोक्तस्वरविशेषात्मकसामसंबन्ध एव

विधीयते । एवमुत्तरेष्वपि त्रिषु वाक्येषु योजनीयम् । ज्वलं  
द्वितीयस्य पादस्य आद्यं साम गीतिं जानीयात् । नृसिं  
तृतीयस्य आद्यमित्युक्तार्थम् । मृत्युं चतुर्थस्य आद्यमित्यादि  
गच्छतीत्यन्तम् उक्तार्थम् । यस्मादिदं साम परमरहस्यतरम्,  
तस्मादिदं साम यत्र कुत्रचित्पुंसि न आचष्टे इति कथयितु-  
र्निषेधः । यदि दातुमपेक्षते पुत्राय शुश्रूषवे शुश्रूषारताय  
आचार्योपसर्पणेन श्रवणेच्छावते दास्यति दद्यादित्यर्थः ।  
अन्यस्मै शिष्याय प्रागुक्तलक्षणाय च इति । इति-शब्दः  
सामदातृप्रतिग्रहीत्रोः अधिकारसमाप्तिं द्योतयति ॥

एवं तावत्साम्ना सह दातृप्रतिग्रहीत्रोः संबन्धं विधाय  
श्रीक्षीरोदार्षवशायिनो नृकेसरिणो योगिवदासीनस्य शया-  
नस्य वा ध्येयस्य आश्रयाश्रयिलक्षणसंबन्धविशेषोपासनां  
कृत्स्नफलवर्ती विधातुमाह—

क्षीरोदार्षवशायिनं नृकेसरिं योगि-  
ध्येयं परमं पदं साम जानीयाद्यो जानी-  
ते सोऽमृतत्वं च गच्छति वीरं प्रथम-  
स्यार्धान्त्यं तंसं द्वितीयस्यार्धान्त्यं हंभी  
तृतीयस्यार्धान्त्यं मृत्युं चतुर्थस्यार्धान्त्यं

साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं  
च गच्छति तस्मादिदं साम येन केन-  
चिदाचार्यमुखेन यो जानीते स तेनैव  
शरीरेण संसारान्मुच्यते मोचयति मुमु-  
क्षुर्भवति जपात्तेनैव शरीरेण देवताद-  
र्शनं करोति तस्मादिदमेव मुख्यं द्वारं  
कलौ नान्येषां भवति तस्मादिदं साङ्गं  
साम जानीयाद्यो जानीते स मुमुक्षुर्भ-  
वति ॥ ५ ॥

क्षीरोदार्यवशायिनं ना चासौ केसरी च नृकेसरी तं  
नृकेसरिणम् । नृकेसरिमिति छान्दसम् । योगिवदासीनं शेष-  
भोगमस्तकपरिवृतं रहस्यकल्पान्तरपर्यालोचनया अस्मिन्नेव  
स्थाने शाखान्तरश्रुत्यन्तरपर्यालोचनया आसीनं शेषभोगमू-  
र्ध्ववृतम् । द्विशाखगामिनी इयमुपनिषत् भृगुशाखायाम्  
आङ्गिरसशाखायां च । परमं पदं परमाश्रयभूतम् ।  
जानीयादिति सर्वत्रानुषज्यते । सामेत्यादि गच्छतीत्य-  
न्तम् उक्तार्थं भवति । यत्साम जानीयात् तदुक्तगुण-  
विशिष्टे नृकेसरिणि साङ्गं न्यस्तं जानीयादित्यर्थः । इदा-

नीं साम्नो द्वितीयोद्धारमक्षराणां स्वरविशेषसंबन्धार्थमाह— वीरं प्रथमस्यार्धान्त्यं प्रथमपदोक्ताक्षरद्वय आद्यार्धे 'प्रथमातिक्रमे कारणाभावात्' इति न्यायेन अन्यम् अन्यस्वरात्मकं साम जानीयात् इत्यनुषज्यते । अत एव अस्मिन्नेव स्थाने शाखान्तरे पाठान्तरं वीरं प्रथमाद्यार्धस्य अन्यमिति । अत्रापि विधानविषये प्रागुक्ते चोद्यसमाधाने । ततो वीरो अनुदात्तात्मिका गीतिः ; रं मध्यवर्तिस्वरात्मिका गीतिः ; एवमुत्तरेष्वपि तदुद्धारवाक्येषु योजनीयम् । तंसं द्वितीयस्यार्धान्त्यम् इत्युक्तार्थम् । तम् अनुदात्तात्मिका गीतिः ; हंभी तृतीयस्यार्धान्त्यम् । तृतीयाद्यार्धस्य अन्यमिति पाठान्तरम् । हम् अनुदात्तात्मिका गीतिः ; भी मध्यवर्तिस्वरात्मिका गीतिः ; मृ अनुदात्तात्मिका गीतिः ; त्युं पारिशेष्यान्मध्यवर्तिस्वरात्मिका गीतिः ; चतुर्थस्यार्धान्त्यम् इत्युक्तार्थम् । मृत्युं चतुर्थाद्यार्धस्य अन्यमिति पाठान्तरम् । सामेत्यादि गच्छतीत्यन्तम् उक्तार्थम् । यस्मात्सामैकदेशपरिज्ञानात् कृत्स्नफलावाप्तिः तत्र कृत्स्नसामपरिज्ञाने किमुतेत्याह— तस्मादिदं विहिताक्षरेषूद्धृतं कृत्स्नं साम येन केनचित् येन केनापि सामोद्धारवाक्यकदम्बकेनापि यो जानीते इत्यनुषङ्गः । आचार्यमुखेन यो जानीते इत्याचार्यमुखोपायान्तर-

योर्विकल्पः । यद्वा आचार्यशब्दो वेदमभिधत्ते, 'तस्मादाचार्यवचः प्रमाणम्' इत्यादौ प्रयोगात् ; आचार्यमुखेन वेदमुखेन सामोद्धारवाक्यकदम्बकेनेत्यर्थः । स तेनैव स्वयमेव सामपरिज्ञानेन संसारान्मुच्यते, मोचयति अन्यं वा साम ज्ञापयन् । सामपरिज्ञानात् सरागोऽपि मुमुक्षुर्भवति जपात्, संख्यानुपादानात् सकृदेव सामजपात् । यत्साङ्गेन साम्ना पारमेश्वरं शरीरं क्षीरोदार्षावशायाद्विपदकदम्बकव्याकृतम्, तेनैव शरीरेण देवतादर्शनं करोति देवता प्रत्यक्षा भवति । तस्मादिदमेव साङ्गं सामैव मुख्यं द्वारं देवतादर्शने तद्व्याकृतौ च ; कलौ पापबाहुल्येन अन्येषां सामरहितानां केवलमूलमन्त्रपरिज्ञातृणां देवतादर्शनं ज्ञातिरिति न भवतीत्यर्थः । यस्मादिदं साङ्गं साम देवतादर्शने देवताकारव्याकृतौ च मुख्यमेव द्वारम्, तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयात् ; मुमुक्षुर्भवति मानुषानन्दारूढोऽपि एतत्परिज्ञानात् मानुषानन्दं विहाय मोक्षेप्सुर्भवति । यद्वा मुमुक्षुः एतज्जानीयात् इत्यन्वयः । तस्य भवतीति फलनिर्देशः । भू सत्तायामिति धातोः रूपम् । साकारब्रह्मोपासनाद्वारं सन्मात्रतां प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

ॐ ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नृके-  
सरिविग्रहम् । कृष्णपिङ्गलमूर्ध्वरेतं वि-



रूपाक्षं शंकरं नीललोहितमुमापतिं य-  
 शुपतिं पिनाकिनं ह्यमितद्युतिमीशानः  
 सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्मा-  
 धिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्यो यजुर्वेदवाच्य-  
 स्तं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं  
 च गच्छति । महा प्रथमान्तार्धस्याद्यं  
 र्वतो द्वितीयान्तार्धस्याद्यं षणं तृतीया-  
 न्तार्धस्याद्यं नमा चतुर्थान्तार्धस्याद्यं साम  
 जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च ग-  
 च्छति । तस्मादिदं सच्चिदानन्दमयं परं  
 ब्रह्म तमेवं विद्वानमृत इह भवति ।  
 तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानी-  
 ते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ६ ॥

एवं तावत् यदङ्गम् उपास्यदेवताकारव्याकृतौ क्षमम्,  
 तदेवाङ्गं निर्दिशन् आह— ओमिति । एतच्चतुर्थोपनिषदि  
 स्पष्टीकरिष्यति— ओमित्येतदक्षरम् इत्यादिना । नृकेसरिवि-  
 ग्रहो व्याख्यातः; स न स्वमायया लीलाविग्रहः, किं तु

कर्मविपाकजन्मानुभवरूपाणां केवलतिर्यग्रूपाणां मत्स्यकूर्मा-  
दीनां केवलातिर्यग्रूपाणां वामनादीनां लीलारूपत्वेनैव  
दृष्टत्वात् अस्य च तद्विलक्षणत्वात् न स्वमायालीला-  
विग्रहता स्यादिति इमामाशङ्कां मन्त्रवर्णादपनेतुं मन्त्रमाह—  
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नृकेसरिविग्रहम् । ना च पुरुषश्च  
केसरी च सिंहश्च नृकेसरी । तत्र पुरुषमित्यनूद्य सत्यं परं  
ब्रह्म जानीयादिति विधीयते । एतदुक्तं भवति— सत्यस्य  
परब्रह्मणः स्वमायया लीलाविग्रहं पुरुषाकारम् ऋतमिति  
परमार्थं जानीयादिति यावत् । यद्वा, ऋतं सत्यं परं ब्रह्म  
ब्रह्मात्मकं पुरुषाकारम् ओमित्योङ्कारेण व्याख्यातम्, ऋत-  
मिति धननाम ऋतमयं हिरण्यमयं हिरण्यमयं जानीयादि-  
त्यर्थः । अत एव सतो बन्धुमिति बन्धुरिति धननाम ब्रह्म-  
णो विवर्तं हिरण्यमयम् असति ब्रह्मणि हृदि निरविन्दन्निति  
कैश्चिद्व्याख्यातम् । कृष्णपिङ्गलं कृष्णपिङ्गले अक्षिणी यस्य तं  
तथोक्तम् । ऊर्ध्वरेतमिति च्छान्दसम् । ऊर्ध्वरेतस्कं योगा-  
रूढमासीनं विरूपाक्षं ललाटनेत्रम् . ललाटनेत्रेण रौद्रता प्रा-  
प्नोति तद्व्यावृत्त्यर्थं शंकरं सुखकरं वरदाभयहस्तं शंकरसाह-  
चर्यान्नीललोहितमिति नीलकण्ठम् उर्वरितप्रदेशे लोहितम् ।  
नीललोहितौ वर्णौ ललाटनेत्रयोर्ग्रन्थायोग्यतयास्य धृतौ तथो-

क्तम् । कल्पान्तरे तु श्वेतवर्णम् ; एवं सुवर्णलोहितशुक्लाकाराणां  
 विकल्पः कामनावशाद्व्यवस्थितः । उमापतिं उमा गौरी  
 तस्याः पतिः तम् । 'श्रियं लक्ष्मीम्' इति सप्त शक्तयो वक्ष्यन्ते ।  
 पशुपतिः पशूनां प्राणिनां पतिः, यद्वा प्रशूनां वेदानां गाय-  
 त्र्यादीनाम्, 'पशवो वै छन्दांसि' इति श्रुतेः । पिनाकिनं  
 पिनाकधनुर्हस्तम् । हीति निश्चितार्थः । अमितद्युतिम् अमित-  
 प्रकाशम् । ईशानः सर्वविद्यानां प्रभुः । ईश्वरः सर्वमूतानां  
 प्रभुः । ब्रह्माधिपतिः, ब्रह्म तपः मनसो विषयेभ्यो विवर्त्य  
 दर्शनं पूर्वोक्तोपासनं तस्य अधिपतिः अधिष्ठाय पाल-  
 यिता । ब्रह्मणोऽधिपतिः ब्रह्मणोऽधिष्ठाता । ब्रह्मेत्यन्न-  
 नाम अन्नं क्षीरं ततश्च क्षीरस्य अधिष्ठाता । यद्वा ब्रह्म-  
 णः अथर्ववेदस्य अधिष्ठाता । एवं यो यजुर्वेदवाच्यः प्रागु-  
 क्तेन यजुषा वेदेन वाच्यः यजुर्वेदवाच्यः । प्रागुक्तानां गुणा-  
 नां प्रथमानिर्दिष्टानां जानीयादित्यनेनान्वयं कर्तुं विशिष्टतया  
 एकत्वाभिप्रायेण द्वितीयान्ततया निर्दिशति— तमिति ।  
 सामेत्यादि गच्छतीत्यन्तम् उक्तार्थम् । एवं प्रागुक्तमाकारं  
 नृकेसरिण्येव जानीयात् । अत्र केचित्प्रागुक्तमाकारं मन्त्रव-  
 र्णात्पृथक्त्वेन उपास्यमाचक्षते ; तदयुक्तम्, एवं तर्हि उपक्रमो-  
 पसंहाराभ्यां नृसिंहब्रह्मविद्यैक्यमवगतं बाध्येत । नृसिंहपद-

व्याख्यानावसरे नृसिंह एव आसीत्परमेश्वर इति नृसिंहेश्वर-  
 रयोः सामानाधिकरण्यमवगतं बाध्येत । तस्मात् त्रिनेत्राद्या-  
 कारविशिष्टः अस्यां विद्यायां नृसिंह एवोपास्य इति सिद्धम् ।  
 अथेदानीं तृतीयं सामोद्धारमाह—म पारिशेष्यान्मध्यस्वरव-  
 र्तिगीतिः ; हा सर्वोदात्तात्मिका गीतिः ; प्रथमान्तार्धस्य आद्य-  
 मिति । प्रथमपादोक्ताक्षरद्वये अन्त्यार्धस्य आद्यस्वरम् आद्य-  
 स्वरयुक्तं साम जानीयात् इत्यनुषज्यते । र्व पारिशेष्यान्म-  
 ध्यस्वरवर्तिगीतिः ; तो सर्वोदात्तात्मिका गीतिः ; द्वितीया-  
 न्तार्धस्य आद्यमित्युक्तार्थम् । ष पारिशेष्यान्मध्यस्वरवर्तिगी-  
 तिः ; णम् , सर्वोदात्तात्मिका गीतिः ; तृतीयान्तार्धस्य आद्य-  
 मित्युक्तार्थम् । न पारिशेष्यान्मध्यस्वरवर्तिगीतिः ; मा सर्वोदा-  
 त्तात्मिका गीतिः ; चतुर्थान्तार्धस्य आद्यमित्युक्तार्थम् । सामे-  
 त्यादि गच्छतीत्यन्तम् उक्तार्थम् । ननु अत्र अक्षरद्वयमध्ये  
 अन्तार्धस्येत्यन्तस्य अक्षरस्यार्धं दीर्घादिमात्रा तस्या आद्यस्व-  
 रसंबन्धः कस्मान्न विधीयते ? तत्र, षष्ठीतत्पुरुषात्कर्मधार-  
 यस्य बलीयस्त्वात् । अन्तं च तदर्धं च अन्तार्धं प्रथमापेक्षया  
 द्वितीयमक्षरम् अन्तं च तदर्धं चेति ; अन्यथा अन्तस्याक्षरस्य  
 मात्रादि अर्धमिति षष्ठीतत्पुरुषः, ‘ एतया निपादस्थपतिं याज-  
 येत् ’ इति न्यायात् । ननु अतितुच्छमेतत् , मात्रायामप्याधा-

रापेक्षया कर्मधारयसंभवात् । सत्यम् । ‘द्वात्रिंशदक्षरं साम’  
 इत्यत्र द्वात्रिंशदक्षराणामेव स्वरात्मकसामसंबन्धः श्रूयते,  
 न मात्राणाम्; तस्मादन्तार्धशब्देन द्वितीयाक्षरस्यैव आ-  
 द्यस्वरसंबन्धो विधीयत इति सिद्धम् । यस्मात्सामैकदे-  
 शोऽपि कृत्स्नफलावाप्तौ क्षमः, किमुत कृत्स्नसामज्ञानम् ।  
 तस्मादिदं सच्चिदानन्दमयं परं ब्रह्म, तादृशनृसिंहप्रतिपाद-  
 कमूलमन्त्राभिव्यञ्जकत्वात् परं ब्रह्म जानीयादित्यनुषज्यते ।  
 सामाभिव्यक्तमूलमन्त्रप्रतिपाद्योऽयं नृसिंहाकारसच्चिदानन्दं  
 परं ब्रह्मेत्येकः संबन्धः । यद्वा सच्चिदानन्दमयं ब्रह्मेत्येकः ।  
 प्राङ्मन्त्रवर्णात् ब्रह्माकारता प्रतिपादितापि अदृढा स्यादिति  
 शङ्का, तद्व्यावृत्त्यर्थमिदमुच्यते—सच्चिदानन्दमयं ब्रह्म जानी-  
 यादिति । तं नृसिंहाकारममुम् एवमुक्तप्रकारेण विद्वान् जानन्  
 अमृते क्षीरे ‘पञ्चामृतान्यानय’ इत्यादावमृतशब्दस्य क्षीरे  
 दृष्टत्वात्, इहैव लोके उत्कृष्टो भवतीत्यर्थः । यद्वा एवं पञ्चा-  
 ङ्गन्यासे कृते इहैव जीवन्मुक्तो भवति आनन्दो भवतीत्यर्थः ।  
 यस्मात्साङ्गं साम कृत्स्ननृसिंहब्रह्मविद्याप्रतिपादकमूलमन्त्रा-  
 भिव्यञ्जकम्, तस्मादिदमित्यादि गच्छतीत्यन्तम् उक्तार्थम् ॥

अस्य साम्नः उक्तप्रकारेण विश्वस्रष्टृत्वं दर्शयितुमाह—

**विश्वसृज एतेन वै विश्वमिदमसृजन्त**

यद्विश्वमसृजन्त तस्माद्विश्वसृजो विश्व-  
मेनाननु प्रजायते ब्रह्मणः सायुज्यं सलो-  
कतां यन्ति तस्मादिदं साङ्गं साम जा-  
नीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छ-  
ति । विष्णुं प्रथमस्यान्त्यं मुखं द्वितीय-  
स्यान्त्यं भद्रं तृतीयस्यान्त्यं म्यहं चतु-  
र्थस्यान्त्यं साम जानीयाद्यो जानीते सो-  
ऽमृतत्वं च गच्छति योऽसौ सोऽवेदय-  
दिदं किं चात्मनि ब्रह्मण्यानुष्टुभं जानी-  
याद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ।  
स्त्रीपुंसोर्वा य इहैव स्थातुमपेक्षते स  
सर्वैश्वर्यं ददाति यत्र कुत्रापि म्रियते  
देहान्ते देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे  
येनासावमृती भूत्वा सोऽमृतत्वं च ग-  
च्छति । तस्मादिदं साममध्यगं जपति  
तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिस्तस्मादिदं  
सामाङ्गं प्रजापतिर्य एवं वेदेति महोप-

निषद्य एतां महोपनिषदं वेद स कृतपु-  
रश्चरणोऽपि महाविष्णुर्भवति महावि-  
ष्णुर्भवतीति ॥ ७ ॥

इति प्रथमोपनिषत् ॥

विश्वसृजः एतेन साम्ना नृसिंहब्रह्मविद्याप्रतिपादकमूलम-  
न्त्राभिव्यञ्जकेन, वै प्रसिद्धम्; सवमिदमसृजन्त । यत्  
यस्मात्सर्वमसृजन्त, तस्मात् विश्वसृजः— इति विश्वसृक्शब्दं  
निर्वक्ति । विश्वमेनाननु प्रजायते । ब्रह्मणः सायुज्यं  
सलोकतां यन्तीति उपासकानां तादात्म्यभेदोपासनयाः भे-  
देन फलनिर्देशः । ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां यन्ती-  
ति यस्मात्साङ्गात्साम्नः ईदृशमुपासकानां फलम्, तस्मा-  
दिदमित्यादि गच्छतीत्यन्तम् उक्तार्थम् । तस्मादिदं साङ्गं  
सामेत्यसकृद्भ्यासस्य अयमभिप्रायः— साङ्गसाम्नैव कृत्स्न-  
ब्रह्मविद्याप्रतिपादकमन्त्राभिव्यक्त्या या ब्रह्मविद्या उत्पन्ना  
सैव फलवती नान्येति । अत एवोक्तम् ‘तस्मादिदमेव मुख्यं  
द्वारं कलौ’ इति पापभूयिष्ठेऽत्र काले अस्यैव मुख्यता अन्ये-  
षां तु गौणतेति । कालान्तरे तु अस्या अन्यस्य वैकल्पिकी  
मुख्यतेति सर्वमनवद्यम् । अथेदानीं चतुर्थं सामोद्धारमाह—

विष्णुं सर्वानुदात्तात्मिका गीतिः । प्रथमस्य अन्त्यमिति, प्रथमपादोक्ताक्षरद्वयेऽपि अन्त्यम् अन्त्यस्वरयुक्तं जानीयादिति प्राक्तनमनुषज्यते । मुखं सर्वानुदात्तात्मिका गीतिः द्वितीयस्य अन्त्यमिति, द्वितीयपादोक्ताक्षरद्वयेऽपि अन्त्यस्वरयुक्तं सामेति संबन्धः । ननु सर्वोद्घारेषु प्रथम-द्वितीयशब्दौ कस्मात्पादाभिप्रायेण व्याख्यायेते, न उक्ताक्षरसंख्यापेक्षया ? तथा हि, प्रथमान्त्यमिति उक्ताक्षरद्वयमध्ये प्रथमस्याक्षरस्य अन्त्यं स्वरं जानीयादिति । तथा द्वितीयान्त्यमिति उक्ताक्षरद्वयमध्ये द्वितीयस्याक्षरस्य अन्त्यं स्वरं जानीयात् । एवं प्रथमोद्घारेऽपि प्रथमस्याक्षरस्य द्वितीयस्याक्षरस्य आद्यस्वरं जानीयादिति कस्मान्न व्याख्यायते ? उच्यते । सर्वत्र हि अक्षरद्वयमुक्त्वैव प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थशब्दाः श्रूयन्ते । न हि अक्षरद्वयोक्तौ तृतीयचतुर्थशब्दावुपपन्नौ, तृतीयचतुर्थयोरक्षरयोरभावात्, इति पादाभिप्रायेण व्याख्यायितुं निश्चिते, तत्साहचर्यत्प्रथमद्वितीयशब्दावक्षरद्वयोक्तावुपपन्नाविति न अक्षराभिप्रायेण व्याख्येयौ ; किं तु पादाभिप्रायेणैवेति स्थितम् । भद्रम्, सर्वानुदात्तात्मिका गीतिः तृतीयस्य अन्त्यमित्युक्तार्थम् । म्यहम्, सर्वानुदात्तात्मिका गीतिः चतुर्थस्य अन्त्यमित्युक्तार्थम् ।



ननु कस्मान्नैरन्तर्येण सामोद्धाराभावः, नैरन्तर्येण हि उद्धृते साम्नि सौकर्यं स्यात्— द्वितीयोपनिषदुक्तपदोद्धारवत् । उच्यते— सत्यं सौकर्यं स्यात्, किं तु सामद्रष्टा प्रजापतिः सर्वान्देवान्द्रष्टुं शक्तोऽपि मूलमन्त्रवत् नेदं साम अपश्यत्, किं तु तद्दर्शनाय अस्यामुपासनायाम् उपासनैकदेशानुष्ठानात् ईषच्छुद्धान्तःकरणः सन् प्रथमोद्धारमपश्यत्, पुनश्च क्षीरोदार्णवाद्युपास्यमुपास्य द्वितीयमुद्धारमपश्यत्, एवमभ्यधिकोपासनानुष्ठानादभ्यधिकशुद्धान्तःकरणः तृतीयं चतुर्थमपश्यदिति प्रजापतेरपि तद्दर्शने महानायासः; किमुतान्येषाम्— इति नैरन्तर्येण सामोद्धाराभावः साम्नो दुर्लभतां दुर्दर्शनेतां च दर्शयति । यः प्रजापतिरसौ स प्रजापतिरवेदयत् निवेदितवान् उपदिष्टवानिदं किंच यद्विदं प्रागुक्तमुपासनम् आत्मनि ब्रह्मणीति ब्रह्मण्यात्मनीति ब्रह्मात्मकतां स्वस्मिन् परिज्ञाय आनुष्ठुभम् अनुष्ठुप्संबन्धि सामद्वारकमुपासनं जानीते यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छतीत्युक्तार्थम् । स्त्रीपुंसोर्वा स्त्रियां वा पुंसि वा प्रागुक्तमुपासनं प्रजापतिरुपदिष्टवानित्यर्थः । अथवा ब्रह्मणि हिरण्यगर्भे एतदुपासनं स्त्रीपुंसोर्वा । यद्वा आत्मनि ब्रह्मणीति ब्रह्मणि परमेश्वरे आनुष्ठुभं साम न्यस्तं जानीते । अस्मि-

न्यक्षे प्रामुक्तो यच्छब्दः उपास्यपरः ; न प्रजापतिपरः ।  
 स्त्रीपुंसोर्वा स्त्रीपुंसोश्च वा-शब्दः समुच्चयार्थः, 'वायुर्वा त्वा  
 मनुर्वा त्वा' इत्यादौ दृष्टत्वात् । एतदुक्तं भवति—उपास्ये-  
 श्वरे सामन्यासं कृत्वा उपासकेन आत्मन्यपि सामन्यासः  
 कार्यः । य उपासकः इह लोके उत्कर्षेण स्थातुमपेक्षते, तस्मै  
 सर्वैश्वर्यं ददाति । देहान्ते तु देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे,  
 कामिनं प्रकृत्य देहान्ते इति विशेषणोपादानात् कामि-  
 त्वेन प्रागधिकाराच्च । निष्कामस्यार्वागपि देवः परं ब्रह्म तारकं  
 प्रणवस्थं सामाङ्गं प्रणवेन व्याख्यातम्, येन प्रणवेन व्या-  
 ख्यातेन अमृती भूत्वा स श्रोता अमृतत्वं च कैवल्यं प्राप्नो-  
 ति । यस्मात् तारकस्थं परब्रह्म व्याख्येयम्, तस्मादिदं ता-  
 रकं साममध्यगं साममध्यवर्ति जपति, सामोपासनाङ्ग-  
 प्रणवजपो यथाशक्तीति दर्शयति । एतदेव आह—तस्मा-  
 दिदं तारकं साम्नोऽङ्गं प्रजापतिः ऋषित्वेन । यद्वा इदं तारकं  
 परमेश्वरस्वरूपाख्यानेन, साम च परमेश्वरविषयविद्याप्रति-  
 पादकमूलमन्त्राभिव्यञ्जकत्वेन, प्रजापतिरुभयकथनेन—इत्ये-  
 तन्नितयमवश्यमुपासनायामङ्गम् । एतदेव त्रितयमस्यामुपा-  
 सनायामावश्यकमिति दर्शयितुं द्विरभ्यासः—तस्मादिदं सा-  
 माङ्गं प्रजापतिः तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिः इति ।

यस्मादेवं साम, तस्मादस्य नैरन्तर्येणोद्धारः स्पष्टीक्रियते ।  
तत्र मूलमन्त्रप्रथमपादाक्षरेष्वष्टसु मुखहस्ताभ्यां हस्ताङ्गुष्ठो-  
त्तमपर्वोच्छ्रयेण आद्यमक्षरद्वयं मुखेन प्रागाय तृतीयमक्षरं  
कनिष्ठिकामूलपर्वस्पर्शेन तथैव मुखेन प्रागाय चतुर्थं पञ्चमं  
चैकैकं पृथक्पृथक्पञ्चोत्तमपर्वतर्जनीस्पर्शतत्संनिहिताङ्गुल्युप-  
कनिष्ठिकाकनिष्ठिकामध्यमध्यपर्वस्पर्शेन तथैव मुखेन प्रागाये-  
त् । षष्ठमङ्गुष्ठोत्तमपर्वोच्छ्रयेण तथैव मुखेन प्रागायेत् । सप्तमा-  
ष्टमाक्षरे कनिष्ठिकामूलपर्वस्पर्शेन यथाविहितस्वरैः आद्याक्षर-  
द्वयाद्यतृतीयाक्षरान्त्यचतुर्थपञ्चमाक्षरमध्यषष्ठाक्षराद्यसप्तमा-  
ष्टमाक्षरान्त्यैः अप्रमत्तः तथैव मुखेन गायेत् । तथैव तृती-  
यषष्ठयोरङ्गुलीभ्यां दीर्घं गृह्णीयात् । एवं द्वितीयतृतीयच-  
तुर्थपादाक्षरेष्वष्टसु साम गेयम् । द्वितीयपादे षष्ठं दीर्घं तृतीये  
चतुर्थमक्षरं दीर्घं चतुर्थे षष्ठं दीर्घमिति शुद्धं साम; साङ्गं  
चेत् प्रथमपादान्ते प्रणवं निक्षिप्य द्वितीयपादान्ते सावित्रीं तृ-  
तीयपादान्ते यजुर्लक्ष्मीं चतुर्थपादान्ते नृसिंहगायत्रीं गायेत् ।  
स्त्री चेत् शूद्रश्चेत् एतन्नितयं विहाय शुद्धं साम गायेत् ।  
एष नैरन्तर्येण सामोद्धारः ; उच्चारस्यातिदुर्लभत्वादतिरहस्य-  
त्वाच्च लिखितोऽपि न लिखित्वा प्रदर्श्यते, वाचैव स्पष्टी-  
क्रियत इति । य एवम् उक्तप्रकारेण वेद उपास्ते । इति-

शब्दः अस्या उपासनाया नामकरणं करोति । उपनिषत्सु एष समयः प्रणवगर्भितप्रणवबहुलोपासनानां महोपनिषदिति नाम तत्र तत्र । महोपनिषत् उपनिपूर्वस्य सदेः किञ्चन्तस्य गत्यवसादनविशरणार्थत्वात् महद्ब्रह्म गमयति ज्ञापयतीति महोपनिषत्, महान्तं संसारमवसादयति क्लेशयति नाशयतीति वा महोपनिषदिति । ‘ओमित्यात्मानं युञ्जीतैतद्वै महोपनिषदम्’ इति श्रुतेः । य एताम् उक्तप्रकारेण प्रतिपादितां महोपनिषदं वेद उपास्ते, स उपासकः कृतपुरश्चरणः कृतं प्रागुक्तोपासनं येन स तथोक्तः महाविष्णुर्भवति । विष्टु व्याप्तौ । द्विरभ्यासः प्रथमोपनिषत्समाप्तिं द्योतयति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य

श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य

श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्भाष्ये

प्रथमोपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥



नृसिंहपूर्वतापनीयो-  
पनिषद्भाष्यम्  

---

द्वितीयोपनिषत्



## द्वितीयोपनिषत् ॥



वं तावत्प्रथमोपनिषदन्ते 'य एतां महोपनिषदं वेद' इत्येतच्छब्दपरामृष्टसामोपनिषदो महोपनिषदश्च सामानाधिकरण्यमुक्तम् । महोपनिषच्च द्वात्रिंशन्नृसिंहलीलाविग्रहस्तुतिमन्त्रालिका, तस्या अन्ते 'य एवं वेदेति महोपनिषत्' इत्युपसंहारात् । तत्र तावत् उभयोपनिषत्सामानाधिकरण्यात् सामाभिव्यक्तमूलमन्त्रद्वात्रिंशदक्षरेषु महाचक्रन्यस्तेषु नृसिंहद्वात्रिंशद्व्यूहानुपास्य, तैरेव मन्त्रैः तां देवतां स्तुत्वा सामोपासनां कुर्यादित्यवगम्यते । अत एव स्तुत्युपनिषदः पुरश्चरणोपासनार्थत्वमाह— 'स कृतपुरश्चरणः' इति । कृतं पुरश्चरणं स्तुत्युपासनं येन स तथोक्तः । एवं पुरश्चरणोपासनायां मुमुक्षोरुपासकस्य अधिकारसंपत्तिमभिधाय तस्यैव तदुपासनास्वीकारेऽन्यदप्यधिकारिविशेषणमाख्यायिकाद्वारेण आह—

देवा ह वै मृत्योः पाप्मभ्यः संसारा-  
च्चाबिभ्युस्ते प्रजापतिमुपाधावंस्तेभ्य एतं



मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रायच्छत्तेन  
 वै स मृत्युमजयन्स पाप्मानमतरन्स सं-  
 सारं चातरंस्तस्माद्यो मृत्योः पाप्मभ्यः  
 संसाराच्च विभीयात्स एतं मन्त्ररा-  
 जं नारसिंहमानुष्टुभं प्रतिगृह्णीयात्स मृ-  
 त्युं जयति स पाप्मानं तरति स संसारं  
 तरति तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मा-  
 त्वा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा  
 वसवो गायत्री गार्हपत्यः सा साम्नः प्र-  
 थमः पादो भवति द्वितीयान्तरिक्षं स  
 उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णू रुद्रा-  
 स्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः सा साम्नो द्वितीयः  
 पादो भवति तृतीया द्यौः स मकारः स  
 सामभिः सामवेदो रुद्रा आदित्या जग-  
 त्याहवनीयः सा साम्नस्तृतीयः पादो भ-  
 वति यावसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा  
 सोमलोक ओंकारः सोऽथर्वणैर्मन्त्रैरथ-

र्वेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेक ऋ-  
षिर्भास्वती सा साम्नश्चतुर्थः पादो  
भवति ॥ १ ॥

देवा अकृतपुरश्चरणा वै मृत्योरविभयुः । ते उपासका देवाः  
मृत्योः मरणहेतोर्वैवस्वतात् , स च मृत्युः पाप्मपूर्वक इति  
पाप्मभ्यः, तच्च पापं संसारपूर्वकमिति संसाराच्च अज्ञान-  
भयात् समस्ताद्व्यस्ताद्वितयात् अविभयुः भयमागच्छन्-  
इति प्रत्येकं संबध्यते । द्विविधा हि उपासकाः देवाः  
मुमुक्षवः अमुमुक्षवश्चेति ; तत्र मुमुक्षूणां त्रितयं समुच्चितं  
विशेषणम् । अमुमुक्षूणां ह्यकृतपुरश्चरणानां व्यस्तं द्वितयं  
विशेषणम्, केचन केवलं मृत्योर्जयमेव कामयन्ते, केचन  
पाप्मन एव जयम्, अन्ये तु त्रितयजयम् । ते द्विविधा देवाः  
प्रजापतिमुपाधावन्, उपपूर्वको धावतिः पूजामाह, उप स-  
मीपमेत्य प्रजापतिमपूजयन् स्तुतिशुश्रूषादक्षिणाभिश्च । तेभ्यो  
देवेभ्यः प्रीतः प्रजापतिः एतं मन्त्रराजमित्याद्यानुष्टुभमित्य-  
न्तं सर्वमुक्तार्थं प्रायच्छत् प्रादात् । तेन प्रदानेन वै स प्रजा-  
पतिः मृत्युमजयत् । देवा अपि मृत्युमजयन् । अजयन्निति  
बहुवचनात् स इत्येकवचनात् उभयत्रापि प्रकृत्यर्थसंबन्धे प्राप्ते,  
यथायोग्यतया वचनं योज्यम् । तथा तेनेत्यर्थप्राप्तं स्वीकरणं

परामृश्यते । एतदुक्तं भवति—तेन प्रदानेन प्रजापतिः मृत्यु-  
मजयत्, तेन स्वीकारेण देवा मृत्युमजयन्निति । कैश्चिदेवं  
व्याख्यातम्—समृत्युमिति समस्तं कृत्वा सह मृत्युना वर्तते  
यदज्ञानं तत्तथोक्तम्, तन्न, पूर्वं तस्याप्रकृतत्वात् । अथार्थप्राप्तं  
प्रकृतमिति चेत्, भवतु न कश्चिद्विरोधः; किं तु दातुः  
फलं न संकीर्तितं स्यादिति दाता कथं प्रवर्तेत? दक्षिणा-  
दिभिरिति चेत्, न । विरक्ते तु का वार्ता । तस्मादुभयत्रा-  
पि फलवत्युपासनेयमिति व्याख्या ज्यायसी । एवमुत्तरत्रापि  
व्याख्येयम्—पाप्मानं स संसारम् अतरत् अतरन्निति च । य-  
स्मादिदमुभयत्र फलवत्, तस्माद्यः प्रागुक्तः उपासकः मृत्योः  
पाप्मभ्यः संसाराच्च विभीयात् समस्ताद्व्यस्ताद्वितयाद्वयं गच्छे-  
त्, स प्रागुक्त उपासको गुरुपसर्पणेन एतं मन्त्रराजमित्यादि  
स संसारं तरतीत्यन्तं स्पष्टार्थम् । प्रतिगृहीयात् स्वीकुर्यादित्य-  
र्थः । अनेनैतद्दर्शयति—मूलमन्त्रमात्रग्रहणे गुरुपसर्पणमावश्य-  
कम् । सामप्रभृत्युपासनांशे गुरुपसर्पणाच्छ्रुतितः तद्व्याख्या-  
नाद्वेति विकल्पः, ‘तस्मादिदं साम येन केनचिदाचार्यमुखेन’  
इति श्रुतेः । अत एव एतद्विषयरहस्यकल्पग्रन्थान् असमर्थश्चेत्  
गुरुमुखाच्छृणुयात् समर्थश्चेत्स्वयमेवावेक्षेत, मूलमन्त्रं सबीजं  
सशक्तिकं साङ्गं सन्यासं गुरुमुखात्स्वीकृत्य । एवं प्रागुक्त-

स्योपासकस्य मुमुक्षोः प्रागुक्तं त्रितयं विशेषणम् इतरस्य द्वितयं विशेषणम् उभयत्रापि स्तुत्युपनिषत्प्रतिपादितं स्तवनं तेषां व्यूहानामुपासनं साम्ना मूलमन्त्राभिव्यक्तिश्चेति क्षित-  
यमप्येतत् पुरश्चरणरूपत्वात्साधारणम् । एवं विशिष्टमधि-  
कारिणमभिधाय तदुपासनाप्रारम्भस्य प्रणवोपासनापूर्वक-  
त्वात्, प्रणवमात्रानृसिंहव्यूहे— ‘ॐ सं ॐ यो वै नृसिं-  
हो देवो भगवान्याश्चतस्रोऽर्धमात्रास्तस्मै वै नमो नमः’ इति  
मन्त्रवर्णात् पुरश्चरणोपासनान्तर्गतत्वेन स्थितेऽपि, अत्रापि  
मात्राशब्दादर्धशब्दाच्चतुःशब्दाच्च तन्मात्राव्यूहप्रत्यभिज्ञानात्  
तस्मिन्नेव व्यूहे चतुर्मात्रासंबन्धित्वेन उपासनाविशेषमाह—  
तस्य प्रागुक्तस्य मन्त्रराजस्य सामाभिव्यक्ताक्षरस्य संपुटि-  
तत्वेन स्थितस्य ह निश्चितं सामाभिव्यक्तमूलमन्त्राक्षरसं-  
पुटीकरणेन स्थितत्वात् साम्ना संबन्धः, ‘तस्मात्प्रत्यक्षरमुभ-  
यत ओंकारो भवति’ इति श्रुतेः । प्रणवस्य या पूर्वा मात्रे-  
त्यादि सा साम्नाश्चतुर्थः पादो भवतीत्यन्तं स्पष्टार्थम् । अ-  
कारोकारमकारार्धमात्रात्मको यथासंख्यं पृथिव्यन्तरिक्षद्युसो-  
मलोकऋग्यजुःसामाथर्वणब्रह्मविष्णुमहेश्वरोंकारवसुरुद्रादित्य-  
मरुद्गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीविराज्जार्हपत्यदक्षिणाग्न्याहवनीयसंव-  
र्तकात्मकः प्रणवः तस्मिन्नृसिंहव्यूहे विश्वरूपन्यायेनावस्थितः

उपास्यः । नन्वनेक एव लीलाविग्रहाः कथं न भवन्ति ।  
नेति ब्रूमः ‘यः’ ‘तस्मै’ इत्येकवचनात् एक एवायं लीला-  
विग्रह इत्यवगम्यते ॥

एवं तावत्पुरश्चरणान्तर्गतप्रणवमात्राव्यूहोपासनमभिधाय  
इदानीं सामाभिव्यक्तमूलमन्त्रेण ब्रह्मोपासनामभिधातुं मूल-  
मन्त्रस्य प्रणवसंपुटीकरणादक्षरसंख्याविवृद्धेः कथं द्वात्रिं-  
शदक्षरं सामेत्याशङ्क्य पादशः पञ्चाङ्गन्यासं च अभिधातुं  
पादाक्षरसंख्यापूर्विकां कृत्स्नमूलमन्त्राक्षरसंख्यामाह—

अष्टाक्षरः प्रथमः पादो भवत्यष्टाक्षरा-  
स्त्रयः पादा भवन्त्येवं द्वात्रिंशदक्षराणि  
संपद्यन्ते द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुब्भव-  
त्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा सर्वमु-  
पसंहृतं तस्य हि पञ्चाङ्गानि भवन्ति च-  
त्वारः पादाश्चत्वार्यङ्गानि भवन्ति सप्र-  
णवं सर्वं पञ्चमं भवति । ॐ हृदयाय  
नमः । ॐ शिरसे स्वाहा । ॐ शि-  
खायै वषट् । ॐ कवचाय हुम् । ॐ

अस्त्राय फडिति प्रथमं प्रथमेन युज्यते  
द्वितीयं द्वितीयेन तृतीयं तृतीयेन चतुर्थं  
चतुर्थेन पञ्चमं पञ्चमेन व्यतिषक्ता वा  
इमे लोकास्तस्माद्व्यतिषक्तान्यङ्गानि भव-  
न्त्योमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्मात्प्रत्यक्ष-  
रमुभयत ओंकारो भवतीत्यक्षराणां न्या-  
समुपदिशन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ २ ॥

अष्टाक्षरः प्रथमः पादो भवतीत्यादि सप्रणवं सर्वं पञ्चमं  
भवतीत्यन्तं स्पष्टार्थम् । ॐ हृदयेत्याद्यङ्गमन्त्राणां पञ्चानां  
सामाङ्गमन्त्रैरेव व्याख्यातत्वात् न पृथग्व्याख्यानापेक्षेति,  
हृदयेत्यादि पञ्चमेनेत्यन्तं स्पष्टार्थम् । व्यतिषक्ता वा  
इमे लोकास्तस्माद्व्यतिषक्तान्यङ्गानि भवन्तीति लोकबुद्धयो-  
पास्यानां हृदयाद्यङ्गानां सामाभिव्यक्तमूलमन्त्रप्रति-  
पाद्ये नृसिंहब्रह्मव्यूहे क्षीरोदार्णवशायिनि उपविष्टे वा  
लोकव्यतिषङ्गहेतुकाङ्गव्यतिषक्तता विधीयते । तस्माद्व्यति-  
षक्तान्यङ्गानि भवन्तीत्यत्र व्यतिषक्तानि यथायोग्यतया  
अन्योन्यं मिश्रितान्युपास्यानीत्यर्थः । ततश्च अयमर्थः सं-  
पद्यते— पारमेश्वरं हृदयाख्यमङ्गं पारमेश्वरशिरोऽङ्गादधःप्रदे-

शान्तःस्थितं हृदयप्रदेशादारभ्य उपास्यम् । अत एव सामाङ्गप्रणवव्याख्यानेन मूलमन्त्रहृदयाङ्गव्याख्यानावसरे पारमेश्वरं हृदयं व्याख्यातम् ; इतरथा तद्व्याख्यानमप्रस्तुतं स्यात् ; तस्मादङ्गव्यतिषक्तताविधानादेव तद्व्याख्यानं प्रस्तुतमिति सिद्धम् । यत एवं हृदयाङ्गोपासनैव तदन्तर्गतत्वात् नेत्रत्रयोपासना, अत एव नेत्रत्रयाङ्गोपासना न पृथगभिहिता । एवमुत्तरत्रापि शिखाख्यमङ्गं पारमेश्वरं शिरोऽङ्गे मूर्ध्नि च व्यतिषक्तं सामाङ्गलक्ष्मीयजुर्मन्त्रेण व्याख्यातमुपास्यम् । शिरश्च द्वितीयमङ्गं यथोक्तहृदये व्यतिषक्तं सामाङ्गसावित्रीमन्त्रेण व्याख्यातम् । पारमेश्वरं कवचम् यथोक्तहृदयैकदेशे नाभेरुर्ध्वं ग्रीवातोऽधः पृष्ठप्रदेशव्यापि सामाङ्गनृसिंहगायत्र्या व्याख्यातमुपास्यम् । एवं पञ्चममङ्गम् अस्त्राख्यम् उत्तराधरभावेन तन्नाभिमध्यवर्ति क्षीरोदार्णवशायिपारमेश्वरव्यूहचतुष्टयाङ्गव्यापितया व्यवस्थितं व्यतिषक्तमुपास्यमिति यथायोग्यतया व्यतिषक्तशब्दस्याङ्गेषु स्थितिः । पञ्चाङ्गन्यासोपन्यासः न षष्ठमङ्गमिति तस्य हृदयान्तर्गतत्वात् इति प्रागभिहितम् । पञ्चमेऽङ्गे सप्रणवतां विधातुमाह— यस्मादोमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति, यदिदमर्थजातमभिधानाभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकादभिधानभेदस्य च

ओंकाराव्यतिरेकात् ओंकार एवेदं सर्वम् । तस्मात्प्रत्यक्षरमुभयत ओंकारो भवति प्रत्यक्षरमेकैकं मूलमन्त्राक्षरं प्रणवेन संपुटितं कुर्यात्—इत्यक्षराणां मूलमन्त्राक्षराणां न्यासम् अस्त्राख्येऽङ्गे उपदिशन्ति कथयन्ति ब्रह्मवादिनः ब्रह्मैवोपास्यमिति ये वदन्ति ते ब्रह्मवादिनः । अत्र च उपदिशन्तीति विशेषणोपादानात् मूलमन्त्राङ्गजातमुपदेशगम्यमिति दर्शयति । तमिमं पञ्चाङ्गन्यासं यथोक्तविशेषणे परमेश्वरे यथोक्तविशेषणविशिष्टं विधाय स्वात्मन्यपि विदध्यात्, अस्मिन्हि प्रकरणे तस्यार्थजातस्य प्रायशः परमेश्वरसंबन्धितया श्रुतत्वादिति ॥

एवं तावत् ‘तस्मात्प्रत्यक्षरमुभयत ओंकारो भवति’ इति विधानात्सामाभिव्यक्तमूलमन्त्राक्षरव्यवधानेन अर्थाप्रतिपादने औपाधिकेन पदाज्ञानेन प्राप्ते, तदव्यवधानेनार्थप्रतिपादनोपाधिना गूढेन पदपरिमाणं ज्ञापयितुं पदोद्धारमाह—

तस्य ह वा उग्रं प्रथमं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति वीरं द्वितीयं स्थानं महाविष्णुं तृतीयं ज्वलन्तं चतुर्थं सर्वतोमुखं पञ्चमं नृसिंहं षष्ठं भीषणं सप्तमं भद्रमष्टमं मृत्युमृत्युं



नवमं नमामि दशममहमित्येकादशं  
 स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं  
 च गच्छति । एकादशपदा वा अनुष्टु-  
 बत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा सर्व-  
 मुपसंहृतं तस्मात्सर्वमिदमानुष्टुभं जानी-  
 याद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च ग-  
 च्छति ॥ ३ ॥

तस्य ह वा इत्यादि सर्वमुपसंहृतमित्यन्तं स्पष्टार्थम् ।  
 स्थानं जानीयात् पदं जानीयात् । एकादशपदा वा अनुष्टु-  
 ब्भवतीत्युपसंहारात् प्राक्तनः सर्वोऽपि स्थानशब्दः पदे  
 वर्तते । यस्मादभिधानाभिधेयप्रपञ्चस्याभिधानाव्यतिरेकात्  
 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इति श्रुतेः नामप्रपञ्चस्य  
 सामान्यविशेषात्मकस्यानुष्टुब्रामाव्यतिरेकात् अनुष्टुभश्च आ-  
 द्यब्रह्मविवर्तात्मकत्वात् साकारब्रह्मप्रतिपादकत्वेन ब्रह्मत्वे  
 सिद्धे ब्रह्मणश्च सृष्ट्युपसंहारकारणत्वेनोपादानत्वादित्यनुष्टुबे-  
 वोपादानम्, तस्मात्सर्वमानुष्टुभमित्यादि गच्छतीत्यन्तं स्प-  
 ष्टार्थं व्याख्येयमुक्तार्थम् ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कस्मादु-

च्यत उग्रमिति स होवाच प्रजापतिर्य-  
स्मात्स्वमहिम्ना सर्वाँल्लोकान्सर्वान्देवा-  
न्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतान्युद्गृह्णात्यज-  
स्रं सृजति विसृजति वासयत्युद्गाह्यत  
उद्गृह्यते । स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं  
नभीममुपहबुमुग्रम् । मृडा जरित्रे सिंह  
स्तवानो अन्यं ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः ।  
तस्मादुच्यत उग्रमिति । अथ कस्मादु-  
च्यते वीरमिति यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वा-  
ँल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि  
भूतानि विरमति विरामयत्यजस्रं सृजति  
विसृजति वासयति । यतो वीरः कर्म-  
ण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामः ।  
तस्मादुच्यते वीरमिति । अथ कस्मादुच्यते  
महाविष्णुमिति । यः सर्वाँल्लोकान्व्याप्नो-  
ति व्यापयति स्नेहो यथा पल्लपिण्डमो-  
तप्रोतमनुप्राप्तं व्यतिषक्तो व्याप्यते व्या-

पयते । यस्मान्न जातः परोऽन्योऽस्ति य  
 आविवेश भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः  
 प्रजया संविदानस्त्रीणि ज्योतींषि सचते  
 स षोडशीति । तस्मादुच्यते महाविष्णु-  
 मिति । अथ कस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति ।  
 यः स्वमहिम्ना सर्वाल्लोकान्सर्वान्देवा-  
 न्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि स्वतेज-  
 सा ज्वलति ज्वालयति ज्वालयते ज्वा-  
 लयते । सविता प्रसविता दीप्तो दीपय-  
 न्दीप्यमानः । ज्वलज्ज्वलिता तपन्वि-  
 तपन्संतपन्रोचनो रोचमानः शोभनः  
 शोभमानः कल्याणः । तस्मादुच्यते  
 ज्वलन्तमिति । अथ कस्मादुच्यते सर्व-  
 तोमुखमिति । यस्मादनिन्द्रियोऽपि सर्व-  
 तः पश्यति सर्वतः शृणोति सर्वतो  
 गच्छति सर्वत आदत्ते सर्वगः सर्वत-  
 स्तिष्ठति । एकः पुरस्ताद्य इदं बभूव

यतो बभूव भुवनस्य गोपाः । यमप्येति  
 भुवनं सांपराये नमामि तमहं सर्वतो-  
 मुखम् । तस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति ।  
 अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति । यस्मा-  
 त्सर्वेषां भूतानां ना वीर्यतमः श्रेष्ठतम-  
 श्च सिंहो वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च तस्मान्नृ-  
 सिंह आसीत्परमेश्वरो जगद्धितं वा ए-  
 तद्रूपं यदक्षरं भवति । प्र तद्विष्णुः स्तवते  
 वीर्याय मृगो नभीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।  
 यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधि क्षियन्ति  
 भुवनानि विश्वा । तस्मादुच्यते नृसिंह-  
 मिति । अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति  
 यस्मात्स्वमहिम्ना यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लो-  
 काः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या प-  
 लायन्ते स्वयं यतः कुतश्चिन्न बिभेति । भी-  
 षास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भी-  
 षास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।

तस्मादुच्यते भीषणमिति । अथ क-  
 स्मादुच्यते भद्रमिति । यस्मात्स्वयं भद्रो  
 भूत्वा सर्वदा भद्रं ददाति रोचनो रोच-  
 मानः शोभनः शोभमानः कल्याणः ।  
 भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्ये-  
 माक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्त-  
 नूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः । तस्मादु-  
 च्यते भद्रमिति । अथ कस्मादुच्यते मृ-  
 त्युमृत्युमिति । यस्मात्स्वभक्तानां स्मृत  
 एव मृत्युमपमृत्युं च मारयति । य  
 आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते  
 प्रशिषं यस्य देवाः । यस्य च्छाया-  
 मृतं यो मृत्युमृत्युः कस्मै देवाय हवि-  
 षा विधेम । तस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमि-  
 ति । अथ कस्मादुच्यते नमामीति य-  
 स्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्म-  
 वादिनश्च । प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वद-

त्युक्थ्यम् । यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो  
अर्घमा देवा ओकांसि चक्रिरे । तस्मादु-  
च्यते नमामीति । अथ कस्मादुच्यतेऽह-  
मिति । अहमस्मि प्रथमजा ऋताऽस्य पूर्वं  
देवेभ्यो अमृतस्य नाऽभायि । यो मा  
ददाति स इदेव माऽवाः । अहमन्नमन्न-  
मदन्तमाऽग्नि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभ-  
वाऽम् । सुवर्नं ज्योतीः । य एवं वे-  
देत्युपनिषत् ॥ ४ ॥

इति द्वितीयोपनिषत् ॥

यदर्थप्रतिपादकगूढोपाधिना पदज्ञानमभूत् तमेव गूढो-  
पाधिं विवृणोति प्रश्नोत्तराभ्याम् । स च अत्र बहुतरो व्या-  
ख्येयः साङ्गसामाभिव्यक्तसाङ्गमूलमन्त्रं प्रतिपाद्य । स च  
मूलमन्त्रः पदत्रयात्मकः प्रथमः पादः पदद्वयात्मको द्वितीयः  
पदत्रयात्मकस्तृतीयः तत्संख्याकपद एव चतुर्थं इत्येकादश-  
पदात्मकः । एवमेकादशपदात्मके मन्त्रे पञ्चाङ्गन्यासानन्तर-  
मुक्ते मन्त्रे द्वितीयान्तेषु नवसु पदेषु मन्त्रान्त्यं पदद्वयं

तृतीयपादाद्यं च पदमपि त्रितयमपि अधस्तनेषूपरितनेषु  
 च तृतीयपादाद्यपदादन्यत्रानुषज्यते, तृतीयपादाद्यपदे द्वित-  
 यमनुषज्यते, एवं क्रियाकारकाद्यन्वयसंबन्धशुद्धिः । तत्र  
 पञ्चाङ्गन्यासानन्तरं पठितत्वात्पदोद्धारतदर्थकथनस्य सर्वे-  
 ष्वेव पादेषु साङ्गेष्वर्थः कथनीय इत्याद्ये पादे पदत्रयात्मके  
 साङ्गे लोकाद्यग्न्यादिना सामोपनिषद्युपास्ये सामाङ्गप्रणवेन  
 च मूलमन्त्रहृदयाङ्गव्याख्याने प्राप्ते तत्रैकैकं पदं बहुतरेष्व-  
 र्थेषु व्याख्येयम् । तथोपरितनऋचः एकादशपदसंबन्धिन्यः  
 प्रश्नोत्तरान्तरालवर्तिब्राह्मणवर्तिन्यः ‘तदेषाभ्युक्ता’ इत्येवं  
 ब्राह्मणोक्तार्थे साक्षित्वेनोद्भाविता महाचक्रे न्यस्ते द्वात्रिंशद्व्यू-  
 हनृसिंहात्मके ब्रह्मणि एकैकमूलमन्त्रपदव्याख्यानपरत्वेन वर्ण-  
 नीयाः । तथा ब्राह्मणमेकैकमूलमन्त्रपदव्याख्यानपरत्वेन महा-  
 चक्रनाभिवर्तिक्षीरोदार्णवसंबन्धिमूलनृसिंहव्यूहे ब्रह्मणि प्रा-  
 गुक्तगुणविशिष्टे व्याख्येयम् । अत एव तत्र साक्षित्वेनोद्भा-  
 वनम् ऋग्ब्राह्मणयोः तत्तत्पदव्याख्यानानावसरे विभागक्रमं च  
 स्पष्टं प्रदर्शयिष्यामः । तत्र तावदेकैकं पदं धातूपसर्गादियोगे-  
 न बहुतरमर्थजातं कथं वदिष्यति प्रजापतिः, कथं च व्याख्या-  
 ख्यत्यस्मान्व्युत्पन्नान्प्रति — इत्येवं देवाः विस्मयेन ह हर्षिताः वै  
 प्रजापतिमब्रुवन्निति सर्वपदसाधारणं व्याख्यानं पृष्ट्वा अथ अन-

न्तरं कस्मात्प्रकृतिप्रत्ययविभागात् अनाख्यातात्मकं प्रथमपद-  
मुच्यते व्याख्यायते उभयत्रापि मूलनृसिंहव्यूहे द्वात्रिंशन्नृ-  
सिंहव्यूहे च उग्रमिति । इति-शब्दः प्रश्नसमाप्तिं द्योतयति ।  
स प्रजापतिः तान्देवान्परमेश्वरोपासनानिष्ठान् विवक्षितार्थ-  
प्रष्टुन् दृष्ट्वा हर्षितः उत्तरमुवाच । एवमुत्तरेष्वपि प्रश्नोत्तरेषु  
योज्यम् । यस्मात्स्वमहिम्ना स्वतन्त्रशक्त्या मायया तस्या  
आत्मतन्त्रत्वादेव स्वातन्त्र्यम् । स्वमहिम्नेति च वचनं सर्व-  
शक्तिमत्तृतीयपादाद्यपदानुषङ्गं दर्शयति । एवं तत्तत्पदव्या-  
ख्यानावसरे । सर्वाल्लोकान् पृथिव्यादीन्पार्थिवत्वावान्तरजा-  
तिभेदभिन्नान् सर्वान्देवान् अग्न्यादीन् सप्रणवव्याख्यानपक्षे  
ऋग्व्रह्मादिगार्हपत्यान्तान् प्रणवप्रथममात्राप्रतिपादितान् सर्वा-  
नात्मनः विश्वादीन् सामाङ्गप्रणवव्याख्याने वक्ष्यमाणान् स-  
र्वाणि भूतानि उद्गृह्णाति, उदित्यव्ययम् उ इत्येतस्य नि-  
पातस्य स्थाने, वर्णसाम्यात् अन्वित्युपसर्गस्यार्थे, ग्रह इत्ययं  
गृह्णातीति भावव्युत्पत्त्या, अनुगृह्णातीत्यर्थः । अजस्रम् अ-  
नवरतं तथा च उत्पूर्वको गृह्णाति-शब्दः सृष्टिविमोचन-  
वसतिषु वर्तते । उद्ग्राह्यते उद्गृह्यते इत्यात्मनेपदात् प्रयो-  
जककर्तृत्वं साक्षात्कर्तृत्वं च इत्युक्तमेवार्थं द्रढयति । तत-  
श्चायमर्थः— पूर्वोक्तार्थानुग्राहकत्वं स्रष्टृत्वं च विपूर्वकस्य



सृजतेरुपसंहारार्थत्वेन तदर्थत्वं विमोचनार्थत्वं वा अव-  
स्थितिकारयितृत्वमनुग्रहे प्रयोजकत्वमिति मूलनृसिंहव्यू-  
हहृदयान्तर्वर्तित्वेन उपास्यम् । एवं मूलनृसिंहगूढहृदयो-  
पासापरत्वेन उग्रपदं व्याख्याय अथेदानीं तदेव पदं द्वात्रिंश-  
द्व्यूहोपासनापरत्वेन व्याख्यातुम् ऋचमाह । स्तुहीति स्तोतारं  
प्रत्यक्षीकृत्याह परोक्षीकृत्य स्तुत्यम् । श्रुतम् ‘ यौ वै नृसिंहः ’  
इत्यादिमन्त्रवर्णैरेव श्रुतं द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहम् । गर्तसदं गर्ते  
महाचक्रे, गृणातेः स्तुतिकर्मणो गीयते स्तूयते इति व्युत्पत्त्या  
गर्तम्, सीदतीति गर्तसदम् । युवानं प्रसिद्धम् । मृगं सिंहरूप-  
म् । नभीमम् अभयंकरम् । उपहृद्गुम् अनुग्रहार्थं सर्वत्रोपगम-  
शीलम् । उग्रं द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहरूपम् । अत्रापि सशक्तिकनृ-  
सिंहपदस्यानुषङ्गः । स्तुहीत्येवं संबन्धः । एवं परोक्षतः स्तुते  
द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहे तत्सामर्थ्यादक्षरश्रवणयुक्तत्वाच्च तच्छ्रुत्वा  
प्रत्यक्षो हि अभूत् स व्यूहः उपासकायेति प्रत्यक्षीकृत्वा आह  
उत्तरार्धेन— हे सिंह द्वात्रिंशद्व्यूह स्तवानः स्तूयमानः त्वं मृड  
सुखय जरित्वे स्तोत्रकर्त्रे । यद्वा चतुर्थी द्वितीयार्थे । ते तव  
सेनाः अस्मत् अस्मत्तः अन्यं निवपन्तु विनाशयन्तु । यद्वा  
स्वानुग्रहं लब्ध्वा परानुग्रहं प्रार्थयते— ते तव सेनाः तद्व्यू-  
हरूपाः अस्मदन्यं निपूर्वको वपतिरनुग्रहार्थं वर्तते अनुग्र-

हन्त्वित्यर्थः । यस्मादेव प्रागुक्तेन प्रकारेणोभयोपास्ये उग्रपदं क्षमम्, तस्मादुच्यते उग्रमिति । इति-शब्दः उत्तरसमाप्तिं द्योतयति । एवं प्रथमपदमुभयोपासने क्षममिति विज्ञाय अथेदानीं द्वितीयं पदमुभयोपास्ये व्याख्यातुं द्वितीयो देव-प्रश्नः; स च प्रथमदेवप्रश्नेन व्याख्यातः; अथ कस्मादुच्यते वीरमिति । स होवाच प्रजापतिरिति प्रागुक्तमनुषज्य उत्तरम् । यस्मात्स्वमहिम्नेत्यादि सर्वाणि भूतानीत्यन्तमुक्तार्थम् । विरमति विरामयति विविधप्रकारेण प्रागुक्तान्प्रति रमति । रम् क्रीडायाम् । तथैव तानाक्रीडयति । कथं क्रीडयतीत्यपेक्षिते आह— अजस्रमित्यादि वासयतीत्यन्तमुक्तार्थम् । एतदुक्तं भवति— सृष्टिस्थितिलयविमोचनकर्तृत्वरूपाः ब्रह्मादिक्रियाः क्रीडाः प्रागुक्तार्थाः । अतः मूलनृसिंहव्यूहद्वयं क्रीडायुक्तमुपास्यम् । एवं मूलनृसिंहोपासनापरत्वेन द्वितीयं पदं व्याख्याय द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहोपासनायां तदेव पदं व्याख्यातुमर्धर्चमाह—यतो वीर इति । देवकामः तांस्तान् ब्रह्मादिदेवान् स्वेन रूपेणावतारयितुं कामयते इति देवकामः । यद्वा नृसिंहव्यूहमेव धृत्वा ब्रह्मादिरूपं प्रकटयति क्वचिदायुधैः क्वचिद्विश्वरूपोपपत्तिन्यायेन ‘यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च ब्रह्मा’ इत्यादिषु ‘यो वै नृसिंहो देवो भग-

वान्ये चाष्टौ वसवः ' इत्यादिषु च पदेषु । एवं देवकामो जायते  
यतो वीरः शूरः, यद्वा वीरः विविधावताररूपेण रमणीयसंसार-  
शीलो वीरः, कर्मण्यः तत्तदवतरणरूपकर्मशीलः उपासकानु-  
ग्रहणे । सुदक्षः पूजितबलः, यद्वा पूजितः । युक्तप्रावा युक्तो  
प्रावभिर्युक्तप्रावा, सोमे अध्वर्यादिरूपः, 'यो वै नृसिंहो देवो  
भगवान्यश्च सर्वम्' इत्यादिमन्त्रवर्णात् । यस्मादुक्तप्रकारेण  
उभयोपास्यं वीरपदं क्षमम्, तस्मादुच्यते वीरमिति । इति-  
शब्दः उत्तरसमाप्तिं द्योतयति । अथेदानीं तृतीयपदं व्या-  
ख्यातुं देवप्रभः ; स च उक्तार्थः । सर्वत्र प्रश्रवाक्येषु अथ-  
शब्दः तत्तदानन्तर्यार्थः । अथ कस्मादुच्यते महाविष्णुम् ।  
इति-शब्दः अनुषक्तप्रभसमाप्तिं द्योतयति । स होवाच प्रजा-  
पतिः इत्यनुषज्योत्तरम् । य इत्यत्रापि स्वमहिम्नेत्यनुषङ्गा-  
च्छक्तिमनृसिंहपदस्यानुषङ्गः । सर्वाल्लोकान्वयाप्रोति व्याप-  
यतीत्यत्र सर्वलोकपदाद्देवात्मभूतानां संग्रहः प्राग्वद्वक्रम-  
त्वेनावगतानां तदादिन्यायेन । विष्णुरिति विष्णु व्याप्ता-  
विति धातोः रूपम् । तच्च व्यापकत्वं निरूपपदत्वेन  
महत्त्वं प्राप्नोति महच्छब्देन तदेव दृढीकृतम् । यद्वा मह  
इति तेजोनाम महो व्यापकम् । व्यापकत्वे दृष्टान्तमाह—  
स्नेहः तैलादिः यथा पल्लपिण्डं मांसपिण्डम् ओतम् अनु-

स्यूतं प्रोतं प्रकर्षेणानुस्यूतम् अनुषक्तं तादृशं पिण्डं व्य-  
 तिषक्तः अवयवसंभिन्नः व्याप्यते व्यापयते—इति दृष्टान्ते  
 आत्मनेपदोपादानात् व्याप्नोति व्यापयतीति दार्ष्टान्तिके च  
 परस्मैपदोपादानात् उभयपदी अयं धातुरिति दर्शयति ।  
 एतदुक्तं भवति—प्रागुक्तसर्वलोकादीन् प्रति साक्षाद्व्यापकत्वं  
 प्रयोजकव्यापकत्वं च मूलनृसिंहहृदये उपास्यमिति । एवं  
 तावत्साङ्गमूलनृसिंहव्यूहोपासनापरत्वेन महाविष्णुपदं तृ-  
 तीयं व्याख्याय अथेदानीं तदेव पदं द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहो-  
 पास्यपरत्वेन व्याख्यातुम् ऋचमाह— यस्मात् द्वात्रिंश-  
 न्नृसिंहव्यूहान् परः उत्कृष्टः न जातः जातोऽन्यो नास्ति  
 सर्वस्यैवान्तर्भावात् यो व्यूहः स विश्वा सर्वाणि भुवनानि  
 भूतानि आविवेश प्रविष्टः । व्याप्तुं तत्तद्रूपधारणेन विश्वरू-  
 पावतरणेन आविर्भवति प्रजया आविर्भूत्या सह प्रजापति-  
 रपि संविदानः विजानन् तमुपास्यतया त्रीणि ज्योतींषि गार्ह-  
 पत्यादीन् सचते सेवते । स प्रजापतिः उपासनां कुर्वन् षोडशी  
 कला निराकारब्रह्मतया बभूव । तस्य च आद्यस्थोपासकस्य  
 प्रजापतेः अन्यस्य वा उपासकस्य अयमुपासनाक्रमः—अत्र  
 च प्रकरणे महाचक्रनाभिवर्तिक्षीरोदार्णवसंबन्धुपास्यो मूल-  
 नृसिंहव्यूह इति पूर्वाचार्याणां परिभाषा मंप्रदायागता ।

तत्र च प्रणवपूर्वकशक्तिबीजोच्चारणपूर्वकं सामाभिव्यक्तद्वा-  
 त्रिंशदक्षरेषु न्यस्तेषु चक्रे यथासंख्यम् एकैकस्मिन्नक्षरे प्र-  
 णवसंपुटिते तत्तद्व्यूहमन्त्रैः तं तं व्यूहं स्तुत्वा तथैवोपास्यः ।  
 एवं द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहोपासनया स्वात्मानं महाविष्णुमुपास्य  
 साङ्गसामाभिव्यक्तसाङ्गमूलमन्त्रेण नृसिंहव्यूहे प्रकरणे श्रुत-  
 त्वात् पञ्चाङ्गन्यासं विधाय संप्रदायानुसारेण तस्मिन्महावि-  
 ष्णौ च तथैव पञ्चाङ्गन्यासं विधाय ततः साङ्गोपासनम् आ-  
 रभेत । तत्र प्रथमपादे पदत्रयात्मके प्रथमपदव्याख्यानप्रति-  
 पादितगुणविशिष्टं शक्तिमन्नृसिंहपदपूर्वकं नमस्कृत्यापदपूर्वका-  
 न्त्यपदमुच्चरन् सामाङ्गप्रणवमन्त्रहृदयमन्त्रप्रतिपादितगुणवि-  
 शिष्टं मूलनृसिंहव्यूहमुपास्य द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहम् ऋक्प्रतिपा-  
 दितम् उपासीत । एवं प्रतिपदं मूलनृसिंहव्यूहोपासनपूर्वकं  
 द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहोपासनम् । अत एव हृदयाद्यङ्गमन्त्राणामर्थं  
 व्याचक्षाणैरस्माभिरुक्तं प्रपञ्चागमशास्त्रे 'हृदयं बुद्धिगम्य-  
 त्वात्प्रणामः स्यान्नमःपदम् । क्रियते हृदये नातो बुद्धिगम्या  
 नमस्कृत्या' इति । एवं द्वितीयतृतीयचतुर्थपादेषु तत्तत्पदो-  
 पासनां प्रागुक्तां कृत्स्नां विधाय महाविष्णुरूपान्त्यशब्दप्र-  
 तिपादितरूपे वा उपास्यरूपे वा सायुज्यतया सच्चिदान-  
 न्दरूपे वा अथवा यथान्तःकरणशुद्धियोग्यतया समाधिना

वा तिष्ठेत उपासकः । आद्यद्वितीयोपासनयोः साममूलमन्त्र-  
 प्रणवानां वैकल्पिकजपपूर्वकत्वेनावस्थानम् । तथा यत्र यत्र  
 मूलमन्त्रस्मृतिः तत्र तत्र प्रणवशक्तिबीजसंपुटीकरणम्, त-  
 त्रापि ईषन्मूलमन्त्रजपपूर्वकः प्रणवजपः श्रेयान्, तस्य स-  
 र्वोत्कृष्टत्वात्सर्वमन्त्रजपप्रत्याम्नायत्वेन विहितत्वात् 'यः प्रण-  
 वमधीते स सर्वमधीते' इति श्रुतेः । अन्ययोरुपासनयोर-  
 न्यसामानि निराकारतयावस्थितौ न जपो नान्यचिन्तनं  
 समाधावेवावस्थितिरिति परमरहस्यविवेको न कस्यचि-  
 त्प्रतिपादनीय इति स्थितम् । यस्मादिदं महाविष्णुपदम्  
 उभयोपास्यप्रतिपादनक्षमम्, तस्मादुच्यते महाविष्णुमिति ।  
 इति-शब्दः तृतीयपदप्रश्नोत्तरसमाप्तिं द्योतयति । एवं प्रथम-  
 पादः व्याख्यातः । एवं प्रथमपादोपासनां साङ्गां विधाय त-  
 थैव द्वितीयपादोपासनां विधातुं तदाद्यं पदम्, मन्त्रापेक्षया  
 चतुर्थं च पदम्, व्याख्यातुं प्रश्नोपक्रमः ; स च उक्तार्थः ; अथ  
 कस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति । इति-शब्दो व्याख्यातः । स हो-  
 वाच प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम् । यः स्वमहिम्ना स्वाधीन-  
 मायया सर्वाल्लोकानन्तरिक्षगतान्पूर्वोक्तान्भाविनश्च सर्वान् लो-  
 कान् तदन्तर्गतान्सर्वान्देवान् यश्चगन्धर्वादीन् सर्वानात्मनः  
 ऋग्यजुःसामाथर्वरूपान्पुरुषानन्यान्तृषीन्सामाङ्गसावित्रमन्त्र -

व्याख्यातांश्च सर्वाणि भूतानि एतान्पूर्वोक्तान्वक्ष्यमाणांश्च स्व-  
तेजसा ज्वलति स्वकीयप्रकाशेन, ज्वालयति एतानपि प्रकाशय-  
ति, शिरोऽन्तर्गतं तेजो व्याख्यातम्, सर्वाङ्गाङ्गिव्यापितयाङ्गा-  
नामन्योन्यसंबन्धश्रवणात् 'तस्माद्व्यतिषक्तान्यङ्गानि भवन्ति'  
इति श्रुतेः । एवं साक्षात्प्रयोजकत्वेन च स्वपरमंबन्धितया शि-  
रोऽङ्गान्तर्गततेजःसंबन्धे सिद्धेऽपि एतदेव आवेदयितुम् उभ-  
यपदित्वेन धातुं प्रयुङ्क्तं, प्राक्परस्मैपदम् इदानीमात्मनेपदम्,  
ज्वाल्यते ज्वालयते इति । एवं मूलनृसिंहव्यूहोपास्ये चतुर्थं  
पदं व्याख्याय द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहे व्याख्यातुम् ऋचमाह—  
सविता सवितृमण्डलवद्वर्तुलतया स्थितत्वात् सवितायं  
द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहः; अत एव प्रसविता सर्वकर्मानुष्ठाने  
अभ्यनुज्ञाता, एतद्व्यूहोपासनपूर्वकत्वात् इतरोपासनस्य ।  
दीप्तः दीपयन्दीप्यमानः यथा अयं सविता रात्रित-  
मोविनाशनेन दीप्तः प्रकाशमानः कर्मानुष्ठाने अभ्यनु-  
ज्ञाता, तथा अयं द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहः उपासितः उपासकाय  
मूलनृसिंहव्यूहोपासकाज्ञानरात्रितमोविनाशनेन दीप्तः प्रका-  
शमानः प्रधानोपासनाभ्यनुज्ञाता । दीपयन्दीप्यमानः इति  
शतृशान्तप्रत्ययौ वर्तमानकालार्थौ उक्तमेवार्थं द्रढयतः ।  
ज्वलञ्ज्वलिता प्रकाशं कुर्वन्प्रकाशयिता । यद्वा उभयत्रापि

ज्वलन्शब्दो दहनार्थे वर्तमानोऽपि अज्ञानदाहकत्वेन व्याख्येयः । तत्र लोकाद्यज्ञानस्य प्रकाशवत्तादाहकः प्रकृते च उपासकाज्ञानदाहक इति । ज्वलन् प्रकाशनेनाज्ञानदहनं कुर्वन् ज्वलिता अज्ञानदहनकर्ता तपन् तापं कुर्वन् अज्ञानस्य वितपन् स्वयं शान्तः संतपन् संतापं कुर्वन् अज्ञानस्य । एते शत्रुप्रत्यया वर्तमानकालाः सन्तः यस्मिन्काले एतद्व्यूहोपासनं वर्तते तस्मिन्नेव महाविष्णुरुपासकः प्रकाशात्मकोऽधिकारी वर्तते इति दर्शयन्ति । रोचनः अनुद्वेगकरः रोचमानः इच्छाकरः ; अत एव शोभनः शोभमानः कल्याणः इति एतदुक्तं भवति—मूलनृसिंहव्यूहस्य शिरोऽङ्गे उन्नते स्थितं तेजः सर्वप्रकाशकं सर्वाज्ञानदाहकं च इति सामाङ्गसावित्रमन्त्रेण व्याख्यातमुपास्यमिति । यस्मादुभयोपास्यप्रतिपादनक्षमं ज्वलन्तमिति पदं तस्मादुभयोपास्यपरत्वेनोपसंहरति—तस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति । इति-शब्दो व्याख्यातः । अथेदानीं क्रमप्राप्तम्, मूलमन्त्रापेक्षया पञ्चमं पदम्, पादापेक्षया द्वितीयम्, उभयोपास्ये व्याख्यातुं देवप्रश्नः—अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति ; स च उक्तार्थः । स होवाच प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम् । यस्मात् स्वमहिम्नेति अनुषज्य व्याख्येयम् । अनिन्द्रियोऽपीति सेन्द्रियस्य व्याख्यातविग्रहस्य तद-



भिमानराहित्यात् अनिन्द्रियत्वम् ; अनिन्द्रियोऽप्ययं मूलनृ-  
 सिंहव्यूहः सर्वतः पश्यति सर्वतः शृणोतीति बुद्धीन्द्रियोपलक्ष-  
 णम् , सर्वतो गच्छति सर्वत आदत्ते सर्वगः सर्वतस्तिष्ठतीति  
 कर्मेन्द्रियोपलक्षणम् , एवमुभयेन्द्रियाभिमानरहितोऽप्ययं व्यू-  
 हः उभयेन्द्रियजन्यकार्यकरणशक्तिमाञ्जिशरोऽङ्गे उपास्य इति  
 दर्शयति । एवमिदं सर्वतोमुखपदं मूलनृसिंहोपास्यपरत्वेन  
 व्याख्याय अथेदानीं द्वात्रिंशन्नृसिंहोपायस्परत्वेन ऋचा व्या-  
 चष्टे—एकः पुरस्तान् प्राक् ब्रह्मा नृसिंहाकारो बभूव, इदं सर्वं  
 यतो बभूव, भुवनस्य गोपा गोप्ता नृसिंह एव विष्णु-  
 र्बभूव । यम् अप्येति लयं गच्छति सांपराये प्रलयकाले भुवनं  
 सर्वं स नृसिंह एव महेश्वरो बभूवेति बद्धक्रमकाणां व्यू-  
 हानां त्रयाणां प्रथमत एवोपादानेन तदादिन्यायेन इतरेषामे-  
 कोनत्रिंशद्व्यूहानां ग्रहणमस्मिन्मन्त्रे । नमामि नमस्करोमि तं  
 व्यूहम् अहं नमामीत्येतत्पदद्वयमत्र वदन् सर्वपदव्याख्याने  
 अनुषक्तमिति दर्शयति । सर्वत्र स्वमहिम्नेत्युपादानात् तत्र  
 तत्र शक्तिमन्नृसिंहपदमप्येतदनुषक्तम् । सर्वतोमुखमिति स-  
 र्वतो नृसिंहाकाराणि मुखानि यस्य स तथोक्तः तं नृसिंहं  
 सर्वतोमुखं नमाम्यहमित्यर्थः । यस्मादिदं पदमुभयोपास्यप्र-  
 तिपादने शक्तं तदुभयप्रतिपादकत्वेन तस्मादित्युपसंहर-

ति— तस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति । एतदुक्तं भवति—  
 द्वितीयपादे शिरोऽङ्गविशिष्टः प्रतिपादितसर्वप्रकाशकत्वसर्वा-  
 ज्ञानदाहकत्वोभयेन्द्रियाभिमानरहितत्वोभयेन्द्रियकार्यकरण-  
 शक्तिमत्वगुणविशिष्टः सामाङ्गसवितृमन्त्रव्याख्यातगुणवि-  
 शिष्टः मूलनृसिंहव्यूहः उपास्यः, तत इतरो व्यूह इति ।  
 एवमाद्यादङ्गादुन्नतप्रदेशस्थितत्वाच्छिरसः शिरस्त्वम् उ-  
 न्नतत्वम् । अत एव शिर आदित्यः सर्वोत्कृष्टः प्रकाशः तस्मै  
 उन्नताय उन्नतस्थायादित्याय सर्वोत्कृष्टाय प्रकाशाय स्वाहेति  
 प्रपञ्चविलापनम् ; तस्मात्प्रपञ्चाकारात् तदाकारां बुद्धिं  
 प्रत्याहृत्य नृसिंहाकारमेव उपासीत इत्येवं शिरोऽङ्गमन्त्रस्या-  
 र्थः, ‘ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च सर्वम् ’ इति श्रुतेः ।  
 अत एवोक्तं शिरोऽङ्गमन्त्रार्थं व्याचक्षाणैः अस्माभिः प्रप-  
 ञ्चागमशास्त्रे—‘ तुङ्गार्थत्वाच्छिरोऽङ्गस्य विषयाहरणे त्विषः ।  
 शिरोमन्त्रेण चोत्तुङ्गविषयाहृतिरीरिता ’ इति । एवं द्वितीये  
 पादे साङ्गोपासनामभिधाय तथैव तृतीयपादोपासनामभिधातुं  
 तदाद्यं पदम्, षष्ठं च मूलमन्त्रापेक्षया, उक्तोपास्ये व्याख्यातुं  
 देवप्रश्नः—अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति ; स च उक्तार्थः । स  
 होवाच प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम् । अत्र च यस्माच्छब्दप्र-  
 योगात् स्वमहिम्नेति अस्य अनुषङ्गं दर्शयति । यस्मात्सर्वेषां

भूतानां मध्ये ना पुरुषाकारो वीर्यवत्तमः ततः सर्वातिशायिनः श्रेष्ठतमश्च सिंहो वीर्यवत्तमः श्रेष्ठतमश्चेत्युक्तार्थम् । ततश्च उभयात्मरूपप्रदर्शनेन यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्वारणे लीलैव शक्तोऽयमिति दर्शयति । यस्मादेवं तस्मान्नृसिंहः परमेश्वर आसीदित्यन्वयः । न च नृसिंहे परमेश्वर आसीदित्यन्वयः, वैयधिकरण्यापत्तेः, सामानाधिकरण्यान्वयोपपत्तौ सत्यां वैयधिकरण्यानुपपत्तेः । तस्मान्नृसिंहः परमेश्वरस्त्रिनेत्रो नीलकण्ठः पिनाकीति सिद्धम् । ऋतं सत्यमिति प्राग्व्याख्यातं मन्त्रवर्णाच्च उक्तं जगद्धितं जगतो हितं जगद्धितम् अनिष्टनिरसनेन, वै प्रसिद्धम्, एतद्रूपं प्रागुपास्यत्वेन यदुक्तमभ्रं भवति यदक्षरमविनाशं चिद्रूपं निराकारं तदेव साकारमुपासकानुग्रहाय भवतीत्यन्वयः । एवं नृसिंहपदं षष्ठं मूलनृसिंहव्यूहोपास्ये व्याख्याय तदेव पदम् ऋचा द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहे व्याचष्टे—विष्णुः मृगः सिंहः प्रस्तवते स्तुतिं प्राप्नोति स्तुतिमन्त्रैः तद्वीर्याय तत्तत्सामर्थ्याय नभीमः न भयंकरः । कुचरः कुत्रायं न चरति सर्वदेवविग्रहेषु लीलया स्वयं विचरति सर्वदेवलीलाविग्रहधारीत्यर्थः । गिगिष्ठाः गिरिः पर्वतः तत्स्थ ईश्वरात्मक इत्यर्थः ; यद्वा गिरिषु वाग्रूपासु स्तुतिषु यद्यद्रूपमभिलषन् स्तोता कामयते

तत्तद्रूपं स्वस्मिन्स्थापयतीति गिरिष्ठाः । यस्य त्रिषु विक्र-  
मणेषु विग्रहेषु विविधं क्रमणं विक्रमणं तेषु ब्रह्मविष्णुमहेश्व-  
रात्मकेषु । अधि इत्युपरिभावे । अध्युरुषु बहुलीलाविग्रहेषु ।  
भुवनानि सर्वाणि क्षियन्ति निवसन्ति, स्वभावतः तानि  
ज्ञानपूर्वकाणि निवसन्ति विनिवसन्ति— एषु लीलाविग्रहेषु वयं  
तिष्ठाम इति । तर्हि क्षियतिरैश्वर्यकर्म ऐश्वर्यं प्राप्नुवन्तीति ।  
एवं नानाविधविक्रमणावतरणे वीर्याय सामर्थ्याय तद्दर्शनाय  
विष्णुर्मृगः सिंहः प्रस्तवते प्रकर्षेण स्तुतिं लभत इत्यर्थः ।  
यस्माद्बेदमुभयोपास्ये नृसिंहपदं व्याख्यातं तस्मादित्यु-  
पसंहरति—तस्मादुच्यते नृसिंहमिति । एवमुभयापेक्षया  
आद्यं षष्ठं नृसिंहपदम् उभयोपास्ये व्याख्याय अथेदानीम्  
उभयापेक्षया द्वितीयं सप्तमं च पदं व्याख्यातुं प्रश्नः—अथ  
कस्मादुच्यते भीषणमिति । स होवाच प्रजापतिरित्यनुषज्यो-  
त्तरम् । यस्माच्छब्दोपादानात्स्वमहिम्नेत्यनुपङ्गः । यस्मात्स्वम-  
हिम्ना यस्य मूलनृसिंहव्यूहस्वरूपं साङ्गं शिखाङ्गयुक्तं मौलि-  
प्रदेशे चान्द्रतेजोराशियुक्तं सामाङ्गयजुर्लक्ष्मीमन्त्रव्याख्यातं  
भूर्भुवःस्वर्महर्लोकचतुष्टयसंपिण्डिततेजोराशियुक्तम् अप्र-  
वृष्यतेजोमयं रूपं दृष्ट्वा सर्वे देवास्तदङ्गद्युनिवासिनो वसुरु-  
द्रादित्याः सर्वाणि भूतानीमानि भीत्या भयेन पलायन्ते

पलायनं कुर्वन्ति, स्वयं देवः यस्मात्कस्मादपि न बिभेति  
निरतिशयाभयगुणविशिष्ट उपाख्यः । एवमुक्तोपाख्ये भी-  
षणपदं व्याख्याय तदेव पदं द्वितीये व्यूहे कृत्वा व्याचष्टे—  
भीषेत्यादि । भीषा भीत्या अस्मान्मूलव्यूहात् वातः वायुः पवते  
वाति । वातपदोपादानात् पञ्चमहाभूतव्यूहः उपलक्षितः ।  
भीषोदेति सूर्यः इति सोमसूर्यव्यूहौ उपलक्षितौ । भीषास्माद-  
ग्निश्च इत्याग्नेयो व्यूहः । इन्द्रश्चेति सर्वव्यूहः । मृत्युर्धावति  
पञ्चम इति मृत्युव्यूहः । तत्र अस्यामृचि यद्यपि पञ्चानां व्यूहा-  
नामुपादानम्, तथापि तदादिन्यायेन सर्वसंकलनतया भियो  
दर्शनात् वातादित्यादीनां स्वस्वरूपेण भयदर्शनमुखेन सर्वेषां  
ब्रह्मादीनां संग्रहणात् भयाभावरूपस्य नृसिंहस्य प्रवेशनेन  
वा तत्तद्रूपधारणेन वा उभयरूपतेति, द्विरूपत्वमस्ति सर्वे-  
षाम् । तत्र एकैकस्य देवस्य तत्तद्रूपधारणेन उभयरूपं दर्श-  
यन् भूतानां देवानां च स्वान्तर्भावेन उभयरूपं प्रदर्शयति ।  
इत्युभयरूपेण सर्वं द्वात्रिंशद्व्यूहं संगृह्णातीयमृगिति तत्त्वार्-  
थः । यस्मादेवमुभयोपाख्ये भीषणपदं व्याख्यातं तस्मादि-  
त्युपसंहरति— तस्मादुच्यते भीषणमिति । एवमुक्तोपाख्ये  
प्रागुक्तपदं व्याख्याय अथेदानीमुभयापेक्षया तृतीयमष्टमं  
च पदमुभयोपाख्ये व्याख्यातुं देवप्रश्नः— अथ कस्मादुच्यते

भद्रमिति । स होवाच प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम् । यस्मा-  
त्पदोपादानात् स्वमहिम्नेत्यनुषङ्गः । स्वयं भद्रो भूत्वा भज-  
नीयो माङ्गलिको भूत्वा सर्वदा भद्रं माङ्गलिकं ददाति  
भद्रदातृस्वरूपं च मूलव्यूहे उपास्यमिति दर्शयति । रोचनो  
दीप्तियुक्तः । रोचमानः शिखाङ्गेन रुचिं दीप्तिं कुर्वन्,  
शानच्प्रत्ययान्तत्वात् । तदङ्गं द्वितीयतेजोरूपादङ्गादधिकत-  
रतेजोरूपम् । अतश्च नानाभरणयुक्तमौलिगतं तेजः तद-  
न्तर्गतानां देवानां च स्वतेजसा अभिभवतीत्येवमुपास्यम् ।  
अत एवोक्तमस्माभिः शिखाङ्गमन्त्रं व्याचक्षाणैः प्रपञ्चा-  
गमशास्त्रे— ‘शिखा तेजः समुद्दिष्टं वषडित्यङ्गमुच्यते ।  
तत्तेजोऽस्य ततः प्रोक्ता शिखा मन्त्रेण मन्त्रिणः’ इति ।  
निरतिशयतेजोऽवयवः शिखेत्यर्थः, ‘यस्य ज्ञानमयी शिखा’  
इति श्रुतेः । शोभनः स्वरूपेण, शोभमानः शिखाङ्गतेजसा,  
अत एव कल्याणः माङ्गलिकमूलनृसिंहव्यूहः । एवमुक्तो-  
पास्ये अष्टमं पदं व्याख्याय अथेदानीं तेनैव पदेन द्वाविं-  
शद्व्यूहम् ऋचा व्याचष्टे—भद्रं कर्णेभिरिति । इयमृक् प्रा-  
रम्भे शान्तिपाठे व्याख्याता । तनूभिरेव एभिस्तनूमन्त्रैरेव  
स्थिरैरङ्गैरिति विशेषः । पञ्चमाङ्गान्तर्भावात्स्तुतिमन्त्राणा-  
मेव उभयोपास्त्रे व्याख्यानं तस्मादित्युपसंहरति— तस्मा-

दुच्यते भद्रमिति । इति-शब्दो व्याख्यातः । एवं तृतीयपादे तत्तत्पदव्याख्यानेन साङ्गोपासनामभिधाय तथैव चतुर्थपादोपासनामभिधातुं तदाद्यपदं मूलमन्त्रापेक्षया नवमं च पदम् उभयोपास्ये व्याख्यातुं देवप्रश्नः— अथ कस्मादुच्यते मृत्यु-मृत्युमिति । स होवाच प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम् । यस्मात् स्वमहिम्नेत्यनुषङ्गः । स्वभक्तानां भज सेवायां स्वसेवकानाम् अनन्यभावेन स्मृत एव उपासित एव मृत्युं साक्षात्कालप्राप्तम् अपमृत्युं च अवान्तरप्राप्तं जातकर्मणि गणितशास्त्रनिर्णीतायुःपरिमाणात् तदन्तरा मृत्युः अपमृत्युः तं च अनन्यभावेन उपासकानाम् अप्रार्थित एव मारयति विनाशयतीत्येवंरूपं कवचमङ्गमुपास्यम् । तस्य सामाङ्गमन्त्रेण नृसिंहगायत्र्या नृसिंहरूपेण व्याख्यातत्वात् स्वान् तदुपासकान् स्वस्वरूपान्संपाद्य मृत्युमपमृत्युं च मारयतीत्यर्थः, 'यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च जीवः' इति मन्त्रवर्णात् । इदं प्रागुक्तं पदं मूलनृसिंहव्यूहोपास्यपरत्वेन व्याख्याय अथेदानीं तेनैव पदेन द्वात्रिंशद्व्यूहम् ऋचा व्याचष्टे । यो द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूह आत्मदाः आत्मानं ददातीत्यात्मदाः स्वस्वरूपदाता सर्वेषां देवानां स्वरूपं दत्वा धारयतीत्यर्थः । बलदाः सामर्थ्यदाता स्वोपासकानां स्वस्वरूपधारणे शक्ति

ददातीत्यर्थः । यस्य प्रशिषं मूलनृसिंहव्यूहस्य अङ्गचतुष्टय-  
 प्रशिषं प्रकर्षेण शिष्यत इति प्रशिषं प्रोर्वरितं द्वात्रिंशद्व्यूहं  
 विश्वे देवाः सर्वे देवाः उपासते उपास्ति कुर्वन्तीत्यर्थः ।  
 यस्य च्छायामृतम्, छायेति गृहनाम, छायैवामृतं छाया-  
 मृतं महाचक्रम्, तदन्तर्भावादस्य व्यूहस्य; यो व्यूहो मृत्यु-  
 मृत्युः मृत्योरपि मृत्युः, 'मृत्युर्यस्योपसेचनम्' इति श्रुतेः ।  
 कं प्रजापतिं ब्रह्मणो व्यूहम्, तदादिन्यायेन बद्धक्रमकत्वात्  
 सर्वं संगृह्णाति; देवम्, 'देवो दानाद्वा द्योतनाद्वा दीपनाद्वा'  
 इति यास्कवचनात् । हविषा हविष्प्रदानेन होमेन नैवेद्येन वा  
 अर्चनेन । अत एव वक्ष्यति महाचक्रप्रकरणे—'अनुष्टुभा  
 होमं कुर्यात् अनुष्टुभा अर्चनम्' इति । विधेम परिचरेम । य-  
 द्वा 'विधतिर्दानकर्म' इति यास्कवचनात् ब्राह्मव्यूहप्रभृति-  
 व्यूहाय हविर्दद्याः—इति विभक्तिव्यत्ययः क-शब्दे देव-शब्दे  
 च । तस्मिन्पक्षे विधतिः परिचरणकर्मेति तत्त्वार्थः । एवं प्रा-  
 गुक्तोपास्ये मृत्युमृत्युपदं व्याख्यातं तस्मादित्युपसंहरति—  
 तस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति । एवं प्रागुक्तपदं प्रागु-  
 क्तोपास्ये व्याख्याय अथेदानीमुभयापेक्षया द्वितीयं दशमं च  
 पदं व्याख्यातुं देवप्रश्नः—अथ कस्मादुच्यते नमामीति ।  
 स होवाच प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम् । यस्मात् स्वम-



हिम्नेत्यनुषङ्गः । नमामीत्यस्या आख्यातपदत्वात् अस्मदर्थं प्रत्ययार्थं विहाय प्रकृत्यर्थं व्याचष्टे । तथा च अस्य प्राक्तनसर्वपदार्थसंबन्धिनः सर्वत्रानुषङ्गः । यस्माच्छब्दोपादानात् स्वमहिम्नेत्यनुषङ्गः प्रकृत्यर्थेन । यस्मात् यं सर्वे देवाः प्रागुक्तविशेषणं मूलनृसिंहव्यूहं सर्वे पृथिव्यन्तरिक्षब्रह्मलोकनिवासिनः महाचक्रोपासकाश्च नमन्ति नमस्कुर्वन्ति— इति सर्वनमस्कार्यगुणविशिष्टः उपास्यः इति दर्शयति । तथा च द्विविधोपासकानां देवानामधिकारिविशेषणमाह— मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च इति, अब्रह्मवादिन इति अन्यथा द्वैविध्यासंभवात् । यद्वा मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनो मुक्ताश्च लीलया विग्रहं परिगृह्य नमन्तीत्यनुषङ्गः । एतदुक्तं भवति—ब्रह्मलोके ‘स ब्रह्मा स शिवः स हरिः’ इत्यादिमन्त्रवर्णोपात्तसामाङ्गनृसिंहगायत्र्या व्याख्यातनृसिंहव्यूहः चतुर्थकवचाङ्गाश्रयत्वेनोपास्यः । तच्च कवचं सर्वानेतानुपास्यान्संगृह्णातीत्यङ्गचतुष्टयान्तर्गतानन्यांश्च । अत एवोक्तमस्माभिः कवचाङ्गमन्त्रार्थं व्याचक्षाणैः प्रपञ्चसारे— ‘कवचग्रह इत्यस्माद्धातोः कवचसंभवः । हुं तेजस्तेजसा तेन गृह्यते कवचं ततः’ इति । एवं प्रकृत्यर्थसहितेन च पदार्थं प्रतिपाद्य साधारणरूपरूपं सर्वनमस्कार्यत्वगुणमभिधाय अथेदानीं सा-

मादिमन्त्रसाधारणत्वेन पुनः प्रकृत्यर्थम् ऋचा व्याचष्टे—  
 प्र नूनमिति । उक्थ्यं प्रशस्तं ब्रह्मणस्पतिः ब्रह्मणः साका-  
 रस्य निराकारस्य च पतिः उपदेशद्वारा पाता पालयिता ।  
 नूनं निश्चितं मन्त्रं सामराजं स्तुहीत्यादि य आत्मदा  
 इत्यन्तं द्वात्रिंशद्व्यूहप्रतिपादकं मन्त्रजातम् । यस्मिन्प्रा-  
 गुक्ते मन्त्रे इन्द्रो मित्रो वरुणोऽर्यमा देवा ओकांसि गृहा-  
 ण्युपासनाय चकिरे कृतवन्त इत्यर्थः । अनेनैतद्दर्शयति—  
 यथा देवे उपास्ये गुरौ च भक्तिः तथा मन्त्रेऽपीति । तदु-  
 क्तम्—‘गुरौ देवे च मन्त्रे च सदृशी भक्तिरिष्यते’ इति ।  
 तत्र च मन्त्रस्य नमस्कार्यत्वश्रवणात् । एवं नमामी-  
 त्येतदाख्यातपदमुक्तोपास्ये व्याख्यातं तस्मादित्युपसंहरति—  
 तस्मादुच्यते नमामीति । एवं नमामीति पदं प्रकृत्यर्थ-  
 संबन्धित्वेन व्याख्याय अथेदानीमहमिति कर्तृपदं सर्व-  
 साधारण्येन व्याख्यातुं देवप्रश्नः—अथ कस्मादुच्यतेऽहमि-  
 ति । तत्र आख्यातोत्तमपुरुषप्रयोगादर्थदेव अहमिति प्राप्ते  
 पुनः प्रयोगः स च कस्मादिति चोद्याभिप्रायेण । स होवाच  
 प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम् । पञ्चाङ्गोपासनाकर्तृफलं निर्दि-  
 श्यते तादात्म्यलक्षणम् । न च मुमुक्षोरेतदनिष्टमिति वाच्यम् ,  
 ऐश्वर्ये सति एतत्फलावाप्तेः । य इह स्थातुमपेक्षते तस्य

तादात्म्यलक्षणं सर्वैश्वर्यं ददाति देहान्ते देवः परं ब्रह्म  
तारकमिति श्रुतेः फलपदमिदं न तु उपासकपदम् । तच्च  
पृथक्सामाभिव्यक्तं मन्त्रेण व्याचष्टे । तच्च सर्वपदेष्वनुष-  
ज्यमानं सर्वपदजातं सामाभिव्यक्तमेव व्याख्यातमिति नियमं  
दर्शयति । तथा च प्रागुक्ता सर्वोपासना सामपूर्विकैवेति ।  
ततश्च प्रागुक्तायामुपासनायाम् उपास्योपासकभावेन प्रवृत्तः  
उपासकः उपासनातः शुद्धान्तःकरणः प्रत्यगात्मकतयैव उ-  
पास्यं साक्षात्कृत्य आह अनेन साम्ना अन्येषामुपासन-  
फलं दर्शयितुम्— अहमस्मि प्रागुक्तमुपास्यम् अहं भवामि  
प्रथमजाः पुरश्चरणोपासनायाः प्रथमोत्पन्नः । ऋतस्य सत्य-  
मूर्तामूर्तस्य जगतः पूर्वं स्यां देवेभ्यो अमृतस्य क्षीरस्य ना-  
भायि नाभ्यां यो मा ददाति स्वीकरोति धारयति वा, स  
इदेव इत्थमेव मा माम् अवा रक्षितवान् । तथा च अन्न-  
स्तावकेन मन्त्रेण सामाभिव्यक्तेन फलनिर्देशं कुर्वन् क्षीरो-  
दार्णवसंबन्धिनीयमुपासनेति दर्शयति । अहमन्नं क्षीरम् उ-  
पास्याधारम् अहमेव भवामि । अन्नमदन्त्वा योऽस्ति, तमन्नम-  
दन्तं देवब्राह्मणेभ्यो अन्नमदातारम् अहमस्मि अहं भक्षयामि ।  
यद्वा अन्नमदन्तम् अन्नादनकर्तारं जीवभावापन्नं पञ्चाङ्गोपा-  
सनातः अस्मि भक्षयामि संसाररूपं विनाशयामीत्यर्थः । यत

एवम् , अतोऽहं विश्वं सर्वं सुवनम् अभ्यभवाम् अभिभवामि  
सुवर्नं ज्योतीः सूर्यज्योतिरिव । यद्वा सुवर्णाकारस्योपास्यस्य  
ज्योतिः प्रकाशः अहमेव भवामीति फलनिर्देशः । इदं च फल-  
मनुषङ्गान् प्रतिपदं प्रतिपादं च अनुसंधेयम् । असकृत्साकारा-  
खण्डवाक्यार्थोपदेशे हि दाढ्यं स्यात्— तत्त्वमसीति नवकृत्व  
उपदेशवत् । एवं साकारनिष्ठस्य यद्यन्तःकरणं शुद्धं ततोऽपि  
इदमेव फलं व्याख्यातम् । अत एव नोत्तरोपसंहारः प्राक्त-  
नवत् तस्मादुच्यत इति, उपासनाभ्यासादद्वैतापत्तेः ; ‘यत्र  
त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्’ इति श्रुतेः । एत-  
त्सर्वं सामाङ्गप्रणवेन हृदयमन्त्रव्याख्यानावसरे स्पष्टीक्रि-  
यते । य उपासकः एवं प्रागुक्तमुपास्यम् अहंप्रहोपास-  
नया अधिकारतरतमभावाद्वा उपास्योपासकभावेन वा वेद  
उपास्ते । इति-शब्दः प्रागुक्तसफलोपासनसमाप्तिं दर्शयति ।  
उपनिषदिति उपनिषच्छब्दो व्याख्यातः । इदं च सामा-  
धीतं नैवेद्ये विनियुक्तं तच्च आनुष्टुभं द्रष्टव्यम् । न तु  
षट्स्वरं साङ्गं वा, यतः प्रथमोपनिषदि यच्छब्दस्य तृतीय-  
व्याख्यानावसरे तथैव व्याख्यातत्वात् । आनुष्टुभं च अनु-  
ष्टुप्स्वराभ्यां गेयम् । तौ च प्रथमोत्तमौ, तथा च अनुष्टुभा  
भूतोत्पत्तिव्याख्यानावसरे साक्षित्वेनोद्भावितायाम् ऋचि ‘त-

ह्यैषा भवति' इत्यत्र 'अनुष्टुप्प्रथमा भवति अनुष्टुबुत्तमा भवति' इति प्रथमोत्तमयोः स्वरयोः अनुष्टुप्शब्देन व्याख्यातत्वात्, 'वाग्वा अनुष्टुप्' इति गीतिमात्रेऽपि वाक्शब्दस्य प्रयुक्तत्वात्, 'सैषा वाग्वनस्पतिषु वदति या दुन्दुभौ या ऋणवे या वीणायाम्' इति श्रुतेः । वाचैव प्रयन्ति गीत्यैव प्रयन्ति प्रथमस्वरेण गायन्ति वाचैवोद्यन्ति गीत्यैवोत्तमस्वरेण गायन्त्यक्षराणीत्यर्थः । परमा वा एषा छन्दसां यदनुष्टुबित्यनुष्टुप्छन्द इति । ततश्च अस्मिन्प्रकरणे अनुष्टुप्शब्देन त्रयोऽर्था उच्यन्ते— कचित्प्रथमोत्तमौ स्वरौ कचिद्गीतिः कचिच्छन्द इति यथायोग्यतया ग्राह्या इत्यनुष्टुप्सामोद्धार इति रहस्यमिति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य

श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य

श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्भाष्ये

द्वितीयोपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥

नृसिंहपूर्वतापनीयो-  
पनिषद्भाष्यम्  

---

तृतीयोपनिषत्



## तृतीयोपनिषत् ॥



वं द्वितीयोपनिषदि साङ्गां सफला-  
मुपासनामभिधाय अथेदानीं तस्याः  
शक्तिबीजनिर्णयपूर्वकत्वात् तन्निर्ण-  
यार्थं तृतीयोपनिषदारभ्यते प्रश्नोत्त-  
राख्यायिकया । नन्वेवं तर्हि इयं

पूर्वमेव आरब्धव्या, एतत्पूर्वकत्वात्प्रागुक्ताया उपासनायाः ।  
सत्यम् । शक्तिबीजद्वयस्य संपुटीकरणेन विवक्षितत्वात् अ-  
र्थात्प्राक्प्राप्त्यर्थस्य पश्चात्संकीर्तने संपुटीकरणं स्यात् ; अ-  
न्यथा अर्थानुसारेण संकीर्तने पूर्वमेव द्वयं स्यात् , नोपरिष्ठा-  
त्—इति संपुटीकरणासंभवादिति पाठत उपासनाया ऊर्ध्वं  
संबन्धः शक्तिबीजस्य, अर्थाख्येन प्रमाणेन प्राक्संबन्धः ।  
न हि अनवधृतशक्तिकस्य उपासनस्य उपास्याकारावधृतिः ।  
तथा हि कथमस्यायमाकार इति पर्यनुयुक्ते, स्वसामर्थ्यादिति



वाच्यम् । ततश्च सामर्थ्यावधारणपूर्वकमेव उपास्याकारावधारणमिति अर्थात्प्राक्संबन्धः, पाठश्च अनन्तरमिति—कथं नु संपुटीकरणं स्यादिति प्रजापतेर्हृदयम् । किंच उपासना-नन्तरं पठितापि इयमुपनिषत् शक्तिबीजनिर्णयात्मिका तत्र तत्र पदपादसाङ्गोपासनावतरणे ‘यस्मात्स्वमहिम्ना’ ‘यः स्वनहिम्ना’ इति वीप्साशब्देन च अपकृष्टा सती पूर्वं संबन्धं लभते— महोपनिषदपकर्षणवत् । अतश्च आरम्भणीयेति सिद्धम् ।

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य  
मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य शक्तिं बीजं  
च नो ब्रूहि भगव इति स होवाच प्रजा-  
पतिर्माया वा एषा नारसिंही सर्वमिदं  
सृजति सर्वमिदं रक्षति सर्वमिदं संह-  
रति तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्याद्य  
एतां मायां शक्तिं वेद स पाप्मानं त-  
रति स संसारं तरति स मृत्युं तरति  
सोऽमृतत्वं च गच्छति महर्तां श्रियमश्रु-  
ते मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनो ह्रस्वा वा दी-

र्घा वा प्लुता वेति । यदि ह्रस्वा भवति सर्वं पाप्मानं दहत्यमृतत्वं च गच्छति यदि दीर्घा भवति महतीं श्रियमाप्नुयादमृतत्वं च गच्छति यदि प्लुता भवति ज्ञानवान्भवत्यमृतत्वं च गच्छति तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनम्— सई पाहि य ऋजीषी तरुतः श्रियं लक्ष्मीमौपलाम्बिकां गां षष्ठीं च यामिन्द्रसेनेत्युत आहुस्तां विद्यां ब्रह्मयोनिं सरूपां तामिहायुषे शरणं प्रपद्ये । सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः परायणं सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव जायन्ते । आकाशादेव जातानि जीवन्त्याकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तस्मादाकाशं बीजं विद्यात्तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनम्— ह५सः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्ब्रह्मा वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्ब्रह्मस-

दब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं  
बृहत् । य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥ १ ॥

इति तृतीयोपनिषत् ॥

देवा ह वै इत्यादि स होवाच प्रजापतिरित्यन्तं स्पष्टार्थम् । मायाविपुरुषाधीना मायेत्युच्यते । लोके हि माया प्रसारकमायाव्यधीना दृष्टा । वै प्रसिद्धम् । एषा नारसिंही नृसिंहाधीना । यस्मादियं नृसिंहाकारब्रह्माधीना सती सर्वमिदं सृजतीत्यादि संहरतीत्यन्तं स्पष्टार्थम् । जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वम् एतदधीनम्, शुद्धस्य ब्रह्मणोऽकारणत्वात् । यस्मादेवं तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्यात् नृसिंहाधीनामुपासीत । य एतां मायां शक्तिं वेद उपास्ते । तदुपासनाफलमाह—स पाप्मानमित्याद्यश्नुत इत्यन्तं स्पष्टार्थम् । मीमांसन्ते विचारयन्ति ब्रह्मवादिनः—ह्रस्वा वा दीर्घा वा प्लुता वा इति । सामान्तर्भावात्प्लुतैवेति प्राप्ते ह्रस्वदीर्घयोः फलविशेषसंबन्धार्थमियं मीमांसा ; तामाह । यदि ह्रस्वेत्यादि गच्छतीत्यन्तं स्पष्टार्थम् । ह्रस्वदीर्घप्लुतसंबन्धः सव्यञ्जनस्य स्वरस्य, उत साकाराख्यं व्यञ्जनं विहाय स्वरस्य संबन्ध इति संदेहः । एतस्मिन्संदेहे निर्णयाय एतद्व-

क्ष्यमाणं निदर्शनमुदाहरणम् ऋषिणोक्तं सईमिति । साकार-  
व्यञ्जनात् पृथक्करणं सविन्दुकस्य स्वरस्य । अतः सविन्दुके स्वरे  
ह्रस्वासंबन्धो मायाबुद्ध्योपासनं च । सईमिति समासः  
सकारश्च ई च सईम् । तस्याः संबोधने ईमिति निपात-  
त्वाददोषः । हे सई सविन्दुकस्वर त्वदालम्बनेन एताः  
वक्ष्यमाणाः शक्तीः उपासिताः पाहि रक्ष । यद्वा स इति  
व्यस्तं यत्तदोर्नित्यसंबन्धः । य ऋजीषी ऋजुभावेच्छुः  
तरुत्रः तरणशीलः, स ई शक्तिं सविन्दुकं स्वरं श्रियादि-  
बुद्ध्योपासितं पाः पालितवान् । पा पालने । पालकाधीन-  
त्वात्पालनीयशक्तेः । हीति निश्चितम् । सविन्दुकस्वराल-  
म्बनत्वेनोपास्याः तत्र व्यूहसंबन्धिनीः शक्तीराह— श्रियं  
विष्णुशक्तिं पाः पालितवान् । यद्वा पाहि । एवमुत्तरत्रापि  
द्विधा संबन्धः । लक्ष्मीं नृसिंहशक्तिम्, औपलाम्बिकां  
गौरीं महेश्वरशक्तिम्, गां सरस्वतीं ब्रह्मशक्तिम्, षष्ठीं च  
स्कन्दशक्तिम्, यामिन्द्रसेनेत्याहुः तामिन्द्रशक्तिमिन्द्राणीम्,  
विद्याम् ईश्वरशक्तिम्, ब्रह्मयोनिं ब्रह्मावाप्त्यै कारणभूतां सरूपां  
साकारां तां तां शक्तिम् इह सविन्दुके स्वरे आयुषे उपा-  
सनानुकूलायुरभिवर्धनाय शरणं प्रविशामि । एवं शक्त्यक्षर-  
निर्णयं तदाश्रितां सप्तविधशक्त्युपासनां दीर्घादिमात्रोपास-

नां सफलामभिधाय अथेदानीं बीजाक्षरनिर्णयं तदाश्रितां  
 सफलां च उपासनाम् अभिधातुं तन्निर्णयमाह— सर्वेषां  
 वा इत्याद्यभिसंविशन्तीत्यन्तं स्पष्टार्थम् । आकाशशब्दो  
 हकारं वक्ति । सर्वागमशास्त्रप्रसिद्धेः आगमरूपोपनिषत्प्रसि-  
 द्धेश्च । यस्मादेवं तस्मादाकाशशब्दवाच्यं हकारं बीजं वि-  
 द्यात् । बीजं निदानं मूलकारणं तद्बुद्धयोपासीत तद्वाचकं  
 वा निपातरूपेण । स च अयं वाच्यवाचकसंबन्धो लोके-  
 ऽप्रसिद्ध इति मन्त्रागमशास्त्रैकगम्यम् । एवं शक्त्यक्षरमपि  
 शक्तिवाचकत्वाच्छक्तिः तद्बुद्धयोपास्यत्वाद्वा । शक्तिबीजयो-  
 स्तद्बुद्धयोपास्यत्वं तद्वाचकत्वादेवेति रहस्यम् । यथा प्रणवा-  
 क्षरं ब्रह्मवाचकत्वाद्ब्रह्मबुद्धयोपास्यमभूत् तद्वच्छक्तिबीजम्;  
 तच्च सस्वरं व्यञ्जनमात्रं वेति संदेहः, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—  
 तदेतत् ऋषिणोक्तं निदर्शनम् । तच्चोक्तार्थम् । हंसः परमात्मा ।  
 हं मूलकारणं सद्वृहत् । यद्वा सकारेण संबद्धमजपागायत्री-  
 रूपेण वर्तमानं नासिकापुटाभ्यां निःसृतं ब्राह्मणस्त्रीशुद्धाद्य-  
 धिकारतया वर्तमानं संकल्पादेव फलदं परमात्मवाचकं स  
 इति । हंसः परमात्मा वक्ष्यमाणं सर्वमभूदिति वाक्यशेषः ।  
 शुचौ बुद्धौ सीदतीति शुचिषत् । हंस एव वसुः देवः । स  
 एवान्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत् । बृहत् बृंहणत्वादन्तरिक्षा-

श्रितो देवः स एव होता । वेदिषत् वेद्यां सीदतीति वेदिषत् ।  
 स एवातिथिः दुरोणसत् दुरोण इति गृहनाम दुर्वा  
 भवन्ति दुस्तर्णः तस्मिन्सीदतीति दुरोणसत् । स एव नरि  
 जीवे सीदतीति नृषत्, 'य आत्मनि तिष्ठन्' इति श्रुतेः ।  
 वरसत् वरे वरिष्ठे स्थाने सीदतीति वरसत् । स एव ऋतेन  
 सत्येन सीदतीति ऋतसत् । स एव व्योम्नि हृदयाकाशे उप-  
 लभ्यतया सीदतीति व्योमसत् । अब्जा अप्सु क्षीरोदार्णवे  
 उपास्यतया जात इत्यब्जाः । गोषु वा उपास्यतया प्रतिपाद्यत्वे-  
 न जात इति गोजाः । 'ऋतं सत्यम्' इति मन्त्रवर्णादुपा-  
 स्यतया जात इति ऋतजाः । अद्रौ मेघे जात इत्यद्रिजाः ।  
 छन्दसि जनिरयं सुबन्तप्रयोगे सकारान्तो दृष्ट इति सोपपदो  
 विसर्गान्तो दीर्घश्च सुतेजाः इतिवत् । एवं परमात्मैव बृहन्म-  
 हानिति । ऋतं सत्यं ज्ञेयमिति शेषः । य उपासकः एवं पर-  
 मात्मतत्त्वं बीजाक्षरवाच्यं तद्बुद्ध्या च उपास्यं वेद जानाति ।  
 इति-शब्दः शक्तिबीजनिर्णयसमाप्तिं द्योतयति । यद्वा इति  
 इत्येवं निपातानामनेकार्थत्वात् इत्येवं महोपनिषत् इति  
 महोपनिषदि पठितानां मन्त्राणाम् एवं-शब्दात् एतदेव  
 शक्तिबीजं संबध्नाति । ततश्च मूलमन्त्रे षष्ठपदे व्यक्षरे  
 नृकारं सकारं विहाय शिष्टमक्षरद्वयं यथापठितं शक्तिबीजं

द्रष्टव्यं सामर्थ्यात् । परमात्मवाचकमाथर्वणचि द्वितीयं  
 हंसार्चि प्रथमं यत्पठितं तदित्येवं स्तुतिमन्त्रेषु सर्वेषु चतुर्थ-  
 पादे नृकारं सकारं विहाय यच्छिष्टमक्षरद्वयं यथापठितं  
 तच्छक्तिबीजमिति तत्त्वं रहस्यं च इति शक्तिबीजाक्षर-  
 निर्णयः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य

श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य

श्रीमच्छकरभगवतः कृतौ

नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्भाष्ये

तृतीयोपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥

नृसिंहपूर्वतापनीयो-  
पनिषद्भाष्यम्  

---

चतुर्थोपनिषत्





## चतुर्थोपनिषत् ॥



वं तावच्छक्तिबीजसंपुटितां साङ्गां  
नृसिंहब्रह्मोपासनामभिधाय अथेदानीं  
तदङ्गहृदयादिमन्त्रव्याख्यानाय यथा-  
संख्यं सामाङ्गमूलमन्त्राङ्गमन्त्रोपनि-  
षत् प्रश्नोत्तररूपाख्यायिकया चतुर्थी  
आरभ्यते । ननु यदि मूलमन्त्राङ्ग-

मन्त्रव्याख्यानाय उपनिषदियं प्रस्तुता, तर्हि तदङ्गव्याख्या-  
वसरे अस्याः प्रस्तावः स्यात् ; न त्विदानीं प्रस्तावो युक्तः ।  
किं च मूलमन्त्रपदव्याख्यानावसरे तदुपासनायाः कृत्स्नाया  
एव उक्तत्वात् अन्ते तत्फलस्य च उक्तत्वात् किमपरमव-  
शिष्टम्, यदर्थमियमुपनिषदारभ्यते— अत्रोच्यते । सत्यम् ।  
तदङ्गव्याख्यानावसरे पञ्चमाङ्गन्यासे च ‘प्रत्यक्षरमुभयत  
ओंकारो भवति’ इति वचनात् मूलमन्त्राक्षराणां यथापठि-  
तानां व्यत्यासे कृते मूलमन्त्रतत्पदापरिज्ञाने प्राप्ते तत्प-  
रिज्ञानस्यैवान्तरङ्गत्वात् तदर्थं पदोद्धारः प्रस्तुतः ; तदन-

न्तरं तदर्थज्ञाने प्रस्तुते शक्तिबीजनिर्णयः प्रस्तुतः; इत्येवं पञ्चमाङ्गन्यासपदोद्धारतदर्थशक्तिबीजनिर्णयानाम् अन्योन्यं बद्धक्रमकत्वादन्तरङ्गत्वाच्च तदन्तराले प्रवेशो अस्य अयुक्त इति इयमुपनिषत् शक्तिबीजनिर्णयानन्तरं पठिता । यथा गुरुमते अधिकारलक्षणं मध्ये एव पठितम्, तथा इयमुपनिषत् उपरिष्ठान्महाचक्रोपासनाफलकथनयोर्बद्धक्रमकत्वात् तदन्तराले प्रवेशमलभमाना मध्यस्थैव शोभते । किं च सामाङ्गप्रणवेन शक्तिबीजाक्षरमिश्रितेन हृदयाङ्गमन्त्रो व्याख्येय इति न तदङ्गन्यासावसरे अस्याः प्रवेशो युक्तः, तदानीं शक्तिबीजाक्षरस्याप्रस्तुतत्वेनाशक्यत्वान्मिश्रणस्य । तस्माच्छक्तिबीजनिर्णयानन्तरम् अस्या आरम्भो युक्तः । यदुक्तं कृत्स्नविद्याभिधानात्किमवशिष्टमिति, तन्न । अत्रत्यमेवानागतावेक्षणन्यायेन व्याख्यातृभिरेव तत्तोपसंहृतम्, न तु तत्रत्यं शब्दोपात्तमिति । यदुक्तमन्ते फलस्य च उक्तत्वात्किं शिष्टमिति, तदुक्तमेव प्राक्तनन्यायेन, कृत्स्नत्वाद्विद्यायाः । तस्मात्सूक्तं शक्तिबीजनिर्णयानन्तरमस्या आरम्भः शोभत इति ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य

मन्त्रराजस्य नारसिंहस्याङ्गमन्त्रान्नो ब्रू-

हि भगव इति । स होवाच प्रजापतिः  
 प्रणवं सावित्रीं यजुर्लक्ष्मीं नृसिंहगाय-  
 त्रीमित्यङ्गानि जानीयाद्यो जानीते सो-  
 ऽमृतत्वं च गच्छति । ओमित्येतदक्षर-  
 मिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भव-  
 द्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्यत्रि-  
 कालातीतं तदध्योंकार एव सर्वं ह्येतद्ब्र-  
 ह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पा-  
 ज्जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एको-  
 नविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः  
 पादः स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एको-  
 नविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वि-  
 तीयः पादो यत्र सुप्तो न कंचन कामं  
 कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तं  
 सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवान-  
 न्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृ-  
 तीयः पाद एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषो-

ऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ  
 हि भूतानां न बहिःप्रज्ञं नान्तःप्रज्ञं नो-  
 भयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनमदृ-  
 ष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमलिङ्गमचि-  
 न्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चो-  
 पशमं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स  
 आत्मा स विज्ञेयः ॥ १ ॥

देवा ह वा इत्यादि नारसिंहस्य इत्यन्तं स्पष्टार्थम् । अङ्गम-  
 न्त्रान्नो ब्रूहि भगव इति । वेदे रुकारादेशान्तो भगवच्छब्द  
 इति संबोधनं भगव इति । अङ्गेषु हृदयाद्यङ्गेषु व्याख्येयेषु  
 तद्व्याख्यानमन्त्राः अङ्गमन्त्राः, यद्वा अङ्गानि च मन्त्राश्च अ-  
 ङ्गमन्त्राः इत्युभयथापि समास उक्तः, किं तु उभयथाप्येषां  
 मूलमन्त्राङ्गमन्त्रसंबन्धः संख्यातः स्थानाच्च सामर्थ्याच्च  
 प्रतीतः नूनं न निवारयितुं शक्यते । स होवाच प्रजापति-  
 रित्यादि गच्छतीत्यन्तमुक्तार्थम् । येनैव क्रमेणाङ्गानामुद्देशः  
 कृतः, तेनैव क्रमेण तद्व्याख्यामाह— ओमित्येतदक्षरमिति ।  
 कथं पुनरोंकारनिर्णयः साकारात्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायत्वं प्रति-  
 पद्यत इति । उच्यते— ‘ओमित्येतदालम्बनम्’ ‘एतद्वै

सत्यकाम परं चापरं च यदोँकारः ' 'ओमित्यात्मानं युञ्जीत'  
 'ओमिति ब्रह्म' 'ओँकार एवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुतिभ्यो  
 रज्ज्वादिरिव सर्पादिविकल्पस्य अद्वयात्मा परमार्थः सन्  
 प्राणादिविकल्पास्पदो यथा, तथा सर्वो वाक्प्रपञ्चः प्राणा-  
 द्यात्मविषयः ओँकार एव । स च आनुष्टुबङ्गं सत्त्वात्मस्व-  
 रूपमेव, तदभिधायकत्वात् । ओँकारविकारशब्दाभिधेयश्च  
 सर्वः प्राणादिः आत्मविकल्पः अभिधानव्यतिरेकेण नास्ति,  
 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' 'तस्येदं वाचा तन्त्या  
 नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्' 'सर्वं ह्रीदं नामनि' इत्यादि-  
 श्रुतिभ्यः । अत आह— ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति ।  
 यदिदमर्थजातम् अभिधानाभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यतिरे-  
 कात् अभिधानभेदस्य ओँकाराव्यतिरेकात् ओँकार एव इदं  
 सर्वम् । परं च ब्रह्म अभिधानाभिधेयोपायपूर्वकमवगम्यत इति  
 ओँकार एव । तस्यैतस्य परापरब्रह्मरूपस्याक्षरस्य ओमि-  
 त्येतस्य उपव्याख्यानं ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वात् ब्रह्मसमीप-  
 तया विस्पष्टम् आख्यानं प्रकटकथनम् उपव्याख्यानं प्रस्तुतं  
 जानीयादिति शेषः । न त्वनुषङ्गः, 'व्यवायान्नानुषज्यते'  
 इति न्यायात् । भूतं भवद्भविष्यदिति कालत्रयपरिच्छेद्यं  
 यत्, तत् ओँकार एव, उक्तन्यायतः । यच्चान्यत् त्रिकाला-

तीतं कार्याधिगम्यं कालत्रयापरिच्छेद्यम् अव्याकृतादि तद-  
 प्योकार एव— इति अभिधानाभिधेययोरेकत्वे अभिधान-  
 प्राधान्येन निर्देशः कृतः ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमित्यादि ।  
 अभिधानप्राधान्येन निर्दिष्टस्य पुनरभिधेयप्राधान्येन निर्देशः  
 अभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थम् । इतरथा हि अभि-  
 धानतन्त्रा अभिधेयप्रतिपत्तिः इति अभिधेयस्याभिधानत्वं  
 गौणमित्याशङ्का स्यात् । एकत्वप्रतिपत्तेश्च प्रयोजनमभि-  
 धानाभिधेययोः एकेनैव प्रयत्नेन प्रविलापयन् तद्विलक्षणं  
 ब्रह्म प्रतिपद्यते इति । तथा च वक्ष्यति— पादा मात्रा  
 मात्राश्च पादा इति । तदाह । सर्वं हि एतद्ब्रह्म, सर्वं  
 यदुक्तमोकारमात्रम् एतद्ब्रह्म । तच्च ब्रह्म परोक्षाभिहितं  
 प्रत्यक्षतो विशेषेण निर्दिशति— अयमात्मा ब्रह्मेति ।  
 अथमिति चतुष्पात्त्वेन प्रविभज्यमानं प्रत्यगात्मानं प्रत्य-  
 क्षतया अभिनयेन निर्दिशति— सोऽयमात्मेति । सोऽय-  
 मात्मा ओंकाराभिधेयः परापरत्वेन व्यवस्थितः चतुष्पात्  
 कार्षापणवत् । न गौरिव चतुष्पात् । त्रयाणां विश्वादीनां  
 पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करणसाधनः  
 पादशब्दः ; तुरीयस्य तु पद्यत इति कर्मसाधनः पाद-  
 शब्दः । कथं चतुष्पादित्यत्र आह— जागरितं स्थान-

मस्येति जागरितस्थानः । बहिःप्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य सः बहिःप्रज्ञः, बहिर्विषये यस्य प्रज्ञा विद्याकृता अवभासत इत्यर्थः । तथा सप्ताङ्गः सप्तशक्तयः अङ्गे हृदयाख्ये यस्य स तथोक्तः, विष्णुशक्तीनां विष्णुवक्षःस्थलाश्रयत्वप्रसिद्धेः । ‘विष्णोर्वक्षःस्थलाश्रया’ इति स्मृतेः, ‘विष्णोर्वक्षःस्थले स्थिताम्’ इति च, ‘करद्वयस्थप्रविकासिपङ्कजां वक्षःस्थलेन श्रियमुद्वहन्विभुः’ इति च । तथा एकोनविंशतिमुखो मूलमन्त्रापेक्षया एकोनविंशतितममक्षरं बीजं मुखं यस्य मूलनृमिहव्यूहस्य स तथोक्तः । तस्य नाभेरूर्ध्वं मूर्धतः प्राक् हृदयाख्यम् अङ्गम्; अत उपास्योपासकयोरैक्ये भेदे वा हृदयाङ्गन्यामादिकमविरुद्धम् । नन्वेवं सप्तान्यङ्गानि मूर्धैव सुतेजा इत्येवमादीनि यस्य स तथोक्तः । तथा एकोनविंशतिमुखानि अस्य बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाणि वायवश्च प्राणादयः पञ्च मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तमिति मुखानीव तानि उपलब्धिद्वारत्वादित्येवं यथासंख्यं विराड्द्विरण्यगर्भपरत्वेन वाक्यद्वयं माण्डूक्योपनिषत्प्रणवविद्यायां व्याख्यातम्, तथा अत्रापि कस्मान्न व्याख्यायते? उच्यते— अत्र अस्य अपरविद्याप्रकरणाश्रितत्वात् प्रणवविद्यायां तथाङ्गत्वेन च विनियोगात् प्रणवं तत्साम्नोऽङ्गं



जानीयादिति तथा शक्तिबीजनिर्णयानन्तरम् अस्याङ्गस्य पाठात् । माण्डूक्ये प्रणवविद्यायामनारभ्य अधीतत्वात् प्राधान्यम् अङ्गत्वेन विनियोगाभावाच्च तथा तत्र शक्तिबीजयोरप्रस्तुतत्वाच्च विद्याभेदाच्च तथा व्याख्यानभेदेनार्थभेदात् पृथगर्थप्रतीतिर्ज्यायसी । ननु उभयत्राप्यन्यूनानतिरिक्तपाठप्रत्यभिज्ञानेन विद्यैक्यात् अङ्गविद्याया उत्कर्षः प्रधानविद्याया अङ्गविद्याप्रवेशः । अत्रोच्यते—‘अन्यथात्वं शब्वादिति चेत् न अविशेषात्’ इति न्यायेन विद्याभेदस्यैव युक्तत्वात् आभ्युदयिककाम्येष्टिवाक्यवत् । ननु भेदेऽपि प्रधानविद्याया एव अङ्गत्वेन विनियोगोऽस्तु, प्रत्यभिज्ञानाच्च विद्यैक्यमिति ; तन्न, ‘प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम्’ इति न्यायेन नैयमिकान्निहोत्रकौण्डपायिनामयनान्निहोत्रवत् भेदस्यैव युक्तत्वात् । किं च उभयत्रापि बहुतरपाठसाम्येऽपि क्वचित्पाठभेदोऽपि दृश्यते । तुरीयमात्रानिरूपणावसरे ‘एषोऽन्तर्याम्येष ईशान एष प्रभुः’ इति माण्डूक्ये पाठः । तापनीये तु ‘एषोऽन्तर्याम्येष योनिः’ इति ईशानप्रभुपदद्वयं विहाय पाठः । तस्माद्विन्नत्वात् यद्यत्र योग्यं प्रस्तुतं च, तत् तथा व्याख्येयम् । तथा स्थूलभुक् स्थूलां पृथिवीं हृदयाङ्गान्तर्गतां भुङ्क्ते सेवते इति स्थूलभुक् वि-

श्रेषां नराणां स्वस्मिन्नेव अनेकधानयनात् विश्वानरः,  
 विश्वानर एव वैश्वानरः । ननु यथा माण्डूक्ये वैश्वा-  
 नरशब्दसामर्थ्यात् सप्ताङ्गैकोनविंशतिमुखपदद्वयं यथासंख्यं  
 विराड्ढिरण्यगर्भपरत्वेन व्याख्यातम्, तथात्रापि वैश्वानर-  
 शब्दसामर्थ्यात् उभयपरत्वेन व्याख्यायतां किमिति शक्ति-  
 बीजपरत्वेन, प्रकरणसंनिधेर्वाक्यसंनिधेर्बलीयस्त्वात् । स-  
 त्यम् । यद्यत्र वैश्वानरशब्दो वैश्वानरविद्यापरत्वेनैव वर्तेत,  
 तर्हि एवं ख्यात्; न त्वेतत्स्यात्, यौगिक्या वृत्त्या अन्यप-  
 रत्वेन व्याख्यातत्वात् । किं च तत्र तत्र विधेयार्थभेदेन  
 वाक्यभेदात् वाक्यसंनिधिर्न निश्चितः । अतः उभयत्रापि प्रक-  
 रणसंनिधेरविशिष्टत्वात् प्राग्व्याख्यैव ज्यायसी । प्रथमः पादः  
 तत्र अकारोकारमकाराश्रितत्वेन तद्वाचकत्वेन वा एवंविध-  
 विशिष्टबुद्ध्युत्पत्तिरिति प्रथमः पादः । एतत्पूर्वकत्वादुत्तर-  
 पादाधिगमस्येति प्राथम्यम् । ननु अयमात्मा ब्रह्म इति प्रत्य-  
 गात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते कथं शक्तिबीजयोरङ्गमुख-  
 त्वकीर्तनमिति । नैष दोषः, उपास्योपासकयोरभेदस्यात्र  
 विवक्षितत्वात् । एवं च सति नृसिंहब्रह्माद्वैतसिद्धिः । सर्व-  
 भूतस्थश्च आत्मा एको दृष्टः स्यात्, सर्वभूतानि च आ-  
 त्मनि । ‘यस्तु सर्वाणि भूतानि’ इत्यादिश्रुत्यर्थश्च एवमुपसंह-

तश्च स्यात् । अन्यथा परिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा सांख्या-  
दिभिरिव दृष्टः स्यात् । इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मैकत्व-  
प्रतिपादकत्वम् । अतो युक्तमेव अस्योपासकस्य आत्मनः उपा-  
स्येन आत्मना एकत्वमभिप्रेत्य सप्राङ्गत्ववचनं मुखवचनं च ।  
स्वप्नं स्थानमस्य तैजसस्य स स्वप्नस्थानः । जाग्रत्प्रज्ञा अनेकसा-  
धना बहिर्विषयेव भासमाना मनसः स्पन्दमाना सती तथा-  
भूतसंस्कारं मनस्याधत्ते । तन्मनः तथा संस्कृतं विचित्र  
इव पटो बाह्यसाधनानपेक्षम् अविद्याकर्मभ्यां प्रेर्यमाणं जाग्र-  
द्वदवभासते । तथा च उक्तम् अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रा-  
मपादाय इत्यादि । परे देवे मनस्येकी भवति इति प्रस्तुत्य  
अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति इत्याथर्वणे । इन्द्रि-  
यापेक्षया अन्तःस्थत्वान्मनसः तद्भासनारूपान्तर्लब्धा स्वप्ने  
प्रज्ञा येन इति अन्तःप्रज्ञः । तैजसः विषयशून्यायां प्रज्ञायां  
केवलप्रकाशरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः । विश्वस्य  
सविषयत्वेन प्रज्ञायाः स्थूलाया भोग्यत्वम् । इह पुनः  
केवला वासनामात्रा प्रस्फुटप्रज्ञा भोग्येति प्रविविक्तो  
भोग इत्युकारमिश्रणं शक्तिबीजयोः । समानमन्यत् । द्वि-  
तीयः पादस्तैजसस्त्रिष्वपि स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणः  
स्वापोऽविशिष्ट इति पूर्वाभ्यां सुषुप्तं विभजते—यत्र सुप्तो

न कंचनेत्यादि । न हि सुषुप्ते पूर्वयोरिव अन्यथाग्रहणलक्षणं स्वप्रदर्शनं कामो वा कश्चन विद्यते । तदेतत्सुषुप्तं स्थानमस्येति सुषुप्तस्थानः स्थानद्वयप्रविभक्तमनस्पन्दितं द्वैतजातम् । तद्यथा रूपापरिज्ञानेन अविवेकापन्नं नैशतमो-  
प्रस्तमिवाहः स्फुटप्रपञ्चम् एकीभूतमुच्यते । अत एव स्वप्र-  
जाग्रन्मनःस्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानीवेयमवस्था वि-  
वेकरूपत्वात्प्रज्ञानघन उच्यते । यथा रात्रौ नैशेन तमसा  
अविभज्यमानं सर्वं घनमिव तद्वत् प्रज्ञानघनः । एव-शब्दात्  
जात्यन्तरं नास्तीत्यर्थः । मनसो विषयविषय्याकारस्पन्द-  
नायासदुःखाभावात् आनन्दमयः आनन्दप्रायः न आनन्द  
एव, अनात्यन्तिकत्वात्— यथा लोके निरायासस्थितौ सु-  
ख्यानन्दमुगुच्यते, 'एष परमानन्दः' इति श्रुतेः । स्वप्ना-  
दिप्रतिबोधे चेतः प्रति द्वारीभूतत्वात् चेतोमुखः बोधलक्षणं  
वा चेतो मुखं द्वारमस्य स्वप्नाद्यागमनं प्रति इति चेतोमुखः ।  
भूतभविष्यज्ञातृत्वात् सर्वविषयज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः । सुप्तो  
हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते । अथवा प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैवासा-  
धारणं रूपमिति प्राज्ञः इतरयोर्विशिष्टमपि ज्ञानमस्ति सोऽयं  
प्राज्ञः तृतीयः पादः । एष हि स्वरूपावस्थः साधिदैविकस्य  
भेदजातस्य सर्वस्य ईशिता नैतस्माज्जात्यन्तरभूते अन्ये-

षामिव 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इति श्रुतेः । अत एव हि सर्वेश्वरः । अत एव हि सर्वभेदावस्थाज्ञाता इत्येष सर्वज्ञः एषः अन्तर्यामी अन्तस्तनु प्रविश्य सर्वेषां भूतानां नियन्ताप्येष एव । अत एव यथोक्तं सभेदं जाग्रत्प्रसूयत इत्येष योनिः । अत एव प्रभवश्चाप्ययश्च प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् एष एव एतावान् उभयत्रापि समानः पाठः । अत ऊर्ध्वं माण्डूक्ये उक्ते एवार्थे श्लोकान्पठित्वा तुरीयः पादः, एतस्मिन्तापनीये तु तान्विहाय तुरीयः पादः । तस्मिन्नपि कियान्पाठभेदस्तद्व्याख्यानावसरे दर्शित एव तत्रोपयोगी श्लोकः पठ्यते— 'दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः । आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः' । जागरितावस्थायामेव विश्वादीनां त्रयाणामनुभवप्रदर्शनार्थं श्लोकः । दक्षिणमक्ष्येव मुखं यम्य स तथोक्तः तस्मिन्सर्वेषु करणेषु अविशेषेऽपि दक्षिणे अक्षिण्युपलब्धिपाटवदर्शनात् तत्र विशेषनिर्देशे विश्वस्य दक्षिणाक्षिगतो रूपं दृष्ट्वा निमीलिताक्षः तदेव स्मरन् मनसि अन्तः स्वप्ने इव वासनारूपमभिव्यक्तं पश्यति यथा अत्र, तथा स्वप्ने; अतः मनस्यन्तस्तु तैजसो विश्व एव आकाशो बाह्यादिस्मरणव्यापारोपरमे प्राज्ञः एकीभूतो घनप्रज्ञ एव भवति, मनोव्यापाराभावान् । दर्शनस्मरणे एव हि

मनःस्पन्दितं तदभावे हृद्येवाविशेषेण प्राणात्मना अवस्थानात्प्राणः, 'प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृद्धे' इति श्रुतेः । तैजसः हिरण्यगर्भः, मनस्यवस्थितत्वात् । लिङ्गं मनः, 'यत्र मनोमयोऽयं पुरुषः' इत्यादिश्रुतेः । ननु व्याकृतः प्राणः सुषुप्ते तदात्मकानि कारणानि भवन्ति कथमव्याकृतता । नैष दोषः, अव्याकृतस्य देशकालविशेषाभावान् । यद्यपि प्राणाभिमाने सति व्याकृततैव प्राणस्य, तथापि पिण्डपरिच्छिन्नविशेषाभिमाननिरोधः प्राणे भवतीत्यव्याकृत एव प्राणपरिच्छिन्नाभिमानवतां यथा प्राणलये परिच्छिन्नाभिमानिनां प्राणे अव्याकृतता, तथा प्राणाभिमानिनोऽपि अविशेषापन्नत्वान् अव्याकृतता, समाना । प्रणवबीजात्मकत्वं च तदध्यक्षश्च एको व्याकृतावस्थः परिच्छिन्नाभिमानाध्यक्षाणां च तेनैकत्वमिति पूर्वोक्तं विशेषणम् एकीभूतः प्रज्ञानघनः इत्याद्युपपन्नम् । तस्मिन्नुक्तहेतुत्वान् प्राणशब्दत्वमव्याकृतस्य, 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इति श्रुतेः । एवं तावत्प्रभवप्ययौ हि भूतानामित्यनेन एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं दर्शितम् । तथा माण्डूक्यश्लोके जागरितावस्थायामेवावस्थात्रयमुक्तं तस्यामेवावस्थायां तत्रैविध्ये मनोव्यापारं व्यावृत्य प्रागुक्तोपास्ये मनोव्यापारं प्रवर्तयितुम् उपास्य-

स्वरूपमाह— न बहिःप्रज्ञमिति । बहिर्विषयव्यापारोपरमान् जागरितावस्थाप्रतिषेधान्मनसो हि स्वस्मिन्व्यापारेणान्तःप्रज्ञत्वे तैजसत्वे च प्रत्यगात्मनः प्राप्ते, तन्निषेधति—नान्तःप्रज्ञमिति । उभयत्र व्यापारप्रतिषेधेन तदन्तरालव्यापारे प्राप्ते, तं निषेधति—नोभयतःप्रज्ञमिति । जाग्रत्स्वप्नान्तराले मनो व्यावृत्तं प्रज्ञार्थं न कुर्यादित्यर्थः । अन्तरालव्यापारप्रतिषेधेन उभयत्र युगपत्प्रज्ञार्थं व्यापारे प्राप्ते, तं निषेधति— न प्रज्ञमिति । एवं सर्वतो मनोव्यापारप्रतिषेधान् अव्याकृतं मनः अविद्यमानम् असदिव तिष्ठेत तत्प्रतिषेधति— नाप्रज्ञमिति । तत्स्थितिप्रतिषेधात् अज्ञानसाक्षिके स्वप्ने प्राप्ते, तं निषेधति—न प्रज्ञानघनमिति । अथ षट्प्रतिषेधैः प्रणवविद्याङ्गभूतैः उपाख्यप्रतिकूलं प्रतिषिध्य व्यावृत्त्यदुपाख्ये मनोऽव्यावृत्तं कार्यं तदुपाख्यं वस्तु निर्दिशति— अदृष्टमिति । न हि ईदृशमुपाख्यं कचिद्दृष्टं पुरुषाकारमेव वा तिर्यगाकारमेव वा यथा गोपालकूर्मादि । तत्तु उभयरूपं नृसिंहात्मकं त्रिनेत्रं पिनाकहस्तमिति । अत एव अव्यवहार्यम् । अत एव अलक्षणमिति । न लक्षणं लिङ्गं विद्यते यस्य तदलक्षणम् । अत एव अचिन्त्यम् अनुमानेन तर्केण वा । अत एव अव्यपदेश्यं नियताकारोपाख्यप्रतिपादकैः

शब्दैः । अत एव एकात्मप्रत्ययसारम् एकस्मिन्सर्वेषा-  
मात्मनां प्रत्ययः एकात्मप्रत्ययः स एव सारं यस्य तत्  
तथोक्तम् । अथवा एक एव आत्मा उपास्योपासकयोः इत्येवं  
प्रत्ययः । शेषं पूर्ववत् । अत एव प्रपञ्चोपशमं प्रागुक्तेन न्या-  
येन मनसो हि बाह्यदर्शनस्मरणव्यापाराभावात् व्यावृत्तत्वा-  
च्च स्वापाभावादित्युपास्यव्यतिरेकेण प्रपञ्चाप्रतीतेः प्रपञ्चो-  
पशममिति । शिवं शंकरं चतुर्थं तुरीयपादं मन्यन्ते अर्धमा-  
त्रानादात्मकमिति तथोपास्यम् । प्रत्यगात्मतया उपास्य-  
माह— स उपास्य आत्मा प्रत्यगात्मेत्येवं विज्ञेयो  
द्रष्टव्यः ॥

एवमिथं प्रणवविद्या षट्प्रतिषेधवती सप्तशक्तिकहृदयाङ्ग-  
बीजमुखवती अङ्गिना मनोव्यापारं स्थिरं कुर्वती अस्यां विद्या-  
याम् उपकारकवती असकृदावर्तनीया ओमुपासकेनेति तात्प-  
र्यार्थः । एवं तावत्सामाङ्गप्रणवविद्यां नृसिंहब्रह्मविद्योपका-  
रिणीमभिधाय अथेदानीं तदुपकारिणीमेव शिरोऽङ्गव्या-  
ख्यात्रीं सामाङ्गसविनृप्रतिपाद्यां विद्यां नृसिंहब्रह्मविद्याङ्गभू-  
तामाह—

अथ सावित्री गायत्री या यजुषा  
प्रोक्ता तथा सर्वमिदं व्याप्तं घृणिरिति



द्वे अक्षरे सूर्य इति त्रीण्यादित्य इति त्रीण्येतद्वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाभिषिक्तं य एवं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते तदेतदृचाभ्युक्तम्— ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति । न ह वा एतस्यर्चा न यजुषा न साम्नाथोऽस्ति यः सावित्रीं वेदेति । ॐ भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः सुवःकालकर्णी । तन्नो महालक्ष्मीः प्रचोदयादित्येषा वै महालक्ष्मीर्यजुर्गायत्री चतुर्विंशदक्षरा भवति गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किंच तस्माद्य एतां महालक्ष्मीं याजुषीं वेद महतीं श्रियमश्नुते । ॐ नृसिंहाय विद्महे वज्रनखाय धीमहि । तन्नः सिंहः प्रचोदयादित्येषा वै नृसिंहगायत्री वेदा-

नां देवानां निदानं भवति य एवं वेद  
स निदानवान्भवति ॥ २ ॥

अथ-शब्दः क्रमप्राप्तानन्तर्यार्थः । मन्त्रे सवितृपदाभावे-  
ऽपि सावित्रीति वदन् सवितृकालीनप्रकाशवत् सुषुप्तप्रकाश-  
वच्च बाह्याभ्यन्तरतमोनिर्वारकत्वात् अयं शिरोऽङ्गप्रकाशो  
निबिडाविद्यानिवर्तक इति दर्शयति । गायत्री, अष्टाक्षरत्वात्  
तां गायत्रीं यजुषा व्याचष्टे; या यजुषा प्रोक्ता तथा सर्वमिदं  
व्याप्तम् । शिरोऽङ्गं व्याख्यातम् उपास्यं च । अक्षराणि  
गणयति । घृणिरिति द्वे अक्षरे । सूर्य इति त्रीणि, पृथ-  
ग्रेफगणनात् । आदित्य इति त्रीणि । एतद्वै सावित्रस्याष्टा-  
क्षरं पदं श्रिया अभिषिक्तमिति । श्रयादिभिस्तदादिन्यायेन  
सप्तभिः शक्तिभिः विग्रहवतीभिः मणिगणखचितैर्हैमकुम्भै-  
रमृतपूर्णैः शिरः अभिषिक्तमित्यर्थः । य उपासकः एवमु-  
पास्ते तस्य फलं निर्दिशति । श्रिया हैव अभिषिच्यते प्रा-  
गुक्ताभिः शक्तिभिः प्रागुक्तेन प्रकारेण सोऽप्यभिषि-  
च्यत इत्यर्थः । तदेतदृचा अभ्युक्तम् उक्तार्थम् । ऋचो निषे-  
दुः नितरां सेवनं कृतवत्यः । ऋग्रहणम् उपलक्षणार्थम् । यद्वा  
ऋच इति षष्ठी । ऋचः सईमित्यादिकाया नयाः प्रतिपादि-  
ताः शक्तयः, वेदा वा; न केवलं शक्तयः, अपि तु विश्वे देवाः

सर्वे देवाः अधि इति उपरि शिरसि अक्षरे न क्षरति न  
 विलीनं भवति परमे व्योमन् व्योमनि सर्वाभिषेकद्वारत्वान्  
 परमं मोक्षद्वारत्वाच्च व्योम यस्मिञ्शिरसि । य उपासकः  
 तच्छिरो वेददेवदेवीभिः प्रागुक्तेन प्रकारेण अभिषिक्तं न वेद  
 न जानाति किमृचा ऋग्वेदादिना करिष्यति । यद्वा स ई पाहि  
 इति अनया ऋचा किं करिष्यति । य इत् इत्थमेव तदभिषिक्तं  
 शिरः विदुः उपासते त इमे उपासकाः समासते सम्यक्प्र-  
 कारेण आसते सुखिनः इत्यर्थः । ऋगतम् ऋक्पदं व्याच-  
 छे । न ह वै एतस्य ऋचा न यजुषा न साम्ना अर्थः प्रयो-  
 जनम् अस्ति यः सावित्रीं शिरःशिखां साधनभूतां  
 वेदेति । ततश्च अयमर्थः । अष्टाक्षरां सावित्रीं पठित्वा  
 प्रागुक्ताः सर्वे वेददेवादयः अभिषिञ्चतीति सावित्रस्य अष्टा-  
 क्षरं पदम् अष्टावक्षराण्यभिषेचनाय यस्मिञ्शिरसि तदष्टा-  
 क्षरं शिरः तदेव पदम् आश्रयः इति तत्त्वार्थः । एवं ताव-  
 नृसिंहब्रह्मविद्यां शिरोऽङ्गोपकारिणीं सावित्राभिषेचनीं वि-  
 द्यामभिधाय अथेदानीं तदुपकारिणीं शिखाङ्गद्वारा सामा-  
 ङ्गमहालक्ष्मीविद्यामाह— ॐ भूर्लक्ष्मीरिति प्रणवविद्यापुरः-  
 सरा एताः शक्तयो भूरित्याद्या व्याहृतयः । भूः, भू सत्ता-  
 यामिति सत्तायामत्र वर्तते । अत एवोक्तमस्माभिः सप्तव्या-

हृतीव्याचक्षाणैः प्रपञ्चसारे—‘भूःपदात्तु व्याहृतयो भूःशब्दः सति वर्तते । तत्पदं सदिति प्रोक्तं सन्मात्रत्वाच्च भूरतः ॥ भूतत्वात्कारणत्वाच्च भुवःशब्दस्य संगतिः । सर्वस्य स्वीकरणात्स्वात्मतया स्वरितीरितम् । महत्त्वाच्च महस्त्वाच्च महच्छब्दः समीरितः’ ततश्च यथासंख्यं भूर्लक्ष्मीरिति । सन्मात्रब्रह्मणो व्यापिका शक्तिर्भूर्लक्ष्मीरित्युच्यते । कारणमात्ररूपस्य ब्रह्मणः शक्तिर्भुवर्लक्ष्मीरिति । सर्वत्र स्वात्मतया अवस्थितस्य ब्रह्मणः शक्तिः सुवःकालकर्णीत्युच्यते । महाभूतप्रकाशकात्मकस्य भुवर्ब्रह्मणः शक्तिर्महालक्ष्मीरिति । सैकैका शक्तिः तदङ्गं शिखाख्यं तेजोमयं सुषुम्नामृतमयं सोमरूपेणोपास्यत्वात्तस्य पादस्य, ‘य ओषधीनां प्रभवति तारापतिः सोमस्तत्सान्नस्तृतीयं पादं जानीयात्’ इति श्रुतेः । सोमः चन्द्रः ‘सुषुम्नः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा’ इति श्रुतेः । नः अस्मान् प्रचोदयादिति चुद प्रेरणे प्रेरयतु । तदङ्गमेकैका विग्रहवती शक्तिः अमृतस्रवणाय प्रेरयतु । अभिषेकत्रीणां शक्तीनां शिखाधिष्ठात्रीः शक्तीः प्रति अनया ऋचा गायत्र्या यजुर्महालक्ष्म्याः प्रार्थनारूपं वचनम् । ततश्च तदङ्गममृतस्रावि अमृतरूपमुपास्यमिति । अथवा सैकैका शक्तिः तदङ्गं नः प्रचोदयादिति नः प्रेरयतु । असंविवादमेवाङ्गं

कुर्यादिति । एषा वै महालक्ष्मीः यजुर्गायत्री महतीनां  
 महालक्ष्म्यादीनां प्रतिपादकत्वान् महालक्ष्मीः सावित्रमन्त्रे  
 अत्र च यजुरिति वदन् सामाङ्गत्वेऽपि गीतिरहितम-  
 ङ्गद्वयमिति दर्शयति । प्रणवान्तर्भावाय अक्षराणि गणयति  
 चतुर्विंशदक्षरा भवतीति । चतुर्विंशदिति ऋछान्दसम् ।  
 गायत्री वा इदं तृतीयमङ्गं सर्वं कृत्स्नं यदिदं किञ्च । य-  
 स्मादेवं तस्मात् य एतां शिखां पारमेश्वरीं महालक्ष्मीं याजु-  
 र्षीं प्रागुक्तविग्रहशक्त्युपास्यां वेद उपास्ते, तस्य फलं निर्दि-  
 शति— महतीं श्रियमश्नुत इति; महतीं श्रियं प्राप्नोती-  
 त्यर्थः । एतद्गायत्र्युक्ताः शक्तयः विग्रहवत्यः अभिषेचनश-  
 क्तीनामुपकाराय अमृतमयीं शिखाम् अमृतस्रवणाय तद्व-  
 न्धनाय वा उपास्ते इति तत्त्वार्थः । एवं तावन्नृसिंहत्रह्म-  
 विद्योपकारिणीं सामाङ्गतृतीयाङ्गविद्यामभिधाय अथेदानीं  
 सामाङ्गचतुर्थाङ्गविद्यां नृसिंहगायत्रीमाह । ॐ प्रणवः  
 व्याख्यातः तदङ्गं कवचाख्यं पारमेश्वरम् । धीम-  
 हीति ध्यायेमहि । किमर्थं वज्रनखाय नृसिंहाय । ता-  
 दर्थ्ये चतुर्थी । तदर्थं विद्महे जानीमः यतः तदेवाङ्गं नः  
 अस्मान् सिंहः प्रचोदयात् इत्युक्तार्थम् । नरशब्दं विहाय  
 सिंह इति वदन् अस्यां विद्यायां सिंहाकारस्य प्राधान्यं दर्श-

यति । इति-शब्दो मन्त्रसमाप्तिं द्योतयति । एषा वै नृसिंहगायत्री नृसिंहार्थकवचप्रतिपादकत्वाद्गायत्री प्रणवान्तर्भावं दर्शयति । कवचाश्रिततदावृतहृदयान्तर्गतानां वेदानां देवानां यथायोग्यतया निदानं मूलकारणं भवति । उपासकस्य फलं निर्दिशति । य एवं वेद स निदानवान्भवतीति । ततश्चायमर्थः । पारमेश्वरं कवचाख्यमङ्गं हृत्संबन्धि सर्ववेद-निदानत्वेनोपास्यं तत्प्रतिपादकत्वात् ऋक्संबन्धि सर्ववेददे-वनिदानं गायत्री उच्यते इति तत्त्वार्थः ॥

एवं तावन्नृसिंहब्रह्माविद्योपकारिण्यङ्गचतुष्टयव्यापिनी महाचक्राख्याम् अभिधातुं तस्मिंश्चक्रे द्वात्रिंशत्पत्रे यथासंख्यं कृतप्रणवसंपुटे न्यस्तमूलमन्त्राक्षरे एकैकस्मिन् तत्तद्देवता नृसिंहव्यूहं स्तुतिमन्त्रवर्णसामर्थ्यलभ्यं च प्रदर्शयितुं तान्मन्त्रान्प्रश्नोत्तररूपाख्यायिकया आरभते ।

देवा ह वै प्रजपातिमब्रुवन्नथ कैर्म-  
न्नैर्देवः स्तुतः प्रीतो भवति स्वात्मानं द-  
र्शयति तन्नो ब्रूहि भगव इति स होवाच  
प्रजापतिः । ॐ उं ॐ यो वै नृसिंहो  
देवो भगवान्यश्च ब्रह्मा तस्मै वै

नमो नमः १ ॐ ग्रं ॐ यो वै नृसिंहो  
 देवो भगवान्यश्च विष्णुस्तस्मै वै नमो  
 नमः २ ॐ वीं ॐ यो वै नृसिंहो देवो  
 भगवान्यश्च महेश्वरस्तस्मै वै नमो नमः  
 ३ ॐ रं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवा-  
 न्यश्च पुरुषस्तस्मै वै नमो नमः ४ ॐ मं  
 ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्चेश्वर-  
 स्तस्मै वै नमो नमः ५ ॐ हां ॐ यो वै  
 नृसिंहो देवो भगवान्या सरस्वती तस्मै  
 वै नमो नमः ६ ॐ विं ॐ यो वै नृसिंहो  
 देवो भगवान्या श्रीस्तस्मै वै नमो नमः  
 ७ ॐ ष्णुं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भग-  
 वान्या गौरी तस्मै वै नमो नमः ८  
 ॐ ज्वं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्या  
 प्रकृतिस्तस्मै वै नमो नमः ९ ॐ लं ॐ यो  
 वै नृसिंहो देवो भगवान्या विद्या तस्मै  
 वै नमो नमः १० ॐ तं ॐ यो वै नृसिंहो

देवो भगवान्यश्चोङ्कारस्तस्मै वै नमो नमः  
 ॐ सं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्या-  
 श्रतस्रोऽर्धमात्रास्तस्मै वै नमो नमः १२  
 ॐ वं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये  
 च वेदाः साङ्गाः सशाखास्तस्मै वै नमो  
 नमः १३ ॐ तों ॐ यो वै नृसिंहो देवो  
 भगवान्ये पञ्चाग्नयस्तस्मै वै नमो नमः  
 १४ ॐ मुं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवा-  
 न्याः सप्तव्याहृतयस्तस्मै वै नमो नमः  
 १५ ॐ खं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवा-  
 न्ये चाष्टौ लोकपालास्तस्मै वै नमो नमः  
 ॐ नृं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये  
 चाष्टौ वसवस्तस्मै वै नमो नमः १७ ॐ  
 सिं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये च  
 रुद्रास्तस्मै वै नमो नमः १८ ॐ हं ॐ यो  
 वै नृसिंहो देवो भगवान्ये च आदित्या-  
 स्तस्मै वै नमो नमः १९ ॐ भीं ॐ यो



वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चाष्टौ ग्रहा-  
 स्तस्मै वै नमो नमः २० ॐ षं ॐ यो वै  
 नृसिंहो देवो भगवान्यानि पञ्च महाभू-  
 तानि तस्मै वै नमो नमः २१ ॐ णं ॐ यो  
 वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च कालस्तस्मै  
 वै नमो नमः २२ ॐ भं ॐ यो वै नृसिंहो  
 देवो भगवान्यश्च मनुस्तस्मै वै नमो नमः  
 २३ ॐ द्रं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवा-  
 न्यश्च मृत्युस्तस्मै वै नमो नमः २४ ॐ मृं  
 ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च यम-  
 स्तस्मै वै नमो नमः २५ ॐ त्युं ॐ यो  
 वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्चान्तकस्तस्मै  
 वै नमो नमः २६ ॐ मृं ॐ यो वै नृसिं-  
 हो देवो भगवान्यश्च प्राणस्तस्मै वै नमो  
 नमः २७ ॐ त्युं ॐ यो वै नृसिंहो देवो  
 भगवान्यश्च सूर्यस्तस्मै वै नमो नमः २८  
 ॐ नं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च

सोमस्तस्मै वै नमो नमः २९ ॐ मां ॐ  
 यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च विराद्-  
 पुरुषस्तस्मै वै नमो नमः ३० ॐ म्यं ॐ  
 यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च जीव-  
 स्तस्मै वै नमो नमः ३१ ॐ हं ॐ यो वै  
 नृसिंहो देवो भगवान्यश्च सर्वं तस्मै वै  
 नमो नमः ३२ इति तान्प्रजापतिरब्रवी-  
 देतैर्द्वाविंशन्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुवते ततो  
 देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति  
 तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं  
 पश्यति स सर्वं पश्यति सोऽमृतत्वं  
 च गच्छति य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥

इति चतुर्थोपनिषत् ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नित्यादि स होवाच प्रजापतिरित्य-  
 न्तं स्पष्टार्थम् । अत्र हि सर्वे मन्त्राः प्रणवादिकाः तदादिन्या-  
 येन प्रणवं मूलमन्त्राक्षरं पुनः प्रणवं सर्वेषु मन्त्रेषु दर्शयति ।  
 अत्र हि मन्त्रेषु यच्छब्दद्वयेन अन्यतः सिद्धमनूद्य कुत्रचिच्छ-

वदसामर्थ्यात् कुत्रचिन् तस्मै इत्येकवचनसामर्थ्यात् एक एव  
 व्यूहः प्रतीयते । स च द्विविधः क्वचिदसाधारणायुधैः तत्तदे-  
 वतागम्यः प्रतीयते क्वचिच्च विश्वरूपः तेनैव न्यायेन उभय-  
 त्वापि नृसिंहाकारः योगारूढः अधस्तनहस्ताभ्यां वरदाभय-  
 हस्तः उपरितनाभ्यां तत्तदेवतायुधधारी क्वचिच्छङ्खचक्रगदा-  
 धारी च इत्येतत्सर्वं स्पष्टं करिष्यामः । यथा अत्रैव नृसिं-  
 हाकारव्यूहा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मकाः सुक्सुवशङ्खचक्रपिना-  
 कत्रिशूलैरायुधैर्गम्यन्ते नृसिंहात्मकः पुरुषव्यूहः द्विभुजः  
 दश हस्त्या अङ्गुलयः दश पाद्याः यावानेव पुरुषः, इति  
 श्रुतेः । अत ऊर्ध्वं सर्वे नृसिंहव्यूहाश्चतुर्भुजाः नृसिंहात्मकाश्च  
 ईश्वरव्यूहः ईश्वरायुधगम्यः पूर्वेषां पञ्चानां यथासंख्यं पञ्च-  
 शक्तिव्यूहः सरस्वतीश्रीगौरीप्रकृतिविद्यात्मिकाः स्त्रियः स्वा-  
 युधैर्गम्याः एवं मूलमन्त्राक्षरेषु दशसु ऐशानीं दिशमारभ्य  
 प्रणवमंपुटितेषु सर्वाभरणयुक्ताः श्वेतरूपा उपाभ्याः । एवं  
 वक्ष्यमाणाः सर्वे व्यूहाः यथासंख्यं मूलमन्त्राक्षरेषु उपा-  
 स्याः । प्रणवव्यूहः एकेन प्रणवाक्षरेण वक्षसि चिह्नतः प्रण-  
 वचतुष्टयमात्रः वासुदेवविग्रहः सशाखवेदविग्रहः पञ्चाग्नि-  
 विग्रहः सप्तव्याहृतिविग्रहः अष्टलोकपालविग्रहः वसुरुद्रादि-  
 त्याष्टग्रहपञ्चमहाभूतविग्रहाः एकैकस्मिन्नृसिंहव्यूहे यथासंख्य-

मन्तर्भूताः उपास्याः इति दश व्यूहाः विश्वरूपाः उपास्याः ।  
 कालमनुमृत्युयमान्तकप्राणसूर्यसोमविराट्पुरुषजीवरूपचेत-  
 नाचेतनसर्वात्मका इत्येते व्यूहाः अविश्वरूपाः तत्तदसाधारण-  
 रूपगम्याः एवमेकैकव्यूहः उपास्यः तेन तेन मन्त्रेण स्तुत्यः  
 ततो देवः स्वात्मानं स्वकीयं रूपं विश्वरूपम् अविश्वरूपं  
 च यथायोग्यं दर्शयति । यस्मादेवं तस्मात् य उपासकः  
 एतैर्मन्त्रैः नित्यं नियमेन स्तौति, स देवं विश्वरूपमविश्व-  
 रूपं च पश्यति साक्षात्करोति । सोऽमृतत्वमित्यादि महोप-  
 निषदित्यन्तं स्पष्टार्थम् । तत्र अमृतत्वं च गच्छतीति फल-  
 स्य द्विरभ्यासः स्तुतिमात्रादेव परमफलावाप्तिं मन्त्राणां  
 च सामर्थ्यं दर्शयति । महोपनिषच्छब्दः प्रणवबाहुल्यमिति  
 सर्वं निर्मलम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य

श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य

श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्भाष्ये

चतुर्थोपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥



नृसिंहपूर्वतापनीयो-  
पनिषद्भाष्यम्  

---

पञ्चमोपनिषत्



## पञ्चमोपनिषत् ॥



वं तावच्चतुर्थोपनिषदि अन्ते स्तुत्युप-  
निषदा महाचक्रस्थद्वात्रिंशत्पत्रेषु य-  
थासंख्यं द्वात्रिंशन्नृसिंहस्तुत्योपास्यान-  
भिधाय, अथेदानीं महाचक्रविद्याम-  
भिधातुं महाचक्रस्वरूपं निरूपयितुं  
प्रश्नोत्तररूपाख्यायिकया पञ्चमोपनि-

षदारभ्यते—देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्निति । नन्वेवं तर्हि  
स्तुत्युपनिषद्विद्यातो महाचक्रविद्याया प्राग्भवितव्यम् । अत्रो-  
च्यते । सत्यम् । यदीयं प्राक्स्यात् पुरश्चरणार्थं पञ्चमाङ्गन्या-  
सार्थं च कृत्स्नैव प्रतीयेत ; न तु द्वात्रिंशद्व्यूहोपासनामात्रं  
पुरश्चरणार्थम् इतरन् सुदर्शनादिमहाचक्रं सद्द्वात्रिंशद्व्यूहकं  
पञ्चमाङ्गम् इत्येवं विभागः प्रतीयेत । अतस्तद्विभागज्ञापनार्थं  
न प्राग्भिहितेयमिति । नन्वेवमपि तदादिन्यायेन महाचक्र-  
विद्या पुरश्चरणार्थं कृत्स्नैव कस्मान्न गृह्येत । तन्न, तत्र तदा-  
दिन्यायवैषम्यात् । न हि महाचक्रस्यायमादिद्वात्रिंशद्व्यूहो



नामा ; अपि तु महाचक्रनाभिवर्तिक्षीरोदार्षवसंबन्धिनृसिंह-  
व्यूहः । तस्मात्सूक्तमुपनिषद्विद्यातः प्रागभिधानमस्या इति ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्महाचक्रं  
नाम चक्रं नो ब्रूहि भगव इति सार्वका-  
मिकं मोक्षद्वारं यद्योगिन उपदिशन्ति  
स होवाच प्रजापतिः षडरं वा एतत्सुद-  
र्शनं महाचक्रं तस्मात्षडरं भवति षट्-  
पत्रं चक्रं भवति षड्वा ऋतव ऋतुभिः  
संमितं भवति मध्ये नाभिर्भवति नाभ्यां  
वा एतेऽराः प्रतिष्ठिताः । मायया वा  
एतत्सर्वं वेष्टितं भवति नात्मानं माया  
स्पृशति तस्मान्मायया बहिर्वेष्टितं भव-  
ति । अथाष्टारमष्टपत्रं चक्रं भवत्यष्टा-  
क्षरा वै गायत्री गायत्र्या संमितं भवति  
बहिर्मायया वेष्टितं भवति क्षेत्रं क्षेत्रं  
वा मायैषा संपद्यते । अथ द्वादशारं द्वा-  
दशपत्रं चक्रं भवति द्वादशाक्षरा वै ज-

गती जगत्या संमितं भवति बहिर्मा-  
यया वेष्टितं भवति । अथ षोडशारं षो-  
डशपत्रं चक्रं भवति षोडशकलो वै  
पुरुषः पुरुष एवेदं सर्वं पुरुषेण संमितं  
भवति मायया बहिर्वेष्टितं भवति । अथ  
द्वात्रिंशदरं द्वात्रिंशत्पत्रं चक्रं भवति  
द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुबनुष्टुभा संमितं  
भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवत्यरैर्वा  
एतत्सुबद्धं भवति वेदा वा एतेऽराः पत्रै-  
र्वा एतत्सर्वतः परिक्रामति च्छन्दांसि  
वै पत्राणि ॥ १ ॥

देवाः प्राक्स्तुतिश्रवणेनात्यन्तहर्षिताः प्रजापतिमब्रुवन्—  
महाचक्रं नाम एतन्नामधेययुक्तं चक्रम् ; यद्वा एतन्नामधेययु-  
क्तमेव चक्रं वर्तुलमुत्तराधरभावेन स्थितं सच्चतुष्टयाङ्गव्यापक-  
मस्त्राख्यमङ्गं नः अस्मभ्यं ब्रूहि भगवः भगवन्निति संबोधनम् ।  
सार्वकामिकं सर्वकामसाधनत्वात् सार्वकामिकम् ; अथवा सर्वे-  
षां देवानां ब्रह्मादीनां व्यूहाः स्वात्मतयैव स्वभावतयैव कामिता  
यस्मिंश्चक्रे नाभिवर्त्याद्यव्यूहेन तत्सार्वकामिकम् । अत एव

मोक्षद्वारं प्रणवबहुलत्वान्मूलमन्त्राक्षरसंख्यातः प्रणवसंपुटी-  
 करणात्प्रणवाक्षरसंख्या द्विगुणा चतुःषष्टिः । अस्यां च  
 विद्यायां मोक्षः प्रणवद्वारक एव, 'देहान्ते देवः परं ब्रह्म  
 तारकं व्याचष्टे' इति श्रुतेः । ततश्चायमर्थः—मोक्षस्य प्रण-  
 वाख्यं द्वारं यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । यच्चक्रं योगिनः उपदिश-  
 न्त्युपासकेभ्यः । स होवाच प्रजापतिरित्युक्तार्थम् । षडरं  
 वा एतत्सुदर्शनं महाचक्रं महाचक्रस्यैव नामान्तरं सुदर्शन-  
 मन्त्रयोगात् सुदर्शनम् । यद्वा सुष्ठु दर्शनं विद्यते यस्मिंस्त-  
 थोक्तम् । एतत्पत्राधोभागे नालरूपः अरशब्दवाच्यः । षडरा  
 विद्यन्ते यस्मिंस्तत् षडरम्, यस्मादेवं तस्मात् षडरं भवति ।  
 षट्पत्रं चक्रं भवति अरादुपरिभागः कोणत्रययुक्तः पत्रा-  
 कृतिः पत्रम्, षट्पत्राणि विद्यन्ते यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । एतदेव  
 स्तौति—षड्वा ऋतवः ऋतुभिः संमितं भवति । एतस्मा-  
 दर्थवादात् अराः पत्राणि च ऋतुबुद्ध्योपास्यानि भवन्ति ।  
 अराणां प्रतिष्ठार्थं स्थानमाह— मध्ये चक्रस्य मध्ये नाभिः  
 वर्तुलाकारा भवति । नाभ्यां वै एते अराः प्रतिष्ठिताः  
 प्रागुक्ताः, तदादिन्यायेन पत्राणि च प्रागुक्तानि । मायया  
 प्रागुक्तेन मूलमन्त्रशक्त्यक्षरेण एतत्षडरं षट्पत्रं सर्वं वेष्टितं  
 भवति । यस्मात् न आत्मानं चक्रस्य स्वरूपम् अरपत्रात्मकं

माया स्पृशति तस्मान्मायया बहिर्वेष्टितं भवति ; यद्वा प्रत्य-  
 कचैतन्यमेव केवलं शुद्धं चक्रबुद्ध्योपास्यं यस्मात् तस्मादा-  
 त्मानं प्रत्यकचैतन्यं न माया स्पृशति मायाविनमिव । त-  
 स्मान्मायया बहिर्वेष्टितं भवति । अष्टारम् अष्टपत्रं चक्रं  
 द्वादशारं द्वादशपत्रं चक्रं षोडशारं षोडशपत्रं चक्रं द्वा-  
 त्रिंशदरं द्वात्रिंशत्पत्रं चक्रमिति चतुष्टयं षडरषट्पत्रचक्रेण  
 व्याख्यातम् । तत्रायं विशेषः— आद्यपत्रे अराः पत्राणि च  
 ऋतुबुद्ध्योपास्यानि । द्वितीयतृतीयपञ्चमेषु अराः वेदबुद्ध्या  
 उपास्याः पत्राणि गायत्रीजगत्यनुष्टुबुद्ध्या यथासंख्यमुपा-  
 स्यानि । वेदा एव अराः छन्दांसि वै पत्राणी—इत्यर्थवादात् ।  
 चतुर्थे पत्रे षोडशाराः षोडशपत्राणि च षोडशकलाबुद्ध्या  
 उपास्यानि । क्षेत्रं क्षेत्रं वा मायैषा संपद्यते । पुरुष एवेदं सर्वं  
 पुरुषेण संमितं भवतीति प्रत्यकचैतन्यं शुद्धमाह मायया असं-  
 स्पृष्टम्, बहिःशब्दात् । तादृशं चक्रं तस्मिन्प्रकल्प्य तदुपास्यमि-  
 त्यर्थः । तथा च अरपत्रशब्दात् बहिःशब्दाच्च सविन्दुकेन  
 शक्यक्षरेण यद्वेष्टनं तत् यथासंख्यं पूर्वपूर्वचक्रापरपत्रासंस्पृ-  
 ष्टम् उत्तरोत्तरचक्राणामाश्रयत्वेन नाभिरूपमित्येवं सुदर्शन-  
 चक्रपत्रासंस्पृष्टं यद्वेष्टनं मायया तदुपरितनाक्षरनारायणच-  
 क्राश्रयत्वेन नाभिरूपम् एवमष्टाक्षरवेष्टनं द्वादशाक्षरस्य ना-

भिरूपं द्वादशाक्षरवेष्टनं सविन्दुकमातृकाषोडशाक्षरस्य ना-  
भिरूपं सविन्दुकाद्यमातृकाषोडशाक्षरवेष्टनं द्वात्रिंशदक्षरस्य  
नाभिः ततो द्वात्रिंशदक्षरवेष्टनम् असंस्पृष्टमनाभिरूपमेव इ-  
त्येवं सुदर्शननारायणवासुदेवषोडशारद्वात्रिंशदरचक्राणां य-  
थासंख्यं पञ्च नाभयः नाभीनामेवापेक्षया वेष्टनरूपतेत्याद्यः  
नाभिः मायाक्षररहितः उपरितनाः नाभयः अन्त्यं च  
वेष्टनं मायाक्षरेणेति तत्त्वार्थः । नन्वेवं तर्हि अथशब्दस्य  
तत्र तत्र प्रयोगात्पूर्वचक्रसंस्पर्शात्पञ्चनाभिकानि पञ्च च-  
क्राणि पृथक्प्रयोज्यानि कस्मान्न परिगृह्यन्ते । तथा च एक-  
चक्रत्वेऽप्यमायिनो भूतनाभिकल्पनायां वेष्टनव्यतिरिक्तप-  
ञ्चनाभिकल्पना कस्मान्न भवति ? अत्रोच्यते— ‘महाचक्रं  
नाम चक्रं नो ब्रूहि’ इत्युपक्रम्य ‘तद्वा एतन्महाचक्रम्’  
इत्युपसंहारात् महाचक्रैकतावगमाच्च चक्रचतुष्टयं तदन्तर्गत-  
मेवेत्यवगम्यते । तत्र तत्र अथशब्दप्रयोगस्तु तत्तच्चक्रोद्धारे  
माङ्गलिकत्वप्रदर्शनार्थः । तथा वेष्टनानां नाभिकल्पनायां  
प्रतिषेधाभावात् योग्यत्वाच्च कल्पनालाघवाच्च न पृथगुभे  
कल्पने इति । यत्र कचिद्ब्रूहिःशब्दपूर्वको मायाशब्दः  
पठ्यते कचिद्विपरीतः तत्रायमभिप्रायः— यत्र मायाश-  
ब्दाद्ब्रूहिःशब्दः पूर्वः तत्र मायाविशेषणं बहिर्भूतया मायया

बहिर्मायया । यत्र च मायाशब्दात्परः वेष्टनशब्दात्पूर्वः बहिःशब्दः तत्राविशिष्टया मायया तत्र बहिःशब्दो न मायाविशेषणम् , किंतु वेष्टनविशेषणम् । माया हि द्विविधा नारसिंहमूलमन्त्रगता सविन्दुकेकाररूपा निरुपपदान्माया-शब्दात्प्रतीयते ; अन्या तु रेफहकाराभ्यां मिलितसविन्दुके-काररूपा सोपपदान्मायाशब्दात्प्रतीयते । ततश्च मूलमन्त्रा-द्वहिर्भूतमायया ह्रीमित्येवंरूपया वेष्टितं भवतीति तत्त्वार्थः । ततः सुदर्शनचक्रे मूलमन्त्रगतमायया वेष्टनं षोडशचक्रेऽप्येव-मेव बहिःशब्दस्य वेष्टनात्पूर्वमुपादानात् वेष्टनविशेषणं बहिः-शब्दो मध्यवेष्टनव्यावृत्त्यर्थः । नारायणवासुदेवनारसिंहच-क्रेषु व्याख्यातबहिर्मायया वेष्टनमिति वेष्टनचक्रोद्धारवि-वेकः ॥

एवं महाचक्रस्य संवेष्टनमुद्धारं च अभिधाय अथेदानी-मुद्धृतचक्रे यथाविहितमन्त्रान् न्यसितुं तन्नाभ्याम् अक्षरन्या-समाह—

तदेव चक्रं सुदर्शनं महाचक्रं तस्य मध्ये नाभ्यां तारकं भवति यदक्षरं नार-सिंहमेकाक्षरं तद्भवति षट्सु पत्रेषु षडक्ष-रं सुदर्शनं भवत्यष्टसु पत्रेष्वष्टाक्षरं नारा-

यणं भवति द्वादशसु पत्रेषु द्वादशाक्षरं  
 वासुदेवं भवति षोडशसु पत्रेषु मातृ-  
 काद्याः सविन्दुकाः षोडश कला भवन्ति  
 द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु द्वात्रिंशदक्षरं मन्त्रराजं  
 नारसिंहमानुष्टुभं भवति तद्वा एतत्सु-  
 दर्शनं महाचक्रं सार्वकामिकं मोक्षद्वारमृ-  
 द्धायं यजुर्मयं साममयं ब्रह्ममयममृतमयं  
 भवति तस्य पुरस्ताद्वसव आसते रुद्रा  
 दक्षिणत आदित्याः पश्चाद्विश्वे देवा उत्त-  
 रतो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा नाभ्यां सूर्याच-  
 न्द्रमसौ पार्श्वयोस्तदेतदृचाभ्युक्तम्—क  
 चो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि  
 विश्वे निषेदुः । यस्तं न वेद किमृचा क-  
 रिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत  
 इति । तदेतन्महाचक्रं बालो वा युवा  
 वा वेद स महान्भवति स गुरुर्भवति  
 स सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवत्यनुष्टुभा

होमं कुर्यादनुष्टुभार्चनं तदेतद्रक्षोघ्नं मृत्यु-  
तारकं गुरुतो लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां  
वा वधीत सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं  
नावकल्पते तस्माच्छ्रद्धया यां कांचिद्द-  
द्यात्सा दक्षिणा भवति ॥ २ ॥

तच्छब्देन द्वात्रिंशदरं द्वात्रिंशत्पत्रं चक्रम् एवशब्देन तदे-  
वावधृत्य तदेव चक्रं तदादिन्यायेन सुदर्शनादिशब्दैरूर्ध्वं चक्र-  
चतुष्टयमपि महाचक्रात्मकमिति दर्शयति । महाचक्रमिति सा-  
मानाधिकरण्याच्च । तस्य मध्ये महाचक्रस्य मध्ये मध्यवर्ति-  
नाभ्यां वेष्टनरूपा हि नाभयो भूमध्याः ताः व्यावर्तयितुं मध्ये  
नाभ्यामित्युक्तम् । तारकं भवति संसारतारकत्वात् तारकं प्रण-  
वाक्षरं भवति । यदक्षरं नारसिंहमेकाक्षरं तद्भवतीति अक्षरम् ,  
जगद्धितं वा एतद्रूपमक्षरमिति नृसिंहपदव्याख्यानावसरे व्या-  
ख्यातं । तदक्षरशब्दात्प्रत्यभिज्ञायते । तथा नारसिंहमिति  
तद्धितात्सामप्रभृत्युपास्यं सर्वं प्रतीयते । ततः सर्वस्मिन्नुपास्ये  
प्रतीते एकमेवोपास्यं मूलनृसिंहव्यूहाख्यं वक्तुं विशिनष्टि—  
एकाक्षरं तद्भवतीति । यदक्षरं नारसिंहमुपास्यम् इत्यनूद्य  
तदेकं भवतीत्यक्षरं च इति महाचक्रमध्यनाभिवर्तित्वेन क्षीरो-



दार्णवसंबन्धितया उपासनं विधीयत इत्यर्थः । तत्र केचिन्  
 नारसिंहमेकाक्षरम् इति विशेषणोपादानात् एकाक्षरनृसिंह-  
 मिश्रितप्रणवो नाभ्यां न्यसनीय इत्याचक्षते; तदपि सांप्र-  
 दायिकत्वान्न विरुद्धम् । तस्मिन्नपि पक्षे नारसिंहमिति त-  
 द्धितात् एकाक्षरो नृसिंहमन्त्रः प्रणवमिश्रितो द्वात्रिंशन्नृसिंह-  
 व्यूहं विहाय यावत्प्राकरणिकं मूलनृसिंहव्यूहगतमुपास्यं प्रती-  
 यत एव । ततश्च एतद्विद्याङ्गमेकाक्षरो नृसिंहमन्त्रो यथो-  
 क्तोपास्याभिधायकत्वात् तस्य केवलः प्रणवेन विकल्पः ए-  
 काक्षरनृसिंहमन्त्रस्य प्रणवस्तु नियत एवेति तत्त्वार्थः ।  
 अत ऊर्ध्वं तत्तन्मन्त्रन्यासे तत्तच्चक्रेषु पत्रग्रहणम् अरतद-  
 न्तरालपत्रान्तरालव्यावृत्त्यर्थं द्रष्टव्यम् । षट्सु पत्रेषु सुदर्शनं  
 भवति । ऐशानपत्रमारभ्य षडक्षरः सुदर्शनो मन्त्रो न्यस-  
 नीय इत्यर्थः । एवमुत्तरेषु पत्रेषु योज्यम् । अष्टसु पत्रेष्व-  
 ष्टाक्षरं नारायणं भवति । प्रणवान्तर्भावेनाष्टाक्षरतेति के-  
 चित् । तद्वदेव द्वादशपत्रेषु द्वादशाक्षरं वासुदेवं भवतीति ।  
 अत्रापि द्वादशाक्षरता पूर्ववत् । षोडशपत्रेषु मातृकामन्त्रव-  
 र्णस्य आद्या वर्णमातृकाद्याः सविन्दुका बिन्दुसहिताः षोडश  
 स्वरा भवन्ति । द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु द्वात्रिंशदक्षरं सामाभिव्यक्तं  
 मन्त्रराजमानुष्टुभं भवति । मूलमन्त्रस्यैव एकैकमक्षरम् ।

यत्तु एकैकमक्षरम् एकैकस्मिन्पत्रे तत्प्रणवसंपुटितं कार्यम् ,  
 'प्रत्यक्षरमुभयत ओंकारो भवति' इति श्रुतेः । तदस्त्राख्य-  
 मङ्गं महाचक्रमुपासितं तन्निक्षिप्तमनिष्टे वस्तुनि त्रासकारि-  
 त्वात् तदस्त्रं पञ्चममङ्गम् । अत एव अस्त्राङ्गमन्त्रं व्याचक्षा-  
 णैरस्माभिरुक्तं प्रपञ्चसारे—'असुत्रासादिकौ धातू स्तः क्षेप-  
 चलनार्थकौ । ताभ्यामनिष्टमाक्षिप्य क्षिप्यते फट्खड्गिना'  
 इति । सार्वकामिकं मोक्षद्वारमित्युक्तार्थम् । ऋङ्मयं यजुर्मयं  
 साममयं ब्रह्ममयममृतमयं भवतीति पञ्च मयट्प्रत्ययाः प्रा-  
 चुर्यार्था ग्राह्याः । ऋग्यजुःसामाथर्वप्रचुरम् । ब्रह्ममयमिति  
 ब्रह्मशब्देन अथर्ववेदः सोऽयं ब्रह्म वेद इत्येतद्ब्राह्मणाभि-  
 धानात् । वेदप्रचुरता अराणो वेदबुद्धयोपास्यत्वात् । विका-  
 रार्थो वा मयट् वेदविकारात्मका इत्यर्थः । अमृतमयं क्षीरप्रचु-  
 रनाभिकं क्षीरविकारनाभिकं वा इति । तस्येति तच्छब्दान्ना-  
 भिस्थो विष्णुः मूलनृसिंहव्यूहः परामृश्यते । तत्परिचारका-  
 न्देवानाह—पुरस्ताद्वसवः परिचारका आसते रुद्रा दक्षिणत  
 आदित्याः पश्चाद्विश्वे देवा उत्तरतो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ना-  
 भ्यामिति । एवं दिङ्नाभिपरिचारकानुक्त्वा अथेदानीं  
 पार्श्वपरिचारकानाह—सूर्याचन्द्रमसौ पार्श्वयोः कुक्षिप्रदे-  
 शयोरिति यावत् । तदेतन्महाचक्रम् ऋचा अभ्युक्तम् ।

यस्मिन् महाचक्रे, अक्षरे, अशू व्याप्तावित्यस्य रूपं सरो  
 मत्वर्थे, तस्मिन्व्याप्तिमति । परमे उत्कृष्टे व्योमवत्सर्वव्या-  
 पकत्वेन स्थिते । अधीत्युपरिभावे । ऋच इति ऋग्रहणम्  
 उपलक्षणार्थम् । ऋचः वेदाः निषेदुः यस्मिन् चक्रे विश्वे  
 सर्वे देवाः नृसिंहरूपेण निषेदुः स्थिताः । यद्वा ऋच  
 इति षष्ठी । अनुष्टुप्संबन्धिनि अक्षरे व्याप्तिमति चक्रे सर्वे  
 वेदाः स्थिताः तत्सुदर्शनमन्त्रादिसंबन्धि चक्रमित्यर्थः । य  
 उपासकः तन्महाचक्रं न वेद नोपास्ते किम् ऋचा ऋग्वेदा-  
 दिना यदि वा ऋचा अनुष्टुप्लन्दस्कया ऋचा इति ।  
 अनेनैतद्दर्शयति— महाचक्रोपासनगर्भितमेव अनुष्टुबुपासनं  
 कुर्यात् न तु तद्रहितमिति । य इत्तद्विदुस्त इमे समासत  
 इत्युक्तार्थम् । इति-शब्दः ऋक्समाप्तिं द्योतयति । तदेतन्महा-  
 चक्रं बालो वा युवा वा वेद उपास्ते तस्य इदं फलम्—  
 स महान्भवति । महतीं प्रतिष्ठां जने प्राप्नोति । यदि वा  
 महान् महाविष्णुरिति । स गुरुः सर्वैः देववदाराध्यः । स  
 सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवत्युपदेशकः । सामाभिव्यक्ता-  
 नुष्टुभा होमं कुर्यादिति विद्याङ्गोऽयं होमः तस्मिन्द्रव्यानु-  
 पादानात् प्रतिदिनं हविष्यमन्नं साज्यं जुहुयादिति । तथा  
 सख्यानुपादानात्सकृद्वा दशवारं वा । यदि वा सूत्रागतदशप-

दानां मूलनृसिंहव्यूहे द्वात्रिंशद्व्यूहे च व्याख्यातत्वात् उभ-  
योद्देशेन होमं कुर्यात् । ततश्च क्षीरोदार्णवशायिने नृसिंहाय  
त्रिनेत्राय पिनाकहस्तायोप्रायेदम् इति हुत्वा ब्रह्मादिद्वात्रिं-  
शद्व्यूहात्मकाय नृसिंहायोप्रायेति जुहुयात् इत्येवं प्रतिपदं  
मूलमन्त्रावृत्तिः । यद्वा अनुष्टुभा इत्येकवचनात् सकृन्मूल-  
मन्त्रमुच्चार्य स्वाहाकारान्तं जुहुयात् प्रतिपदम् उद्दिश्य त्यागः  
कार्यः । तथा सामाभिव्यक्तानुष्टुभा अर्चनं षोडशोपचारादि  
कुर्यादित्यनुषङ्गः । अत्रापि होममन्त्रवन्मन्त्रावृत्त्यनावृत्ती  
एष्टव्ये । तदेतन्महाचक्रं रक्षोघ्नं मृत्युतारकं गुरुप्रसादाल्लब्धं  
कण्ठे बाहौ शिखायां वा बध्नीत यः तस्मै गुरवे यस्मात्सप्त-  
द्वीपवती द्विगुणावृत्तापि भूमिः पृथिवी दक्षिणार्थं नावकल्प-  
ते, तस्माच्छ्रद्धया भक्त्या यां काञ्चिद्भूमिं यथाशक्त्यनुरूपां  
दद्यात् सा दक्षिणा भवति । एवं प्रागुक्तं श्रुतित उपासन-  
मवगतं पञ्चाङ्गन्यास उपसंहृतमेकस्मान्मतात् । अथ मता  
न्तरपर्यालोचनया महाचक्र एवोपसंहृतं तस्मात्प्रत्यक्षरमु-  
भयत ओङ्कारो भवतीत्यत्र मूलमन्त्राक्षराणां प्रणव उप-  
संहृतत्वात् प्रणवप्रधानमेवेदं महाचक्रं तस्मिञ्शक्तिबाहुल्य-  
श्रवणान्मायया बहिर्वेष्टितं भवति । बहिर्मायया वेष्टितं  
भवतीत्यसकृच्छ्रवणात् उद्धृतपदव्याख्यानावसरे प्रतिपदं

यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानीत्यसकृन्महिमशब्दवाच्याया मायायाः सर्वलोकसर्व-  
देवात्मभूतानां साधनत्वेन श्रवणात् तद्वेष्टितमायाधारत्वेन यथासंख्यं पृथिव्यादिलोकगर्वेदादिवेदाग्न्यादिदेवभूतानामा-  
त्मनां च साधनत्वश्रवणान्महाचक्रान्तर्गतवेष्टितमायाधारमे-  
वेदमुपासनम् । न तु मूलनृसिंहगतं पञ्चाङ्गन्यासार्थं च अन्तरङ्गत्वान्महाचक्रमेवेदमुपासनम् । तदपि संप्रदायाग-  
तमुपादेयमित्युपासनाविकल्पः । तत्रापि बहुतरं संप्रदायानु-  
कूल्यागतत्वात् अन्यमेवोपासनमुपादेयमिति केचित् । तस्मि-  
न्मते प्रणवसावित्त्रयजुर्लक्ष्मीनृसिंहगायत्रीति मन्त्रचतुष्टयमङ्गं  
सामाभिव्यक्तं यथायोग्यतया महाचक्रप्रकाशकत्वेन योज्यं  
तथैवोपास्यं महाचक्रमिति रहस्यं तत्त्वं च इति ॥

एवं नृसिंहब्रह्मविद्यां सकलमतानुसारिणीं कृत्स्नाभि-  
धाय, अथेदानीं तदनुष्ठातुः कैमुत्यन्यायेन फलकथनाय प्र-  
श्नोत्तररूपाख्यायिकामवतारयति —

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य  
मन्त्रराजस्य फलं नो ब्रूहि भगव इति  
स होवाच प्रजापतिर्य एतं मन्त्रराजं

नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्नि-  
 पूतो भवति स वायुपूतो भवति स  
 आदित्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति  
 स सत्यपूतो भवति स ब्रह्मपूतो भवति  
 स विष्णुपूतो भवति स रुद्रपूतो भवति  
 स वेदपूतो भवति स सर्वपूतो भवति  
 स सर्वपूतो भवति ॥ १ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥

अत्र देवा ह वै इत्यारभ्य तदेतन्निष्कामस्य भव-  
 ति इत्यन्तम् अष्टावध्यायाः; प्रत्यध्यायसमाप्तौ च द्विर-  
 भ्यासः । देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्— अस्य मन्त्रस्य  
 प्रागुक्तोपासनाविशिष्टस्य फलं नो ब्रूहि भगव इति । स  
 होवाच प्रजापतिरित्युक्तार्थम् । यो द्विविधोपासकः एतम्  
 इत्येतच्छब्दपरामृष्टं प्रागुक्तविद्यागर्भितं मन्त्रराजं सामराजं  
 नारसिंहं नृसिंहाकारब्रह्मोपासनागर्भम् आनुष्टुभम् अनुष्टुप्-  
 न्दस्कं नित्यमिति साकारब्रह्मप्रतिपत्तिद्वारेण नित्यभूतनिरा-  
 कारब्रह्मप्रतिपादकत्वात् नित्यम् अधीते उच्चारयति । यत्र  
 ईदृशसामोच्चारणमात्रादेव वक्ष्यमाणफलाप्तिः, किं तत्र विद्या-

नुष्ठानात् इत्यभिप्रायेण तत्र तत्र अधीते अधीते इत्यवो-  
चत् । अथवा नित्यमधीते इति नियमेनाधीते । अथवा नित्यम्  
अधि इत्युपरिभावे इते जानीते । सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः ।  
नित्यं संध्योपासनादि निर्वर्त्योक्तकालं यो विद्यामेतामनुति-  
ष्ठतीत्यर्थः । अथवा नित्यमानुष्ठुभम् इत्यन्वयात् आनुष्ठुभस्य  
साम्नो नित्यत्वं दर्शयति नेतरस्य सामरूपस्येति । अथवा  
नित्यं संध्योपासनादि कर्माधिकृत्य इते जानीते । एतदुक्तं  
भवति । ततो नित्यसंध्योपासनाग्निहोत्राद्युपास्यदेवता नार-  
सिंहलीलाविग्रहेत्युपास्ते । एतद्विद्यागर्भितेत्यर्थः । अथवा यः  
उपासकः प्रागुक्तविद्यानुष्ठानप्रकारज्ञाने असमर्थः स केवलं  
विद्याप्रतिपादकं ग्रन्थं नित्यं प्रतिदिनं स्वाध्यायधर्मेण अधी-  
ते पठति जपति, सोऽपि वक्ष्यमाणं फलं प्राप्नोति । तस्य  
तज्जपसामर्थ्यात्परमेश्वरः कारुण्यात् तद्विद्यानुष्ठानप्रकारं  
साकारप्रभृति निराकारपर्यन्तमिहैव कथयति । तथा च  
अन्ते श्रूयते—‘तद्वा एतत्परमं धामैतद्विद्यागर्भितमन्त्रराजा-  
ध्यायकस्य पाठकस्य जापकस्य’ इत्यादिना । स उपास-  
कोऽग्निवाय्वादित्यसोमसत्यब्रह्मविष्णुरुद्रवेदैर्नृसिंहरूपैरुपास्यैः  
पूतो भवति पवित्रो भवति । अन्यैश्च सर्वैर्नृसिंहरूपैरुपास्यैः  
पूतो भवति । द्विरभ्यासोऽध्यायसमाप्तिं द्योतयति ॥

इति प्रथमाध्यायभाष्यम् ॥

## द्वितीयोऽध्यायः ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं  
नित्यमधीते स मृत्युं तरति स पाप्मानं  
तरति स ब्रह्महत्यां तरति स भ्रूणहत्यां  
तरति स वीरहत्यां तरति स सर्वं तर-  
ति स सर्वं तरति ॥ २ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

इतःप्रभृति नित्यमेतद्विद्यानुष्ठानेन तत्प्रतिपादकग्रन्थाध्य-  
यनेन जपेन वा आनुषङ्गिकान्येव फलानि काम्यानि तद्रहि-  
तानि वा कथयितुमाह । य उपासकः नित्यत्वेन तद्विद्यानुष्ठा-  
नेन तज्जपेन वा पापक्षयं कामयते । एतं मन्त्रराजं नारसिं-  
हमानुष्टुभं नित्यमधीते इत्युक्तार्थम् । तथा इतःप्रभृति आ  
अन्यादध्यायात् तत्र तत्र यच्छब्देन पुंलिङ्गेन प्रागुक्तनृसिंह-  
विद्याया निश्चिततया अनुष्ठानात् तद्विद्याप्रतिपादकग्रन्थजप्ता  
वा अध्येता वा परामृश्यते । तथा तच्छब्देन पुंलिङ्गेन स  
एव परामृश्यते । तथा तत्र तत्र पुंलिङ्गात् तच्छब्दाभ्या-  
सात् तस्मिन्नेव नित्यानुष्ठाने जपे वा व्यस्तं समस्तं वा  
यथायोग्यतया फलं गम्यते । स मृत्युं पाप्मानं ब्रह्महत्यां



भ्रूणहत्यां भ्रूणो गर्भः, यद्वा साङ्गवेदार्थव्याख्याता दीक्षितो  
भ्रूणः, वीरहत्यां वीरः पुत्रः सवनस्थः क्षत्रियो वा अन्यश्च  
पातकं सर्वं तरति । द्विरभ्यासोऽध्यायसमाप्तिं द्योतयति ॥

इति द्वितीयाध्यायभाष्यम् ॥

### तृतीयोऽध्यायः ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं  
नित्यमधीते सोऽग्निं स्तम्भयति स वायुं  
स्तम्भयति स आदित्यं स्तम्भयति स  
सोमं स्तम्भयति स उदकं स्तम्भयति स  
सर्वान्देवान्स्तम्भयति स सर्वान्ग्रहान्स्त-  
म्भयति स विषं स्तम्भयति स विषं स्त-  
म्भयति ॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निं  
वायुमादित्यं सोममुदकं सर्वान्देवान्ग्रहान्विषं स्तम्भयतीति  
स्तम्भनफलनिर्देशः । द्विरभ्यासोऽध्यायसमाप्तिं द्योतयति ॥

इति तृतीयाध्यायभाष्यम् ॥

## चतुर्थोऽध्यायः ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं  
नित्यमधीते स भूर्लोकं जयति स भुव-  
लोकं जयति स स्वर्लोकं जयति स मह-  
लोकं जयति स जनोलोकं जयति स  
तपोलोकं जयति स सत्यलोकं जयति स  
सर्वलोकं जयति स सर्वलोकं जयति ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स  
भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्यमन्यच्च सर्वं पाताललोकं जय-  
तीति फलनिर्देशः । द्विरभ्यासोऽध्यायसमाप्तिं द्योतयति ॥

इति चतुर्थाध्यायभाष्यम् ॥

## पञ्चमोऽध्यायः ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं  
नित्यमधीते स मनुष्यानाकर्षयति स दे-

वानाकर्षयति स नागानाकर्षयति स य-  
क्षानाकर्षयति स ग्रहानाकर्षयति स स-  
र्वानाकर्षयति स सर्वानाकर्षयति ॥ ५ ॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स मनु-  
ष्यान्देवान्नागान्यश्चान्ग्रहांस्तद्व्यतिरिक्तानन्यांश्च आकर्षयतीति  
फलनिर्देशः । द्विरभ्यासोऽध्यायसमाप्तिं द्योतयति ॥

इति पञ्चमाध्यायभाष्यम् ॥

षष्ठोऽध्यायः ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं  
नित्यमधीते सोऽग्निष्टोमेन यजते स उ-  
क्थ्येन यजते स षोडशिना यजते सो-  
ऽतिरात्रेण यजते सोऽसौर्यामेण यजते  
सोऽश्वमेधेन यजते स सर्वैः क्रतुभिर्यजते  
स सर्वैः क्रतुभिर्यजते ॥ ६ ॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्नि-  
ष्टोमेनोक्थ्येन षोडशिना वाजपेयेनातिरात्रेणाप्तोर्यामेणात्यग्नि-  
ष्टोमेनान्यैश्च सर्वैः क्रतुभिर्यजत इति फलनिर्देशः । द्विरभ्या-  
सोऽध्यायसमाप्तिं द्योतयति । न च वाच्यम् ‘अन्यानर्थ-  
क्यात्’ इति न्यायेन कथं फलनिर्देश इति । यतो मनोव्या-  
पारैकसाध्यत्वादेतद्विद्यानुष्ठानस्य तस्य च कर्मानुष्ठानादत्य-  
न्तदुःसंपादत्वादित्यधिकारभेदेन नान्यानर्थक्यमिति सर्वं  
निर्मलम् ॥

इति षष्ठाध्यायभाष्यम् ॥

### सप्तमोऽध्यायः ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं  
नित्यमधीते स ऋचोऽधीते स यजूंष्य-  
धीते स सामान्यधीते सोऽथर्वाणमधीते  
सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स  
पुराणान्यधीते स कल्पानधीते स गाथा  
अधीते स नाराशंसीरधीते स प्रणवम-  
धीते यः प्रणवमधीते स सर्वमधीते स  
सर्वमधीते ॥ ७ ॥

यः एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते, सः ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाणमङ्गिरसम् ; एतच्च त्रयीसंपुटीकरणम् , एतदन्तरालवर्तित्वाद्देदत्रयस्य । तथा च तस्मिन्नेव ब्राह्मणे प्रजापतिः प्रथममथर्वाणमपश्यत् ततस्त्रयीं ततः अङ्गिरसम् इत्यसकृदभिहितत्वात् शाखाः पुराणानि कल्पा-  
न्गाथा नाराशंसीः प्रणवमधीते इति फलनिर्देशः । अत्र च यः प्रणवमधीते सः सर्वमधीते इति वदन् मूलमन्त्रप्रणवयोः फल-  
साम्यादुभयोः साम्यं दर्शयति । ततश्च जपे समाधौ च उभ-  
योर्विकल्पः । तथा च नित्यानुष्ठाने फलकामनायां प्रयोगवि-  
शेषः । तत्तत्फलपदोच्चारणं मूलमन्त्रजपान्ते कार्यमिति के-  
चित् ; अन्ये तु तद्विनैव केवलं कामनैव कार्येति ; सांप्रदायि-  
कमेवान्वेक्ष्यमिति । द्विरभ्यासोऽध्यायसमाप्तिं द्योतयति ।

इति सप्तमाध्यायभाष्यम् ॥

## अष्टमोऽध्यायः ॥

अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्सम-  
मुपनीतशतमेकमेकेन गृहस्थेन तत्समं गृ-  
हस्थशतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समं वा-  
नप्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समं यती-

नां च शतं पूर्णं रुद्रजापकेन तत्समं रुद्रजा-  
 पिशतमेकमेकेनाथर्वशिरःशिखाध्यायके-  
 न तत्सममथर्वशिरःशिखाध्यायकशतमे-  
 कमेकेन मन्त्रराजजापकेन तत्समं तद्वा  
 एतत्परमं धाम मन्त्रराजाध्यायकस्य यत्र  
 सूर्यो न तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न  
 चन्द्रमास्तपति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति  
 यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति  
 यत्र न दुःखं सदानन्दं परमानन्दं शाश्व-  
 तं शान्तं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं यो-  
 गिध्येयं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिन-  
 स्तदेतद्वचाभ्युक्तम्—तद्विष्णोः परमं पदं  
 सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुरात-  
 तम् । तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः  
 समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदमिति त-  
 देतन्निष्कामस्य भवति तदेतन्निष्कामस्य  
 भवति ॥

एवं नित्यानुष्ठाने आनुषङ्गिकं सर्वं फलमभिधाय, अथे-  
 दानीं तद्विद्यानुष्ठातुर्जप्तुः अध्येतुश्च उत्कर्षतरतमभावेन स-  
 र्वोत्कृष्टतां सर्वोत्कृष्टं च फलमाह— अनुपनीतशतमेकमे-  
 केनोपनीतेन तत्समम् । उपनीतशतम् उपकुर्वाणकानां न  
 नैष्ठिकाभिप्रायेण तस्य सर्वोत्कृष्टत्वात् । एकमेकेन गृहस्थेन  
 तत्समं गृहस्थशतम् एकम् एकेन वानप्रस्थेन तत्समं वानप्र-  
 स्थशतम् एकम् एकेन यतिना तत्समं सोऽयमाश्रमस्वीकार-  
 मात्रे तरतमभावः नाश्रमप्रयुक्तानुष्ठानाभिप्रायेण ; ततश्च यती-  
 नां च शतं पूर्णं स्वीकृताश्रममात्राणां यस्मिन्कस्मिंश्चिद्विस्थित-  
 रुद्रजाप्येन तत्समं रुद्रजाप्यशतमेकं यस्मिन्कस्मिंश्चिदाश्रमे  
 स्थिताथर्वशिरःशिखाध्यायकेन जापकेन तत्सममथर्वशिरःशि-  
 खाध्यायकशतं मन्त्रराजजापकेन तत्समम् इत्युत्कर्षतरतम-  
 भावस्य मन्त्रराजजापके एतद्विद्यावति विश्रान्तत्वात् एत-  
 द्विद्यावान्सर्वोत्कृष्ट इति गम्यते । यथा आनन्दतरतमभावस्य  
 ब्रह्मणि विश्रान्तत्वात् ब्रह्मानन्द एव सर्वोत्कृष्टः । यस्मा-  
 देवं तस्मात् वै प्रसिद्धम् एतत्परमं धाम स्थानम् एतद्वि-  
 द्यागर्भितमन्त्रराजाध्यायकस्य जापकस्य अनुष्ठातुर्वा । यत्र  
 क्षीरोदार्णवस्थाने सूर्यो न तपति यत्र वायुर्न वाति यत्र न  
 चन्द्रमास्तपति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति

यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखं सदानन्दं परमानन्दं  
 शाश्वतं शान्तं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं यत्र  
 गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः तदेतत्स्थानम् ऋचाभ्युक्तं विष्णो-  
 र्यत्परमं पदमिति । यच्छब्देन क्षीरोदार्णवस्थानं परामृश्यते,  
 परमपदप्रत्यभिज्ञानात् । सूरयः उपासकाः उपासनाभेदेन ता-  
 दात्म्यमुपासनायां चेत् सायुज्यं फलं ततश्च विष्णुरेव परमं  
 पदम् । उभयत्रापि विष्णोरिति षष्ठीनिर्देशः शिलापुत्रकस्य श-  
 रीरमिति वद्भृष्यः । अथ उपास्योपासकभावेन चेदनुष्टुब्ध्या  
 तस्य नृसिंहस्य विष्णोः परमं पदं परमं स्थानं महाचक्रना-  
 भिक्षीरोदार्णवप्रभृति तत्र स्थिताः उपासकाः अनुष्ठातारः  
 जप्तारः अध्येतारो वा सदा सर्वकालं पश्यन्ति । कीदृशं  
 तदित्यपेक्षिते, आह—दिवीव द्युलोक इव चक्षुः ख्यातेः  
 सूर्यमण्डलम् आततम् आ समन्तात् तत् विस्तृतं वर्तुलं प्र-  
 काशात्मकं सर्वप्रकाशाभिभवकारणम् अतः सूर्यचन्द्रनक्षत्रा-  
 दीनां ब्रह्मणि प्रवेशः प्रतिषिद्धः तपकर्तृता च यत्र सूर्यो न  
 तपतीत्यादिना । एवं तस्मिन् आधिदैवात्मके दुःखे प्रति-  
 षिद्धे आध्यात्मिकदुःखप्राप्तौ तत्प्रतिषेधति— यत्र न दुःख-  
 मिति । विदुःखता दुःखाभावमात्रे प्राप्ते, सुषुप्तवज्जडता स्या-  
 दिति तद्व्यावृत्त्यर्थं सदानन्दमिति । ब्रह्मादिवन्दितमिति ।



तदादिन्यायेन नाभिस्थब्रह्मविष्णुमहेश्वरैः परिचारकैः वन्दनीयं महाचक्राख्यं स्थानम् । यत्र गत्वेति । तस्य गन्तव्यतामाह—तद्विप्रास इति । तत्तादृशं स्थानं विप्रासः विप्राः ब्राह्मणाः उपासकाः विपन्यवः मेधाविनः समाधौ धारणशक्तियुक्ताः । जागृवांसः जागरितावस्थायामेव अवस्थात्रयात्प्रच्युत्य समिन्धते समृद्धिं कुर्वन्ति । तादात्म्यपक्षे तु मन्त्रब्राह्मणयोरेक्यास्वरूपं व्याख्येयम् । इति-शब्दो मन्त्रसमाप्तिं द्योतयति । पदचतुष्टयाभ्यासः सर्वोपनिषत्समाप्तिं द्योतयतीति सर्वं निर्मलं सिद्धम् ॥

इति अष्टमाध्यायभाष्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य

श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य

श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्भाष्यं

संपूर्णम् ॥

## उपनिषत्सन्त्राणां

### ॥ वर्णानुक्रमणिका ॥

अ

|                         |         |                             |         |
|-------------------------|---------|-----------------------------|---------|
| अग्निर्मूर्धा चक्षुषी   | ३४५     | अथ हैनं सुकेशा              | २८९     |
| अग्निर्यथैको भुवनं      | २०८     | अथ हैनं सौर्यायणी           | २६८     |
| अग्निर्वार्गभूत्वा मुखं | ५६५     | अथादित्य उदयन्              | २४१     |
| अग्ने नय सुपथा राये     | २५      | अथाध्यात्मम्                | ६२०     |
| अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो   | १९९     | अथाध्यात्मं यदेत०           | ७०, ११८ |
| अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो   | २०९     | अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्       | ६६, १०६ |
| अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो   | १९८     | अथैकयोर्ध्वं                | २६४     |
| अजीर्यताममृताना०        | १५०     | अथोत्तररेण तपसा             | २४४     |
| अणोरणीयान्महतो          | १६७     | अनुपनीतशतमेक०               | ९०६     |
| अतः समुद्रा गिर०        | ३४९     | अनुपश्य यथा पूर्वं          | १३४     |
| अत्रैष देवः स्वप्ने     | २७३     | अनेजदेकं मनसो               | १०      |
| अथ कबन्धी का०           | २३९     | अन्तेवास्युत्तररूपम्        | ६१९     |
| अथ यदि द्विमात्रेण      | २८५     | अन्धं तमः प्रविशन्ति        | १८      |
| अथर्वणे यां प्रवदेत     | ३१८     | अन्धं तमः प्रविशन्ति        | २०      |
| अथ वायुमब्रुवन्         | ६५, १०६ | अन्नं न निन्द्यात्          | ७४०     |
| अथ सावित्री गायत्री     | ८६९     | अन्नं न परिचक्षीत           | ७४२     |
| अथ हैनं कौसल्य०         | २६०     | अन्नं बहु कुर्वीत           | ७४३     |
| अथ हैनं भार्गवो         | २५१     | अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्   | ७३३     |
| अथ हैनं शैब्यः          | २८२     | अन्नं वै प्रजापतिः          | २४८     |
|                         |         | अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते | ६७७     |

|                        |        |                            |         |
|------------------------|--------|----------------------------|---------|
| अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुं    | १५२    |                            |         |
| अन्यत्र धर्मादन्यत्रा० | १६३    | आ                          |         |
| अन्यदेव नद्विदितात्    | ४३, ९० | आत्मन एष प्राणो            | २६१     |
| अन्यदेवाहुः संभवान्    | २०     | आत्मा वा इदमेक             | ५५७     |
| अन्यदेवाहुर्विद्यया    | १८     | आत्मानं रथिनं विद्धि       | १७३     |
| अमात्रश्चतुर्थोऽव्यव०  | ४२६    | आदित्यो ह वै प्राणो        | २४१     |
| अरण्योर्निहितो         | १९५    | आदित्यो ह वै बाह्यः        | २६४     |
| अरा इव रथनाभौ          | ३०४    | आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् | ७३८     |
| अरा इव रथनाभौ          | ३५७    | आपो वा इदमासन्स०           | ७७०     |
| अरा इव रथनाभौ          | २५४    | आविः संनिहितं              | ३५२     |
| अविद्यायां बहुधा       | ३३३    | आशाप्रतीक्षे मंगलं         | १३५     |
| अविद्यायामन्तरे        | १५५    | आसीनो दूरं व्रजति          | १६८     |
| अविद्यायामन्तरे        | ३३३    |                            |         |
| अव्यक्तात् परः पुरुषो  | २२१    | इ                          |         |
| अशब्दमस्पर्शमरूपम्     | १८३    | इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा   | २५६     |
| अशरीरं शरीरेषु         | १६९    | इन्द्रियाणां पृथग्भाव०     | २२०     |
| अष्टाक्षरः प्रथमः      | ८१०    | इन्द्रियाणि हयानाहुः       | १७४     |
| असद्वा इदमग्र आसीत्    | ७०५    | इन्द्रियेभ्यः परं मनो      | २२०     |
| असन्नेव स भवति         | ६९३    | इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था  | १७८     |
| असुर्या नाम ते लोकाः   | ९      | इष्टापूर्तं मन्यमाना       | ३३४     |
| अस्तीत्येवोपलब्धव्यः   | २२५    | इह चेदवेदीदथ               | ५९, १०३ |
| अस्य विस्त्रंसमानस्य   | २०५    | इह चेदशकद्वोदुं            | २१८     |
| अहं वृक्षस्य रेरिवा    | ६४३    |                            |         |
| अहमन्नमहमन्नं          | ७५१    | ई                          |         |
| अहोरात्रो वै           | २४७    | ईशा वास्यमिदं              | ६       |

## उपनिषन्मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

९१३

उ

|                    |         |
|--------------------|---------|
| उत्तिष्ठत जाग्रत   | १८२     |
| उत्पत्तिमायति      | २६७     |
| उपनिषदं भो ब्रूहि  | ७२, १२० |
| उशन्ह वै वाजश्रवसः | १३१     |

ऊ

|                       |     |
|-----------------------|-----|
| ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति | २०४ |
| ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः   | २१५ |

ऋ

|                        |     |
|------------------------|-----|
| ऋग्भिरेतं यजुर्भिः     | २८८ |
| ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने | ६४० |
| ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य   | १७२ |

ए

|                         |     |
|-------------------------|-----|
| एको वशी सर्व            | २११ |
| एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य | १६२ |
| एतत्तुल्यं यदि मन्यसे   | १४७ |
| एतदालम्बनं श्रेष्ठं     | १६४ |
| एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म  | १६४ |
| एतस्माज्जायते प्राणः    | ३४४ |
| एतेषु यश्चरते भ्राजः    | ३३१ |
| एष तेऽग्निर्नचिकेतः     | १४३ |

|                         |     |
|-------------------------|-----|
| एष ब्रह्मैष इन्द्र      | ५९९ |
| एष सर्वेश्वर एषः        | ४०४ |
| एष सर्वेषु भूतेषु       | १८० |
| एष सुप्तेषु जागर्ति     | २०८ |
| एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा | २७९ |
| एषोऽग्निस्तपत्येष       | २५४ |
| एषोऽणुरात्मा चेतसा      | ३७६ |
| एह्येहीति तमाहुतयः      | ३३१ |

ओ

|                   |     |
|-------------------|-----|
| ओमिति ब्रह्म      | ६३७ |
| ओमित्येतदक्षरमिदं | ३९७ |
| ओं ऋतं सत्यं      | ७८९ |

क्ष

|                    |     |
|--------------------|-----|
| क्षीरोदार्षवशायिनं | ७८६ |
|--------------------|-----|

क

|                      |        |
|----------------------|--------|
| कामान्यः कामयते      | ३७९    |
| कामस्याप्तिं जगतः    | १६०    |
| काली कराली च मनोः    | ३३०    |
| कुर्वन्नेवेह कर्माणि | ८      |
| कुर्वाणा चीरमात्मनः  | ६२२    |
| केनेषितं पतति        | ३६, ८६ |
| कोऽयमात्मेति वयः     | ५९५    |

|                         |         |                      |         |
|-------------------------|---------|----------------------|---------|
| <b>ग</b>                |         | तदेतत्सत्यं यथा      | ३४१     |
|                         |         | तदेतत्सत्यमृषिर०     | ३८८     |
| गताः कलाः पञ्चदश        | ३८४     | तदेतदिति मन्यन्ते    | २१२     |
| <b>ज</b>                |         | तदेतदृचाभ्युक्तं     | ३८७     |
|                         |         | तदेनदभिसृष्टं        | ५६९     |
| जागरितस्थानो बहिः०      | ४००     | तदेव चक्रं सुदर्शनं  | ८९१     |
| जागरितस्थानो वैश्वानरो० | ४२२     | तद्ध तद्वनं नाम      | ७१, ११९ |
| जानाम्यहं शेवधि०        | १६०     | तद्वैष्णो विजज्ञौ    | ६२, १०५ |
| <b>त</b>                |         | तन्नम इत्युपासीत     | ७४७     |
|                         |         | तन्मनसाजिघृक्षत्     | ५७०     |
| तं दुर्दर्शं गूढमनु०    | १६१     | तद्येह वै तत्प्रजा   | २४८     |
| तं ह कुमारं सन्तं       | १३२     | तपःश्रद्धे ये ह्युप० | ३३४     |
| तच्चक्षुषाजिघृक्षत्     | ५६९     | तपसा चीयते ब्रह्म    | ३२४     |
| तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्    | ५७०     | तमब्रवीत्प्रीयमाणो   | १४१     |
| तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्  | ५६९     | तमभ्यतपत्तस्य        | ५६१     |
| तत्त्वचाजिघृक्षत्       | ५६९     | तमशनायापिपासे        | ५६६     |
| तत्प्राणेनाजिघृक्षत्    | ५६९     | तस्माद्वा इन्द्रो    | ६९, ११७ |
| तत्रापरा ऋग्वेदो        | ३२०     | तस्माद्वा एते देवा   | ६८, ११७ |
| तत्स्त्रिया आत्मभूयं    | ५८८     | तस्मान्च देवा बहुधा  | ३४८     |
| तदपानेनाजिघृक्षत्       | ५७०     | तस्मादग्निः समिधो    | ३४६     |
| तदभ्यद्रवत्तमभ्य०       | ६५, १०६ | तस्मादिन्द्रो नामे०  | ५७५     |
| तदभ्यद्रवत्तमभ्य०       | ६३, १०५ | तस्मादृचः साम        | ३४७     |
| तदुक्तमृषिणा            | ५९१     | तस्मिंस्त्वयि किं    | ६५, १०६ |
| तदेजति तन्नैजति         | १२      | तस्मिंस्त्वयि किं    | ६३, १०५ |
| तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु   | ३२७     | तस्मै तपो दमः        | ७४, १२० |

|                       |         |                         |     |
|-----------------------|---------|-------------------------|-----|
| तस्मै तृणं निद०       | ६३, १०६ | त्रिणाचिकेतस्त्रयमे०    | १४२ |
| तस्मै तृणं निद०       | ६५, १०६ | त्रिणाचिकेतस्त्रिभि०    | १४२ |
| तस्मै स विद्वानुपस०   | ३३८     |                         |     |
| तस्मै स होवाच         | ३२०     | द                       |     |
| तस्मै स होवाच यथा     | २७०     | दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः | ३४२ |
| तस्मै स होवाच         | २५१     | दूरमेते विपरीते         | १५४ |
| तस्मै स होवाच प्रजा   | २४०     | देवपितृकार्याभ्यां      | ६४५ |
| तस्मै स होवाचा०       | २६१     | देवानामसि वल्लितमः      | २५६ |
| तस्मै स होवाचेहैव     | २९१     | देवा ह वै प्रजापतिम०    | ८१४ |
| तस्मै स होवाच         | २८३     | " "                     | ८४६ |
| तस्य ह वा उग्रं       | ८१३     | " "                     | ८५६ |
| तस्यैष आदेशो          | ६९, ११७ | " "                     | ८७५ |
| ता एता देवताः सृष्टाः | ५६३     | " "                     | ८८६ |
| ताभ्यः पुरुषमानयत्ताः | ५६५     | " "                     | ८९८ |
| ताभ्यो गामानयत्ताः    | ५६४     | देवा ह वै मृत्योः       | ८०५ |
| तां योगमिति मन्यन्ते  | २२३     | देवैरत्रापि विचिकि०     | १४५ |
| तान्वरिष्ठः प्राण     | २५२     | देवैरत्रापि विचिकि०     | १४६ |
| तान्ह स ऋषि०          | २३९     | द्वा सुपर्णा सयुजा      | ३६७ |
| तान्होवाचैताव०        | ३०४     |                         |     |
| तिस्रो मात्रा मृत्यु० | २८७     | ध                       |     |
| तिस्रो रात्रीर्यदवा०  | १३६     | धनुर्गृहीत्वौपनिषदं     | ३५४ |
| तेऽग्निमब्रुवन्       | ६३, १०५ |                         |     |
| तेजो ह वाव उदा०       | २६५     | ७                       |     |
| ते तमर्चयन्तस्त्वं हि | ३०५     | न कंचन वसतौ             | ७४४ |
| तेषामसौ विरजो         | २४९     | न चक्षुषा गृह्यते       | ३७५ |

|                             |        |                            |         |
|-----------------------------|--------|----------------------------|---------|
| न जायते म्रियते             | १६५    | पराञ्चि खानि व्यतृ०        | १८९     |
| न तत्र चक्षुर्गच्छति        | ४२, ८९ | परीक्ष्य लोकान्कर्म०       | ३३६     |
| न तत्र सूर्यो भाति          | २१३    | पायूपस्थेऽपानं             | २६२     |
| न तत्र सूर्यो भाति          | ३६१    | पीतोदका जग्धतृणा           | १३२     |
| न नरेणावरेण                 | १५७    | पुरमेकादशद्वार०            | २०२     |
| न प्राणेन नापानेन           | २०६    | पुरुष एवेदं विश्वं         | ३५०     |
| न वित्तेन तर्पणीयो          | १४९    | पुरुषे ह वा अय०            | ५८६     |
| न संदृशे तिष्ठति            | २२२    | पूषन्नेकर्षे यम            | २३      |
| न सांपरायः प्रतिभाति        | १५६    | पृथिव्यन्तरिक्षं           | ६३५     |
| नाचिकेतमुपाख्यानां          | १८४    | पृथिवी च पृथिवी०           | २७७     |
| नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं | ४११    | प्रजापतिश्चरसि             | २५५     |
| नायमात्मा प्रवचनेन          | १६९    | प्रतिबोधविदितं             | ५५, १०१ |
| नायमात्मा प्रवचनेन          | ३८०    | प्र ते ब्रवीमि तदु         | १३९     |
| नायमात्मा बलहीनेन           | ३८१    | प्रणवो धनुः शरो            | ३५५     |
| नाविरतो दुश्चरितात्         | १७०    | प्राणं देवा अनुप्राणन्ति   | ६८१     |
| नाह मन्ये सुवेदेति          | ५३, ९८ | प्राणस्येदं वशे            | २५९     |
| नित्यो नित्यानां            | २१२    | प्राणाग्नय एवैत०           | २७१     |
| नैव वाचा न मनसा             | २२४    | प्राणो ह्येष यः सर्व       | ३७१     |
| नेषा तर्केण मति०            | १५९    | प्लवा ह्येते अदृढा         | ३३२     |
| नों इतराणि                  | ६४५    | प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् | ७३५     |

## प

## ब

|                    |     |                        |     |
|--------------------|-----|------------------------|-----|
| पञ्चपादं पितरं     | २४५ | बृहच्च तद्व्यमचिन्त्य० | ३७४ |
| परमेवाक्षरं प्रति० | २८० | ब्रह्नामेमि प्रथमो     | १३३ |
| परावः कामाननुयन्ति | १९१ | ब्रह्मविदाप्नोति परम्  | ६६२ |

## उपनिषन्मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

९१७

|                         |         |                        |           |
|-------------------------|---------|------------------------|-----------|
| ब्रह्म ह देवेभ्यो       | ६१, १०५ | य इमं मध्वदं वेद       | १९३       |
| ब्रह्मेति होवाच         | ६८, ११७ | य एतं मन्त्रराजं       | ९०१, ९०३, |
| ब्रह्मा देवानां प्रथमः  | ३१७     |                        | ९०४, ९०५  |
| ब्रह्मैवेदममृतं         | ३६२     | य एतं मन्त्रराजं       | ९०२       |
|                         |         | य एवं विद्वान्प्राणं   | २६६       |
|                         |         | य एवं वेद              | ७४५       |
| भ                       |         | य एषु सुप्तेषु जागर्ति | २०८       |
| भद्रं कर्णेभिः          | ७६०     | यं यं लोकं मनसा        | ३७७       |
| भयादस्याग्निस्तपति      | २१८     | यः पुनरेतं त्रि०       | २८५       |
| भिद्यते हृदयग्रन्थिः    | ३५९     | यः पूर्वं तपसो         | १९४       |
| भीषास्माद्वातः पवते     | ७१०     | यः सर्वज्ञः सर्ववित्   | ३२६       |
| भूर्भुवः सुवरिति        | ६२७     | यः सर्वज्ञः सर्ववित्   | ३५७       |
| भृगुर्वै वारुणिः        | ७२९     | यः सेतुरीजानाना०       | १७३       |
|                         |         | यच्चक्षुषा न पश्यति    | ४८, ९५    |
| म                       |         | यच्चित्तस्तेनैष        | २६६       |
| मनसैवेदमाप्तव्य         | १९८     | यच्छेद्वाङ्मनसी        | १८१       |
| मनोमयः प्राणशरीर०       | ३५९     | यच्छ्रोत्रेण न शृणोति  | ४८, ९५    |
| मनो ब्रह्मेति व्यजानात् | ७३६     | यतश्चोदेति सूर्यः      | १९६       |
| मह इति ब्रह्म           | ६२७     | यत्तदद्रेश्यमग्राह्य०  | ३२२       |
| मह इत्यादित्यः          | ६२७     | यत्प्राणेन न प्राणिति  | ४९, ९५    |
| महतः परमव्यक्त०         | १७९     | यत्र सुप्तो न कंचन     | ४०२       |
| मासो वै प्रजापतिः       | २४६     | यतो वाचो निवर्तन्ते    | ६८६       |
| मृत्युप्रोक्तां नचिके०  | २२९     | यतो वाचो निवर्तन्ते    | ७२४       |
|                         |         | यथादर्शं तथात्मनि      | २१९       |
| य                       |         | यथा नद्यः स्यन्दमानाः  | ३८६       |
| य इमं परमं गुह्यं       | १८५     |                        |           |



|                         |          |                              |         |
|-------------------------|----------|------------------------------|---------|
| यथा पुरस्ताद्भविता      | १३८      | यस्मिन्सर्वाणि भूतानि        | १४      |
| यथा सम्राडेवाधि०        | २६२      | यस्य ब्रह्म च क्षत्रं        | १७१     |
| यथोदकं दुर्गे           | १९९      | यस्याग्निहोत्रमदर्श०         | ३२९     |
| यथोदकं शुद्धे           | २००      | यस्यामतं तस्य मतं            | ५४, ९९  |
| यथोर्णनाभिः सृजते       | ३२४      | यश इति पशुषु                 | ७४६     |
| यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु    | ३५३      | यशो जनेऽसानि स्वाहा          | ६२३     |
| यदा त्वमभिवर्षसि        | २५७      | यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः     | ६२२     |
| यदा पञ्चावतिष्ठन्ते     | २२२      | या ते तनूर्वाचि              | २५८     |
| यदा पश्यः पश्यते        | ३७०      | या प्राणेन संभवति            | १९५     |
| यदा लेलायते ह्यर्चिः    | ३२८      | ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः | ६४६     |
| यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते  | २२७      | येन रूपं रसं                 | १९२     |
| यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते  | २२६      | येयं प्रेते विचिकित्सा       | १४४     |
| यदिदं किञ्च जगत्        | २१७      | ये ये कामा दुर्लभा           | १४८     |
| यदि मन्यसे सुवेदेति     | ५०, ९७   | योनिमन्ये प्रपद्यन्ते        | २०७     |
| यदुच्छासनिःश्वा०        | २७२      | यो वा एतामेवं                | ७५, १२१ |
| यदेतद्बुद्धयं मनश्चैतत् | ५९७      |                              |         |
| यदेवेह तदमुत्र          | १९७      |                              |         |
| यद्वाचानभ्युदितं        | ४५, ९४   | लोकादिमर्गि                  | १४०     |
| यन्मनसा न मनुते         | ४७, ९५   |                              |         |
| यस्तु विज्ञानवान्भ०     | १७६, १७७ |                              |         |
| यस्तु सर्वाणि भूतानि    | १३       | वायुरनिलममृतं                | २४      |
| यस्त्वविज्ञानवान्       | १७६      | वायुः संधानम्                | ६१९     |
| यस्त्वविज्ञानवान्       | १७५      | वायुर्यथैको भुवनं            | २०९     |
| यस्मिन्निदं विचि०       | १५१      | विज्ञानसारथिर्यस्तु          | १७७     |
| यस्मिन्तौ पृथिवी        | ३५६      | विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् | ७३७     |

|                              |        |                         |         |
|------------------------------|--------|-------------------------|---------|
| विज्ञानं यज्ञं तनुते         | ६८८    | स ईक्षतेमे नु लोकाः     | ५६०     |
| विज्ञानात्मा सह              | २८०    | स ईक्षतेमे नु लोकाश्च   | ५६८     |
| विद्यां चाविद्यां च          | १९     | स ईक्षाचके              | २९६     |
| विश्वरूपं हरिणं              | २४२    | स एको मनुष्यगन्धर्वा०   | ७१०     |
| विश्वसृज एतेन                | ७९४    | स एतमेव सीमानं          | ५७३     |
| वेदमनूच्याचार्यो             | ६४५    | स एतेन प्रज्ञेनात्मना   | ६०१     |
| वेदान्तविज्ञानसुनि०          | ३८३    | स एवं विद्वानस्मा०      | ५९१     |
| वैश्वानरः प्रविशति           | १३५    | स एष वैश्वानरो          | २४२     |
| व्रात्यस्त्वं प्राणैर्कर्षि० | २५८    | स जातो भूतान्यभि        | ५७४     |
| शं नो मित्रः                 | ६१५    | संप्राप्यैनमृषयो        | ३८२     |
| शौनको ह वै महाशालो           | ३१९    | संभूतिं च विनाशं च      | २१      |
| शतं चैका च हृदयस्य           | २२७    | संवत्सरो वै प्रजा०      | २४३     |
| शतायुषः पुत्रपौत्रान्        | १४६    | स तम्मित्रेवाकाशे       | ६६, १०७ |
| शान्तसंकल्पः सुमना           | १३७    | सत्यमेव जयते नानृतं     | ३७३     |
| शीक्षां व्याख्यास्यामः       | ६१७    | सत्येन लभ्यस्तपसा       | ३७२     |
| श्रवणायापि बहुभिर्यो         | १५७    | मप्त प्राणाः प्रभवन्ति  | ३४९     |
| श्रेयश्च प्रेयश्च            | १५३    | ममाने वृक्षे पुरुषो     | ३६८     |
| श्रोत्रस्य श्रोत्रं          | ३८, ८७ | स त्वं प्रियान्प्रियरू० | १५४     |
| श्रोभावा मर्त्यस्य           | १४८    | स त्वमग्निं स्वर्ग्य०   | १३९     |
| श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य      | ७११    | स पर्यागाच्छुक्रमका०    | १५      |
| " " "                        | ७११    | स प्राणमसृजत            | ३०१     |
|                              |        | स य एवंवित्             | ७५०     |
|                              |        | स य एषोऽन्तर्हृदय       | ६३१     |
| स इमाँल्लोकानसृजत            | ५५९    | स यथा सोम्य             | २७७     |
| स ईक्षत कथं न्विदं           | ५७१    | स यथेमा नद्यः           | ३०२     |

|                         |          |                          |     |
|-------------------------|----------|--------------------------|-----|
| स यदा तेजसा             | २७६      | सोऽपोऽभ्यतपत्            | ५६८ |
| स यद्येकमात्रम०         | २८४      | सोऽभिमानादूर्ध्व०        | २५३ |
| स यश्चायं पुरुषे        | ७१५      | सोऽयमात्माध्यक्षर०       | ४२१ |
| स यो ह वै तत्परमं       | ३८६      | सोऽस्यायमात्मा           | ५८९ |
| सर्वं ह्येतद्ब्रह्माय०  | ३९९      | स्वप्नस्थानस्तैजस०       | ४२२ |
| सर्वे वेदा यत्पद०       | १६३      | स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः | ४०१ |
| ससागरां सपर्वतां        | ७७५      | स्वप्नान्तं जागरितान्तं  | १९३ |
| सं वेदैतत्परमं ब्रह्म   | ३७९      | स्वर्गे लोके न भयं       | १३८ |
| सह नाववतु               | २३०, ६६१ | स्वस्ति न इन्द्रो        | ७६० |
| सह नौ यशः               | १४       |                          |     |
| स होवाच पितरं           | १३३      | ह                        |     |
| स होवाच प्रजापतिः       | ७७९      | हंसः शुचिषद्वसु०         | २०३ |
| स होवाच प्रजापतिर०      | ७८१      | हन्त त इदं प्रव०         | २०६ |
| सा भावयित्री भवति       | ५८८      | हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं  | १६६ |
| सुवरित्यादित्ये         | ६३१      | हिरण्ये परे कोशे         | ३६० |
| सुकेशा, च भारद्वाजः     | २३८      | हिरण्येन पात्रेण         | २३  |
| सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो० | ४२३      | हृदि ह्येष आत्मा         | २६३ |
| सूर्यो यथा सर्व०        | २१०      |                          |     |

॥ श्रीः ॥

## ॥ गौडपादीयकारिकानुक्रमणिका ॥

अ

|                          |     |                           |     |
|--------------------------|-----|---------------------------|-----|
| अकल्पकमजं ज्ञानं         | ४७७ | अनादेरन्तवत्त्वं च        | ५०५ |
| अकारो नयते विश्वम्       | ४२५ | अनिमित्तस्य चित्तस्य      | ५२४ |
| अजः कल्पितसंवृत्या       | ५२३ | अनिश्चिता यथा रज्जुः      | ४३९ |
| अजमनिद्रमस्वप्नम्        | ४७९ | अन्तःस्थानात्तु भेदानां   | ४३२ |
| अजमनिद्रमस्वप्नम्        | ५२६ | अन्यथा गृह्यतः स्वप्नो०   | ४१८ |
| अजातं जायते यस्मात्      | ५०५ | अपूर्वं स्थानिधर्मो हि    | ४३४ |
| अजातस्यैव धर्मस्य        | ४९१ | अभावश्च रथादीनां          | ४३१ |
| आजातस्यैव भावस्य         | ४६९ | अभूताभिनिवेशाद्धि         | ५२५ |
| अजातेस्त्रसतां तेषाम्    | ५११ | अभूताभिनिवेशोऽस्ति        | ५२३ |
| अजाद्वै जायते यस्य       | ४९४ | अमात्रोऽनन्तमात्रश्च      | ४२९ |
| अजेष्वजमसंक्रान्तं       | ५३५ | अलब्धावरणाः सर्वे         | ५३६ |
| अजे साम्ये तु ये केचित्  | ५३४ | अलाते स्पन्दमाने वै       | ५१४ |
| अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये   | ५३५ | अवस्त्वनुपलम्भं च         | ५३० |
| अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यम् | ४५३ | अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु    | ४३८ |
| अदीर्घत्वाच्च कालस्य     | ४३१ | अशक्तिरपरिज्ञानं          | ४९७ |
| अद्वयं च द्वयाभासं       | ४७६ | असज्जागरिते दृष्ट्वा      | ५०८ |
| अद्वयं च द्वयाभासं       | ५१९ | असतो मायया जन्म           | ४७५ |
| अद्वैतं परमार्थो हि      | ४६७ | अस्ति नास्त्यस्ति नास्ती० | ५२७ |
| अनादिमायया सुप्तो०       | ४१९ | अस्पन्दमानमलातम्          | ५१३ |
|                          |     | अस्पर्शयोगो वै नाम        | ४८२ |

|                           |     |                        |     |
|---------------------------|-----|------------------------|-----|
| अस्पर्शयोगो वै नाम        | ४८९ | ए                      |     |
| आ                         |     | एतैरेषोऽपृथग्भावैः     | ४४२ |
| आत्मसत्यानुबोधेन          | ५७६ | एवं न चित्तजा धर्माः   | ५१६ |
| आत्मा ह्याकाशवज्जीवैः     | ४५४ | एवं न जायते चित्तम्    | ५२३ |
| आदावन्ते च यन्नास्ति      | ४३३ | ओ                      |     |
| आदावन्ते च यन्नास्ति      | ५०६ | ओंकारं पादशो विद्यात्  | ४२७ |
| आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव     | ५३३ | क                      |     |
| आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः   | ५३३ | कल्पयत्यात्मनात्मानम्  | ४३६ |
| आश्रमास्त्रिविधा हीन०     | ४६५ | कारणं यस्य वै कार्यं   | ४९३ |
| इ                         |     | कारणाद्यद्यनन्यत्वम्   | ४९४ |
| इच्छामात्र प्रभोः सृष्टिः | ४१० | कार्यकारणबद्धौ तौ      | ४१६ |
| उ                         |     | काल इति कालविदो        | ४४१ |
| उत्पादस्याप्रसिद्धत्वात्  | ५०८ | कोटयश्चतस्र एतास्तु    | ५२८ |
| उत्सेक उदधेर्यद्वत्       | ४८३ | क्रमते न हि बुद्धस्य   | ५३६ |
| उपलम्भात्समाचाराद्        | ५११ | ख                      |     |
| उपलम्भात्समाचारान्मा०     | ५१० | ख्याप्यमानामजातिं तैः  | ४९१ |
| उपायेन निगृह्णीयात्       | ४८३ | ग                      |     |
| उपासनाश्रितो धर्मो        | ४५२ | ग्रहणाज्जागरितवत्      | ५०७ |
| उभयोरपि वैतथ्यं           | ४३६ | ग्रहो न तत्र नोत्सर्गः | ४८१ |
| उभे ह्यन्योन्यदृश्ये ते   | ५२१ | घ                      |     |
| ऋ                         |     | घटादिषु प्रलीनेषु      | ४४५ |
| ऋजुवक्रादिकाभासम्         | ५१३ |                        |     |

च

चरञ्जागरिते जाग्रत्  
चित्तं न संस्पृशत्यर्थं  
चित्तकाला हि येऽन्तस्तु  
चित्तस्पन्दितमेवेदं

५२०  
५०३  
४३७  
५२२

ज

जरामरणनिर्मुक्ताः  
जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते  
जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तः  
जात्याभासं चलाभासं  
जीवं कल्पयते पूर्वं  
जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्  
जीवात्मनोरनन्यत्वम्  
ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये  
ज्ञानेनाकाशकल्पेन

४९३  
५२०  
४३५  
५७२  
४३८  
४६३  
४६२  
५३१  
४८८

त

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा  
तस्मादेवं विदित्वैनम्  
तस्मान्न जायते चित्तं  
तैजसस्योत्वविज्ञाने  
त्रिषु धामसु यस्तुल्यं  
त्रिषु धामसु यद्भोज्यं

४५०  
४४९  
५०४  
४२४  
४२५  
४०८

द

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो०  
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य  
दुर्दर्शमतिगम्भीरम्  
द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्यात्  
द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने  
द्वैतस्याग्रहणं तुल्यम्

४०५  
४८४  
५३७  
५१५  
४६२  
४१७

ध

धर्मा य इति जायन्ते

५१८

न

न कश्चिज्जायते जीवः  
न कश्चिज्जायते जीवः  
न विरोधो न चोत्पत्तिः  
न निर्गता अलातात्ते  
न निर्गतास्ते विज्ञानात्  
न भवत्यमृतं मर्त्यं  
न भवत्यमृतं मर्त्यं  
न युक्तं दर्शनं गत्वा  
नाकाशस्य घटाकाशो  
नाजेषु सर्वधर्मेषु  
नात्मभावेन नानेदं  
नात्मानं न परं चैव

४८६  
५२२  
४४४  
५१४  
५१५  
४६९  
४९१  
५०६  
४५९  
५१८  
४४७  
४१७

|                              |     |                           |     |
|------------------------------|-----|---------------------------|-----|
| नास्त्यसद्धेतुकमसत्          | ५०९ |                           |     |
| नास्वादयेत्सुखं तत्र         | ४८५ | फ                         |     |
| निःस्तुतिर्निनमस्कारो        | ४४९ | फलादुत्पद्यमानः सन्       | ४९६ |
| निगृहीतस्य मनसो              | ४७८ |                           |     |
| निमित्तं न सदा चित्तं        | ५०३ | ब                         |     |
| निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य       | ५२६ | बहिःप्रज्ञो विभुविश्वो    | ४०५ |
| निवृत्तेः सर्वदुःखानाम्      | ४१६ | बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तः | ४९७ |
| निश्चितायां यथा रज्ज्वां     | ४३९ | बुद्धा निमित्ततां सत्यां  | ५२५ |
| नेह नानेति चाम्नायात्        | ४७१ | भ                         |     |
|                              |     | भावरसद्भिरेवायम्          | ४४६ |
| प                            |     | भूतं न जायते किञ्चित्     | ४९० |
| पञ्चविंशक इत्येके            | ४४१ | भूततोऽभूततो वापि          | ४७० |
| पादा इति पादविदो             | ४४० | भूतस्य जातिमिच्छन्ति      | ४९० |
| पुर्वापरापरिज्ञानम्          | ४९८ | भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये  | ४११ |
| प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेयाः       | ५३२ | म                         |     |
| प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वम्    | ५०१ | मकारभावे प्राज्ञस्य       | ४२५ |
| प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वम्    | ५०२ | मन इति मनोविदो            | ४४१ |
| प्रणत्रं हीश्वरं विद्यात्    | ४२८ | मनसो निग्रहायत्तम्        | ४८२ |
| प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म         | ४२७ | मनोदृश्यमिदं द्वैतं       | ४७६ |
| प्रपञ्चो यदि विद्येत         | ४२० | मरणे संभवे चैव            | ४६० |
| प्रभवः सर्वभावानां           | ४०८ | मायया भिद्यते ह्येतत्     | ४६८ |
| प्राण इति प्राणविदो          | ४४० | मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य | ५०७ |
| प्राणादिभिरनन्तैस्तु         | ४४० | मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः  | ४६४ |
| प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां | ५२९ |                           |     |

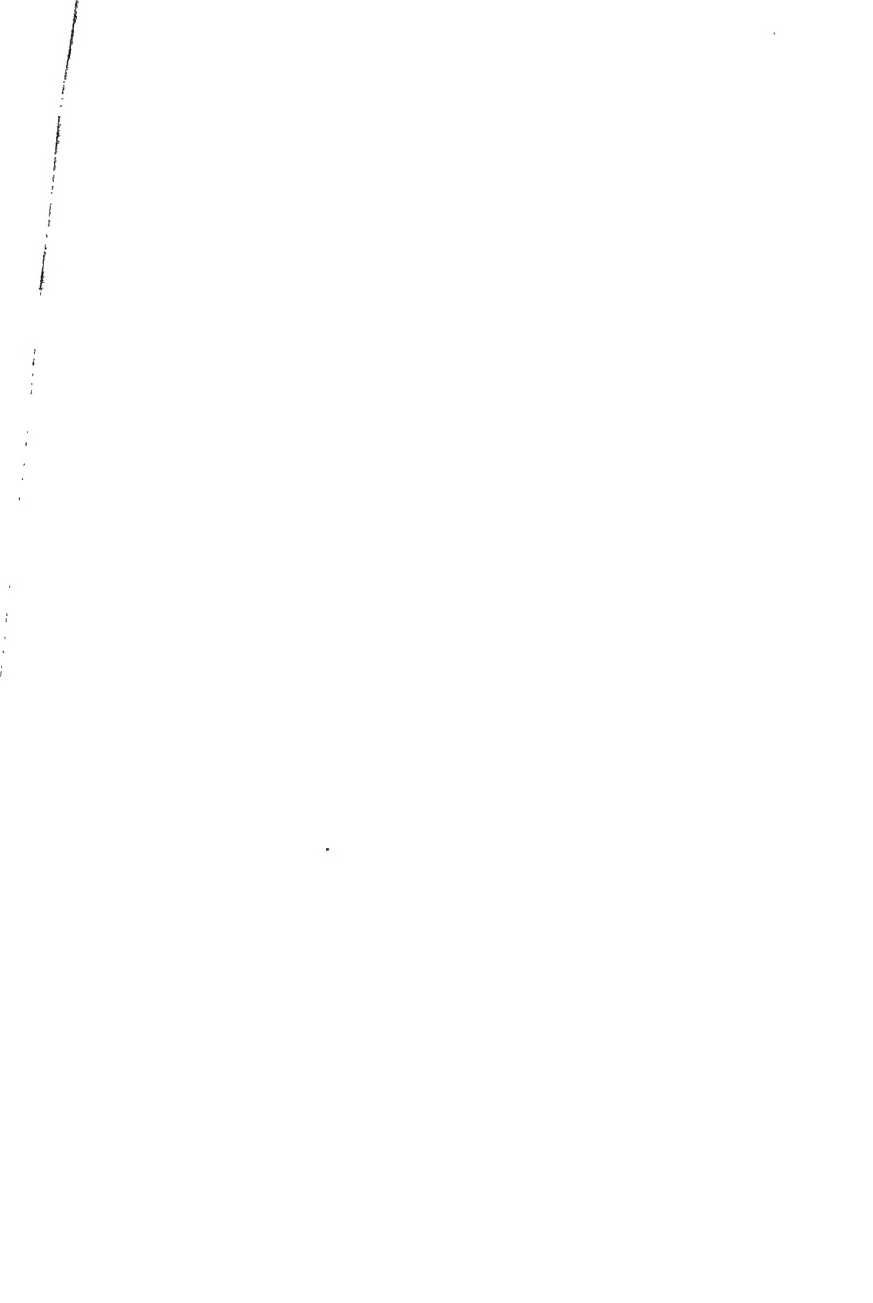
|                        |                        |                         |
|------------------------|------------------------|-------------------------|
| य                      | लीयते हि सुषुप्तौ तत्  | ४७८                     |
|                        | लोकाँल्लोकविदः प्राहुः | ४४१                     |
| यं भावं दर्शयेद्यस्य   | ४४२                    |                         |
| यथा निर्मितको जीवो     | ५२१                    | व                       |
| यथा भवति बालानां       | ४५९                    | विकरोत्यपरान्भावान्     |
| यथा मायामयाद्वीजात्    | ५१८                    | विकल्पो विनिवर्तेत      |
| यथा मायामयो जीवो       | ५२१                    | विज्ञाने स्पन्दमाने वै  |
| यथा स्वप्नमयो जीवो     | ५२१                    | विपर्यासाद्यथा जाग्रत्  |
| यथा स्वप्ने द्वयाभासं  | ४७५                    | विप्राणां विनयो ह्येषः  |
| यथा स्वप्ने द्वयाभासं  | ५१९                    | विभूतिं प्रसवं त्वन्ये  |
| यथैकस्मिन्घटाकाशे      | ४५५                    | विश्वस्यात्वविवक्षायाम् |
| यदा न लभते हेतून्      | ५२४                    | विश्वो हि स्थूलभुङ्क्ते |
| यदा न लीयते चित्तं     | ४८५                    | वीतरागभयक्रोधैः         |
| यदि हेतोः फलात्सिद्धिः | ४९६                    | वेदा इति वेदविदो        |
| यावद्धेतुफलावेशः सं०   | ५१७                    | वैतथ्यं सर्वभावानां     |
| यावद्धेतुफलावेशस्ता०   | ५१६                    | वैशारद्यं तु वै नास्ति  |
| युञ्जीत प्रणवे चेतः    | ४२७                    |                         |
| योऽस्ति कल्पितसंवृत्यः | ५२२                    | स                       |
| र                      | स एष नेति नेतीति       | ४७३                     |
|                        | संघाताः स्वप्नवत्सर्वे | ४६०                     |
| रसादयो हि ये कोशाः     | ४६१                    | संभवे हेतुफलयोः         |
| रूपकार्यसमाख्याश्च     | ४५८                    | संभूतेरपवादाच्च         |
| ल                      | संवृत्या जायते सर्वं   | ५१७                     |
|                        | सतो हि मायया जन्म      | ४७४                     |
| लये संबोधयेच्चित्तं    | ४८४                    | संप्रयोजनता तेषां       |
|                        |                        | ४३३, ५०६                |



|                           |     |                           |     |
|---------------------------|-----|---------------------------|-----|
| सर्वस्य प्रणवो ह्यादिः    | ४२८ | स्वप्नमाये यथा दृष्टे     | ४४३ |
| सर्पाभिलाषविगतः           | ४८० | स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तः   | ४३५ |
| सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने  | ५०६ | स्वप्ने चावस्तुकाः कायः   | ५०७ |
| सवस्तु सोपलम्भं च         | ५२९ | स्वभावेनामृतो यस्य        | ४६९ |
| सांसिद्धि स्वाभाविकी      | ४९२ | स्वभावो नामृतो यस्य       | ४९१ |
| सुखमात्रियते नित्यं       | ५२७ | स्वमिद्धान्तव्यवस्थासु    | ४६६ |
| सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः   | ४४१ | स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणम् | ४८६ |
| सृष्टिरिति सृष्टिविदो     | ४४१ |                           |     |
| स्थूलं तर्पयते विश्वं     | ४०८ | ह                         |     |
| स्वतो वा परतो वापि        | ४९९ | हेतोरादिः फलं येषाम्      | ४९५ |
| स्वप्नजागरिते स्थाने      | ४३० | हेतोरादिः फलं येषाम्      | ४९५ |
| स्वप्नदृक्चित्तदृग्यास्ते | ५२० | हेतोर्न जायतेऽनादेः       | ५०० |
| स्वप्नदृक्प्रचरन्स्वप्ने  | ५१९ | हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि      | ५३२ |
| स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ    | ४१८ |                           |     |

72400





CATALOGUED.

**Central Archaeological Library,  
NEW DELHI.**

72450

Call No. Sa 2 Bh  
.San/sac

Author— शंकराचार्य

Title— श्री शंकर ग्रंथावलि:

*"A book that is shut is but a block"*

**CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY**  
GOVT. OF INDIA  
Department of Archaeology  
**NEW DELHI.**

Please help us to keep the book  
clean and moving.